श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित कृति

# बारस अणुवेक्खा

## सर्वोदया टीका

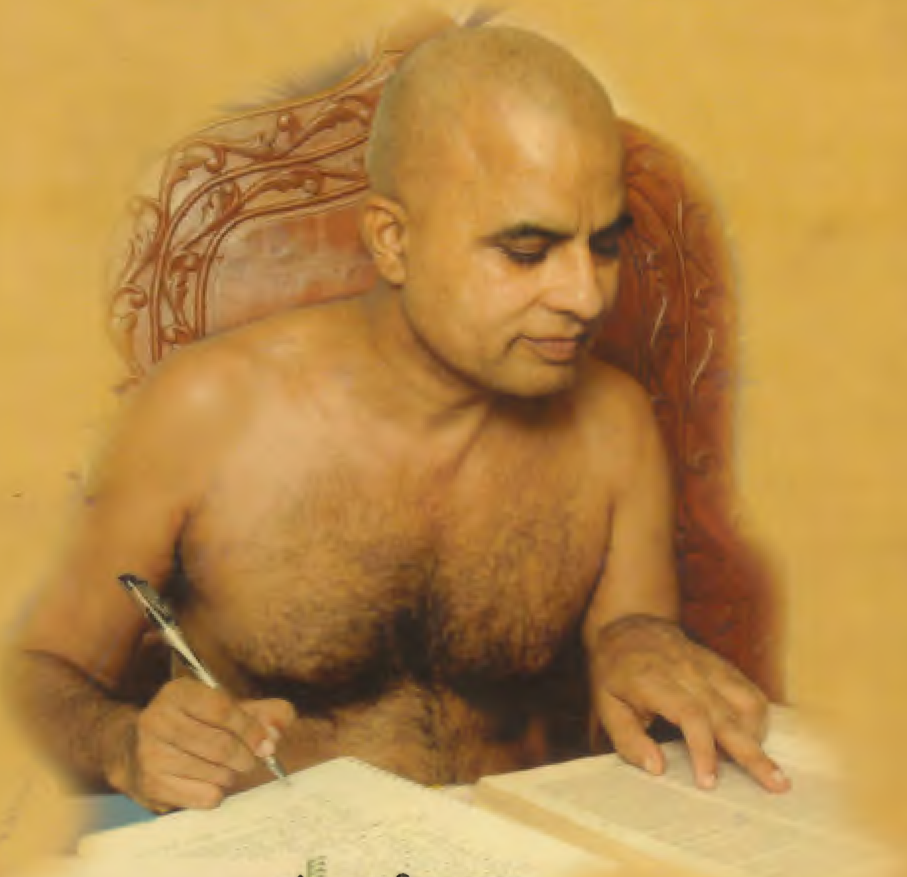

संस्कृतटीकाकारः

प. पू. गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागर जी महाराज

सम्पादन एवं अनुवाद

प्रो. दामोदर शास्त्री

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित कृति

# बारस अणुवेक्खा

# सर्वोदया टीका

संस्कृतटीकाकारः

प. पू. गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागर जी महाराज

सम्पादन एवं अनुवाद

प्रो. दामोदर शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 978-81-263-4071-2 (Set)
978-93-263-5436-3 (Vol.II)

# भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9; वीर नि. सं. 2470; विक्रम सं. 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

## मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

प्रकाशक
**भारतीय ज्ञानपीठ**
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐण्ड प्रिण्टर्स, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

ग्रन्थमाला : प्राकृत ग्रन्थांक 28

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित-कृति

# बारस अणुवेक्खा

## ( द्वादश अनुप्रेक्षाः )

तदुपरि रचिता संस्कृत टीका

# सर्वोदया

## ( उत्तरार्द्धः )

'सर्वोदया' संस्कृतटीकाकारः

**प. पू. गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागर जी महाराज**

सम्पादकोऽनुवादकश्च

**प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री**

**भारतीय ज्ञानपीठ**

द्वितीय संस्करण : 2015 ❑ मूल्य : 490 रुपये

Moortidevi Jain Granthamala : Prakrit Grantha No. 28

# BĀRASA AṆUVEKKHĀ

*of*

## ĀCHĀRYA KUNDAKUNDA

with

# Sarvodaya

Sanskrit Commentary and Hindi Translation

## Vol. II

**'Sarvodaya' Sanskrit Commentary by**

**Parampujya Ganacharya Shri 108 Dr. Viragsagar Ji Maharaj**

Edited and Translated by

**Prof. Dr. Damodar Shastri**

BHARATIYA JNANPITH

**Second Edition : 2015 ☐ Price : Rs. 490**

ISBN 978-81-263-4071-2 (Set)
978-93-263-5436-3 (Vol.II)

# BHARATIYA JṆANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam. 2470; Vikrama Sam. 2000; 18th Feb. 1944)

## MOORTIDEVI GRANTHAMALA

FOUNDED BY

**Sahu Shanti Prasad Jain**

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi

and

promoted by his benevolent wife

**Smt. Rama Jain**

In this Granthamala critically edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc. are being published in the original form with their translations in modern languages. Catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and popular Jain literature are also being published.

•

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at : Vikas computer and Printers, Delhi-110 032

© All Rights Reserved by Bharatiya Jnanpith

# बारस अणुवेक्खा

## द्वितीय खण्ड ( गाथा-47 से 91 तक )

## अनुक्रमणिका

**मूल ग्रन्थ व टीका**


| | |
|---|---|
| (1) अष्ठम अधिकार— आस्रवानुप्रेक्षा (गाथा-47-60) | 527 |
| (2) नवम अधिकार— संवरानुप्रेक्षा (गाथा-61-65) | 655 |
| (3) दशम अधिकार— निर्जरानुप्रेक्षा (गाथा-66-67) | 694 |
| (4) एकादश अधिकार— धर्मानुप्रेक्षा (गाथा-68-82) | 761 |
| (5) द्वादश अधिकार— बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा (गाथा-83-86) | 951 |
| (6) त्रयोदश अधिकार— द्वादशानुप्रेक्षा-माहात्म्य (गाथा-87-91) | 987 |
| **परिशिष्ट :** *(गाथानुक्रमणिका, उद्धृत पद्यों/गाथाओं की अनुक्रमणिका)* | 1047 |

# बारस अणुवेक्खा

( द्वादश अनुप्रेक्षाः )

पर

# सर्वोदया टीका

---

## द्वितीय खण्ड

**2000 वर्ष प्राचीन श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित ''बारस अणुवेक्खा'' ग्रंथ पर प.पू. गणाचार्य श्री विरागसागरजी महाराज सर्वप्रथम संस्कृत में ''सर्वोदया टीका'' का लेखन प्रारंभ करते हुए 23 फरवरी, 2008, नागेवाडी, सांगली (महाराष्ट्र) प्रारम्भ एवं 08 जून, 2008 नंदीश्वर द्वीप, बोरीवली-मुम्बई में श्रुतपंचमी के अवसर पर महोत्सव के साथ लेखन पूर्ण करते हुए**

(1) प.पू. गणाचार्य श्री विरागसागरजी महाराज सर्वप्रथम संस्कृत में ''सर्वोदया टीका'' का लेखन प्रारम्भ करते हुए 23 फरवरी, 2008 नागेवाड़ी : सांगली (महाराष्ट्र)
(2) सर्वोदया टीका का हस्तलिखित प्रथम पृष्ठ, (3) लिखी गई कुल कॉपीयाँ, (4) समापन पर अंतिम पुष्पिका लिखते हुए प.पू. गणाचार्यश्री 23 फरवरी, 2008 नंदीश्वर द्वीप, बोरीवली-मुम्बई में श्रुतपंचमी के अवसर पर महोत्सव के साथ लेखन पूर्ण करते हुए
(5) प्रतिलिपी कॉपियाँ एवं विरागवाणी में प्रकाशित प्रथम पृष्ठ 6-11, चाँदी के रथ पर सर्वोदया टीका को विराजमान कर निकाला गया भव्य जुलूस एवं पूजा

## [ आसवाणुवेक्खा– अट्ठमो अहियारो ]

## ॥ आस्रवानुप्रेक्षा– अष्टमोऽधिकारः ॥

**अथेदानीमास्रवानुप्रेक्षानामकस्य अष्टमाधिकारस्य पातनिका निर्दिश्यते। अधिकारेऽत्र '*मिच्छत्तं अविरमणं*' इत्यादिगाथामादिं विधाय '*पुव्वुत्तासवभेदा*' इत्यादिगाथां यावत् चतुर्दशगाथाप्रमाणा आस्रवानुप्रेक्षा भवति। तत्रापि '*मिच्छत्तं अविरमणं*' इत्यादिगाथायां मिथ्यात्वस्य पञ्च, अविरतेश्च पञ्च, कषायाणां चत्वारः, तथा योगस्य त्रयो भेदाः, सर्वे संहत्य सप्तदश कर्मास्रवरूपा भवन्तीति कथनपरा प्रथमा गाथा। तदनन्तरं '*एयंतविणयविवरिद*' इत्यादिका एकान्त-विनय-विपरीत-संशय-अज्ञानभेदेन मिथ्यात्वस्य पञ्च भेदाः, तथा अविरतिरेव हिंसा-असत्य-चौर्य-अब्रह्मचर्य-परिग्रहरूपेण पञ्चविधा भवतीति निरूपणपरा द्वितीया गाथा। तदनन्तरं '*कोहो माणो माया*' इत्यादिका क्रोध-मान-माया-लोभरूपकषायश्चतुर्विधः, योगश्च काय-वचन-मनोभेदेन त्रिविधः इति निरूपयन्ती तृतीया गाथा। तदनन्तरं च '*असुहेदरभेदेण दु*' इत्यादिका योगः शुभोऽशुभो वा भवति, आहारादिसंज्ञा अशुभमनोरूपा इति निरूपयन्ती चतुर्थी गाथा।**

---

## [ आस्रवानुप्रेक्षा– अष्टम अधिकार ]

अब, आस्रवानुप्रेक्षा नामक अष्टम अधिकार की पातनिका बता रहे हैं। इस अधिकार में '**मिच्छत्तं अविरमणं**' इत्यादि (गाथा-47) से लेकर '**पुव्वुत्तासवभेदा**' इत्यादि (गाथा-60) तक चौदह गाथाओं वाली आस्रव-अनुप्रेक्षा है। इसमें भी '**मिच्छत्तं अविरमणं**' इत्यादि प्रथम गाथा (सं. 47) में मिथ्यात्व के पाँच, अविरति के पाँच, कषायों के चार तथा योग के तीन भेद, इस प्रकार कुल मिला कर सत्रह प्रकार के कर्मास्रव होते हैं–यह प्रतिपादित किया गया है। उसके आगे '**एयंतविणयविवरिद**' इत्यादि दूसरी (गाथा-48) है जिसमें यह बताया गया है कि एकान्त, विनय, विपरीत, संशय, अज्ञान –ये पाँच प्रकार के मिथ्यात्व होते हैं और हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य व परिग्रह –इन पाँच रूपों वाली अविरति होती है। उसके बाद, '**कोहो माणो माया**' इत्यादि तीसरी (गाथा-49) है जिसमें यह बताया गया है कि कषाय के चार प्रकार हैं– क्रोध, मान, माया व लोभ, और योग के तीन भेद हैं– काय, वचन व मन। उसके पश्चात् '**असुहेदरभेदेण दु**' इत्यादि चौथी (गाथा-50) है जिसमें यह बताया गया है कि योग के शुभ व अशुभ –ये दो भेद होते हैं, और आहार आदि संज्ञाएँ अशुभ मन रूप होती हैं।

**तदनन्तरं** *'किण्हादि तिण्णि लेस्सा'* **इत्यादिका कृष्णादिकास्तिस्रो लेश्याः, इन्द्रियसुखेषु आसक्तिः, ईर्ष्या, विषादश्चेत्यादिका भावाः अशुभमनोरूपाः इति निरूपयन्ती पञ्चमी गाथा। तदनन्तरं** *'रागो दोसो मोहो'* **इत्यादिका रागद्वेषमोहहास्यप्रभृतिनोकषायात्मकाः स्थूलाः सूक्ष्मा वा परिणामाः अशुभ-मनोरूपा इति निरूपयन्ती षष्ठी गाथा। तदनन्तरं च** *'भत्तित्थिरायचोरकहाओ'* **इत्यादिका भक्त-स्त्री-राज-चोर-कथाभेदेन चतुर्विधा विकथा अशुभवचनरूपा, तथा बन्धन-छेदन-मारणादिक्रिया अशुभकाययोगरूपा –इति प्रतिपादयन्ती सप्तमी गाथा। पश्चात्** *'मोत्तूण असुहभावं'* **इत्यादिका पूर्वोक्त-अशुभमनोभावाद् भिन्नाः व्रत-समिति-शील-संयमरूप-परिणामाः शुभमनोरूपाः इति प्रतिपादयन्ती अष्टमी गाथा। ततश्च** *'संसारछेदकारणवयणं'* **इत्यादिका संसार-उच्छेदकं वचनं शुभम्, जिनेन्द्रपूजारूपचेष्टा शुभकायप्रवृत्तिः इति निरूपणपरा नवमी गाथा। तदनन्तरं च** *'जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये'* **इत्यादिका शुभाशुभकर्मास्रवेणैव दुःखबहुले भवसागरे जीवस्य परिभ्रमणं भवतीति निरूपयन्ती दशमी गाथा। तदनन्तरं च** *'कम्मासवेण जीवो'* **इत्यादिका कर्मास्रवेण जीवः संसारसागरे निमज्जति, किन्तु ज्ञानपूर्वकक्रिया परम्परया मोक्षहेतुः इति प्रतिपादयन्ती एकादशी**

---

इसके अनन्तर, '**किण्हादि तिण्णि लेस्सा**' इत्यादि पाँचवीं (गाथा–51) है, जिसमें यह बताया गया है कि कृष्ण (नील व कापोत) आदि तीन लेश्याएँ, इन्द्रियसुखों में आसक्ति, ईर्ष्या, विषाद –इत्यादि भाव अशुभ मनोयोग स्वरूप होते हैं। इसके आगे '**रागो दोसो मोहो**' इत्यादि छठी (गाथा–52) है जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि राग, द्वेष, मोह, हास्य आदि नोकषाय रूप स्थूल या सूक्ष्म परिणाम अशुभ मनोयोग रूप हैं। इसके बाद '**भत्तित्थि-राय-चोर कहाओ**' इत्यादि सातवीं (गाथा–53) है जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि भक्त (भोजन) कथा, स्त्रीकथा, राजकथा व चोरकथा –इस प्रकार चार प्रकार की विकथाएँ अशुभवचन रूप हैं और (किसी जीव के) बन्धन, छेदन व मारण आदि की क्रियाएँ अशुभकाय योग रूप होती हैं। इसके अनन्तर, '**मोत्तूण असुहभावं**' इत्यादि आठवीं (गाथा–54) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि पूर्वोक्त अशुभ मनोभावों से भिन्न –व्रत, समिति, शील, संयम रूप (आत्मीय) परिणाम शुभ मनोयोग होते हैं। इसके बाद, '**संसारछेदकारणवयणं**' इत्यादि नौवीं (गाथा–55) है जो यह प्रतिपादित करती है कि जो वचन संसार का नाश करे, वह शुभ है, और जिनेन्द्र-पूजा रूप चेष्टा शुभ कायिक प्रवृत्ति होती है। इसके बाद, '**जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये**' इत्यादि दसवीं (गाथा–56) में बताया गया है कि इस दुःखबहुल भवसागर में जीव के परिभ्रमण का कारण उसके द्वारा किया गया शुभ-अशुभ कर्मों का आस्रव (ही) है। इसके आगे, '**कम्मासवेण जीवो**' इत्यादि ग्यारहवीं (गाथा–57) है जिसमें यह निरूपित किया गया है कि कर्म-आस्रव के कारण जीव संसार-सागर में डूबता है, किन्तु

**गाथा। ततश्च** *'आसवहेदू जीवो'* **इत्यादिका जन्ममरणरूपे संसारे निमज्जनं कर्मास्रवहेतुकमेव, कर्मास्रवनिमित्ताः सर्वाः क्रियाः न मोक्षनिमित्तकाः इति निरूपयन्ती द्वादशी गाथा। तदनन्तरं च** *'पारंपज्जाएण दु'* **इत्यादिका कर्मास्रवभूता क्रिया निश्चयनये परम्परयाऽपि नैव मोक्षसाधिकेति प्रतिपादनपरा त्रयोदशी गाथा। तदनन्तरं** *'पुव्वुत्तासवभेदा'* **इत्यादिका निश्चयनयेन आत्मा द्रव्य-भावास्रवाभ्यां रहित एवेति प्रतिपादयन्ती चतुर्दशी गाथा। एवं संक्षेपेण अष्टम-आस्रवानुप्रेक्षाधिकारस्य समुदायपातनिका ज्ञातव्या।**

**अथेदानीं कर्मास्रवस्य कारणं निरूपयन्ति शास्त्रकाराः–**

**मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य आसवा होंति।**
**पण-पण-चउ-तियभेदा, सम्मं परिकित्तिदा समए॥ ४७॥**

***छाया–*** *मिथ्यात्वम्, अविरमणं कषाययोगाः च आस्रवाः भवन्ति।*
*पञ्च-पञ्च-चतुस्त्रिकभेदाः सम्यक् परिकीर्तिताः समये॥*

---

(सम्यक्) ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया परम्परया मोक्ष की हेतु होती है। इसके बाद, '**आसवहेदू जीवो**' इत्यादि बारहवीं (गाथा-58) आती है जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि जन्म-मृत्यु रूप इस संसार में जीव के डूबने का कारण कर्मास्रव है, और कर्मास्रव में निमित्त होनेवाली प्रत्येक क्रिया मोक्ष की कारण नहीं होती। इसके आगे, '**पारंपज्जाएण दु**' इत्यादि तेरहवीं (गाथा-59) है जिसमें यह बताया गया है कि कर्मास्रव की क्रिया निश्चय नय से परम्परा से भी मोक्ष की साधिका नहीं होती। इसके बाद '**पुव्वुत्तासवभेदा**' इत्यादि चौदहवीं (गाथा-60) है जिसमें निश्चय नय से आत्मा को द्रव्यास्रव व भावास्रव (दोनों) से रहित बताया गया है। इस प्रकार, संक्षेप में आठवें 'आस्रवानुप्रेक्षा' नामक अधिकार की यह समुदाय पातनिका जाननी चाहिए।

अब शास्त्रकार कर्मों के आस्रव (आगमन) के कारण का निरूपण करने जा रहे हैं–

**( 47 )**

**( गाथा-अर्थ– ) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ( रूप आत्म-परिणाम, कर्मों के ) आस्रव होते हैं। इनके ( क्रमशः ) पाँच, पाँच, चार व तीन भेदों को आगम में सम्यक् प्रकार से कहा गया है।**

**( सर्वोदया टीका– ) कायप्रवृत्तिः, वाक्प्रवृत्तिः, मनःप्रवृत्तिः –इत्येताः 'योग' शब्देन अभिधीयन्ते। एष क्रियायोगः कर्मणामास्रवरूपेण शास्त्रे वर्णितः। स आस्रवो द्विविधः –द्रव्यास्रवो भावास्रवश्च। ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यपुद्गलवर्गणारूपं यत् द्रव्यकर्म, तस्य योगनिमित्तेन आत्मप्रदेशेषु आस्रवणं तस्य द्रव्यास्रवसंज्ञा।**

**उक्तं च माइल्लधवलरचिते द्रव्यस्वभावप्रकाशके बृहन्नयचक्रे** *(गाथा–152)*–

*लद्धूण तण्णिमित्तं जोगं जं पुग्गले पदेसत्थं।*
*परिणमदि कम्मभावं तं पि हु दव्वासवं जीवे॥*

**तथैव, तस्य द्रव्यास्रवस्य कारणभूतः आत्मीयो मिथ्यात्वादिपरिणामः, स भावास्रवो ज्ञेयः। भावास्रवनिमित्तको द्रव्यास्रव एव द्वितीयक्षणे तत्तज्जीवप्रदेशेषु स्थितिमाश्रित्य बन्ध इति आख्यायते।**

---

**( सर्वोदया टीका– )** शारीरिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों को 'योग' नाम से अभिहित किया जाता है। इस क्रियात्मक योग को ही शास्त्र में कर्मों का आस्रव (आगमन-द्वार) कहा गया है। वह आस्रव दो प्रकार का है– द्रव्यास्रव और भावास्रव। ज्ञानावरण आदि कर्मों की निष्पत्ति के योग्य कर्म-वर्गणा रूप जो द्रव्यकर्म है, उसका 'योग' के निमित्त से आत्मप्रदेशों में आना –इसे द्रव्यास्रव कहते हैं।

माइल्ल धवल द्वारा विरचित 'द्रव्यस्वभाव-प्रकाशक बृहत् नयचक्र' (गाथा–152) में कहा भी गया है–

"अपने-अपने निमित्त रूप 'योग' को प्राप्तकर आत्मा के प्रदेशों में स्थित पुद्गल-(परमाणुओं) का कर्म रूप से परिणत हो जाना –यह द्रव्यास्रव (आस्रव का दूसरा भेद) है।"

इसी प्रकार, मिथ्यात्व आदि आत्मीय परिणाम को, जो उसी द्रव्यास्रव का कारण है, भावास्रव के रूप में जानना चाहिए। भावास्रव के निमित्त से होने वाला द्रव्यास्रव ही द्वितीय क्षण में उन-उन जीवप्रदेशों में स्थिति प्राप्तकर 'बन्ध' रूप में कहा जाता है।

**उक्तं च बृ. द्रव्यसंग्रहटीकाकारेण** *(गाथा-33)– 'प्रथमक्षणे कर्मस्कन्धानामागमनमास्रवः, आगमनानन्तरं द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेषु अवस्थानं बन्धः'* **इति।**

**अस्यां गाथायां भावास्रवमुख्यतामाश्रित्य निरूपणमस्ति –इति विज्ञेयम्। भावास्रवरूपेषु मिथ्यात्व-अविरति-कषाययोगाः परिगणिताः। एतेषु मिथ्यात्वभेदो वर्ण्यते–** *(मिच्छत्तं पण)* **मिथ्यात्वं पञ्चभेदात्मकम्। तत्र मिथ्यात्वं मिथ्यादर्शनं वा, तस्य स्वरूपं किम्?**

**उच्यते– जिनेन्द्रप्रोक्तजीवादितत्त्वार्थविषयक-अश्रद्धानं, सर्वज्ञप्रणीतोपदेशविषयक-अश्रद्धानं वा, भगवदर्हत्परमेश्वरप्रतिपादितमार्गप्रतिकूलमार्गश्रद्धानं वा मिथ्यादर्शनम्। अथवा शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वम्। अथवा मिथ्यात्वकर्मण उदयात्, आभ्यन्तरे च परमवीतरागनिजशुद्धात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभि-निवेशोत्पादकम्, बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशजनकं च मिथ्यात्वं भण्यते। तस्य द्वौ भेदौ– गृहीतमिथ्यात्वम्, अगृहीतमिथ्यात्वं चेति। एतयोरेव नैसर्गिकं**

---

बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-33) के टीकाकार ने कहा भी है– ''प्रथम क्षण में कर्म-स्कन्धों का आगमन (तो) आस्रव है और द्वितीय आदि क्षणों में जीव-प्रदेशों में उनका अवस्थान (हो जाना) बन्ध है।''

इस गाथा में भावास्रवों को मुख्य रूप से ग्रहणकर निरूपण किया गया है– यह ज्ञातव्य है। भावास्रवों में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग –ये परिगणित हैं। इनमें मिथ्यात्व के भेदों का वर्णन किया जाता है। **( मिथ्यात्वं पञ्च )** अर्थात् मिथ्यात्व पाँच प्रकार का होता है। मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन का स्वरूप क्या होता है?

बता रहे हैं– जिनेन्द्र द्वारा कहे गये जीवादि तत्त्वार्थ के प्रति अश्रद्धान होना या सर्वज्ञ-प्रणीत उपदेश के प्रति श्रद्धा का अभाव होना, या भगवान् अर्हन्त परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित मार्ग से प्रतिकूल मार्ग (मार्गाभास) का श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन होता है। अथवा शुद्ध जीव आदि पदार्थों में विपरीत अभिनिवेश से उपयोग-विकार रूप विपरीत श्रद्धान जो होता है, वह मिथ्यात्व है। अथवा मिथ्यात्वकर्म के उदय के कारण, अन्तरङ्ग में परम वीतराग निजशुद्धात्मतत्त्व के अनुभव रूप रुचि में विपरीत अभिप्राय उत्पन्न करानेवाला तथा बाहरी विषयों में अन्य के (परकीय) शुद्धात्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिनिवेश उत्पन्न कराता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। उसके दो भेद हैं– गृहीतमिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व। इन्हीं

**परोपदेशनिमित्तकं चेति नामनी वर्तेते। तत्रोपदेशनिरपेक्षं मिथ्याकर्मोदयवशाद् आविर्भूतं तत्त्वार्थ-अश्रद्धानलक्षणं नैसर्गिकं मिथ्यात्वम्। मिथ्यात्वलिप्तजनानामार्हतप्रतिकूलं स्वमनोनुकूलं परोपदेशनिमित्तं गृहीतमिथ्यात्वम्। परोपदेशनिमित्तस्य च पञ्च भेदाः– एकान्तमिथ्यात्वम्, विपरीतमिथ्यात्वम्, संशयमिथ्यात्वम्, विनयमिथ्यात्वम्, अज्ञानमिथ्यात्वं च। एतेषां स्वरूपाणि पुरोगाथाव्याख्याने स्पष्टीकृतानि भविष्यन्ति।**

*(अविरमणं पण)* **अविरतिः पञ्चविधा भवति। अविरतिः का? उच्यते– अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविपर्यासरूपा, बहिर्विषये पुनः अव्रतरूपा च या, सा अविरतिः। एतस्याः पंच भेदाः– हिंसा, असत्यं, चौर्यं, कुशीलं (अब्रह्मचर्यम्), परिग्रहश्चेति।**

*(कसाय चउ)* **कषायाश्चतुर्विधाः। यः कुगतिप्रापणाद् आत्मानं कषति हिनस्ति इति कषायः, स च क्रोधादिपरिणामः। अथवा यः कर्मभूमिं (कर्मक्षेत्रं) कर्षति, सुख-दुःखरूपशस्योत्पादनाय कृषक इव भूमिकर्षणं करोति, स कषायो भवति।**

---

के (क्रमशः) अन्य दो नाम हैं– नैसर्गिक व परोपदेशनिमित्तक। इनमें उपदेश-निरपेक्ष (अर्थात्) मिथ्यात्व कर्म के उदय से ही जो तत्त्वार्थविषयक अश्रद्धान आविर्भूत होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से लिप्त प्राणियों के अर्हन्त भगवान् के मत से प्रतिकूल और अपने मनोनुकूल परोपदेशनिमित्तक गृहीतमिथ्यात्व है। परोपदेशनिमित्तक मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं– एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व। इनके स्वरूप को आगे (सं. 48) गाथा में स्पष्ट किया जाएगा।

**(अविरमणं पञ्च)** अविरति पाँच प्रकार की है। अविरति का क्या स्वरूप है? बता रहे हैं– अन्तरङ्ग में निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न परम सुखामृत में जो प्रीति होती है, उससे विपरीत (पूर्णतः भिन्न), तथा बाह्य विषयों में व्रत आदि का पालन न करना, वह अविरति है। इस अविरति के पाँच भेद हैं– हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील (अब्रह्मचर्य) व परिग्रह।

**(कषायाः चत्वारः)** कषाय चार प्रकार की होती है। जो आत्मा को कुगतियों में पहुँचाकर उसे कसता है, आत्म-स्वरूप का घात करता है, वह क्रोध आदि परिणाम कषाय है। अथवा जो कर्मभूमि (कर्म के खेत की भूमि) को जोतता है, अर्थात् सुख-दुःख रूप धान्य की खेती के लिए किसान की तरह भूमि को कर्षित करता है, वह कषाय है।

**उक्तं च ( प्राकृत- ) पञ्चसंग्रहे** *(गाथा-1/109)*–

*सुहदुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स।*
*संसारगदी मेरं तेण कसाओ त्ति णं विंति॥*

**स च कषायः क्रोधमानमायालोभरूपेण चतुर्विधः।**

*(जोगा य तिय भेदा)* **योगः, तस्य च त्रयो भेदाः। वीर्यलब्धिसम्पन्नात्मनो मनोवाक्काय-वर्गणालम्बनः प्रदेशपरिस्पन्दो योगः। तस्य योगस्य त्रयो भेदाः– काययोगः, वाग्योगः, मनोयोगश्च।** *(आसवा होंति)* **आस्रवा भवन्ति, अर्थात् पूर्वोक्ताः मिथ्यात्व-अविरति-कषाय-योगाः भावास्रवरूपा भवन्ति। मिथ्यात्वस्य पंच भेदाः, अविरमणस्य च पंच भेदाः, कषायस्य च चत्वारो भेदाः, योगस्य च त्रयो भेदाः, सर्वे मिलित्वा सप्तदशप्रकारका भावास्रवा भवन्तीति तात्पर्यम्।** *(समए सम्मं परिकित्तिदा)* **समये, सिद्धान्ते, जैन-आगमेषु इत्यर्थः, तत्र भावास्रवा एते सम्यक् परिकीर्तिताः।**

---

(प्राकृत) पञ्चसंग्रह (गाथा-1/109) में भी कहा गया है–

''जो जीव के सुख-दुःख आदि रूप बहुविध धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूप खेत को कर्षण करता है, जोतता है, और जिसके लिए संसार की चारों गतियाँ मर्यादा या मेढ़ रूप हैं, वह क्रोध आदि कषाय कहा जाता है।''

वह कषाय क्रोध, मान, माया व लोभ –इन रूपों में चार प्रकार की होती है।

**( योगाः च, त्रयो भेदाः )** योग के तीन भेद होते हैं। वीर्यलब्धिसम्पन्न आत्मा का मनोवर्गणा, वचनवर्गणा व कायवर्गणा के निमित्त से होने वाला, आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्द (संकोचविकास, हलन-चलन रूप) 'योग' होता है। उस योग के तीन प्रकार हैं– काययोग, वाग्योग और मनोयोग। **( आस्रवा भवन्ति )** अर्थात् पूर्वोक्त मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग –ये भावास्रव होते हैं। मिथ्यात्व के पाँच भेद, अविरति के पाँच भेद, कषाय के चार भेद, योग के तीन भेद –इस प्रकार सब मिलाकर सत्रह प्रकार के भावास्रव होते हैं– यह तात्पर्य है। **( समये सम्यक् परिकीर्तिताः )** समय अर्थात् सिद्धान्तग्रन्थ अर्थात् जैन आगमों में। वहाँ इन भावास्रवों का सम्यक्तया निरूपण किया गया है।

**इत्येवं, हे शिष्य! त्वं निरास्रवरूपनिजशुद्धात्मस्वरूपविपरीतान् भावास्रवान् सम्यक् विज्ञाय आस्रवहेतुनिरोधरूपं संवरं समाश्रय। तस्यैव मोक्षसाधकत्वम्। भावास्रवपरिज्ञानस्य सार्थक्यमिदमेव यत् तत्परिहारं कुरुत, संवरनिर्जरात्मकमोक्षमार्गं च समाश्रय।**

**सम्प्रति मिथ्यात्वस्य पञ्च तथा अविरतेश्च च पञ्च भेदान् शास्त्रकारा निरूपयन्ति–**

**एयंत-विणय-विवरिय-संसयमण्णाणमिदि हवे पंच।**
**अविरमणं हिंसादी, पंचविहो हवदि णियमेण॥४८॥**

**छाया–** *एकान्त-विनय-विपरीत-संशयं अज्ञानमिति भवति पञ्च।*
*अविरमणं हिंसादि पञ्चविधं भवति नियमेन॥*

**(सर्वोदया टीका–)** *(एयंत-विणय-विवरिय-संसयं अण्णाणं इदि पंच हवे)* **भावास्रवेषु प्रथमं मिथ्यात्वं, तत्पञ्चविधम्, तेषां नामानि सन्ति– एकान्तमिथ्यात्वम्, विनयमिथ्यात्वम्, विपरीतमिथ्यात्वम्, संशयमिथ्यात्वम्, अज्ञानमिथ्यात्वं चेति। तत्रैकान्तो द्विविधः– सम्यगेकान्तो मिथ्या एकान्तश्च। प्रमाणविषयीभूत-अनेकधर्मात्मकवस्तु-निष्ठ-एकधर्मगोचरो धर्मान्तर-**

---

इस प्रकार, हे शिष्य! निरास्रवरूप स्वकीय शुद्धात्मस्वरूप से विपरीत इन भावास्रवों को अच्छी तरह जानकर आस्रव हेतु के निरोध रूप संवर का आश्रय लो। वही मोक्ष का साधक है। भावास्रवों के परिज्ञान कराने की सार्थकता यही है कि उन (आस्रव) का परिहार करो और संवर-निर्जरात्मक मोक्षमार्ग का आश्रय लो।

अब, मिथ्यात्व के पाँच तथा अविरति के पाँच भेदों का निरूपण शास्त्रकार कर रहे हैं–

**(48)**

**(गाथा-अर्थ–) एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान (मिथ्यात्व) –ये पाँच भेद (मिथ्यात्व के) होते हैं। जो अविरति है, वह नियमतः हिंसा आदि पाँच प्रकार की होती है।**

**(सर्वोदया टीका–) (एकान्त-विनय-विपरीत-संशयम् अज्ञानमिति पञ्च भवति)** भावास्रवों में प्रथम परिगणित मिथ्यात्व है, वह पाँच प्रकार का है। उनके नाम हैं– एकान्तमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व। इनमें एकान्त के दो प्रकार हैं–

**अप्रतिषेधकः सम्यगेकान्तः। मिथ्या-एकान्तस्तु सर्वथा एकधर्ममात्रावधारणेन अन्यसमस्तधर्म-निराकरणप्रवणः। अत्र मिथ्याएकान्तो मिथ्यात्वरूपेण ग्राह्यः। 'इदमेव, इत्थमेव' इति धर्मिधर्मयोः सर्वथाऽभिनिवेशः एकान्तमिथ्यात्वम्। यथा वस्तु सर्वथा सद्रूपमेव, सर्वथा शुद्धमेव, सर्वथा नित्यमेव –इत्यादिएकान्ताभिनिवेशस्य मिथ्यात्वसंज्ञा। तस्य त्रिषष्टिअधिक-त्रिशतसंख्यकभेदाः** *(363)* **वर्ण्यन्ते। अथवा परोपदेशनिमित्तकमिथ्यादर्शनस्य अनेके संख्यातविकल्पाः सम्भवन्ति, तत्परिणामविकल्पाश्च असंख्येया भवन्ति, अनुभागदृष्ट्या च तस्यानन्तभेदाश्च सम्भवन्ति, अतो मिथ्यात्वस्य असंख्यात-अनन्तभेदा अपि ज्ञेयाः।**

**तदेकान्तमिथ्यात्वं त्याज्यमेव, यतो हि वस्तु अनेकान्तस्वरूपं बिभर्ति, तस्य कथनं स्याद्वादेन सम्भवति, अतः स्याद्वाद एव श्रद्धानयोग्य आश्रयणीयश्च।**

**समन्तभद्राचार्यैरपि प्रोक्तं स्वयम्भूस्तोत्रे** *(श्लोक-98)*–

---

सम्यग्एकान्त और मिथ्याएकान्त। प्रमाणसिद्ध अनेकधर्मात्मक जो वस्तु है, उसमें रहने वाला जो धर्म है, उस धर्म को, अन्य धर्मों का निषेध न करते हुए विषय करनेवाला –यह सम्यग्एकान्त है। और पदार्थ के एक ही धर्म का निश्चय करके अन्य समस्त धर्मों के निषेध करने में जो तत्पर है, वह मिथ्याएकान्त है। यहाँ मिथ्याएकान्त मिथ्यात्वरूप से ग्राह्य है। 'ऐसा ही है, इसी प्रकार से है', इस तरह धर्म और धर्मी के विषय में सर्वथा अभिनिवेश (दुराग्रह) होना, एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे– वस्तु सर्वथा सद्रूप से ही है, सर्वथा से शुद्ध ही है, नित्य सर्वथा ही है, इत्यादि एकान्त अभिनिवेश (दुराग्रह) की मिथ्यात्व संज्ञा है। उस मिथ्यात्व के तीन सौ तिरेसठ भेद बताये जाते हैं। अथवा –परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शन के अनेक संख्यात विकल्प (दृष्टिभेद) सम्भव हो सकते हैं, और उनके परिणामों के विकल्प भी असंख्येय होते हैं, अनुभाग की दृष्टि से उसके अनन्त भेद भी हो सकते हैं, इसलिए मिथ्यात्व के असंख्यात व अनन्त भेद भी जानने चाहिए।

वह एकान्तमिथ्यात्व छोड़ने योग्य ही है, क्योंकि वस्तु तो अनेकान्त रूप को लिये हुए होती है और उसका कथन स्याद्वाद से सम्भव होता है, इसलिए स्याद्वाद ही श्रद्धान योग्य है और आश्रयणीय है।

आचार्य समन्तभद्र जी महाराज ने स्वयम्भूस्तोत्र (श्लोक-98) में कहा भी है–

*अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।*
*ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्, तदयुक्तं स्वघाततः॥*

**तथैव तत्रैव** *(श्लोक-24, 42)* **तैः प्रतिपादितम्–**

*न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।*
*नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्‌गलभावतोऽस्ति॥*

*तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्, तथा प्रतीतेस्तव तत्कथंचित्।*
*नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च, विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात्॥*

**सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकमिथ्यात्वम्। यथा- दुष्टे गुणसम्पन्ने वा देवे, उभयोः समानभक्तिः, सर्वदेवान् प्रति प्रणामादिकं वैनयिकमिथ्यात्वम्। तस्य द्वात्रिंशद् भेदा भवन्ति।**

---

''हे अरहनाथ भगवान्! आपकी अनेकान्त दृष्टि सती अर्थात् सच्ची है, इसके विपरीत जो एकान्त मत है, वह शून्य रूप (असत्) है। अतः जो कथन अनेकान्त दृष्टि से रहित है, वह सब मिथ्या (असत्) है, क्योंकि वह अपना ही घातक है।''

इसी प्रकार उसी ग्रन्थ (श्लोक-24 व 42) में उन्होंने यह प्रतिपादित किया है–

''हे सुमतिनाथ जिनेन्द्र! यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय-अस्त को प्राप्त नहीं हो सकती और न ही उसमें क्रिया-कारक की ही योजना बन सकती है। जो सर्वथा असत् है, उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। दीपक के बुझने पर वह सर्वथा नाश को प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकार रूप पुद्‌गल-पर्याय को धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है।''

''हे सुविधिनाथ जिन! आपका वह तत्त्व कथंचित् तद्‌रूप है, और कथंचित् तद्‌रूप नहीं है, क्योंकि वैसे ही कथंचित् सत्-असत् रूप की प्रतीति होती है। स्वरूपादि-चतुष्टय रूप विधि और पररूपादि-चतुष्टय रूप निषेध में परस्पर अत्यन्त भिन्नता व अभिन्नता नहीं है, क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता मानने पर शून्यता का दोष आता है।''

सभी देवों और सभी मतों में समान दृष्टि या आदरभाव वैनयिकमिथ्यात्व होता है। दुष्ट हो या गुणसम्पन्न, दोनों में समान भक्ति एवं सभी देवों के प्रति प्रणाम आदि करना –यह वैनयिक मिथ्यात्व है। उसके बत्तीस भेद होते हैं।

**श्रमणो ( मुनिः ) सग्रन्थः, केवली कवलाहारी भवति, स्त्री सिद्ध्यति –इत्यादिकं विपरीतमतं विपरीतमिथ्यात्वं भण्यते। अथवा हिंसालीकवचनचौर्यमैथुनपरिग्रहादीनां चरणेन मुक्तिर्भवतीति जिनेन्द्रप्रोक्तमतविपरीताभिनिवेशरूपं विपरीतमिथ्यात्वं भण्यते। विपरीतमिथ्यात्व-समुत्पत्तिविषये देवसेनाचार्यवरैः दर्शनसारग्रन्थे** *(गाथा-16-17)* **प्रोक्तम्–**

*सुव्वयतित्थे उज्झो खीरकदंबुत्ति सुद्धसम्मत्तो।*
*सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तो वि य पव्वओ वक्को॥*

*विवरीयमतं किच्चा विणासियं सच्चसंजमं लोए।*
*तत्तो पत्ता सव्वे सत्तम-णरयं महाघोरं॥*

**एवं जगत्पदार्थानां कारणविषये सांख्य-बौद्ध-वैशेषिक-दर्शनानि विपरीतमतं प्रकटयन्ति, अतस्तानि विपरीतमिथ्यात्वरूपाणि। एवं कारण-कार्ययोः सर्वथा भेदमभेदं वा मन्वानाः बौद्धसांख्यादयो विपरीतमिथ्यात्वं प्रकटयन्ति। एवमन्यान्यपि मतानि ऊह्यानि।**

श्रमण (मुनि) तो सग्रन्थ (वस्त्रधारी) होता है, केवलज्ञानी कवलाहारी होते हैं, स्त्री को (उसी भव में) मुक्ति प्राप्त होती है –इत्यादि विपरीत मान्यता को विपरीतमिथ्यात्व कहा जाता है। अथवा– हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह आदि के आचरण से मुक्ति मिलती है– इस प्रकार जिनेन्द्र-प्रणीत सिद्धान्त से विपरीत दुराग्रह स्वरूप को विपरीतमिथ्यात्व कहा जाता है। विपरीतमिथ्यात्व की उत्पत्ति के बारे में आचार्य देवसेन ने दर्शनसार ग्रन्थ (गाथा-16-17) में बताया है–

''मुनिसुव्रतनाथ के शासन में एक क्षीरकदम्बक नाम का उपाध्याय था। वह सम्यग्दृष्टि था। उसका एक दुष्ट शिष्य (राजा वसु) था और पर्वत नाम का वक्र (विपरीत सोच वाला) पुत्र था।''

''उन्होंने विपरीत मत बनाकर संसार में सच्चे संयम को नष्ट कर दिया और परिणाम-स्वरूप वे घोर सप्तम नरक में गये।''

इसप्रकार, जगत् के पदार्थों के (मूल) कारण के विषय में सांख्य, बौद्ध व वैशेषिक दर्शन विपरीत मान्यता को प्रकट करते हैं, इसलिए वे विपरीत मिथ्यात्व रूप हैं। इसीतरह कारण व कार्य में सर्वथा भेद या अभेद माननेवाले बौद्ध व सांख्य आदि दर्शन भी विपरीत मिथ्यात्व को प्रकट करते हैं। इसी तरह, अन्य मतों के बारे में भी विचारकर लेना चाहिए।

**विरुद्धानेककोटिस्पर्शि श्रद्धानं संशयमिथ्यात्वम्। यथा– सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गो भवतीति वा न वेति अन्यतर-पक्ष-अपरिग्रहः संशयः। संशयेन युक्तं यत् संशयितं, तन्मिथ्यात्वमेव। तत्त्वानवधारणात्मकं संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितमिथ्यात्वमिति। न हि संदिहानस्य तत्त्वविषये श्रद्धानं भवति– इदमित्थमेवेति, निश्चयप्रत्ययसहभावित्वात् श्रद्धानस्य। अथवा– शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञदेवप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति संशयः।**

**अत्रेदं विज्ञेयम्– सम्यग्दृष्टेरपि शंकानामकोऽतीचारः सम्यग्दर्शनस्य कथितः। तत्र शंका, संशयमिथ्यात्वम् –इत्यनयोः को भेदः? उभयोरपि संशयसद्भावात्।**

**अत्र समाधीयते –यत्र शंका सम्यग्दर्शनातिचाररूपा, तत्र सम्यग्दर्शनस्य समलतायामपि सग्यग्दर्शनसद्भाव एव, संशयमिथ्यात्वे तु मिथ्यात्वमेवेति विशेषः। सम्यग्दर्शिनः श्रुतज्ञानावरण-क्षयोपशमविशेषाभावात् निर्णयो नैव जायते, तथापि स मनुते यदिदं सर्वज्ञेन प्रणीतं, तथैव श्रद्दधेऽहम्,**

---

विरुद्ध अनेक पक्षों का अवगाहन करनेवाला श्रद्धान संशय मिथ्यात्व है। जैसे– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र –ये मोक्षमार्ग रूप है कि नहीं –ऐसे द्विविध विचारों में किसी एक भी पक्ष का ग्रहण नहीं करना संशय है। संशय से युक्त जो संशयित, वह मिथ्यात्व ही है। तत्त्व का निर्णय न हो पाने तथा संशय ज्ञान का सहवर्ती जो अश्रद्धाभाव है, वह संशयित मिथ्यात्व है। संदेह होने पर तत्त्वविषयक 'यह ऐसा ही है' –ऐसा श्रद्धान नहीं हो पाता, क्योंकि श्रद्धान तो निश्चयात्मक प्रतीति का सहचारी हुआ करता है। अथवा– शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों का प्रतिपादक आगम-ज्ञान, क्या वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा कहा हुआ है या अन्यसिद्धान्तियों द्वारा –यह विचार 'संशय' है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है– सम्यग्दृष्टि के भी सम्यग्दर्शन का शंका नामक अतीचार माना जाता है। तो, शंका व संशयमिथ्यात्व –इनमें क्या भेद है क्योंकि संशय का सद्भाव तो इन दोनों में है?

यहाँ समाधान इस प्रकार है– जहाँ सम्यग्दर्शन के अतिचार स्वरूप शंका होती है, वहाँ भले ही सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता हो, किन्तु सम्यग्दर्शन तो रहता ही है, किन्तु संशयमिथ्यात्व में तो मिथ्यात्व ही है– यही दोनों में अन्तर है। सम्यग्दृष्टि के श्रुतज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम न हो पाने से निर्णय नहीं हो पाता, फिर भी वह मानता है कि यह जो सर्वज्ञप्रणीत (शास्त्र) है, मेरी उस पर वैसी ही श्रद्धा है, किन्तु वस्तु

**वस्तुनिर्णये जिज्ञासाभाव एव वर्तते, अतो न तस्य सम्यक्त्वहानिः। संशयमिथ्यात्वे तु दर्शनमोहोदयात् सम्यक्त्वाभाव एव, यतो हि सर्वज्ञोक्तमितितत्त्वश्रद्धानमेव तस्य न भवति।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गा. 55)– "तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।"*

**अज्ञानं नाम कुत्सितज्ञानम्। तद् येषामस्ति ते अज्ञानिकाः। हिताहितपरीक्षाविरहास्ते भवन्ति। ते मन्यन्ते– अज्ञानमेव श्रेयः, असच्चिन्तनकृतकर्मबन्धवैफल्यात्, तथा न कस्यापि क्वचिदपि वस्तुनि अस्ति प्रमाणम्, असम्पूर्णवस्तुविषयत्वाद् इत्यादि। तेषां वैचारिकविकल्पानाश्रित्य सप्ताधिकषष्टिः** *(67)* **भेदा भवन्ति –इति गोम्मटसारे** *(कर्मकाण्ड, 886-887 गाथासु)* **निरूपितम्–**

*को जाणइ णवभावे सत्तमसत्तं दयं अवच्चमिदि।*
*अवयणजुदसत्ततयं इदि भंगा होंति तेसट्ठी॥*

---

के निर्णय में जिज्ञासा भाव ही होता है, अतः उसका सम्यक्त्व नष्ट नहीं हुआ है। संशयमिथ्यात्व में तो दर्शनमोह के उदय से सम्यक्त्व का अभाव ही रहता है, क्योंकि उसके यह श्रद्धान ही नहीं होता कि ये तत्त्व सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट हैं।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (की गाथा-55) में कहा भी गया है– "यथार्थ तत्त्वों के प्रति जो अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व है।"

अज्ञान का अर्थ (ज्ञान का अभाव नहीं, अपितु) कुत्सित ज्ञान है। ऐसा ज्ञान जिनका हो, वे अज्ञानिक हैं। वे हित-अहित की परीक्षा से रहित होते हैं। वे मानते हैं– अज्ञान ही श्रेयस्कर है। असत् वस्तु के चिन्तन से कर्मबन्ध नहीं होता, वैसे ही किसी की भी, कभी भी, किसी भी वस्तु में (समग्रतया) प्रमाणभूत ज्ञान नहीं होता, क्योंकि प्रमाण के द्वारा असम्पूर्ण ही वस्तु को विषय किया जाता है, इत्यादि। इनके वैचारिक विकल्पों के आधार पर सड़सठ भेद होते हैं, जिनका निर्देश गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, गाथा-886-87) में इस प्रकार किया गया है–

"जीव और नौ पदार्थों में से एक-एक के (स्याद्वाद की सप्तभंगी के) अस्ति, नास्ति आदि सात भंगों में से एक-एक से जीव है –ऐसा कौन जानता है? अर्थात् जीव है, –ऐसा कौन जानता है? जीव नहीं है –ऐसा कौन जानता है? जीव (अस्ति-नास्ति) है भी, नहीं भी है –इसे कौन जानता है? जीव अवक्तव्य है– ऐसा कौन जानता है? जीव (अस्ति, अवक्तव्य) है भी, अवक्तव्य भी है– ऐसा कौन जानता है? जीव

*को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्धं खु दोण्णि पंतिभवा।*
*चत्तारि होंति एवं अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी॥*

**अज्ञानवादस्य समुत्पत्तिविषये दर्शनसारे** *(गाथा-20)* **समुल्लिखितम्-**

*सिरिवीरणाहतित्थे बहुस्सुदो पाससंघगणिसीसो।*
*मक्कडिपूरणसाहू अण्णाणं भासए लोए॥*

**धवलाग्रन्थे च** *(पु. 1, खंड-1, भाग-1, अधिकार-2, सू. 108)* **अज्ञानवादिनां शाकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यन्दिन-वसु-जैमिनिप्रभृतीनां नामान्यपि कानिचित् निर्दिष्टानि। एवं पञ्चविधं मिथ्यात्वं भावास्त्रवरूपं ज्ञेयमिति तात्पर्यम्। मिथ्यात्वस्य पञ्चभेदानुक्त्वा**

---

(नास्ति, अवक्तव्य) नहीं है, अवक्तव्य भी है- ऐसा कौन जानता है? जीव (अस्ति नास्ति अवक्तव्य) है भी, नहीं भी है, अवक्तव्य भी है- ऐसा कौन जानता है? इसी प्रकार जीव की जगह अजीव आदि का विचार करें तो कुल तिरेसठ भेद होते हैं।'' [सात पदार्थों की सप्तभंगी के कुल 7×9=63 भेद होते हैं, इस प्रत्येक भेदों को कोई भी जाननेवाला नहीं है- ऐसा माननेवालों की कुल संख्या 63 हो जाती है।]

''इसी तरह शुद्ध पदार्थ को लें। उनके अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति व अवक्तव्य -ये चार भंग (भेद) बनते हैं। (शुद्ध द्रव्य में अस्ति अवक्तव्य आदि तीन भेद नहीं लिये जाते हैं।) (पूर्व के 63 भेदों को मिलाने से) अज्ञानियों (अज्ञानवादियों) के कुल भेद सड़सठ हो जाते हैं।''

अज्ञानवाद की उत्पत्ति के विषय में दर्शनसार (गाथा-20) में कहा गया है-

''महावीर भगवान् के तीर्थ में पार्श्वनाथ तीर्थंकर के संघ के किसी गणी का शिष्य मस्करी पूरण नामक साधु था, उसने लोक में 'अज्ञान मिथ्यात्व' का उपदेश दिया था।''

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खंड-1, भाग-1, अधिकार-2, सू. 108) में अज्ञानवादियों के कुछ नाम भी निर्दिष्ट किये गये हैं- शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यन्दिन, वसु, जैमिनि आदि। इसप्रकार, पाँच प्रकार के मिथ्यात्व को भावास्त्रव रूप में जानना चाहिए, ऐसा तात्पर्य है। मिथ्यात्व के पाँच भेदों का कथनकर अब शास्त्रकार अविरमण के भी पाँच भेदों का निर्देश कर रहे हैं- **(नियमेन**

**शास्त्रकाराः अविरमणस्यापि पञ्च भेदान् निर्दिशन्ति–** *(णियमेण अविरमणं पञ्चविहो हिंसादी हवदि)* **–नियमेन, अविरमणस्य हिंसादिकाः पञ्च भेदा भवन्ति –इत्यर्थः। हिंसा, असत्यम्, स्तेयम्, अब्रह्मचर्यम्, परिग्रहः –इत्येतत्पञ्चविधं भवति अविरमणम्।**

**एवं हे भव्य शिष्य! पूर्वोक्तानि मिथ्यात्व-अविरतिस्वरूपाणि निजपरमपारिणामिक-स्वरूपविपरीतानि सन्ति –इति विज्ञाय, तत्त्यागं विहाय, निजशुद्धात्मरुचिरूप-निश्चयसम्यक्त्वं तथा तदविनाभूतं वीतरागचारित्रं च धारय –इति गाथायाः तात्पर्यम्।**

**इदानीं शास्त्रकाराः भावास्त्रवरूपेण परिगणितयोः कषाययोगयोर्भेदान् निर्दिशन्ति–**

**कोहो माणो माया, लोहो वि य चउविहं कसायं खु।**
**मण-वय-कायेण पुणो, जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥४९ ॥**

***छाया–*** *क्रोधः मानः माया लोभः अपि च चतुर्विधः कषायः खलु।*
*मनोवचःकायेन पुनः योगः त्रिविकल्प इति जानीहि ॥*

---

**अविरमणं हिंसादि पञ्चविधं भवति )** अर्थात् नियमतः अविरमण के हिंसा आदि रूपों में पाँच प्रकार होते हैं। अविरमण के पाँच प्रकार हैं– हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य व परिग्रह।

इस प्रकार, हे भव्य शिष्य! मिथ्यात्व व अविरति के पूर्व-कथित स्वरूप निजपरमपारिणामिक चैतन्यस्वरूप से विपरीत (प्रतिकूल) हैं– यह जानकर, उनका त्यागकर और निज शुद्धात्म-विषयक रुचि रूप 'निश्चय सम्यक्त्व' को और उसके अविनाभूत वीतरागचारित्र को धारण करो –यह गाथा का (सारभूत) तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार भावास्त्रव रूप में परिगणित कषाय व योग के भेदों को बता रहे हैं–

**( 49 )**

**( गाथा-अर्थ– ) वस्तुतः कषाय क्रोध, मान, माया व लोभ –इस तरह चार प्रकार की होती है। और योग मन, वचन व शरीर के भेदों से तीन प्रकार का है –ऐसा जानें।**

**( सर्वोदया टीका– )** *(चउविहं कसायं खु)* **कषायश्चतुर्विधः खलु। कषायस्य प्रमुखतः चत्वारो भेदाः एवेत्यर्थः। राग-द्वेष-मात्सर्य-ईर्ष्याप्रभृतीनां चतुर्षु एतेष्वेवान्तर्भावात् तेषां संख्या नाधिकेति भावः।**

**के ते चत्वारः? इत्याह–** *(कोहो, माणो, माया, लोहो वि य)* **क्रोधः, मानः, माया तथा लोभश्चेति चत्वारः कषायाः। तत्र क्रोधचारित्रमोहोदये सति रोषरूप आत्मीयपरिणामः क्रोधः। मानचारित्रमोहोदये सति अभिमानात्मक आत्मीयपरिणामो मानः। मायानामचारित्रमोहोदये सति निःकृतिरूप आत्मपरिणामो माया। लोभसंज्ञकचारित्रमोहोदये सति कृपणतारूप आत्मीयपरिणामो लोभः।**

**अत्रेदं विज्ञेयम्– नारक-मनुष्य-तिर्यक्-देवेतिगतिचतुष्टयोदये प्रथमसमये क्रोध-मान-माया-लोभकषायाणां क्रमश उदयो भवति, तद्विषये दृष्टिभेदोऽपि वर्तते –इति तद्विषये शास्त्रीयनिरूपणं प्रस्तूयते। अत एव गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, गाथा-288)* **निरूपितमस्ति–**

*णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि।*
*कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि॥*

---

**( सर्वोदया टीका– ) ( चतुर्विधः कषायः खलु )** कषाय चतुर्विध हैं। अर्थात् कषाय के प्रमुखतः चार भेद ही हैं। राग, द्वेष, मात्सर्य व ईर्ष्या आदि कषायों का इन चारों में अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए उनकी संख्या (चार ही है,) अधिक नहीं –यह भाव है।

वे चार कषाय कौन-कौन सी हैं? उत्तर दिया– **( क्रोधः, मानः, माया, लोभः अपि च )** क्रोध, मान, माया व लोभ –ये चार कषाय हैं। उनमें क्रोधचारित्रमोह के उदय से रोषरूप आत्मीय परिणाम 'क्रोध' है। मानचारित्रमोह के उदय से अभिमानात्मक आत्मीयपरिणाम 'मान' है। माया चारित्रमोह के उदय से निःकृति रूप आत्मीय परिणाम 'माया' है। लोभ चारित्रमोहोदय होने पर कृपणता रूप आत्मीय परिणाम 'लोभ' है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है– नारक, मनुष्य, तिर्यञ्च, देव –इन चार गतियों के उदय में, प्रथम समय में क्रोध, मान, माया व लोभ –इनका क्रमशः उदय होता है। इस विषय में दृष्टिभेद (विचारभेद) भी प्राप्त है– इस विषय के शास्त्रीय (सन्दर्भ का) निरूपण किया जा रहा है। इसी दृष्टि से गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-288) में निरूपित किया गया है–

"नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवगति में उत्पन्न होने के प्रथम समय में क्रम से क्रोध, माया, मान व लोभ का उदय होता है। अथवा ऐसा नियम नहीं भी है।"

**उक्तगाथायाम् 'अणियमो वापि' इति कथनं विचारभिन्नतां व्यनक्ति। व्याख्याकाराचार्याणां मते प्रथमसमये क्रोधादि-उदयो यो निर्दिष्टः, स कषायप्राभृतविरचयितुः यतिवृषभाचार्यस्य मतमनुसृत्य कृतः, किन्तु महाकर्मप्रकृतिप्राभृतसिद्धान्तकर्तुः भूतबलिआचार्यस्य मते पूर्वोक्तनियमो नास्ति इति गोम्मटसारजीवकाण्डे** *(गाथा-288)* **तथा तस्य जीवतत्त्वप्रदीपिकाटीकायां निर्दिष्टम्। यत्र च प्रोक्तनियमः स्वीकृतोऽपि, तत्र प्रत्येकगतौ जन्मनः प्रारम्भे, कषायोदये सति अन्तर्मुहूर्तमेव क्रोधादि-उदयो भवति, तथा च तत्र तीव्रमन्दादिपरिणामभेदोऽपि जायते एव। यथा, नारकाणां क्रोधकषायोदये अन्तर्मुहूर्तं यावत् उदकराजिसमानक्रोधो भवति, स मन्दानुभागस्वरूपः। किन्तु अन्तर्मुहूर्तकालमुल्लंघ्य अर्धमासं यावत् क्रोधं वेदयते, तदा नियमेन बालुकारेखासमानक्रोधमनुभवति। एतत्सम्बन्धे विस्तरस्तु जयधवलाग्रन्थे** *(भाग-12, गाथा-85, सू. 51-54, पृ. 180-182)* **ज्ञातव्यः। तीव्रमन्दप्रभृति-परिणामवतां स्वरूपविषये कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थराजे** *(गा. 91-92)* **प्रोक्तम्–**

*सव्वत्थ वि पियवयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।*
*सव्वेसिं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता॥*

---

उक्त गाथा में प्रयुक्त 'ऐसा नियम नहीं भी है' यह कथन यहाँ विचार-भिन्नता को व्यक्त करता है। (उक्त गाथा के) व्याख्याकार आचार्य के अनुसार, (प्रत्येक गति के) प्रथम समय में क्रोध आदि के उदय का जो कथन किया गया है, वह कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य यतिवृषभ की मान्यता को आधार मानकर किया गया है, किन्तु महाकर्मप्रकृति प्राभृतसिद्धान्त के कर्ता आचार्य भूतबलि के अनुसार पूर्वोक्त नियम नहीं है –ऐसा गोम्मटसार के जीवकाण्ड (की गाथा-288) में तथा उसकी जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका में कहा गया है। जहाँ पूर्वोक्त नियम स्वीकृत है, वहाँ भी प्रत्येक गति में जन्म के प्रारम्भ में, वस्तुतः जन्म से अन्तर्मुहूर्त तक क्रोधादि का उदय होता है और उसमें तीव्र, मन्द आदि परिणाम भेद भी होते हैं। जैसे, नारकों के क्रोध कषाय का उदय होने पर अन्तर्मुहूर्त तक उदकराजि (जलरेखा) के समान क्रोध होता है, वह मन्दानुभाग स्वरूप होता है। किन्तु अन्तर्मुहूर्त काल का उल्लंघन कर अर्धमास तक क्रोध का वेदन करता है तो नियम से बालुकारेखा के समान क्रोध का अनुभव करता है। इस सम्बन्ध में विस्तार से जयधवला ग्रन्थ (भाग-12, गाथा-85, सू. 51-54, पृ. 180-182) से ज्ञातव्य है। तीव्र, मन्द आदि परिणाम वालों के स्वरूप के बारे में कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा-91-92) ग्रन्थराज में कहा गया है–

"सभी से प्रिय वचन बोलना, खोटे वचन बोलने पर भी दुर्जन को क्षमा कर देना, सभी के गुणों को ग्रहण करना –ये मन्दकषायी जीवों के उदाहरण हैं।"

*अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।*
*वेरधरणं च सुइरं तिव्वकसायाण लिंगाणि॥*

*(पुणो)* **पुनः**, *(जोगो)* **योगः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपः**, *(मणवचकायेण तिवियप्पं)* **मनोवचनकायेतिभेदैः त्रिप्रकारो योगो भवति, यथा– मनोयोगः, वचनयोगः, काययोगः इति।** *(इदि जाणे)* **इति जानीहि, सम्यक्तया अवबुद्ध्यस्वेत्यर्थः।**

**एतेषु काययोगः सप्तप्रकारको भवति, यथा– औदारिककाययोगः, औदारिकमिश्रकाय-योगः, वैक्रियिककाययोगः, वैक्रियिकमिश्रकाययोगः, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाय-योगः, कार्मणकाययोगश्चेति। शुभाशुभमनःप्रभृतिनिमित्ततया योगः शुभोऽशुभश्च भवति। एतैः काययोगैः कर्मणामास्रवो भवति, आस्रवपूर्वको बन्धोऽपि जायते। तत्र प्रकृतिबन्धः प्रदेशबन्धश्च योगनिमित्तकौ भवतः।**

**इत्येवं सम्यगवबुद्ध्य भो चेतन! निष्कषायनिर्योगस्वरूपविपरीतान् कषाययोगान् परिज्ञाय तत्त्यागाय अथ च वीतराग-अयोगदशाप्राप्त्यै प्रयतितव्यमिति गाथायाः तात्पर्यम्।**

---

"अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष निकालने का स्वभाव होना, बहुत काल तक वैर धारण करना –ये तीव्रकषायी जीवों के चिन्ह हैं।"

**( पुनः )** और, **( योगः )**– आत्मीय प्रदेशों का परिस्पन्द रूप योग, **( मनोवचःकायेन त्रिविकल्पः )** मन-वचन व काय –इन तीन रूपों से योग तीन प्रकार का होता है। जैसे– मनोयोग, वचनयोग और काययोग। **( इति जानीहि )** ऐसा जानें, अर्थात् सम्यक्तया समझ लें।

इन योगों में काययोग के सात भेद होते हैं। जैसे– औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग। शुभ-अशुभ मन आदि के निमित्त से योग शुभ और अशुभ रूप होता है। इन काययोगों से कर्मों का आस्रव होता है, और आस्रवपूर्वक बन्ध भी होता है। उस बन्ध में प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध योग के कारण हुआ करते हैं।

इसप्रकार, अच्छी तरह समझ कर हे चेतन (जीव)! कषायरहित व योगहीन आत्मीय (शुद्ध) स्वरूप से ये कषाय व योग विपरीत हैं– यह जानकर, उनके त्याग के लिए और वीतराग व अयोगी अवस्था की प्राप्ति के लिए तुम्हें प्रयत्न करना चाहिए –यह गाथा का तात्पर्य है।

**सम्प्रति शास्त्रकाराः योगस्य विशेषभेदान् निरूपयन्ति–**

**असुहेदरभेदेण दु, एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं।**
**आहारादी सण्णा, असुहमणं इदि वियाणेहि ॥५०॥**

***छाया–*** *अशुभेतरभेदेन तु एकैकं वर्णितं भवेत् द्विविधम्।*
*आहारादयः संज्ञाः अशुभमनः इति विजानीहि॥*

**( सर्वोदया टीका– ) पूर्वोक्तयोगत्रये,** *(एक्केक्कं)* **प्रत्येकम्, मनोयोगः, वचनयोगः, काययोगः, एतेषु प्रत्येकम् इत्यर्थः।**

*(असुहेदरभेदेण दु)* **अशुभः, तदितरः शुभः, तयोर्भेदेन तु, अर्थात् प्रत्येकयोगः शुभोऽशुभश्चेति भेदद्वयेन भिन्नः स्वीक्रियते,** *(दुविहं वण्णिदं हवे)* **प्रत्येकयोगो द्विविधो वर्णितः, शास्त्रे इति शेषः। एवं योगस्य षड्भेदा जायन्ते– अशुभमनोयोगः, शुभमनोयोगः, अशुभवचनयोगः, शुभवचनयोगः, अशुभकाययोगः, शुभकाययोगश्चेति। एतेषु षट्सु प्रथमोऽशुभमनोयोगस्तस्य किं स्वरूपम्?**

---

अब शास्त्रकार योग के विशेष भेदों का निरूपण कर रहे हैं–

( 50 )

**( गाथा-अर्थ– ) ( मन, वचन व शरीर –इन तीनों योगों में से ) प्रत्येक योग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का बताया गया है। आहार ( भय, मैथुन व परिग्रह ) आदि संज्ञाएँ अशुभ मनोयोग हैं– ऐसा जानो।**

**( सर्वोदया टीका– )** पूर्वोक्त तीन योगों में, **( एकैकम् )** प्रत्येक, अर्थात् मनोयोग, वचनयोग व काययोग, इनमें से प्रत्येक योग –यह अर्थ है।

**( अशुभेतरभेदेन तु )** अशुभ और उससे इतर अर्थात् शुभ, इन दोनों के भेद से, यानी प्रत्येक योग शुभ और अशुभ –इन दो भेदों वाला माना गया है– **( द्विविधं वर्णितं भवेत् )** प्रत्येक योग दो-दो प्रकार का वर्णित है। (कहाँ?) शास्त्र में –यह पूर्ववाक्य का अवशेष समझना चाहिए। इसप्रकार, योग के छः भेद हो जाते हैं– अशुभ मनोयोग, शुभ मनोयोग, अशुभ वचनयोग, शुभ वचनयोग, अशुभ काययोग और शुभ काययोग। इन छहों योगों में जो प्रथम अशुभ मनोयोग है, उसका क्या स्वरूप है?

**उच्यते–** *(आहारादी सण्णा)* **आहारादिकाः चतस्त्रः संज्ञाः भवन्ति। अत्र आदिपदेन भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा –इत्यासां संग्रहः। संज्ञा नाम आहारादिविषयाभिलाषः।**

**एतासां संज्ञानां विषये उक्तं च (प्राकृते) पञ्चसंग्रहे** *(गाथा-1/51)– ''इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं। सेवंता वि य उभए...।''* **तत्र विशिष्टान्नादिविषये विशिष्टपानकादिविषये योऽभिलाषो जायते, तस्य आहारसंज्ञेति नाम। एषा संज्ञा चतुर्भिः कारणैर्भवति।**

**उक्तं च तत्रैव** *(प्राकृतपञ्चसंग्रहे, गाथा-1/52-55)–*

*आहारदंसणेण य तस्सुवओगेण ऊणकुट्ठेण।*
*सादिदउदीरणाए होदि हु आहारसण्णा दु॥*

*अइभीमदंसणेण य तस्सुवओगेण ऊणसत्तेण।*
*भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चउहिं॥*

---

बता रहे हैं– **(आहारादयः संज्ञाः)** आहार आदि चार संज्ञाएँ (अशुभ मनोयोग) होती हैं। यहाँ आदि पद से भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा व परिग्रह संज्ञा –इनका ग्रहण होता है। संज्ञा का अर्थ है– आहार आदि विषयों में अभिलाषा होना।

इन संज्ञाओं के विषय में (प्राकृत) पञ्चसंग्रह (गाथा-1/51) में कहा भी गया है– ''जिनसे बाधित होकर जीव इसलोक में दारुण दुःख को प्राप्त करते हैं और जिनके सेवन से जीव (इहलोक व परलोक –इन) दोनों ही लोकों में दारुण दुःख पाते हैं (वे संज्ञाएँ हैं)।'' इनमें जो अभिलाषा विशिष्ट अन्न आदि तथा विशिष्ट पेय पदार्थों में होती है, उसका नाम आहार संज्ञा है। ये संज्ञाएँ चार कारणों से होती हैं।

वहीं (प्राकृत पञ्चसंग्रह की गाथा-1/52-55 में) कहा भी गया है–

''बहिरंग में आहार को देखने से, उसके उपयोग से और उदररूप कोष्ठ के खाली होने पर तथा अन्तरङ्ग में असातावेदनीय की उदीरणा होनेपर आहार संज्ञा उत्पन्न होती है।''

''बहिरंग में अतिभीम पदार्थ के दर्शन से, उसके प्रति उपयोग से, शक्ति की हीनता होने पर, अन्तरङ्ग में भयकर्म की उदीरणा होने पर –इन चार कारणों से भयसंज्ञा उत्पन्न होती है।''

*पणिदरसभोयणेण य तस्सुवओगेण कुसीलसेवणाए।*
*वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं॥*

*उवयरणदंसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छियाए व।*
*लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायते सण्णा॥*

**एताश्चतस्त्रः संज्ञाः मिथ्यादृष्टिगुणस्थानत आरभ्य प्रमत्तगुणस्थानपर्यन्तं भवन्ति। सप्तमे अप्रमत्तगुणस्थाने आहारसंज्ञा व्युच्छिद्यते। अप्रमत्तादारभ्य अपूर्वकरणपर्यन्तं शेषास्तिस्त्रः संज्ञाः भवन्ति। तत्र भयसंज्ञा व्युच्छिद्यते। अनिवृत्तिकरणस्य प्रथम-सवेदभागपर्यन्तं मैथुनपरिग्रहेतिसंज्ञाद्वयं भवति, तत्र मैथुनसंज्ञा व्युच्छिद्यते। सूक्ष्मसाम्पराये परिग्रहसंज्ञा व्युच्छिद्यते। उपरि उपशान्तादिषु कार्यरहिता अपि संज्ञाः न सन्ति, कारणाभावे कार्यस्यापि अभावात्। वस्तुतस्तु अप्रमत्तादिषु बाह्यपदार्थस्य संसर्गाभावः, अतस्तत्र तिसृणां संज्ञानामभाव एव, किन्तु उपचारतस्तासां सद्भावः स्वीक्रियते, संज्ञाकारणभूतकर्मोदयसम्भवात्** *(द्र. धवला, पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 413, 433)*।

---

"बहिरङ्ग में गरिष्ठ, स्वादिष्ट व रसयुक्त भोजन करने से पूर्वभुक्त विषयों का ध्यान करने से, कुशील का सेवन करने से, तथा अन्तरङ्ग में वेदकर्म की उदीरणा होने पर मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है।"

"बहिरङ्ग में भोगोपभोग के साधनभूत उपकरणों को देखने से, उनमें उपयोग रखने से, उनमें मूर्च्छा (आसक्ति) रखने से तथा अन्तरङ्ग में लोभकर्म की उदीरणा होने पर परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है।"

ये चारों संज्ञाएँ मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुणस्थान से लेकर प्रमत्त गुणस्थान (छठे) तक रहती हैं। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में आहार संज्ञा व्युच्छिन्न हो जाती है। अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थान से लेकर (आठवें) अपूर्वकरण गुणस्थान तक शेष तीन संज्ञाएँ होती हैं। वहाँ (आठवें गुणस्थान में) भयसंज्ञा का विच्छेद हो जाता है। अनिवृत्तिकरण (नामक नवें) गुणस्थान के प्रथम 'सवेद' भाग पर्यन्त मैथुन व परिग्रह -ये दो संज्ञाएँ होती हैं। वहाँ (नौवें गुणस्थान में) मैथुन संज्ञा का विच्छेद हो जाता है। तब सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें) गुणस्थान में परिग्रह संज्ञा का उच्छेद हो जाता है। ऊपर के उपशान्तकषाय (ग्यारहवें) आदि गुणस्थानों में कार्यरहित संज्ञाएँ भी नहीं होतीं, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है (मात्र कारणरूप होती हैं)। वस्तुतः तो अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में बाह्य पदार्थ के संसर्ग का अभाव है, इसलिए तीनों संज्ञाएँ होती नहीं, मात्र उपचार से उनका सद्भाव माना जाता है, क्योंकि संज्ञा के कारणभूत कर्मों का उदय सम्भावित होता है (द्रष्टव्य : धवला, पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 413, 433)।

*(इदि असुहमणं वियाणेहि)* **इति याश्चतस्त्रः संज्ञाः आहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञिकाः, ता अशुभमनोयोगरूपाः जानीहि अवबुद्ध्यस्वेत्यर्थः। एवं भो भव्य! निस्संज्ञनिजशुद्धात्मतत्त्वप्रतिकूलं संज्ञाचतुष्टयं विज्ञाय निजशुद्धात्मस्वरूपं भावयेति गाथातात्पर्यम्।**

**अथ सम्प्रति अशुभमनोयोगव्याख्यानं चिकीर्षन्ति शास्त्रकाराः–**

**किण्हादि तिण्णि लेस्सा, करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो।**
**ईसा विसादभावो, असुहमणं त्ति य जिणा बेंति ॥५१॥**

***छाया–*** *कृष्णादयः तिस्त्रः लेश्याः करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः।*
*ईर्ष्या विषादभावः अशुभमन इति जिना ब्रुवन्ति (विदन्ति)॥*

**(सर्वोदया टीका–) तत्र अप्रशस्तलेश्यात्रयमशुभमनोयोगरूपमिति प्रस्तूयते–** *(किण्हादि तिण्णि लेस्सा)* **कृष्णादयः तिस्त्रो लेश्याः अशुभमनोरूपाः सन्तीत्यर्थः। आदिपदेन नीलकापोतसंज्ञाद्वयं संगृह्यते। कषायानुरंञ्जिता योगप्रवृतिर्लेश्या, सा जीवकर्मणोः संश्लेषणं कारयति।**

---

**(इति अशुभमनो विजानीहि)** इस प्रकार आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा व परिग्रहसंज्ञा –ये जो चार संज्ञाएँ हैं, उन्हें अशुभ मनोयोग रूप जानें, अर्थात् समझें। इस प्रकार, हे भव्य प्राणी! संज्ञारहित स्वकीय शुद्धात्मतत्त्व से प्रतिकूल इन चारों संज्ञाओं को जानकर, स्वशुद्धात्म-स्वरूप की भावना करो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार अशुभ मनोयोग का व्याख्यान करना चाह रहे हैं–

**(51)**

**(गाथा-अर्थ–) कृष्ण (एवं नील व कापोत) आदि तीनों लेश्याएँ, इन्द्रिय-जन्य सुखों में गृद्धता (अत्यन्त आसक्ति) रूप आत्म-परिणाम, ईर्ष्या और विषाद (रूप परिणाम) –इन्हें जिनेन्द्र देव ने अशुभ मन (योग) कहा है (या जाना है)।**

**(सर्वोदया टीका–)** अप्रशस्त (प्रथम) तीन लेश्याएँ अशुभ मनोयोग हैं– यह बता रहे हैं– **(कृष्णादयः तिस्त्रो लेश्याः)** अर्थात् कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ अशुभ मनोयोग रूप हैं। 'आदि' पद से नील व कापोत –इन दो लेश्याओं का संग्रह किया गया है। कषाय से अनुरञ्जित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। जीव व कर्म का परस्पर संश्लेषण (जो होता है, उसे) यह लेश्या कराती है।

**उक्तं च ( प्राकृते ) पञ्चसंग्रहे** *(गाथा-1/142-143)* **तथा गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, गाथा-489)* **च–**

*लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्णपावं च।*
*जीवो त्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया॥*

*जह गेरुवेण कुड्डो लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण।*
*तह परिणामो लिप्पइ सुहासुहा य त्ति लेवेण॥*

**गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, गाथा-490)* **अस्याः कषाययोगरूपत्वं च प्रतिपादितम्–**

*जोगपउत्ती लेस्सा कसाय-उदयाणुरंजिया होइ।*
*तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं॥*

**वस्तुतः उक्तलक्षणं स्वीक्रियेत चेत्, सयोगकेवलिनि कषायोदयाभावात् तस्य अलेश्यत्वं प्राप्नोति, किन्तु तस्य शुक्ललेश्या स्वीकृता शास्त्रे, अतः 'कर्मस्कन्धैरात्मानं या लिम्पति, सा**

---

(प्राकृत) पञ्चसंग्रह (की गाथा-1/142-143) में तथा गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-489) में भी कहा गया है–

"जिसके द्वारा जीव पुण्य या पाप से स्वयं को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है, उसे लेश्या-स्वरूप के ज्ञाता (गणधर देवों) ने लेश्या कहा है।"

"जिस प्रकार आम पिष्ट से मिश्रित गेरू मिट्टी के लेप द्वारा दीवार लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ व अशुभ भाव रूप लेप के द्वारा जो आत्म-परिणाम लिप्त किया जाता है, उसे लेश्या कहते हैं।"

गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-490) में इसे कषाय व योग रूप प्रतिपादित किया गया है– "लेश्या योगप्रवृत्ति है, जब यह योगप्रवृत्ति कषायोदय से अनुरंजित होती है, तब योगप्रवृत्ति व कषायोदय अनुरंजन –इन दोनों का कार्य चतुर्विध बन्ध होता है– ऐसा (परमागम में) कहा गया है।"

वस्तुत: उक्त लक्षण को मानें तो सयोगकेवली में कषायोदय के अभाव से उनके लेश्यारहित होने का दोष प्रसक्त होगा, किन्तु उनमें शुक्ललेश्या का सद्भाव शास्त्र में माना गया है, इसलिए 'जो कर्मस्कन्धों

**लेश्या' इत्येव निरवद्यलक्षणम्। अथवा– पूर्वोक्तलक्षणे योगस्य प्रधानता, कषायस्य तु अप्राधान्यमिति सयोगकेवलिनि योगसद्भावात्, शुक्ललेश्यासद्भावे अविरोधः** *(द्र. धवला, पु. 1, खण्ड-1, भाग-4, सू. 149)***। अतः सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानपर्यन्तं कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिलक्षणा लेश्या भवति, तस्याग्रे कषायोदयाभावात् मात्रयोगप्रवृत्तिलेश्या सिद्धा भवतीति तात्पर्यम्।**

**सा लेश्या मुख्यतो द्विविधा– द्रव्यलेश्या भावलेश्या च। तत्र द्रव्यलेश्या देहवर्णरूपा। भावलेश्या तु पूर्वोक्ता। सा लेश्या प्रकारान्तरेण शुभाशुभभेदेन द्विविधा, अथवा स्वरूपभेदेन षड्विधा– कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या चेति। एतासु षट्सु पूर्वास्तिस्रो लेश्या अशुभाः, शेषास्तु शुभाः। अत्र प्रकरणे अशुभमनोयोगरूपेण अशुभलेश्या एव निर्दिष्टाः। सम्प्रति प्रत्येकाशुभलेश्यास्वरूपाणि कथ्यन्ते। कृष्णलेश्यायाः स्वरूपं गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, गाथा-509)* **प्रोक्तम्–**

---

से आत्मा को लिप्त करती है, वह लेश्या है' –यही लेश्या का निर्दोष लक्षण है। अथवा– पूर्वोक्त लक्षण में योग की प्रधानता है, कषाय की प्रधानता नहीं है, इसलिए सयोगकेवली में योग का सद्भाव होने से, शुक्ललेश्या के सद्भाव में कोई विरोध नहीं है (द्र. धवला, पु. 1, खण्ड-1, भाग-4, सूत्र-149)। अतः सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यन्त कषायानुरञ्जितयोगप्रवृत्ति लक्षण लेश्या होती है और उसके आगे कषाय के उदय का अभाव होने से मात्र 'योगप्रवृत्तिलेश्या' सिद्ध है– ऐसा तात्पर्य है।

वह लेश्या मुख्य रूप से दो प्रकार की है– द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। इनमें द्रव्यलेश्या तो शरीर के वर्ण रूप है। भावलेश्या पूर्वोक्त स्वरूप वाली (अर्थात् कर्मस्कन्धों और जीव को परस्पर संश्लिष्ट करने वाली) है। उस लेश्या के अन्य दृष्टि से दो भेद और हैं– शुभ लेश्या और अशुभ लेश्या। अथवा स्वरूपगत भिन्नता के आधार पर यह छः प्रकार की है– कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या। इन छहों लेश्याओं में प्रथम की तीन लेश्याएँ अशुभ हैं और शेष शुभ हैं। इस प्रकरण में अशुभ मनोयोग के अन्तर्गत अशुभ लेश्याओं का ही निर्देश हुआ है। अब प्रत्येक अशुभ लेश्या के स्वरूप को बता रहे हैं। कृष्ण लेश्या का स्वरूप गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-509) में (इस प्रकार) कहा गया है–

*चंडो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।*
*दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स॥*

**अथवा– अनुनय-अनभ्युपगम-उपदेशाग्रहण-वैरामोचन-अतिचण्डत्व-दुर्मुखत्व-निरनुकम्पता-क्लेशन-मारण-अपरितोषणादि कृष्णलेश्यालक्षणम् –इति राजवार्तिके** *(4/22/10)* **प्रत्यपादि। तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे** *(गाथा-2/296-297)* **च भणितम्–**

*किण्हादितिलेस्सजुदा जे पुरिसा ताण लक्खणं एदं।*
*गोत्तं तह सकलत्तं एक्कं वंछेदि मारिदुं दुट्ठो॥*

*धम्मदयापरिचत्तो अमुक्कवइरो पयंडकलहयरो।*
*बहुकोहो किण्हाए जम्मदि धूमादिचरिमंते॥*

**नीललेश्याया लक्षणं तु गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, गाथा-510-511)* **वर्णितम्–**

*मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विणाणी य विसयलोलो य।*
*माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य॥*

---

''जो जीव तीव्र क्रोधी हो, वैर को नहीं छोड़ने वाला हो, गाली देने के स्वभाव वाला हो, दया धर्म से शून्य हो, दुष्ट एवं वश में नहीं आनेवाला हो तो –यह कृष्ण लेश्या का लक्षण है।''

अथवा– दुराग्रह, उपदेश की अवमानना, तीव्र वैर, अतिक्रोध, दुर्मुखता, निर्दयता, क्लेश, हिंसा व असन्तोष आदि कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं– ऐसा राजवार्तिक (4/22/10) में प्रतिपादित किया गया है। तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (गाथा-2/296-297) में कहा गया है–

''जो पुरुष कृष्ण आदि तीन लेश्याओं से युक्त हैं, उनका लक्षण इसप्रकार है– कृष्ण लेश्या वाला दुष्ट जीव अपने ही गोत्रीय तथा एकमात्र स्वपत्नी को भी मारने की इच्छा करता है।''

''वह दया धर्म से रहित, वैर को नहीं भुलाने वाला, प्रचण्ड कलह करने वाला और बहुत क्रोधी जीव कृष्ण लेश्या के साथ धूमप्रभा पृथ्वी से लेकर अन्तिम (नरक-) भूमि तक जन्म लेता है।''

नील लेश्या का लक्षण गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-510-511) में इस प्रकार वर्णित किया गया है– ''कार्य करने में मन्द, बुद्धिहीन, विवेकरहित, विषयलोलुप, अभिमानी, मायाचारी, आलसी, भीरु हो'',

*णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।*
*लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स॥*

**तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे** *(2/298-299)* **च भणितमास्ते–**

*विसयासत्तो विमदी माणी विण्णाणवज्जिदो मंदो।*
*अलसो भीरू मायापवंचबहुलो य णिद्दालू॥*

*परवंचणप्पसत्तो लोहंधो धणसुहाकंखी।*
*बहुसण्णा णीलाए जम्मदि तदियादि धूमत्तं॥*

**अथवा–** *आलस्य-विज्ञानहानि-कार्यानिष्ठापन-भीरुता-विषयातिगृद्धि-माया-तृष्णा-अतिमान-वञ्चन-अनृतभाषण-चपलता-अतिलुब्धतादिकं नीललेश्यालक्षणमिति* **राजवार्तिके** *(4/22/11)* **निरूपितम्।**

**कापोतलेश्याया लक्षणं गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, गाथा-512-514)* **इत्थं निरूपितमस्ति–**

---

"बहुत निद्रालु हो, दूसरों को ठगने में कुशल हो, धन-धान्य के संग्रहण में तीव्र लालसा वाला हो –ये सब संक्षेप में नील लेश्या वाले के लक्षण हैं।"

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (की गाथा-2/298-299) में (नील लेश्या वाले जीव का लक्षण) इस प्रकार बताया गया है–

"विषयों में आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेकबुद्धि से रहित, मन्द (मूर्ख), आलसी, कायर, प्रचुर माया-प्रपञ्च में संलग्न, निद्राशील, दूसरों को ठगने में तत्पर, लोभ से अन्धा, धन-धान्य जनित सुख का इच्छुक, बहुसंज्ञायुक्त (आहारादि संज्ञाओं में आसक्त) –ऐसा जीव नील लेश्या के साथ 5वीं धूमप्रभा पृथिवी तक में जन्म लेता है।"

अथवा– राजवार्तिक (4/22/11) में बताया गया है कि आलस्य, मूर्खता, कार्य में निष्ठा न होना, भीरुता, अतिविषयाभिलाषा, अत्यन्त गृद्धि (आसक्ति), माया, तृष्णा, अत्यन्त अभिमान, ठगी, असत्य भाषण, चपलता, अतिलोभ –इत्यादि भाव नील लेश्या वाले के लक्षण होते हैं।

कापोत लेश्या का लक्षण गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-512-514) में इस प्रकार बताया गया है –

*रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।*
*असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो॥*

*ण य परिभवइ परं सो अप्पाणं पिव परं पि मण्णंतो।*
*थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवड्ढिं वा॥*

*मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु।*
*ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स॥*

**अथवा राजवार्तिकानुसारं** *(सू. 4/22/10) मात्सर्य-पैशुन्य-परपरिभव-आत्मप्रशंसा-परपरिवादवृद्धिहान्यगणन-आत्मीयजीवितनिराशता प्रशस्यमानधनदान-युद्धमरणोद्यमादिकं* **कापोत-लेश्यालक्षणं विज्ञेयम्। कापोतलेश्यायुक्तो जीवो धर्मादिमेघापृथ्वीपर्यन्तं जन्म गृह्णाति –इति तिलोयपण्णत्तौ** *(2/302)* **निरूपितम्। एवं तिस्रः पूर्वोक्ता लेश्या अशुभमनोयोगरूपाः इति सम्यक् विभावनीयं मोक्षार्थिभिः सर्वैः। तथैव** *(करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो)* **करणेन करणैर्वा इन्द्रियैः यज्जायते तत्करणजं, तत्सौख्यं च इति करणजसौख्येषु य आत्मीयः गृद्धिरूपः परिणामः, सोऽपि**

---

"रुष्ट होना, निन्दा करना, दूसरे पर अनेक प्रकार का दोष लगाना, अत्यधिक शोक व भय वाला होना, ईर्ष्या करना, दूसरे का तिरस्कार करना, अपनी अनेक प्रकार से प्रशंसा करना, दूसरों पर विश्वास न करना, अपने समान दूसरों को न मानना, अपनी प्रशंसा से संतुष्ट होना, हानि-लाभ को नहीं जानना, युद्ध में मरण की प्रार्थना करना, स्तुति करनेवालों को बहुत-सा पारिश्रमिक देना, कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से रहित होना –ये सब कापोत लेश्या के लक्षण हैं।"

अथवा- राजवार्तिक (सू. 4/22/10) के अनुसार, मात्सर्य, पैशुन्य (चुगलखोरी), दूसरे को परास्त करने का भाव, आत्म-प्रशंसा, दूसरे के बारे में झूठे आरोप लगाना, पर की हानि-वृद्धि विचारना, जीवन से निराशा, प्रशंसक को धन देना एवं युद्ध में मरण हेतु तत्परता आदि –इन्हें कापोत लेश्या के लक्षण समझना चाहिए। कापोत लेश्या वाला जीव धर्मा से लेकर तीसरी मेघा पृथ्वी तक में जन्म लेता है –ऐसा तिलोयपण्णत्ति (2/302) में कहा गया है। इस प्रकार, पूर्वोक्त तीन (अशुभ) लेश्याएँ अशुभ मनोयोग रूप हैं –ऐसा सभी मोक्षार्थियों को समझना चाहिए। इसी तरह, **( करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः )** करण या करणों यानी इन्द्रियों द्वारा जो प्राप्त किया जाय वह करणज होता है, वैसा जो सुख, उनमें जो आत्मीय

**अशुभमनोयोगरूपः। यद्यपि इन्द्रियाधीनं विषयसुखं सुखाभासमेव, न तु वास्तविकं सुखम्, वस्तुतस्तद् दुःखमेव, तथाऽपि तत्र मूढात्मनां परमासक्तिरूपः परिणामो जायते, तस्य कारणमशुभमनोयोग एवेति भावः। इन्द्रियविषय-जनितं सुखं दुःखमेवेति आचार्यवर्यैः कुन्दकुन्दैः प्रवचनसारे** *(गाथा-1/76)* **प्रतिपादितम्–**

*सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।*
*जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥*

**अस्यैव भावस्य पोषकं वचनं पूज्यपादाचार्यस्य इष्टोपदेशे** *(श्लोक-6)* **प्राप्यते–**

*वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।*
*तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि॥*

**स्वयम्भूस्तोत्रे** *(श्लोक-13)* **च समन्तभद्राचार्यैः समर्थितमेतन्मतम्–**

---

आसक्ति रूप परिणाम होता है, वह भी अशुभ मनोयोग रूप होता है। यद्यपि इन्द्रियाधीन विषय-सुख सुखाभास (सुख का भ्रम) ही है, वास्तविक सुख नहीं है, वस्तुतः वह दुःख रूप ही है, तथापि उनमें मूढ़ जीवात्माओं का परम आसक्ति रूप परिणाम होता है, उसका कारण यह अशुभ मनोयोग ही होता है –यह तात्पर्य है। इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न सुख दुःख रूप ही है– ऐसा आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थ प्रवचनसार (गाथा-1/76) में इस प्रकार बताया है–

''जो इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सुख है, वह दुःख रूप ही है, क्योंकि वह सुख पराधीन है, बाधाओं से भरा है, विनश्वर है, कर्म-बन्ध का कारण है और विषम (यानी हानि-वृद्धि सहित) होता है।''

इसी भाव का पोषक वचन आचार्य पूज्यपाद कृत इष्टोपदेश (श्लोक-6) में उपलब्ध होता है–

''संसारी जीवों का इन्द्रिय-सुख वासना मात्र से जनित होने के कारण दुःख रूप ही है, क्योंकि आपत्तिकाल में रोग जिसप्रकार चित्त में उद्वेग उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार भोग भी उद्वेग पैदा करते हैं।''

आचार्य समन्तभद्र म. ने स्वयम्भूस्तोत्र (श्लोक-13) में भी उक्त मत का समर्थन इस प्रकार किया है –

*शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं, तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।*
*तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥*

**किन्तु इन्द्रियजनितसुखमेव सुखं मन्वानो जीव एव तत्र आसक्तिं प्रकटयति। एतत्कार्यमशुभ-मनोयोगरूपमेव। तथैव** *(ईसा)* **ईर्ष्या, तत्स्वरूपं यथा– कश्चिदपि न मत्सदृशः मदधिकश्रेष्ठः, इत्यादिकं विचारणमीर्ष्याभावः। इयमीर्ष्याऽपि अशुभमनोयोगरूपा। तथा** *(विसादभावो)* **विषादः, पराभवादिकारणेन, अथवा मनोऽभिलाषपूर्त्यभावे यः संक्लेशो जायते, स विषादो भवति। एतत्सर्वमेव** *(असुहमणं)* **अशुभमनोयोगरूपम्।** *(त्ति य जिणा बेंति)* **–इति जिनेन्द्राः कथयन्ति।** *वेंति* **इति वकारपाठे विदन्ति जानन्ति इत्यर्थः।**

**इत्यादिप्रकारेण अशुभमनोयोगस्वरूपं विज्ञाय भो मुमुक्षो भव्य! सर्वप्रकारेण वशीभूतमना भव। तथैव समस्तसंकल्पविकल्पं 'ममेदम्, अहमिदं' इत्यादिकं परित्यज्य समस्तविभावभावरहितं निजशुद्धात्मानं ध्यानविषयं विधेहि –इति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

"(हे जिनेन्द्र!) आपने पीड़ित जगत् को उसके दुःख का यह निदान (कारण) बताया है कि इन्द्रिय-सुख बिजली की चमक के समान चंचल (विनश्वर) है, तृष्णा रूपी रोग की वृद्धि का एकमात्र कारण है, तृष्णा की अभिवृद्धि निरन्तर ताप पैदा करती है और वह ताप संसार को अनेक दुःखों की परम्परा से पीड़ित करता रहता है।"

किन्तु इन्द्रियजनित सुख को ही सुख मान लेने वाला जीव ही उनमें आसक्ति प्रकट करता है। यह कार्य अशुभ मनोयोग रूप ही है। इसी तरह **( ईर्ष्या )** ईर्ष्या, जैसे– 'कोई भी मेरे समान या मेरे से अधिक श्रेष्ठ नहीं है' –इत्यादि विचार ईर्ष्या है। यह ईर्ष्या भी अशुभ मनोयोग रूप होती है। तथा **( विषादभावः )** विषाद –अर्थात् पराजय आदि कारण से या अपने मन की इच्छा पूर्ण न होने से जो संक्लेश होता है, वह विषाद होता है। यह सभी **( अशुभमनः )** अशुभ मनोयोग रूप हैं। **( इति च जिना ब्रुवन्ति )** –ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है। 'वेंति' यह पाठ प्राप्त है तो अर्थ होगा –जानते हैं।

इत्यादि प्रकार से अशुभ मनोयोग के स्वरूप को जानकर, हे मुमुक्षु भव्य! सब प्रकार से अपने मन को वशीभूत करो। इसी तरह, 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' इत्यादि समस्त संकल्प-विकल्पों को छोड़कर, समस्त विभाव परिणामों से रहित स्वकीय शुद्धात्मा-स्वरूप को ध्यान का विषय बनाओ –यह गाथा का तात्पर्य है।

**अथ सम्प्रति कषाय-नोकषाययोरपि अशुभमनोयोगरूपतां निर्दिशन्ति शास्त्रकाराः–**

**रागो दोसो मोहो हास्सादी-णोकसायपरिणामो।**
**थूलो वा सुहुमो वा, असुहमणो त्ति य जिणा बेंति ॥५२ ॥**

***छाया–*** *रागः, द्वेषः, मोहः, हास्यादि-नोकषायपरिणामः।*
*स्थूलो वा सूक्ष्मो वा अशुभमन इति च जिना ब्रुवन्ति ॥*

**( सर्वोदया टीका– )** *(रागो दोसो)* **रागः, द्वेषश्च। एतौ रागद्वेषौ विचित्रचारित्रमोहनीय-विपाककारणभूतौ इष्टानिष्टपदार्थेषु यौ आत्मीयपरिणामौ प्रीति-अप्रीति-रूपौ भवतः। अथवा–निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतौ इष्टानिष्टइन्द्रियविषयेषु हर्षविषादात्मकौ चारित्रमोहप्रकारभूतौ रागद्वेषौ। तत्र रागो द्विविधः– प्रशस्त-अप्रशस्तभेदात्। अर्हद्वीतरागसर्वज्ञादिपञ्चपरमेष्ठिप्रभृतिविषयको गुणानुरागात्मको भक्तिभावः, यथायोग्यदानाभिलाषात्मको वा जीवात्मपरिणामः प्रशस्तरागः।**

---

अब शास्त्रकार कषाय व नो-कषाय –इन दोनों को भी अशुभ मनोयोग के रूप में निर्दिष्ट कर रहे हैं –

( 52 )

**( गाथा-अर्थ– ) राग, द्वेष, मोह और हास्य ( एवं रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ) आदि नो-कषाय रूप ( आत्मीय ) परिणाम, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, अशुभ मनोयोग रूप हैं –ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं ( या जानते हैं )।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( रागः द्वेषः )** राग और द्वेष। विचित्र चारित्र मोहनीय कर्म (के उदय और इस)के रस-विपाक के कारण से, इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में जो प्रीति-अप्रीति रूप आत्मीय परिणाम होते हैं, वे ही ये राग व द्वेष हैं। अथवा– निर्विकार शुद्धात्म-स्वरूप से विपरीत तथा इष्ट-अनिष्ट इन्द्रिय-विषयों में हर्ष-विषाद रूप चारित्रमोह के ही दो भेद ये राग व द्वेष होते हैं। इनमें राग दो प्रकार का होता है– प्रशस्त और अप्रशस्त। अर्हन्त, वीतराग सर्वज्ञ आदि पञ्चपरमेष्ठी आदि के प्रति होने वाला गुणानुराग रूप भक्ति-भाव, तथा यथायोग्य पात्रों को दान देने की भावना के रूप में जीवात्मा का जो परिणाम होता है, वह प्रशस्त राग है।

**वस्तुतो यत्र चारित्रमोहकर्मणो मन्दोदये सति, परमेष्ठिप्रभृतिषु प्रशस्तरागः परिणामविशुद्धता-जनितप्रसन्नता च भवतः, तत्र शुभः परिणाम उपयोगो वा भवतीति पञ्चास्तिकायग्रन्थे** *(गा. 131)* **तट्टीकायां च विशदीकृतम्। प्रशस्तरागस्य स्वरूपं पञ्चास्तिकाये** *(गाथा-136)* **इत्थं निरूपितम्–**

*अरिहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।*
*अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति॥*

**प्रवचनसारे** *(गाथा-1/69)* **च शुभोपयोगस्वरूपं वर्णितम्–**

*देवजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।*
*उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥*

**तथा च तत्रैव** *(गाथा-2/65)* **भणितम्–**

*जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।*
*जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥*

---

वस्तुतः जहाँ चारित्रमोह कर्म के मन्दोदय होने पर परमेष्ठी आदि (विषयों) में प्रशस्तराग और 'परिणाम-शुद्धता से उत्पन्न प्रसन्नता' –ये (दोनों) हों, वहाँ शुभ परिणाम या शुभोपयोग होता है– ऐसा पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा-131) में और उसकी (तत्त्वदीपिका) टीका में स्पष्ट किया गया है। प्रशस्त राग के स्वरूप को पञ्चास्तिकाय (गाथा-136) में इस प्रकार बताया गया है–

"अर्हन्त, सिद्ध और साधु –इन तीनों में भक्ति, धर्म में प्रवृत्ति और गुरु (पूज्य) जनों का अनुसरण –इसे प्रशस्त राग कहा जाता है।"

प्रवचनसार (गाथा-1/69) में शुभोपयोग का स्वरूप इस रूप में बताया गया है–

"देव, यति, गुरु –इनकी पूजा में, दान में, सुशील में और उपवास आदि में राग वाला आत्मा शुभोपयोगी होता है।"

इसके अतिरिक्त, वहीं (गाथा-2/65 में) यह भी कहा गया है–

"जो जिनेन्द्रों (अर्हन्तों) को जानता है, सिद्धों व अनगारों की श्रद्धा करता है और जीवों के प्रति अनुकम्पा वाला है, उसके शुभ उपयोग है।"

**तथा च** *(गाथा-3/46, 48-49)* **तत्र शब्दान्तरेण विशदीकृतम्–**

*अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।*
*विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥*

*दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।*
*चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य॥*

*उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।*
*कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से॥*

**बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य** *(गाथा-38)* **ब्रह्मदेवकृतटीकायां च शुभोपयोगचर्यायाः सारनिरूपणं कृतमस्ति–**

*''उद्वम मिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्।*
*भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि॥*

---

और भी वहीं (गाथा-3/46, 48-49 में) अन्य शब्दों से स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

''यदि अर्हन्त आदि (परमेष्ठियों) में भक्ति, और प्रवचन (शुद्धात्मस्वरूप व आगमादि) के उपदेशकों (महामुनियों) में प्रीति रूप वात्सल्य भाव श्रमण-चर्या में विद्यमान है, तो वह चर्या शुभोपयोग वाली होती है।''

''(इसी प्रकार,) सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का उपदेश देना, शिष्य आदि का ग्रहण एवं पोषण, तथा जिनेन्द्र-पूजा का उपदेश देना –यह सराग (शुभोपयोगी) मुनियों की चर्या है।''

''(इसी प्रकार,) जो मुनि नित्य षट्काय जीवों की विराधना से रहित चतुर्विध श्रमण-संघ का उपकार करता है, वह भी सरागचर्या में प्रधान (शुभोपयोगी) है।''

बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-38) में तथा उसकी ब्रह्मदेवकृत (संस्कृत) टीका में शुभोपयोग-चर्या को सार रूप में इस प्रकार निरूपण किया गया है–

''मिथ्यात्वरूपी विष का वमन करें, सम्यग्दर्शन की भावना करें, उत्कृष्ट भक्ति करें, भावनमस्कार में तत्पर होकर सदा 'ज्ञान' (आराधना) में उपयोग रखें।''

*पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्।*
*दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ कुरूद्योगम्।।*

*–इत्यार्याद्वियकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन... च युक्ताः* **इति।**

**उपर्युक्तनिरूपणेन मिथ्यात्वनाशाय या प्रवृत्तिः, तथा ज्ञानोपयोगश्च –इत्येतयोः शुभोपयोगरूपत्वं निर्दिष्टं भवति। एतेन जिनवाण्याः, जैनसच्छास्त्राणां वा पठनं, पाठनं, श्रवणं, स्वाध्यायः, व्याख्यानमुपदेशादिकं च शुभोपयोगरूपं सिद्ध्यति। किंच, तत्त्वज्ञानोपलब्धये आगमाध्ययनमेव मुख्यं साधनमिति प्रवचनसारे** *(गाथा-1/86, 90)* **निरूपितम्। तत्त्वज्ञानसम्बन्धिनी प्रवृत्तिः शुभास्रवकारिणी भवति।**

**उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(2/121)–*

*यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।*
*मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम्॥*

---

"पाँच महाव्रतों की रक्षा करें, क्रोध आदि चार कषायों का पूर्णतया निग्रह करें, दुर्दान्त (प्रबल) इन्द्रिय-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें तथा बाह्य व आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के तप की सिद्धि में उद्योग करें।"

"–उक्त दो आर्याओं (गाथाओं) में कहे गये लक्षण वाले शुभ उपयोग रूप भावपरिणाम... से युक्त (शुभोपयोगी होते हैं)।"

उपर्युक्त निरूपण से यह सूचित होता है कि मिथ्यात्व-नाश हेतु प्रवृत्ति तथा ज्ञानोपयोग –ये दोनों शुभोपयोगरूप हैं। इस आधार पर जिनवाणी का या जैन सत्-शास्त्रों का पठन, पाठन, श्रवण, स्वाध्याय, व्याख्यान, उपदेश आदि शुभोपयोग रूप हैं –यह सिद्ध होता है। और, प्रवचनसार (गाथा-1/86, 90) में यह बताया गया है कि तत्त्वज्ञान की उपलब्धि के लिए आगमों का अध्ययन ही मुख्य साधन है। तत्त्वज्ञान से सम्बद्ध प्रवृत्ति शुभास्रव की कारण होती है।

जैसा कि ज्ञानार्णव (2/121) में कहा गया है–

"संयम, कषायों का उपशमन, निर्वेद (संसार-भोगों से विरक्ति), मैत्री आदि भावनाओं में संलग्नता के साथ तत्त्वचिन्तन –इनमें लगा मन शुभ (पुण्य) का आस्रव कराता है।"

**तथा च तत्रैव** *(2/123)* **भणितम्–**

*विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम्।*
*शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यप्रतिष्ठितम्॥*

**रयणसारे** *(गाथा-60-61)* **च समर्थितमेतत्–**

*दव्वत्थिकायछप्पण, तच्चपयत्थेसु सत्तणवगेसु।*
*बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे॥*

*रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे।*
*इच्चेवमाइगे जो वट्टइ सो होदि सुहभावो॥*

**मिथ्यात्ववर्द्धकानां कुशास्त्राणां तथा आगमाभासानां दुःश्रुतीनां वा स्वाध्यायादिकन्तु अशुभोपयोग एवेति च प्रवचनसारे** *(2/66)* **निर्दिष्टम्। श्रुतशास्त्रस्वाध्यायतः चित्तप्रसन्नतादिपरिणामा अपि भवन्ति।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-104)*–

---

इसी तरह, वहीं (2/123 में) यह कहा गया है–

"जो वचन सत्य-आधारित होता हुआ श्रुतज्ञान का आलम्बन लेता है (उसका पठन-पाठन करता है), उसे शुभ (पुण्य) के आस्रव का कारण जानना चाहिए।"

रयणसार (गाथा-60-61) में भी इसी का समर्थन किया गया है–

"छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ-पदार्थ, बन्ध, मोक्ष और उसके कारणभूत बारह अनुप्रेक्षाओं, रत्नत्रयस्वरूप आर्यकर्म (श्रेष्ठ चारित्र) एवं दया आदि सद्धर्म इत्यादि में जो वर्तन (आचरण) होता है, वह शुभ भाव है।"

मिथ्यात्व-वर्द्धक कुत्सित शास्त्रों और आगमाभासों या दुःश्रुति (ग्रन्थों) का स्वाध्याय आदि तो अशुभोपयोग ही है –ऐसा प्रवचनसार (2/66) में बताया गया है। श्रुतशास्त्र के स्वाध्याय से चित्तप्रसन्नता आदि (शुभोपयोग से सम्बद्ध) परिणाम भी होते हैं।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-104) में कहा भी गया है–

*जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु।*
*तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए॥*

**किञ्च, स्वाध्यायस्तपोऽपि वर्तते, अतः तेन संवरनिर्जरे च भवतः। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-103, 106)*–

*सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य।*
*हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू॥*

*बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।*
*ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं॥*

**धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 57)* **च जिनागमस्वाध्यायिनां कर्मनिर्जरा स्पष्टं प्रतिपादिता–** *''कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमवधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात्।''*

---

''जैसे-जैसे अतिशय अभिधेय (कथन) से पूर्ण और पहले कभी नहीं सुना हो –ऐसे श्रुत में जब (कोई) अवगाहन करता है, वैसे-वैसे वह नई-नई धर्म-श्रद्धा से आल्हादित होता जाता है।''

और, स्वाध्याय तो एक तप भी है, इसलिए उससे संवर व निर्जरा भी होते हैं। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-103 व 106) में कहा भी है–

''स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचों इन्द्रियों का संवर करता है, मनोगुप्ति आदि का पालने वाला होता है और एकाग्रचित्त होता हुआ विनयसम्पन्न होता है।''

''सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट आभ्यन्तर व बाह्य भेदों वाले तप के अन्तर्गत स्वाध्याय जैसा कोई दूसरा तप न तो है और न होगा।''

धवला (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 57) में स्वाध्याय करने वालों के कर्म-निर्जरा होना इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है– ''कर्मों की असंख्यातगुनी श्रेणी रूप से निर्जरा होती है, वह किनको प्रत्यक्ष है? ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि 'सूत्र' का अध्ययन करने वालों के असंख्यातगुणित श्रेणी रूप से प्रतिसमय कर्म-निर्जरा होती है –यह बात अवधिज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानी आत्माओं को प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है।''

**तत्रैव** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 1, पृ. 3)* **विशदीकृतमेतत्**– *''उसहसेणादिगणहरदेवेहिं विरइयसद्दरयणादो सव्वसुत्तादो तप्पढण-गुणणकिरियावावदाणं सव्वजीवाणं पडिसमयमसंखेज्जगुणसेढीए पुव्वसंचिदकम्मणिज्जरा होदि त्ति।''* **एवं जिनवाणीस्वाध्यायतोऽभ्युदयसुखं मोक्षसुखं च प्राप्येते।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 45 गाथा-49)*–

*तत्तो चेव सुहाइं सयलाइं देवमणुयखयराणं।*
*उम्मूलियट्ठकम्मं फुड सिद्धसुहं पि पवयणादो॥*

**तिलोयपण्णत्तिग्रन्थेऽपि** *(1/35-42)* **स्वाध्यायस्याभ्युदयमोक्षेतिपरोक्षफलद्वयं संकेतितं वर्तते। एवं निष्कर्षतः, दीनदुःखितजीवानवलोक्य तद्-दुःखजिहीर्षया उपकारभावनात्मिका प्रवृत्तिरनुकम्पा, चतुर्विधश्रमणसंघविषयक-सेवाऽऽहारादिदान-वैय्यावृत्त्य-परोपकाररूपा परिणतिः, जिनपूजाव्रतोपवासाद्यनुष्ठानम्, पूज्येषु विनयसत्कारप्रवृत्तिः, तीर्थवन्दनातज्जीर्णोद्धारादिप्रवृत्ति-रित्यादिः अथवा– गृहस्थानां यथासम्भवं सरागसम्यक्त्वपूर्वक-दानपूजादिशुभानुष्ठानम्,**

---

वहीं (उसी ग्रन्थ के पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 1, पृ. 3 में) स्पष्ट करते हुए कहा गया है– ''वृषभसेन आदि गणधर देवों द्वारा जिनकी शाब्दिक रचना की गई है, ऐसे द्रव्यसूत्रों (द्रव्यश्रुत) को पढ़ने व मनन आदि की क्रिया में प्रवृत्त सभी जीवों के प्रतिसमय असंख्यातगुणित श्रेणी से पूर्व-संचित कर्मों की निर्जरा हुआ करती है।'' इस प्रकार, जिनवाणी के स्वाध्याय से (लौकिक) अभ्युदय और (लोकोत्तर) मोक्ष –इन दोनों का सुख प्राप्त होता है।

धवला (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 45, गाथा-49) में कहा भी गया है– ''इस (स्वाध्याय) से देव, मनुष्य व विद्याधरों के सुख प्राप्त होते हैं और प्रवचन-अभ्यास से आठ कर्मों के उन्मूलित होने पर सिद्धों का सुख भी प्राप्त होता है।''

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (1/35-42) में भी स्वाध्याय के अभ्युदय व मोक्ष –इन दोनों परोक्ष फलों का संकेत किया गया है। इस प्रकार, निष्कर्ष रूप में कहें तो दीन व दुःखीजनों को देखकर उनके दुःख को दूर करने हेतु उपकार-भाव के साथ होने वाली अनुकम्पा रूप प्रवृत्ति, चतुर्विध श्रमण-संघ की सेवा, आहार आदि का दान, वैयावृत्त्य व परोपकार करने हेतु आत्मीय परिणति तथा जिन-पूजा, व्रत, उपवास आदि का अनुष्ठान, पूज्यों के प्रति विनय व सत्कार की प्रवृत्ति, तीर्थवन्दना व तीर्थों के जीर्णोद्धार की प्रवृत्ति आदि, अथवा– गृहस्थों का यथासम्भव सराग सम्यक्त्वपूर्वक दान, पूजा आदि शुभ कार्यों का अनुष्ठान प्रशस्त राग या शुभोपयोग रूप से परिगणित होता है, इसी तरह श्रमणों द्वारा (जो कषाय-लेश के कारण शुद्धात्मवृत्ति

**प्रशस्तरागरूपेण शुभोपयोगरूपेण वा परिगण्यते, एवमेव श्रमणानां ( कषायलवावेशवशात् शुद्धात्मवृत्तिमात्रेण अवस्थातुं सर्वदा अशक्तानां ) च मूलोत्तरगुणपालनं, प्रतिक्रमणानुष्ठानम्, अर्हदादिभक्तिः, शुद्धात्मस्वरूपोपदेशकसाधुषु च वत्सलता-विनयादिभावः, दर्शनज्ञानोपदेशः, जिनवचनश्रवणस्वाध्यायादिप्रवृत्तिः, शिष्यसंग्रहण-संघरक्षण-पोषणादिषु च संयमाविरोधिनी प्रवृत्तिश्च प्रशस्तरागरूपेण शुभोपयोगरूपेण वा परिगण्यते।**

**शुभोपयोगो वर्णितः। एतस्माद् विपरीतोऽशुभोपयोगो भवति। यत्र दर्शनमोहनीयविपाक-कलुषपरिणामात्मको मोहः, तथा विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकनिमित्तको द्वेषः अप्रशस्तरागश्च, तत्राशुभोपयोगो ज्ञेय इति पञ्चास्तिकायस्य** *(गाथा-131)* **तत्त्वप्रदीपिकाव्याख्यायां प्रतिपादितम्। एवं कषाययोगेन सांसारिकविषयसुखेषु अभिलाषः प्रवृत्तिर्वा, तथैव मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिः, पञ्चपाप-सप्तव्यसन-निर्दयता-परदोषकथनश्रवणादिषु प्रवृत्तिः, दुर्ध्याना-नुष्ठानम्, आहारादिसंज्ञा-कृष्णादित्रिलेश्यासम्पृक्तचर्या वा अशुभोपयोगरूपेण अप्रशस्तरागरूपेण वा शास्त्रेषु वर्ण्यन्ते।**

---

या शुद्धोपयोग में हमेशा रहने में समर्थ नहीं हो पाते, उनके द्वारा) मूल व उत्तरगुणों का पालन, प्रतिक्रमण आदि का अनुष्ठान, अर्हन्त आदि के प्रति भक्ति, शुद्धात्मस्वरूप के उपदेशक साधु (आदि) के प्रति वत्सलता व विनय आदि का भाव, दर्शन-ज्ञान सम्बन्धी उपदेश देना, जिनवचन के श्रवण व स्वाध्यायादि में प्रवृत्ति, शिष्य-संग्रह, संघ-रक्षा, संघ-पालना आदि में संयम-अविरोधिनी प्रवृत्ति -ये भी प्रशस्त राग या शुभोपयोग रूप में परिगणित होते हैं।

शुभोपयोग का निरूपण किया गया। इससे विपरीत अशुभ उपयोग होता है। जहाँ दर्शनमोहनीय के उदय में उसके रसविपाक से होने वाला कलुषित परिणाम 'मोह' होता है और विचित्र चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में उसके रसविपाक का कारण पाकर (अनिष्ट पदार्थों में) द्वेष और (सांसारिक इष्ट पदार्थों में) अप्रशस्त राग उत्पन्न होता है, वहाँ अशुभोपयोग जानें -ऐसा पञ्चास्तिकाय (गाथा-131) की (आ. अमृतचन्द्र-कृत) तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या में प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार, कषाय-योग से सांसारिक विषय-सुखों में जो अभिलाषा या प्रवृत्ति होती है, और उसी तरह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि रूप आत्मीय परिणति, पाँच पापों, सप्त व्यसनों, निर्दय कार्यों, परदोष-कथन व श्रवण आदि में प्रवृत्ति, अप्रशस्त ध्यान (आर्त व रौद्र) में स्थिति तथा आहार आदि (चार) संज्ञाओं व कृष्णलेश्या आदि तीन (अप्रशस्त) लेश्याओं से सम्बद्ध आचरण -इन्हें शास्त्रों में अशुभोपयोग रूप से वर्णित किया गया है।

**रागानन्तरं द्वेषस्वरूपं वर्ण्यते। वैरविरोधजुगुप्सा-असूया-ईर्ष्यादिरूपपरिणामा एव द्वेषरूपेण विज्ञेयाः। वस्तुतः रागद्वेषयोः परस्परयुक्तत्वमेव, यतो हि कुत्रचिद् रागाभिनिवेश एव इतरेषु, तत्प्रतिबन्धकेषु च द्वेषं जनयति।**

**अत एव ज्ञानार्णवे** *(23/25)* **प्रोक्तम्–**

*यत्र रागः पदं धत्ते, द्वेषस्तत्रैति निश्चयः।*
*उभावेतौ समालम्ब्य विक्रामत्यधिकं मनः॥*

**रागादयः कर्मोदयजनिता आत्मीया विकारा विभावरूपाः, न तु स्वभावरूपाः, अतस्ते सर्वथा हेयाः। अयं रागमल्लो निजात्मध्यानरूपखड्गेनैव जेतुं शक्यते। उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(श्लोक-32/52, 23/12)–*

*मुनेर्यदि मनो मोहाद्, रागाद्यैरभिभूयते।*
*तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे, तान्येव क्षपति क्षणात्॥*

---

राग के बाद, द्वेष का स्वरूप बताया जा रहा है। वैर, विरोध, जुगुप्सा, असूया, ईर्ष्या आदि परिणामों को द्वेष रूप में जानना चाहिये। वस्तुतः राग व द्वेष –ये दोनों परस्पर जुड़े हुए ही होते हैं, क्योंकि किसी एक पदार्थ में जब राग का आग्रह होता है, तो वह अन्य पदार्थ के प्रति या (राग में) प्रतिबन्धक पदार्थ के प्रति द्वेष को पैदा करता है।

इसी दृष्टि से ज्ञानार्णव (23/25) में कहा गया है–

''जहाँ (जिसके हृदय में) राग पदार्पण करता है, वहीं द्वेष भी आकर बैठ जाता है –यह बात तय है। इन दोनों के आश्रय से मन अतिशय रूप में पराक्रम दिखाता है (अपना दुष्प्रभाव प्रकट करता है)।''

राग आदि कर्मोदय से होने वाले आत्मा के विकार या विभावरूप हैं, न कि स्वभाव रूप, इसलिए वे सर्वथा त्याज्य हैं। इस राग रूपी पहलवान को आत्मध्यान रूपी खड्ग से ही जीता जा सकता है। ज्ञानार्णव (श्लोक-32/52, 23/12) में कहा भी गया है–

''मोह के वश यदि मुनि का मन रागादि के द्वारा अभिभूत हो जाता है तो उसे चाहिए कि वह उस (मन) को आत्म-स्वरूप में लगा दे ताकि क्षणभर में ही वे रागादि नष्ट हो जाएँ।''

*महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः।*
*योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः॥*

**किञ्च, समाधिशतके** *(श्लोक-40)* **अपि रागनाशस्योपायो निरूपितः–**

*यत्र काये मुनेः प्रेम, ततः प्रच्याव्य देहिनम्।*
*बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्, प्रेम नश्यति॥*

**भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-266)* **तु रागद्वेषोत्पादकपदार्थपरिहारायोपदेशः प्रदत्तः–**

*जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं।*
*ते वज्जंतो जिणदि हु, रागं दोसं च णिस्संगो॥*

**आत्मानुशासने** *(श्लोक-237)* **च गुणभद्राचार्यैः प्रोक्तमतमेव समर्थितम्–**

---

''जो योगी मुक्ति रूपी लक्ष्मी से संगम करना चाहते हैं, वे राग-द्वेष के उपशम रूप युद्ध में ज्ञानरूपी शस्त्र के प्रहार से रागरूपी योद्धा को मार गिरा दें।''

और, समाधिशतक (तन्त्र) (श्लोक-40) में भी राग को नष्ट करने का उपाय इस प्रकार बताया गया है–

''जिस शरीर में मुनि की अन्तरात्मा का यदि प्रेम (राग) हो, उस (शरीर) से (भेदविज्ञान के आधार पर) आत्मा को पृथक् करके उस उत्तम चिदानन्दमय शरीर में लगाए, ऐसा करने से वह प्रेम (राग) नष्ट हो जाएगा।''

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-266) में तो यह उपदेश दिया गया है कि राग-द्वेष के उत्पादक पदार्थों का ही त्याग किया जाय–

''जो कोई भी परिग्रह राग और द्वेष को उत्पन्न करे, उसका ही त्याग करने वाला मुनि निःसंग होकर राग-द्वेष को जीत लेता है।''

इसी तरह, आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन (श्लोक-237) में पूर्वोक्त मत का ही समर्थन करते हुए लिखा है–

*रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यात्, निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।*
*तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ, तस्मात्तान् सुपरित्यजेत्॥*

**परपदार्थेषु यस्य स्वल्पोऽपि रागो भवति, तस्य आत्मस्वभावप्राप्तिः न सम्भवति, वस्तुतः स रागी अज्ञान्येव। उक्तं च मोक्षप्राभृते** *(गाथा-69)*–

*परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवदि मोहादो।*
*सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो॥*

**तथैव समयसारे** *(गाथा-201-202)* **एष एव विचारः प्रकटितः–**

*परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं दु विज्जदे जस्स।*
*ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि॥*

*अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।*
*कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो॥*

---

"राग व द्वेष का नाम प्रवृत्ति है और उसके अभाव का नाम निवृत्ति है। चूँकि वे दोनों बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए उन बाह्य वस्तुओं का ही त्याग कर देना चाहिए (ताकि राग व द्वेष हों ही नहीं)।"

अन्य (आत्मेतर) पदार्थों में जिसका थोड़ा भी राग हो, उसे आत्म-स्वभाव (शुद्धात्मस्थिति) की प्राप्ति होना असम्भव है, वस्तुतः वह रागी तो अज्ञानी ही है। मोक्षप्राभृत (गाथा-69) में कहा भी गया है–

"मोह के कारण जिसकी पर द्रव्य में परमाणु-मात्र भी रति (आसक्ति) है, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और आत्मस्वभाव से विपरीत है।"

इसी तरह समयसार (गाथा-201-202) में भी यही विचार अभिव्यक्त किया गया है–

"जिस जीव में रागादि का परमाणु मात्र भी हो, तो वह समस्त आगम का ज्ञाता होकर भी आत्मा को नहीं जानता। और जो आत्मा को नहीं जानता, वह आत्मा से भिन्न पदार्थों को भी नहीं जानता, और इस तरह जीव व अजीव –दोनों को नहीं जानने वाला भला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?"

**अत्रैका आरेका समुदेति –यदि सम्यग्दृष्टिः पूर्णतया रागरहितस्तर्हि चतुर्थपञ्चमषष्ठगुणस्थानेषु तस्य सद्भावः कथं संगच्छते? यतो हि तत्र तु कषाया निर्मूलतां नैव यान्ति –इति।**

**एतस्या आरेकायाः समाधानं समयसारस्य** *(गाथा-201-202)* **तात्पर्यवृत्तिटीकायां परामृष्टम्– चतुर्थपञ्चमगुणस्थानयोः सरागसम्यग्दर्शनं वर्तते, किन्तु तत्र चतुर्थगुणस्थाने मिथ्यादृष्ट्य-पेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बन्धाभावात् अनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वजनित-अज्ञानमयरागाभावः, अर्थात् पाषाणरेखादिसमानरागाभावः, अतः कथंचिद् रागाभावः, यद्यपि तत्र चारित्रमोहोदयजनितरागस्य सद्भावो वर्तते एव। एवमेव पञ्चमगुणस्थाने अप्रत्याख्यानकषायोदयजनितानां भूमिरेखासदृशानां रागादीनामभावात् कथंचिद् रागाभावः। समयसारे परमाणुमात्ररागाभावो यो वर्णितः, स मुख्यत उपरिवर्तिगुणस्थानस्थितानां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां दृष्ट्या कृतो विज्ञेयः। सप्तमगुणस्थानत आरभ्य दशमगुणस्थानं यावत् रागो भवन्नपि अबुद्धिकृतत्वात् सूक्ष्म एव, असन्नेवेति भावः** *(द्र. पंचाध्यायी-2/911)*।

---

यहाँ एक शंका उठती है– यदि सम्यग्दृष्टि वही होता है जो पूर्णतया राग रहित हो तो चतुर्थ, पञ्चम व षष्ठ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि का सद्भाव फिर कैसे संगत होगा, क्योंकि वहाँ (रागादि) कषायों का निर्मूल नाश तो हो नहीं पाता?

इस शंका का समाधान समयसार (गाथा-201-202) की तात्पर्यवृत्ति टीका में इस प्रकार सुझाया गया है– चौथे व पाँचवें गुणस्थान में सराग सम्यग्दर्शन होता है, किन्तु उस चौथे गुणस्थान में मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से 43 कर्म-प्रकृतियों का बन्ध न होने से, अनन्तानुबन्धी-मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाले अज्ञानमय राग आदि का अभाव है, अर्थात् पाषाण-रेखा के समान राग का अभाव है, इसलिए कथंचित् (किसी दृष्टि से) राग का अभाव है, यद्यपि वहाँ चारित्रमोह के उदय से होने वाले राग का सद्भाव तो है ही। इसी प्रकार, पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से होने वाले भूमि-रेखा के समान राग आदि का अभाव है, इसलिए कथंचित् (किसी दृष्टि से) राग का अभाव है। समयसार में परमाणुमात्र राग का अभाव होना जो (सम्यग्दृष्टि के) बताया गया है, वह मुख्यतः ऊपर के गुणस्थानों में स्थित वीतरागसम्यग्दृष्टि जीवों को ध्यान में रखकर किया गया है। तात्पर्य यह है कि सप्तम गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक जो राग है भी, वह बुद्धिकृत न होने से सूक्ष्म है, अतः असद् जैसा (बुद्धिपूर्वक राग की दृष्टि से) माना गया है (द्र. पंचाध्यायी-2/911)।

**एवं समयसारे सम्यग्दृष्टीनां यत्र-यत्र वर्णनं क्रियते, तत्र-तत्र सर्वत्र वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या, तथा सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्या ग्रहणं कर्तव्यमिति।**

**सम्यग्दृष्टेः ज्ञानवैराग्यशक्तिर्नियमतो भवतीति आचार्य-अमृतचन्द्रैः समयसारकलशे** *(श्लोक-135-136)* **प्रत्यपादि–**

*नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।*
*ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः॥*

*सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,*
*स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।*
*यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,*
*स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात्॥*

---

इस प्रकार समयसार में जहाँ-जहाँ सम्यग्दृष्टि जीवों का वर्णन किया गया है, वहाँ-वहाँ, सभी जगह वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों का मुख्यतः, तथा सराग सम्यग्दृष्टि जीवों का गौण रूप से ग्रहण करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि के नियमतः ज्ञान व वैराग्य की शक्ति हुआ करती है– ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसारकलश (श्लोक-135-136) में प्रतिपादित किया है–

''यह (सम्यग्दृष्टि) पुरुष विषयों का सेवन करता हुआ भी, विषय-सेवन के निज फल को नहीं भोगता। यह तो ज्ञान-वैभव तथा वैराग्य के बल से विषयों का सेवनकर्ता होने पर भी सेवनकर्ता (फलभोक्ता) नहीं होता।''

''सम्यग्दृष्टि के नियमतः ज्ञान व वैराग्य की ताकत होती है, क्योंकि वह यथार्थ स्वरूप का अभ्यास करने में अपने स्वरूप का ग्रहण और पर के त्याग की विधि से 'यह तो अपना स्वरूप है' 'यह पर द्रव्य का स्वरूप है' इस तरह दोनों के अन्तर को परमार्थ रूप में जानकर अपने स्वरूप में स्थित है और परद्रव्य का सर्वतोभावेन त्याग करता है (ऐसी स्थिति ज्ञान व वैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हुआ करती)।''

**सम्यग्दृष्टेर्महिम्नो निरूपणमन्यत्रापि जैनाचार्यैः बहुशो विहितं, तस्मान्महत्त्वपूर्णानि उद्धरणानि कानिचित् स्वाध्यायरुचिपाठकानामुपयोगाय अत्र प्रस्तूयन्ते। यथा– भावप्राभृतस्य** *(गाथा-69)* **टीकायामुद्धृतं पद्यम्–**

*वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।*
*अकुत्सिते वर्त्मनि यः प्रवर्तते, विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥*

**समयसारेऽपि** *(गाथा-197)* **भणितमास्ते–**

*सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई।*
*पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणो त्ति सो होइ॥*

**अनगारधर्मामृते** *(8/2-3)* **च प्रतिपादितं वरीवर्ति–**

---

जैनाचार्यों ने अन्यत्र भी सम्यग्दृष्टि की महिमा का निरूपण अनेक प्रकार से किया है, वहाँ से कुछ महत्त्वपूर्ण उद्धरणों को स्वाध्यायरुचि वाले पाठकों के उपयोग (लाभ) के लिए यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है– उदाहरणार्थ– भावप्राभृत (की गाथा-69) की टीका में उद्धृत यह पद्य देखें–

''जो रागादि से युक्त हैं, वे यदि वन में भी चले जाएँ तो भी अनेक दोषों से ग्रस्त होने की सम्भावना है, किन्तु जो वीतराग है, जो घर में भी अकुत्सित (निर्दोष) मार्ग का अनुसरण करता है, इसलिए वह घर भी उसके लिए एक तपोवन हो जाता है जहाँ वह पञ्चेन्द्रियनिग्रह रूपी तप करता है।''

समयसार (गाथा-197) में भी कहा गया है–

''कोई पुरुष विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करने वाला होता है। जैसे किसी मनुष्य के कार्य करने की चेष्टा तो है अर्थात् प्रकरण (आयोजन-विशेष या किसी प्रबन्ध-संस्थान) से सम्बन्धित समस्त कार्य तो करता है, किन्तु वह प्रकरण का स्वामी है– ऐसा नहीं होता। (अर्थात् जैसे किसी सेठ का नौकर दुकान आदि का सारा कार्य करता हुआ भी, उसके लाभ-हानि का उत्तरदायी नहीं होता, जबकि सेठ कुछ न करता हुआ भी लाभ-हानि का भागी व स्वामी होता है)।''

अनगारधर्मामृत (8/2-3) में भी कहा गया है–

*मन्त्रेणेव विषं मृत्य्वै, मध्वरत्या मदाय वा।*
*न बन्धाय हतं ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम्॥*

*ज्ञो भुञ्जानोऽपि नो भुंक्ते, विषयांस्तत्फलात्ययात्।*
*यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृत्यति॥*

**एनमेव भावं विशदयन्तो जयसेनाचार्याः समयसारस्य** *(गाथा-194)* **तात्पर्यवृत्तिटीकायां प्रत्यपीपदन्**– *''सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी-दुःखी इत्यादि अहम् इति प्रत्ययेन अनुभवति। ...मिथ्यादृष्टेः पुनः उपादेयबुद्ध्या- सुखी अहं दुःखी अहम् इति प्रत्ययेन बन्धकारणं भवति। किं च, यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति, तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति, तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यपि आत्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति, विषयसुखं च हेयं जानाति, तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात्।''*

---

''मन्त्र द्वारा जिसकी मारण-शक्ति नष्ट हो गई है, वह विष मृत्यु का कारण नहीं होता। अथवा जैसे अरुचि के साथ पिया गया मद्य मदकारक नहीं होता, उसी प्रकार शरीर व आत्मा के भेद-विज्ञान के द्वारा या वैराग्य के द्वारा विषय-भोग की कर्मबन्धन की शक्ति कुण्ठित हो जाने पर, विषयभोग करने पर भी कर्मबन्ध नहीं होता।''

''जैसे दूसरे के विवाह आदि उत्सव में बलात् नाचने के लिए पकड़ लिया गया व्यक्ति नाचते हुए भी नहीं नाचता, वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति विषयों को भोगते हुए भी नहीं भोगता, क्योंकि विषयोपभोग के फल से वह रहित होता है।''

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन ने समयसार (की गाथा-194) की तात्पर्यवृत्ति टीका में इस प्रकार प्रतिपादन किया है- ''सम्यग्दृष्टि जीव उन (सुख-दुःख) में राग-द्वेष न करता हुआ उन्हें हेय बुद्धि से अनुभव करता है। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार की प्रतीति-सहित तन्मय होकर अनुभव नहीं करता। परन्तु मिथ्यादृष्टि तो उन्हें उपादेय बुद्धि से 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इस प्रकार की प्रतीति के साथ अनुभव करता है, इसलिए उसके लिए वे बन्ध के कारण होते हैं। और भी, जिस प्रकार कोई चोर यद्यपि मरना नहीं चाहता तो भी कोतवाल के द्वारा पकड़े जाने पर मरण का अनुभव करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मा से उत्पन्न सुख को ही उपादेय जानता है और विषय-सुख को हेय जानता है, तथापि चारित्रमोह के उदय रूप कोतवाल द्वारा पकड़ा हुआ होकर उन विषय-सुखों को भोगता है। इस कारण से उसके लिए वे निर्जरा के निमित्त हैं।''

*(मोहो)* **मोहः, स च द्विविधः– दर्शनमोहः, चारित्रमोहश्चेति नियमसारस्य** *(गाथा-66)* **तात्पर्यवृत्तौ निर्दिष्टम्। अथवा दर्शनमोहः, चारित्रमोहात्मको रागो द्वेषश्चेति मोहस्य तिस्रो भूमिकाः –इति प्रवचनसारस्य** *(गाथा-1/83)* **तत्त्वप्रदीपिकायां भणितम्। एतेषु दर्शनमोहः, चारित्रमोहनीयपरिणामो द्वेषश्चेति द्वयं तु अशुभमनोयोगरूपमेव, किन्तु चारित्रमोहनीयपरिणामो रागः शुभोऽशुभश्चेति द्विप्रकारको भवतीति पञ्चास्तिकाये** *(गाथा-131)* **तथा तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां प्रतिपादितम्। नियमसारस्य** *(गाथा-66)* **तात्पर्यवृत्तावपि भणितम्–** *'रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः'* **इति। तत्र चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघानुरागात्मको मोहात्मको रागः प्रशस्तः, इतरोऽप्रशस्तः इति नियमसारस्य** *(गाथा-6)* **तात्पर्यवृत्तौ स्पष्टीकृतम्।**

**अत्रायं विशेषः– मोहनीयकर्म तु घातिकर्म, तस्य तु अप्रशस्ततैव, कथं तद्भेदरूपस्य रागस्य प्रशस्ताप्रशस्तभेदौ संगच्छेते? अत्र समाधीयते– वेदनीय-आयुर्नाम-गोत्रेति-अघाति-कर्मापेक्षया तस्य प्रशस्ताप्रशस्तत्वं स्वीक्रियते। यश्चारित्रमोहात्मकरागोऽशुभवेदनीयायुर्नामगोत्रकारणं**

**( मोहः )** मोह, वह दो प्रकार का है– दर्शनमोह और चारित्रमोह –ऐसा नियमसार (गाथा-66) की तात्पर्यवृत्ति (टीका) में बताया गया है। अथवा मोह की तीन भूमिकाएँ (भेद) हैं– दर्शनमोह, चारित्रमोहात्मक राग और (चारित्रमोहात्मक) द्वेष –ऐसा प्रवचनसार (गाथा-1/83) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में कहा गया है। इनमें दर्शनमोह और (दूसरा) चारित्रमोहनीयपरिणाम द्वेष –ये दोनों तो अशुभ मनोयोग रूप ही हैं, किन्तु चारित्रमोहनीय का (अन्य) परिणाम 'राग' शुभ व अशुभ –इन दो प्रकारों का होता है– यह पञ्चास्तिकाय (गाथा-131) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्रतिपादित है। नियमसार (गाथा-66) की तात्पर्यवृत्ति में भी कहा गया है– 'राग प्रशस्त व अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का होता है।' इनमें चतुर्वर्ण श्रमणसंघ के प्रति अनुराग रूप, मोह रूप 'राग' प्रशस्त है और अन्य (मोह राग) अप्रशस्त है –ऐसा नियमसार (गाथा-6) की तात्पर्यवृत्ति टीका में स्पष्ट किया गया है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है– मोहनीय कर्म एक घाती (आत्मीय गुण-सम्यक्त्व व चारित्र का घातक) कर्म है, वह तो अप्रशस्त ही होता है, फिर उसके भेद रूप राग को प्रशस्त व अप्रशस्त कहा जाना कहाँ तक युक्ति संगत है? इसका समाधान इस प्रकार है– वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र –ये चार अघाती कर्म हैं (ये शुभ व अशुभ दोनों होते हैं, अतः) इनकी अपेक्षा से 'राग' की प्रशस्तता या अप्रशस्तता स्वीकृत की

**भवति, सोऽशुभः, यश्च शुभवेदनीयादीनां कारणं भवति, स शुभः इति** *(द्रव्यस्वभावप्रकाशकनय-चक्रस्य 85 गाथाया हिन्दीविशेषार्थे पं. कैलाशचन्द्रशास्त्रिणा स्पष्टीकृतम्)*।

*(हास्सादी-णोकसायपरिणामो)* **हास्यप्रभृतिनोकषायरूपः परिणामोऽपि रागादिवत् अशुभमनोयोगरूपः इति भावः। आदिपदेन रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीपुंनपुंसक-वेदानां ग्रहणं भवति। 'नो' इतिपदं तु ईषदर्थवाचकम्, अर्थात् ईषत्-कषायरूपा हास्यादयो 'नोकषाय'-पदेन अभिधीयन्ते। अत्रेदं तात्पर्यम्– यथा श्वा स्वस्वामिबलमाधृत्य कञ्चित्प्राणिनं जिघांसति, स्वस्वामिनिवर्तनात् निवर्तते च, तथैव नोकषायाः कषायस्वामिबलोपष्टम्भात् प्रवर्तन्ते, कषाय-अप्रवृत्तौ च निवर्तन्ते –इति राजवार्तिके** *(सू. 8/9/3)* **विशदीकृतम्। कषायवदेव नोकषाया अपि चारित्रगुणस्यावरणं कुर्वन्ति।**

**एतेषु, यस्योदयाद् हास्य-आविर्भावः, तद् हास्यम्। यदुदयात् देशादिषु औत्सुक्यं भवति, सा रतिः। अरतिस्तु तद्विपरीता। यत्-विपाकात् शोचनं, स शोकः। यस्योदयात् उद्वेगः, तद्भयम्।**

---

जाती है। जो चारित्रमोह रूप राग अशुभ वेदनीय, आयु, नाम व गोत्र का कारण होता है, वह अशुभ (राग) है, और जो शुभ वेदनीय, आयु, नाम व गोत्र का कारण होता है, वह (राग) शुभ है (ऐसा द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र की 85वीं गाथा के हिन्दी विशेषार्थ में पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने स्पष्ट भी किया है)।

**(हास्यादि-नोकषायपरिणामः)** हास्य आदि नोकषाय रूप आत्मीय परिणाम भी रागादि की तरह अशुभ मनोयोग है– यह तात्पर्य है।'आदि' पद से रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद –इनका ग्रहण होता है। 'नो' यह पद ईषत् (थोड़ा) अर्थ का वाचक होता है, अर्थात् ईषत् कषाय रूप हास्य आदि को 'नोकषाय' रूप से कहा जाता है। (ईषत्कषाय कहने का) तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कुत्ता स्वामी के बल के भरोसे (उसका आदेश पाकर) किसी प्राणी को मारने दौड़ता है और स्वामी के इशारे से वापस आ जाता है, उसी तरह (क्रोधादि) कषायों के बल पर ही (हास्यादि) नोकषायों की प्रवृत्ति होती है और कषायों के अभाव में ये निवृत्त (निर्बल) हो जाती हैं –ऐसा राजवार्तिक (सू. 8/9/3) में स्पष्ट किया गया है। कषाय की तरह नोकषाय भी चारित्र गुण को आवृत करती हैं।

इन (नो-कषायों) में हास्य वह है जिसके उदय से हास्य प्रकट होता है। जिसके उदय से देश आदि में उत्सुकता होती है, वह रति है। अरति इससे विपरीत होती है। जिसके उदय से शोक होता है, वह

**यदुदयात् आत्मदोषसंवरणं परदोषाविष्करणं, सा जुगुप्सा। अथवा कुत्सैव कथ्यते जुगुप्सा। अत्रायं विशेषः– परकीयकुलशीलादिदोषाविष्करण-अवक्षेपण-भर्त्सनप्रवणा तु कुत्सा भवति, जुगुप्सा तु आत्मीयदोषसंवरणरूपेति।**

**वेद्यते इति वेदः लिङ्गमित्यर्थः। अथवा आत्मवृत्तेः चञ्चलता-मैथुन-सम्मोहोत्पादको वेदः। यस्योदयात् पौंस्नप्रभृतिभावान् प्राप्नोति स वेदः। स त्रिविधः– पुंवेदः, स्त्रीवेदः, नपुंसकवेदश्चेति। तत्र यस्योदयात्** *(स्त्री-अभिलाषरूपान्)* **पुरुषोचितभावान् प्राप्नोति, स पुंवेदः। यस्योदयात् स्त्रैणान्** *(मार्दव-मदनावेश-पुरुषकामनादीन्)* **भावान् प्राप्नोति स स्त्रीवेदः। यदुदयात् नपुंसकोचितान् भावान्** *(स्त्री-पुरुषोभयरमणविषयकान्)* **आस्कन्दति, स नपुंसकवेदः।**

**स च वेदो द्रव्य-भावभेदात् द्विविधः। तत्र नामकर्मोदयापादितं मेहनादिपुरुषचिह्नादिकं द्रव्यपुरुषवेदः। तथैव नामकर्मोदयजनिता मृदुत्व-स्तनादियुक्तता द्रव्यस्त्रीवेदः। उभयभिन्नचिह्नादिकं**

---

शोक है। जिसके उदय से उद्वेग होता है, वह भय है। जिसके उदय से निज दोषों को छिपाने या ढकने का और दूसरे के दोषों को प्रकट करने का भाव होता हो, वह जुगुप्सा है। अथवा ग्लानि (कुत्सा) को ही जुगुप्सा कहते हैं। यहाँ (इन दोनों में) अन्तर यह है कि दूसरे के कुल, शील आदि में दोष लगाना, आक्षेप करना एवं भर्त्सना करना तो कुत्सा है किन्तु अपने दोषों को ढकना जुगुप्सा है।

जो वेदा जाय (अनुभव में आए), वह वेद है, इसी का दूसरा नाम लिङ्ग (चिह्न) है। अथवा आत्मा की चैतन्यरूप पर्याय में चंचलता, मैथुन-इच्छा तथा सम्मोह (रागद्वेषादि चित्त) विक्षेप का उत्पादक 'वेद' है। जिसके उदय से पुरुष आदि भावों के वेदन को प्राप्त होता है, वह वेद है। उस वेद के तीन भेद हैं– पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। वहाँ, जिसके उदय से पुरुष-सम्बन्धी (स्त्री-अभिलाषा सम्बन्धी) भावों की प्राप्ति होती है, वह पुंवेद है। जिसके उदय से (मृदुता, कामावेश, पुरुषेच्छा आदि) स्त्री-सम्बन्धी भावों की प्राप्ति होती है, वह स्त्रीवेद है। जिसके उदय से नपुंसकोचित (स्त्री व पुरुष दोनों में रमणता रूप) भावों की प्राप्ति हो, वह नपुंसकवेद है।

वह वेद दो प्रकार का होता है– द्रव्यवेद और भाववेद। इनमें नामकर्मोदय से उत्पन्न शिश्न रूपी पुरुष-चिह्न आदि द्रव्यपुरुषवेद है। इसी तरह, नामकर्मोदय से उत्पन्न मृदुता, स्तन आदि से युक्त होना –यह द्रव्य स्त्रीवेद है। दोनों (स्त्री व पुरुष) से भिन्न चिह्न आदि द्रव्यनपुंसक वेद है। पुरुषवेदरूपी नोकषाय से

**द्रव्यनपुंसकवेदः। स्त्रीविषयकरमणाभिलाषः पुरुषवेदनो-कषायोदयजनितो भावपुरुषवेदः। पुरुषविषयरमणाभिलाषः स्त्रीवेदनोकषायोदयजनितो भावस्त्रीवेदः। उभयविषयकरमणाभिलाषो भावनपुंसकवेदः। एते नोकषाया नवसंख्यकाः अशुभमनोयोगरूपा विज्ञेयाः।**

*(थूलो वा सुहुमो वा)* **एते रागादयः कषायाः तथा नोकषायाश्च स्थूलाः सूक्ष्माश्च सम्भवन्ति, ते सर्वेऽपि अशुभमनोयोगरूपाः।**

*(असुहमणो त्ति य जिणा बेंति)* **एते सर्वे अशुभमनोयोगरूपाः इति च जिनाः, तीर्थंकराः ब्रुवन्ति कथयन्ति इत्यर्थः।** *वेंति* **–इतिवकारयुक्तपाठे –विदन्ति, प्रत्यक्षतो जानन्ति इत्यर्थः।**

**एवं भो परमपारिणामिकशक्तिसम्पन्न भव्य! त्वं रागद्वेषमोहनोकषायादिरहित-निजपरमात्मभावनाबलेन समस्तरागद्वेषमोहादिविभावरूपमशुभमनोयोगं परित्यज्य शुद्धात्मस्वभावमेव समाश्रयेति गाथायाः तात्पर्यम्।**

---

जनित जो स्त्री-विषयक रमण-इच्छा है, वह भाव पुरुषवेद है। स्त्रीवेद रूपी नोकषाय से जनित जो पुरुषविषयक रमण-इच्छा है, वह भाव स्त्रीवेद है। दोनों में रमण-इच्छा भाव नपुंसकवेद है। इन नौ संख्यावाली नोकषायों को अशुभ मनोयोग रूप में जानना चाहिए।

**( स्थूलो वा सूक्ष्मो वा )** ये रागादि कषाय तथा (हास्यादि) नोकषाय स्थूल भी हो सकते हैं और सूक्ष्म भी। वे सभी अशुभ मनोयोग हैं।

**( अशुभमनः इति च जिना ब्रुवन्ति )** ये सभी अशुभ मनोयोग हैं– ऐसा जिनेन्द्रों ने, तीर्थंकरों ने कहा है, बताया है। 'वेंति' यह पाठ मानें तो अर्थ होगा –(जिनेन्द्रों ने) जाना है, अर्थात् प्रत्यक्ष (अनुभव) किया है।

इसप्रकार, हे परमपारिणामिक शक्ति से सम्पन्न भव्य! तुम राग-द्वेष-मोह-नोकषाय आदि से रहित निज परमात्म की भावना के बल से समस्त राग-द्वेष-मोह आदि विभाव रूप अशुभ मनोयोग का परित्याग कर शुद्धात्म-स्वभाव का ही आश्रयण लो –यह गाथा का तात्पर्य है।

**सम्प्रति शास्त्रकारा अशुभवचन-अशुभकाययोगयोरपि व्याख्यानं चिकीर्षन्ति-**

**भत्तित्थिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।**
**बंधण-छेदण-मारण-किरिया सा असुहकायेत्ति॥५३॥**

**छाया-** *भक्त-स्त्री-राज-चोरकथाः अशुभं वचनं विजानीहि इति।*
*(या) बन्धन-छेदन-मारणक्रिया, सा अशुभ-काय इति॥*

**( सर्वोदया टीका- ) विकथाः अर्थात् विकारोत्पादिकाः कथाः अशुभवचनरूपाः। ताश्च विकथाः काः काः? इत्याह-** *(भत्ति-त्थि-राय-चोरकहाओ)* **भोजनसम्बन्धिनी, स्त्री ( कामभोगादि )-सम्बन्धिनी, राजसम्बन्धिनी, चोरसम्बन्धिनी चेति चतस्रो विकथाः सन्ति।**

**तासु अत्यधिकभोजनप्रीत्या विविधखाद्यपेयादिपदार्थप्रशंसा भक्तकथा विज्ञेया। कामुकजनैः स्त्रीसंयोगविप्रलम्भजन्यविषयिणी वचनरचना कामभोगाभिलाषवर्द्धिनी कथा स्त्रीकथा। राज्ञां परस्परयुद्धादिमधिकृत्य विधीयमाना राजकथा। चोरतस्करदस्युप्रभृति-आचारादिविषया कथा**

---

अब शास्त्रकार अशुभ वचनयोग तथा अशुभ काययोग का व्याख्यान करना चाह रहे हैं-

( 53 )

**( गाथा-अर्थ- ) भोजन-सम्बन्धी, स्त्री सम्बन्धी, राजा सम्बन्धी तथा चोर सम्बन्धी कथाएँ अशुभ वचन( योग ) हैं, और बाँधना, छेदना व मारना रूप ( जो ) क्रिया है, वह अशुभकाय( योग ) है -ऐसा जानें।**

**( सर्वोदया टीका- )** विकथा अर्थात् विकारोत्पादक कथाएँ अशुभ वचन( योग) हैं। वे विकथाएँ कौन-कौन-सी हैं? उत्तर- **( भक्त-स्त्री-राज-चोरकथाः )** भोजन से सम्बन्धित, स्त्री(काम-भोग) से सम्बन्धित, राजाओं (के युद्ध आदि) से सम्बन्धित तथा चोर (चोरी, लूटमारी आदि) से सम्बन्धित कथा - ये चार विकथाएँ हैं।

इनमें अत्यधिक भोजन-प्रीति के कारण, विविध खाद्य, पेय आदि पदार्थों की प्रशंसा भक्तकथा होती है। कामीजनों द्वारा स्त्रियों के संयोग व विरह से सम्बन्धित वचनात्मक रचना, जो कामभोग की इच्छा को बढ़ाती है -स्त्री-कथा है। राजाओं के परस्पर युद्धों के बारे में की जाने वाली कथा राजकथा है। चोर, लुटेरे, डाकू आदि के आचार-विचार से सम्बन्धित कथा चोर-कथा होती है। इन विकथाओं के वक्ता या श्रोता

**चोरकथा। एतासां विकथानां श्रोतारो वक्तारो वा हिंसादिपापाचरणानुमोदनमेव कुर्वन्ति। विकथासु प्रवृत्तानां पापकार्येषु उत्साहोऽपि समेधते। सांसारिकतुच्छविषयसुखेषु उपादेयभावोऽपि दृढीभवति।**

**अतएव मूलाचारे** *(गाथा-857-859)* **तासां वर्जनीयता प्रतिपादिता–**

*इत्थिकहा, अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च।*
*रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ॥*

*णडभडमल्लकहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च।*
*अज्जउललंघियाणं कहासु ण वि रज्जए धीरा॥*

*विकहा विसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति।*
*धम्मे लद्धमदीया विकहा तिविहेण वज्जंति॥*

*(असुहं वयणं वियाण इदि)* **एताः सर्वाः विकथा अशुभवचनप्रवृत्तिरूपाः सन्तीति विजानीहि, मनसि अवबुद्ध्यस्वेत्यर्थः। तथैव-** *(बंधणछेदणमारणकिरिया)* **बन्धनक्रिया, छेदनक्रिया, मारणक्रिया**

---

(इन विकथाओं से) हिंसादि पाप-कार्यों का अनुमोदन ही करते हैं। विकथाओं में संलग्न व्यक्तियों का पाप-कार्यों में उत्साह भी बढ़ता है और सांसारिक तुच्छ विषय-सुखों के प्रति उपादेय बुद्धि भी दृढ़ होती है।

इसीलिए मूलाचार (गाथा-857-859) में इन विकथाओं को वर्जनीय बताया गया है–

"स्त्री-कथा, अर्थ (धनार्जन) कथा, भोजन-कथा, खेटक-कर्वट-कथा (नदी व पर्वत या सर्वत्र पर्वत से घिरे हुए प्रदेश की कथा), राजकथा, चोर-कथा, जनपद-कथा, नगर-कथा और आकर-कथा (हीरे-पन्ने-सोने-चांदी की खानों की कथा), नटों की कथा, भटों (योद्धाओं) की कथा, मल्लों (पहलवानों) की कथा, मायावियों (जादूगरों), शिकारियों व जुआरियों की कथा, दुर्गा आदि (हिंसक) देवी-देवताओं की कथा, बांस पर नाचने वालों की कथा –इन सब कथाओं में धीर मुनि (कभी) अनुरक्त नहीं होते। वे मुनि विकथाओं व कुशास्त्रों का क्षणमात्र भी मन से चिन्तन नहीं करते। धर्म में बुद्धि रखनेवाले मुनि लोग इन विकथाओं का मन-वचन-काय से त्याग करते हैं।"

**(अशुभं वचनं विजानीहि इति)** ये सभी विकथाएँ अशुभ वचनात्मक प्रवृत्ति हैं– ऐसा जानो अर्थात् मन में बैठा लो। इसी तरह, **(बन्धन-छेदन-मारणक्रियाः)** बन्धन, छेदन व मारण की जो भी

**च याऽनुष्ठीयते,** *(सा असुहकाय इति)* **सा अशुभकायप्रवृत्तिरूपा भवतीति विजानीहि –इत्यर्थः। तत्र बन्धनं नाम बलेन छलेन वा रज्जुशृंखलादिभिः पशुपक्षिमनुष्यादीनां, तेषां हस्तपादादिअवयवानां वा निग्रहणम्। नासिका-कर्णप्रभृतिशरीरावयवकर्तनं छेदनम्। जीववधाय जीवपीडायै वा या काचिदपि हिंसात्मककायप्रवृत्तिः, सा मारणक्रिया।**

**एवं विज्ञाय, भो मनीषिभव्य! स्वपरसमयविद् ज्ञानिन्! शुभाशुभसमस्तयोगरहितं निजात्मान-मलभमानः प्राणी एव आत्मप्रदेशपरिस्पन्दात्मकं शुभमशुभं वा मनोवचन-शरीरव्यापारं करोति, ततश्च संसारमहारण्ये परिभ्रमति, अतस्त्वं त्रियोगनिग्रहं विधेहि। वाक्कायमनसां दुष्प्रणिधानं परित्यज्य त्रियोगशुद्ध्या शुद्धात्मस्वरूपे अवस्थानमेव समाधिः, तदेव अध्यात्मयोगानुष्ठानम्, अतः सम्यक्प्रणिधानेन परमयोगी भव।**

**उक्तं च योगिलक्षणं बृहद्-नयचक्रे** *(गाथा-389)*–

*णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो।*
*जो एहावत्थगओ सो जोई णत्थि संदेहो॥*

---

क्रिया की जाती है, **( सा अशुभकाय इति )** वह अशुभ कायिक चेष्टा होती है– ऐसा जानो –यह अर्थ है। यहाँ बन्धन से तात्पर्य है– बल से या छल से रस्सी व सांकल आदि से पशु, पक्षी व मनुष्य आदि को या उनके हाथ, पाँव आदि अङ्गों का निग्रह करना। नाक, कान आदि शरीर-अवयवों को काटना, टुकड़े-टुकड़े करना –इसे छेदन कहते हैं। जीव के वध की दृष्टि से या फिर उसे पीड़ित करने के लिए जो कुछ भी हिंसात्मक शारीरिक प्रवृत्ति की जाती है, वह मारण क्रिया है।

इस प्रकार जानकर, हे मनीषी भव्य! स्वसमय व परसमय के ज्ञाता ज्ञानी! शुभ या अशुभ समस्त योगों से रहित (अयोगी) निज आत्मा को प्राप्त न करता हुआ प्राणी ही आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द रूप शुभाशुभ मन-वचन-शरीर का व्यापार करता है और फलस्वरूप संसार रूप महावन में भटकता रहता है, इसीलिए तुम तीनों योगों का निग्रह करो। वाणी, शरीर व मन के दुष्प्रणिधान (सावद्य प्रवृत्ति) को छोड़ दो और त्रियोग-शुद्धि के साथ शुद्धात्म-स्वरूप में अवस्थान ही समाधि है, इसे ही अध्यात्मयोगानुष्ठान कहते हैं। सम्यक् प्रणिधान के साथ परम योगी बनो।

बृ. नयचक्र (गाथा-389) में योगी का लक्षण इस प्रकार बताया गया है– "जिसने श्वास को जीत लिया है, जिसके नेत्र झपकते नहीं हैं, शरीर के समस्त व्यापारों से जो रहित है, ऐसी अवस्था को प्राप्त होने वाला ही निस्सन्देह 'योगी' है।"

**तथैव मुनिपद्मसिंहरचिते ज्ञानसारे** *(श्लोक-4)* **च भणितम्–**

*कन्दर्पदर्पदलनो दम्भविहीनो विमुक्तव्यापारः।*
*उग्रतपोदीप्तगात्रः, योगी विज्ञेयः परमार्थः॥*

**अयोगावस्थैव सम्यक् चारित्रं इति बृहद्द्रव्यसंग्रहे** *(गाथा-46, 56)* **प्रतिपादितम्–**

*बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।*
*णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं॥*

*मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।*
*अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं॥*

**एवं मनोवचनकायव्यापाराः, विशेषतोऽशुभरूपाः संसारपरिभ्रमणहेतवो भवन्ति। पूर्वमशुभयोगानां, ततश्च शुभयोगे स्थित्वा तेषां शुभयोगानामपि परित्यागो विधेयः, ततश्च परमयोगिस्थितिः प्राप्तुं सुकरा भवेदिति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

उसी तरह मुनि पद्मसिंह-रचित ज्ञानसार (श्लोक-4) में कहा गया है– "कामदेव के अभिमान को चूर-चूर करने वाला, दम्भ रहित, शारीरिक चेष्टा से शून्य, तथा उग्र तपस्या से प्रदीप्त शरीर वाला ही परमार्थतः योगी होता है –ऐसा जानें।"

यह योग रहित अवस्था ही सम्यक्चारित्र या परम ध्यान है –ऐसा (आ. नेमिचन्द्र जी रचित) बृहद् द्रव्यसंग्रह (गाथा-46, 56) में प्रतिपादित किया गया है–

"संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए ज्ञानी द्वारा बाह्य व अन्तरङ्ग की क्रियाओं (योगों) का जो निरोध किया जाता है, वह जिनेन्द्र-कथित परम सम्यक्चारित्र है।"

"(हे भव्य जनों!) कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, कुछ भी चिन्तन मत करो, आत्मा को निजात्मा में तल्लीन करो, बस यही परमध्यान की स्थिति है।"

इस तरह, मन-वचन-शरीर के व्यापार, विशेष रूप से अशुभ व्यापार संसार-भ्रमण के कारण होते हैं। सर्वप्रथम शुभयोग में स्थित होकर अशुभ योगों का, फिर शुभ योगों का भी त्याग करना चाहिए, ताकि उसके फलस्वरूप परमयोगी की स्थिति को प्राप्त करना सुकर (सरल) हो जाय –यह गाथा का तात्पर्य है।

**इदानीं शास्त्रकाराः व्रतसमितिप्रभृतीनां शुभमनोयोगस्वरूपं विनिर्दिशन्ति–**

**मोत्तूण असुहभावं, पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं।**
**वद-समिदि-सील-संजमपरिणामं सुहमणं जाणे ॥५४॥**

**छाया–** *मुक्त्वा अशुभभावं पूर्वोक्तं निरवशेषतः द्रव्यम्।*
*व्रत-समिति-शील-संयम-परिणामं शुभमनो जानीहि ॥*

**( सर्वोदया टीका– ) शुभमनोयोगस्थितेः प्राक् अशुभमनोयोगस्य तन्निमित्तभूतद्रव्याणां च त्यागो विधेयः इति संकेत्यते 'मोत्तूण' इत्यादिना।** *(पुव्वुत्तं)* **पूर्वगाथासु वर्णितम्,** *(असुहभावं)* **अशुभमनोवाक्काययोगम्,** *(दव्वं)* **अशुभयोगनिमित्तभूतं द्रव्यादिकपरिग्रहं च,** *(णिरवसेसदो मोत्तूण)* **सम्पूर्णतया, सर्वथा, सर्वप्रकारेण वा, मुक्त्वा परित्यज्य इत्यर्थः। तदनन्तरं** *(वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं)* **व्रतरूपेण, समितिरूपेण, शीलरूपेण, संयमरूपेण य आत्मीयपरिणामो भवति, तम्** (सुहमणं जाणे) **शुभमनोयोगरूपमिति जानीहि, मनसि सम्यक् धारयेत्यर्थः।**

---

अब शास्त्रकार व्रत-समिति आदि के शुभमनोयोग के स्वरूप का निर्देश कर रहे हैं–

**( 54 )**

**( गाथा-अर्थ– ) पूर्वकथित अशुभभावों व ( अशुभ ) द्रव्यों को सम्पूर्णतया छोड़कर व्रत, समिति, शील व संयम रूप परिणाम का होना शुभ मन ( योग ) रूप है –ऐसा जानें।**

**( सर्वोदया टीका– )** शुभ मनोयोग की स्थिति से पहले अशुभ मनोयोग का और उसमें निमित्त होने वाले द्रव्य (परिग्रह) का त्याग करना चाहिए –ऐसा संकेत कर रहे हैं– 'मोत्तूण' आदि के द्वारा। **( पूर्वोक्तं )** पूर्व की (50-53वीं) गाथाओं में बताये गये, **( अशुभभावं )** अशुभ मनोयोग, वचनयोग व काययोग को, तथा **( द्रव्यं )** उस अशुभ योग में निमित्त होने वाले द्रव्य आदि परिग्रह को भी **( निरवशेषतः मुक्त्वा )** सम्पूर्ण रूप से, सर्वथा, सभी प्रकारों से छोड़कर अर्थात् उनका परित्याग कर, उसके अनन्तर, **( व्रत-समिति-शील-संयम-परिणामम् )** व्रत रूप से, समिति रूप से, शील रूप से और संयम रूप से जो आत्मीय परिणति होती है, उसे, **( शुभमनः जानीहि )** शुभ मनोयोग रूप में जानो, अर्थात् मन में अच्छी तरह बैठा लो, समझ लो।

**इदानीं विस्तरेण व्याख्यायते– तत्र हिंसादिपञ्चपापेभ्यो विरतिर्व्रतम्। व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः– इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा। तद् द्विविधं– देशव्रतं महाव्रतं च। ये सागाराः, आगारेण गृहेण सहिताः गृहस्थाः इत्यर्थः, तैः श्रावकैः हिंसा-असत्य-चौर्य-अब्रह्मचर्य-परिग्रहेति-पापपञ्चकस्य एकदेशत्यागो यः, स देशव्रतसंज्ञया अभिधीयते। इदमेव विकलव्रतमणुव्रतं वा भण्यते। श्रावकाणां कृते अणुव्रतम्, गुणव्रतम्, शिक्षाव्रतं चेति त्रिविधव्रतानां शास्त्रे निर्देशः कृतोऽस्ति। तत्र अणुव्रतानि पञ्च भवन्ति। यथा– अहिंसाणुव्रतम्, सत्याणुव्रतम्, अचौर्याणुव्रतम्, ब्रह्मचर्याणुव्रतम् (स्वदारसन्तोषव्रतम्), परिग्रहपरिमाणाणुव्रतं चेति।**

**तेषां स्वरूपाणि रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-53, 55, 57, 59, 61)* **प्रोक्तानि–**

*संकल्पात् कृतकारितमननाद् योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।*
*न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद् विरमणं निपुणाः॥*

---

अब विस्तार से व्याख्या की जा रही है– हिंसा आदि पाँच पापों से विरत होना 'व्रत' है। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है। जैसे– यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है (इस प्रकार लेना व्रत है)। वह दो प्रकार का है– देश (आंशिक) व्रत और महाव्रत। जो सागार हैं, अर्थात् जो आगार यानी घर से सहित हैं, अर्थात् गृहस्थ हैं, उन श्रावकों द्वारा हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य व परिग्रह –इन पाँच पापों का एकदेश त्याग जो होता है, उसे देशव्रत नाम से अभिहित किया जाता है। इसे ही विकल व्रत या अणुव्रत कहा जाता है। श्रावकों के लिए अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रत –इन तीन व्रतों का निर्देश शास्त्र में किया गया है। इनमें अणुव्रतों की संख्या पाँच होती है। जैसे– अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत (स्वदारसन्तोषव्रत) और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

इनके स्वरूपों के विषय में रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक–53, 55, 57, 59, 61) में (इस प्रकार) बताया गया है–

"जो तीनों योगों के कृत, कारित व अनुमोदन रूप, संकल्प के साथ त्रस (दो इन्द्रियों से लेकर पाँच इन्द्रियों वाले) जीवों को नहीं मारता है, उस क्रिया को आप्त पुरुषों ने स्थूल हिंसा–विरति अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहा है।"

*स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।*
*यत्तद् वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्॥*

*निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।*
*न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम्॥*

*न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।*
*सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामाऽपि॥*

*धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।*
*परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामाऽपि॥*

**श्रावकैर्मोक्षार्थिभिः सम्यक् श्रद्धया श्रावकाचारग्रन्थेभ्यः पञ्चानामणुव्रतानां, तथैव तत्सम्बन्धिनामतिचाराणां च परिज्ञानं कर्तव्यम्, तथैव प्रत्येकाणुव्रतसम्बन्धिभावना अपि भावनीयाः। अत्र तु विस्तरभयान्नाधिकं लिख्यते।**

---

"जो स्थूल असत्य न स्वयं बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है, और ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जिससे किसी को संकट हो, उसकी इस क्रिया को सन्त पुरुषों ने स्थूल असत्य-विरति अर्थात् सत्याणुव्रत कहा है।"

"जो रखी हुई हो या गिरी हुई हो अथवा भूल से (किसी की) छूट गई हो, ऐसी किसी दूसरे की वस्तु को, बिना दिये हुए ग्रहण नहीं करता और न ही किसी दूसरे को देता है, तो उसकी इस क्रिया को स्थूल रूप से चोरी का त्याग अर्थात् अचौर्याणुव्रत कहते हैं।"

"जो पाप के भय से न तो पर-स्त्री को भोगता है और न ही दूसरों को भोग हेतु प्रेरित करता है, उसकी इस क्रिया को पर-स्त्रीत्याग अथवा 'स्वदारसन्तोष' नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं।"

"धन-धान्यादि परिग्रहों का परिमाण करना –सीमा निर्धारित करके उससे अधिक की इच्छा नहीं रखना –इसे परिग्रहपरिमाणव्रत अथवा इच्छा परिमाण अणुव्रत कहा जाता है।"

मोक्षार्थी श्रावकों को समीचीन श्रद्धा के साथ श्रावकाचार-सम्बन्धी ग्रन्थों से पाँचों अणुव्रतों और उनमें से प्रत्येक के अतिचारों का परिज्ञान करना चाहिए, इसी तरह प्रत्येक अणुव्रत की भावनाओं को भी भाना चाहिए। यहाँ विस्तार-भय से अधिक नहीं लिख रहे हैं।

**सम्प्रति गुणव्रतानां परिचयो दीयते– अणुव्रतानां गुणवृद्ध्यर्थमेतेषां पालनं विधीयते।**

**उक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-67)– 'अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः'* **इति।**

**तथैव सागारधर्मामृते** *(5/1)– 'यद् गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत्। गुणव्रतानि त्रीण्याहुः'* **इति।**

**गुणव्रतानि त्रीणि सन्ति– दिग्विरतिः, देशविरतिः, अनर्थदण्डविरतिश्चेति। तत्र प्राच्यादिदिशां प्रसिद्धैरभिज्ञानैरवधिं विधाय नियमनं दिग्व्रतम्, यथा– यावज्जीवं दिग्गमनमर्यादा संकल्पिता, तामतिक्राम्य न गमिष्यामि –इति नियमधारणं दिग्व्रतम्। अस्य व्रतस्योद्देश्यं तु आरम्भलोभवृत्ते-र्निग्रहणम्। दिक्सीममर्यादा असीमपरिग्रहेच्छानियन्त्रणाय प्रभवति।**

---

अब गुणव्रतों का परिचय दिया जा रहा है– अणुव्रतों की गुणवृद्धि हेतु इनका पालन किया जाता है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-67) में कहा भी गया है– "(मूल) गुणों में वृद्धि करने व उत्कर्षता लाने हेतु गुणव्रतों का कथन किया गया है।"

इसी तरह सागारधर्मामृत (5/1) में भी कहा गया है– "अणुव्रतों के गुण व उपकार के लिए इन तीन गुणव्रतों का निरूपण किया गया है।"

गुणव्रत तीन हैं– दिग्-विरति (व्रत), देशविरति (व्रत), और अनर्थदण्डविरति (व्रत)। इनमें दिग्व्रत वह है जिसमें पूर्व, (पश्चिम) आदि दिशाओं के प्रसिद्ध चिह्नों के आधार पर मर्यादा करके 'नियम' लिया जाता है। जैसे– जीवनपर्यन्त दिशा-सम्बन्धी जो मर्यादा (सीमा) तय की है, उसका अतिक्रमण नहीं करूँगा, उसके बाहर नहीं जाऊँगा –ऐसा नियम लेना दिग्व्रत है। उक्त व्रत का उद्देश्य आरम्भ (हिंसादि) व लोभ पर रोक लगाना होता है। दिशा-सम्बन्धी सीमा के निर्धारित होने से परिग्रह की असीम इच्छा पर नियन्त्रण होता है।

**ग्रामादीनां मर्यादितभागः प्रदेश एव देशः। तस्माद् बहिर्गमनं न करिष्यामीति नियमनं देशविरतिव्रतम्। दिग्व्रते यावान् भूमिभागो मर्यादितः, तस्य मर्यादितक्षेत्रस्यापि अल्पीकरणाय दिन-पक्ष-मासप्रभृतिनियतकालमर्यादया सीम्नो निर्धारणं यद् भवति, तद्देशव्रतम्। यथा- अहं मर्यादितदिग्भागाभ्यन्तरेऽपि नियतक्षेत्राद् ( अमुकग्रामाद्, अमुकनगराद् वा ) बहिः वर्षकालमादि यावद् न गमिष्यामि इति। अत्रायं विशेषः- दिग्विरतिस्तु यावज्जीवनं भवति, देशविरतिः नियतकालिकेति।**

**दिग्व्रत-देशव्रतमर्यादितक्षेत्राभ्यन्तरेऽपि निष्प्रयोजनपापप्रवृत्तेः विरमणं, यथा- निष्प्रयोजनं पापबन्धकारणे योगत्रये न प्रवृत्तो भवामि -इति संकल्पः नियमधारणं, तदनर्थदण्डविरतिव्रतम्। अस्य अनर्थदण्डस्य पञ्च भेदाः- ( 1 ) पापोपदेशः ( हिंसासम्बन्धिकथाप्रसङ्गउत्थापनम् ), ( 2 ) हिंसादानम् ( हिंसासाधनास्त्रादिदानम् ), ( 3 ) अपध्यानम्( रागद्वेषवर्धकदुर्ध्यानचिन्तनमननादिकम् ), ( 4 ) दुःश्रुतिः ( आरम्भ-परिग्रह-विषय-सेवनप्रवर्तकशास्त्रादिश्रवणम् ), ( 5 ) प्रमादचर्या ( निरर्थकमेव जीवपीडकघातकचर्या ) चेति।**

---

ग्राम आदि के मर्यादित प्रदेश को 'देश' कहा जाता है, उससे बाहर नहीं जाऊँगा -ऐसा नियम लेना देशव्रत है। दिग्व्रत की मर्यादा में जितना भू-भाग आया, उस मर्यादित क्षेत्र को भी दिन-पक्ष-मास आदि नियत कालमर्यादा के अनुरूप अल्प (सीमित) करने हेतु सीमा का (पुनः) निर्धारण करना -यह देशव्रत है। जैसे- मर्यादित दिग्भाग के अन्दर भी, मैं इतने नियत क्षेत्र (अमुक गाँव या अमुक नगर) से बाहर एक वर्ष आदि तक नहीं जाऊँगा (वह नियम देशविरति है)। यहाँ एक अन्तर समझना चाहिए -दिग्व्रत जीवनपर्यन्त लिया जाता है, जब कि देशविरति नियत काल के लिए होता है।

दिग्व्रत व देशव्रत से मर्यादित क्षेत्र के अन्दर भी, निष्प्रयोजन ही की जाने वाली पाप प्रवृत्ति से विरति, जैसे- मैं पापबन्ध कराने वाले तीनों योगों में निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होऊँगा -ऐसा संकल्प या नियम धारण करना -यह अनर्थदण्डविरति व्रत होता है। इस अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं- (1) पापोपदेश (हिंसा से जुड़ी कथा का प्रसङ्ग छोड़ना), (2) हिंसादान (हिंसा के साधन अस्त्रादि का वितरण), (3) अपध्यान (रागद्वेषवर्धक अप्रशस्त ध्यान, चिन्तन-मनन आदि), (4) दुःश्रुति (आरम्भ, परिग्रह, विषय सेवन के प्रवर्तक शास्त्र आदि का श्रवण), और (4) प्रमादचर्या (निरर्थक जीव-पीड़ा या वध करने वाली चर्या)।

**गुणव्रतानां निरूपणमिदमाचार्य-पूज्यपाद-अमृतचन्द्र-प्रभृति-मतानुसारं वर्तते। कुन्दकुन्दाचार्यैस्तु दिशाविदिशापरिमाणव्रतं, अनर्थदण्डत्यागः, भोगोपभोगपरिमाणं चेति त्रीणि गुणव्रतानि** *(चारित्तपाहुडग्रन्थे, गाथा-25)* **स्वीकृतानि, यत्समर्थनं देवसेनकृतभावसंग्रहे, रविषेणाचार्यकृते पद्मपुराणे च कृतं दृश्यते। आचार्यसमन्तभद्रकृते रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-67-90)*, **कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-341-351)* **तथा सागारधर्मामृते** *(5/1-20)* **तु दिग्व्रतम्, अनर्थदण्डविरतिः, भोगोपभोगपरिमाणव्रतं चेति त्रीणि गुणव्रतानि व्याख्यातानि उपलभ्यन्ते।**

**शिक्षाव्रतानि मुनिव्रतशिक्षायै अनुष्ठातव्यानि भवन्ति। तानि चतुर्धा– सामायिकम्, प्रोषधोपवासः, अतिथिसंविभागः, भोगोपभोगपरिमाणं चेति।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-2076)*–

*भोगाणं परिसंखा, सामाइयमतिहिसंविभागो य।*
*पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ॥*

---

गुणव्रतों का यह जो निरूपण यहाँ किया गया है, वह आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अमृतचन्द्र आदि के मत के अनुरूप है। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने तो (चारित्तपाहुड, गाथा-25 में) तीन गुणव्रत बताए हैं, जिनके नाम हैं– दिशाविदिशापरिमाणव्रत, अनर्थदण्डत्यागव्रत और भोगोपभोग-परिमाणव्रत। इन्हीं का समर्थन आचार्य देवसेनकृत भावसंग्रह तथा आचार्य रविषेण-कृत पद्मपुराण में किया गया दृष्टिगोचर होता है। आचार्य समन्तभद्र-कृत रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-67-90), कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा-341-351), तथा सागारधर्मामृत (श्लोक-5/1-20) में तो दिग्व्रत, अनर्थदण्ड-विरति व भोगोपभोगपरिमाण व्रत –इन तीन गुणव्रतों का व्याख्यान किया गया है।

शिक्षाव्रतों का अनुष्ठान मुनि-व्रत की शिक्षा (अभ्यास) हेतु किया जाता है। ये चार प्रकार के होते हैं– (1) सामायिक, (2) प्रोषधोपवास, (3) अतिथिसंविभाग, और (4) भोगोपभोगपरिमाण व्रत।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-2076) में कहा गया है–

"भोगपरिमाणव्रत, सामायिक, अतिथिसंविभाग और प्रोषध विधि –ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं।"

**सम् एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्, यद्वा समयः प्रयोजनमस्येति सामायिकम्। सर्वजीवेषु समत्वभावधारणं सामायिकम्। यद्वा सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं सामायिकम्। एवं प्रोक्तलक्षणानां निष्कर्षरूपेण कथयितुं शक्यते यत् नियतकालपर्यन्तं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपूर्वकम् आत्मस्वभावे या स्थिरता सैव सामायिकमिति। इदं कृत्यं नित्यनैमित्तिकक्रियाविशेषः। इयति देशे इयति काले इत्यवधारिते सामायिके संस्थितस्य साधकस्य उपचारतो महाव्रतत्वं स्वीक्रियते। सामायिके स्थितः साधकः श्रमणोपासकः श्रमणवदेवेति शास्त्रेषु प्रतिपादितम्।**

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-533)*–

*सामाइअह्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा।*
*एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा॥*

---

सम्= एकत्व या एकरूपता के साथ, अयन= गमन, वह 'समय' है, समय ही सामायिक है। अथवा 'समय' जिसका प्रयोजन (लक्ष्य) है, वह सामायिक है। सभी जीवों में समत्व भाव रखना –यह सामायिक है। अथवा समस्त सावद्य (दोषयुक्त) व्यापारों से निवृत्त हो जाना सामायिक है। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणों का निष्कर्ष यह कहा जा सकता है कि नियत कालपर्यन्त समस्त सावद्य व्यापारों से निवृत्त होते हुए आत्म-स्वभाव में जो स्थिरता है, वही सामायिक है। यह नैमित्तिक क्रिया के रूप में नित्य किया जाने वाला अनुष्ठान-विशेष है। इतने देश में और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गई सामायिक क्रिया में स्थित साधक के उपचार से महाव्रत माना जाता है। सामायिक में स्थित साधक या श्रमणोपासक को शास्त्रों में श्रमण-सम बताया गया है।

मूलाचार (गाथा-533) में कहा भी गया है–

"सामायिक करते समय श्रावक भी श्रमण (संयत) कहा जाता है, इस कारण से अनेक बार सामायिक करनी चाहिए।"

**प्रोषधे पर्वणि उपवासः प्रोषधोपवासः। उपवासे च चतुर्विधाहारपरित्यागो विधीयते। प्रोषधोपवासस्य स्वरूपं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-538-539)* **निरूपितम्–**

*ण्हाण-विलेवण-भूसण-इत्थी-संसग्ग-गंध-धूवादि।*
*जो परिहरेदी णाणीं, वेरग्गाभूसणं किच्चा।।*

*दोसु वि पव्वेसुं सया उववासं एयभत्तणिव्वियडी।*
*जो कुणदि एवमाई तस्स वयं पोसहं विदियं।।*

**तथैव रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-109)* **च निरूपितम्–**

*चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।*
*स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति।।*

**अतिथये संविभागः अतिथि-संविभागः। अनियतागमनकालतिथये मोक्षमार्गे प्रस्थिताय संयताय अतिथये भिक्षा-उपकरण-औषध-निवासदानमेव अतिथिसंविभागः कथ्यते।**

---

प्रोषध यानी पर्व-तिथियाँ (अष्टमी, चतुर्दशी आदि), इनमें जो उपवास किया जाता है, वह प्रोषधोपवास है। उपवास में चतुर्विध आहार का त्याग किया जाता है। प्रोषधोपवास के स्वरूप को कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-538-539) में इस प्रकार बताया गया है–

''जो श्रावक सदा दोनों पर्वों में स्नान, विलेपन, भूषण, स्त्री-संसर्ग, गन्ध, धूप, दीप आदि का त्याग करता है, वैराग्य रूपी भूषण से भूषित होकर, उपवास या एकबार भोजन, या निर्विकृति भोजन करता है, उसके प्रोषधोपवासव्रत (नाम का शिक्षाव्रत) होता है।''

इसी तरह रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-109) में भी बताया गया है– ''चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास होता है। एक बार भोजन करना प्रोषध होता है। जो (धारणे-पारणे के दिन) प्रोषधसहित उपवास कर आरम्भ यानी एकाशन का आचरण करता है, वह प्रोषधोपवास होता है।''

अतिथि के लिए संविभाग 'अतिथि-संविभाग' है। अतिथि वह होता है जिसके आने की कोई तिथि नहीं होती, ऐसे अतिथि को –जो मोक्षमार्ग में चल रहा हो, संयमधारी हो –उन्हें भिक्षा, उपकरण (संयमोपकरण), औषध व रहने का स्थान –इनका दान करना अतिथिसंविभाग व्रत कहा जाता है।

**भोगोपभोगयोः परिमाणं मर्यादा यत्र क्रियते, तद् भोगोपभोगपरिमाणव्रतम्। भोगोपभोगयोः स्वरूपं रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-83)* **निरूपितम्–**

*भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।*
*उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः।।*

**एवमुपभोगश्च अलंकार-शयनासन-यान-गृहादिविषयकः। भोगश्च भोजनगन्धमाल्यादि-विषयकः। तयोः मर्यादां निश्चित्य परिमितभोगोपभोगसेवनमस्मिन् व्रते विधीयते।**

**अत्रेदं विज्ञेयम्– आचार्यसमन्तभद्रमते देशावकाशिकं, सामायिकं, प्रोषधोपवासः, वैयावृत्त्यं चेति चत्वारि शिक्षाव्रतानि स्वीकृतानि। आचार्यकुन्दकुन्दमुनीश्वरास्तु चारित्तपाहुडग्रन्थे** *(गाथा-26)* **सामायिकं, प्रोषधव्रतं, अतिथिपूजा तथा सल्लेखनेति चत्वारि शिक्षाव्रतानि स्वीचक्रुः।**

---

भोग व उपभोग का परिमाण यानी मर्यादा रखी जाय, वह भोगोपभोग परिमाण व्रत होता है। भोग व उपभोग के स्वरूप का निरूपण रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-83) में इस प्रकार किया गया है–

''भोजन-वस्त्र आदि पञ्चेन्द्रिय-सम्बन्धी विषय जो भोग करके पुनः भोगने में न आवें, वे तो भोग हैं, और भोग करके फिर भोगने योग्य हों, वे उपभोग हैं।''

इस तरह उपभोग हैं– अलंकार, शय्या, आसन, यान व घर आदि (का सेवन)। भोग हैं– भोजन, गन्ध, माला आदि (का सेवन)। इन दोनों की मर्यादा निर्धारित करते हुए सीमित मात्र में भोगोपभोग-सेवन इस व्रत में किया जाता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है– आचार्य समन्तभद्र के मत में देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास व वैयावृत्त्य –ये चार शिक्षाव्रत माने गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द मुनीश्वर ने तो चारित्तपाहुड ग्रन्थ (की 26वीं गाथा) में सामायिक, प्रोषधव्रत, अतिथिपूजा व सल्लेखना –इन चार शिक्षाव्रतों को स्वीकार किया है।

**एवं पञ्च अणुव्रतानि, त्रीणि गुणव्रतानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि, सर्वाणि संहत्य श्रावकाणां मुख्यतो द्वादश व्रतानि अनुष्ठेयानि भवन्ति। मुनीनां कृते तु महाव्रतानि अनुष्ठेयानि भवन्ति। यदा पञ्चानां हिंसादिपापानां सर्वथा मनसा, वचसा, कायेन कृत-कारित-अनुमोदनारूपैस्त्यागो विधीयते, तदा महाव्रतं भवति।**

**उक्तं च महाव्रतस्वरूपं रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-72)*–

*पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचः कायैः।*
*कृतकारितानुमोदैः, त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥*

**तथैव भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1178)*–

*साधेंति जं महत्थं आयरियाइं च जं महल्लेहिं।*
*जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं॥*

---

इस प्रकार, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत –इन सभी को मिलाने से श्रावकों के लिए पालनीय कुल व्रतों की संख्या बारह हो जाती है। मुनियों के लिए तो महाव्रतों का अनुष्ठान कर्तव्य है। जब हिंसा आदि पाँचों पापों का सर्वथा अर्थात् मन, वचन व शरीर से कृत-कारित व अनुमोदन रूप से त्याग किया जाता है तो वह महाव्रत होता है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-72) में महाव्रत का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है–

''हिंसा आदि पाँच पापों का मन, वचन व शरीर से, तथा कृत, कारित व अनुमोदन रूप से त्याग करना महापुरुषों द्वारा धारण किया जाने वाला महाव्रत कहलाता है।''

इसी तरह भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1178) में भी कहा गया है–

''चूँकि ये असंयम के निमित्त से होने वाले नवीन कर्म-समूह के निवारण रूप महान् प्रयोजन के साधक होते हैं, इसलिए ये महाव्रत हैं। चूँकि ये महान् पुरुषों द्वारा आचरित होते हैं, इसलिए ये महाव्रत हैं। चूँकि ये स्वयं महान् हैं (क्योंकि स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार की हिंसा का त्याग इनमें होता है) इसलिए ये महाव्रत हैं।''

**अणुव्रतिनां सागाराणां विकलं चरणम्, अनगाराणां महाव्रतिनां तु सकलं चरणं भवति। उक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-50)*–

*सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।*
*अनगाराणां, विकलं सागाराणां ससंगानाम्॥*

**व्रतानां स्थिरीकरणाय प्रत्येकव्रतस्य पञ्च-पञ्च भावनाः तत्त्वार्थसूत्रे** *(7/4-8)* **प्रतिपादिताः। यथा– अहिंसाव्रतरक्षार्थं वचनगुप्ति-मनोगुप्ति-ईर्यासमितिप्रभृतीनां निर्देशः कृतः। द्रव्यभावोभय-विधहिंसात्यागाय वचनगुप्तिप्रभृतीनां महत्त्वपूर्णं योगदानं सम्भवति। पञ्चानां व्रतानां समग्रतया पञ्चविंशतिः भावनाः सन्ति, तासां ज्ञानं तत्त्वार्थसूत्र-तट्टीकाग्रन्थेभ्यश्च कर्तव्यम्। अत्रेदं बोद्धव्यं यत् प्रोक्ता व्रतसम्बन्धिभावनाः मुख्यतो मुनीनामेव भवन्ति, तथापि श्रावकाणां कृतेऽपि यथायोग्यमुपादेयाः। अत एव लाटीसंहितायां** *(चतुर्थसर्गे, श्लोक-184-185, 187, 189)* **प्रोक्तम्–**

---

अणुव्रती गृहस्थों का विकलचारित्र होता है, किन्तु महाव्रती मुनियों का सकल चारित्र होता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-50) में कहा गया है–

"वह चारित्र सकल भी है और विकल भी। समस्त परिग्रहों से रहित अनगार (मुनियों) का वह सकल चारित्र होता है और परिग्रह सहित गृहस्थों का विकल चारित्र होता है।"

व्रतों में स्थिरता लाने के लिए तत्त्वार्थसूत्र (7/4-8) में प्रत्येक व्रत की 5-5 भावनाएँ बताई गई हैं। जैसे– अहिंसा व्रत की रक्षा हेतु वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति (आदाननिक्षेपणसमिति व आलोकितपानभोजन) आदि का निर्देश किया गया है। द्रव्यहिंसा व भावहिंसा –इन दोनों हिंसा के त्याग हेतु वचनगुप्ति आदि (5 भावनाओं) का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। पाँचों व्रतों की कुल भावनाएँ पच्चीस हैं, उनका ज्ञान तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं (राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि) से प्राप्त करना चाहिए। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त व्रतसम्बन्धी भावनाएँ मुख्यतया मुनियों के लिए हैं, तथापि ये श्रावकों के लिए भी उपादेय मानी गई हैं। इसी दृष्टि से लाटीसंहिता (चतुर्थ सर्ग, श्लोक-184-185, 187, 189) में कहा गया है–

*सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते।*
*तेनानगारयोग्याया: कर्तव्यास्ता अपि क्रिया:॥*

*यथा समितय: पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तय:।*
*अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तै:॥*

*न चाऽऽशंक्यमिमा: पञ्च भावना मुनिगोचरा:।*
*न पुनर्भावनीयास्ता देशतो व्रतधारिभि:॥*

*अलं विकल्पसंकल्पै: कर्तव्या भावना इमा:।*
*अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत्॥*

**इदमवधेयम्– यद् श्रावकाणां समिति-गुप्तयो न भवन्ति प्रतिज्ञारूपेण, अपितु भावनारूपेणैव सम्भवन्ति। मुनीनां तु प्रतिज्ञारूपेणैवेति। भावनारूपेण श्रावकाणां समिति-गुप्ति-सद्भावे न किमपि अनौचित्यं प्रतिभाति।**

---

''गृहस्थों के धर्म में 'देश' शब्द लगा हुआ है। इसलिए अनगार (श्रमणों) के लिए जो भी क्रियाएँ करणीय बताई गई हैं, वे सभी क्रियाएँ यथायोग्य रूप से गृहस्थों द्वारा भी करणीय हैं।''

''जैसे– पाँच समिति व तीन गुप्ति –इनका पालन अहिंसा व्रत की रक्षा हेतु श्रावकों द्वारा भी एकदेश (आंशिक) रूप से करणीय है।''

''ये भावनाएँ मुनियों के लिए (ही) हैं, अत: व्रती गृहस्थों द्वारा इनका एकदेश रूप से भी पालन करणीय नहीं है –ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए।''

''(किन्तु) इस विषय में संकल्प-विकल्प उठाने की जरूरत नहीं है, जिस प्रकार श्रावक अणुव्रत आदि का पालन करता है, उसी प्रकार अहिंसा व्रत की रक्षा हेतु एकदेश रूप से इन भावनाओं का अभ्यास करना चाहिए।''

यहाँ यह भी विशेष रूप से ज्ञातव्य है– श्रावकों के (धर्म में) प्रतिज्ञा रूप से समिति व गुप्ति नहीं होती हैं, अपितु भावना रूप से ही होती हैं। मुनियों के वे प्रतिज्ञा रूप से हुआ करती हैं। अत: श्रावकों के लिए भी भावना रूप से समिति व गुप्ति के सद्भाव मानने में कुछ अनुचित बात प्रतीत नहीं होती।

**अणुव्रतमहाव्रतयोः महाव्रतस्यैव श्रेष्ठता प्रतिपादिता, अतो यथासम्भवं गुरवः साधव आचार्याः महाव्रतधारणोपदेशमेव श्रावकाय ददति। यदि स महाव्रतधारणे असमर्थतामेव प्रकटयेत् तर्हि एव अणुव्रतधारणोपदेशो विधीयते।**

**अतएव प्रोक्तं पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-17-19)*–

*बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।*
*तस्यैकदेशविरतिः कथनीयाऽनेन बीजेन॥*

*यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।*
*तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥*

*अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।*
*अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना॥*

---

अणुव्रत व महाव्रत –इन दोनों में महाव्रत की ही श्रेष्ठता बताई गई है, इसलिए यथासम्भव गुरु, साधु या आचार्य श्रावक को महाव्रत धारण करने का ही उपदेश देते हैं। हाँ, यदि वह (श्रावक) महाव्रतों के धारण में असमर्थता प्रकट करे, तभी उसे अणुव्रतों के धारण करने का उपदेश दिया जाता है।

इसलिए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-17-19) में कहा गया है–

''जो (जीव, अविरत श्रावक) बारम्बार उपदिष्ट सकलविरति (महाव्रतादि) को ग्रहण न करे तो ही उसे एकदेश विरति (अणुव्रतादि) का उपदेश इस (आगे कहे जाने वाले) मूल कथन को ध्यान में रख कर देना चाहिए।''

''जो तुच्छबुद्धि वाला उपदेशक मुनि-धर्म को नहीं कह करके गृहस्थ (श्रावक-) धर्म का उपदेश देता है, उस उपदेशक को भगवान् के आगम में दण्डभाजन बताया गया है।''

''क्योंकि उस उपदेशक द्वारा क्रमभंग करते हुए उपदेश किये जाने से वह (शिष्य), जो यद्यपि अत्यन्त उत्साह से युक्त था (मुनि बनने तक के लिए उत्साहित था), वह तुच्छ स्थान (अणुव्रती की भूमिका) में ही संतुष्ट होकर उस दुर्बुद्धि (गुरु) द्वारा ठगा गया (ठगी का शिकार हो गया हो जाता) है।''

**व्रते गृहीते सति तस्य सर्वथा पालनाय प्रयतितव्यम्, यतो हि व्रतभङ्गे महान् दोषः पापं वा भवति। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1628)*–

*अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंघसक्खिस्स।*
*पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं॥*

**सागारधर्मामृते** *(7/52)* **च भणितमास्ते–**

*प्राणान्तेऽपि न भङ्क्तव्यं गुरुसाक्षिश्रितं व्रतम्।*
*प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःखं व्रतभङ्गो भवे भवे॥*

**यदि गृहीतव्रते सामर्थ्यहीनता-विस्मरण-रोगादिकारणैः कदाचित् अतिचारो भवेत्तर्हि नियमतः शीघ्रं शुद्धमनसा निश्छलतया गुरोरग्रे बालकवत् समस्तमपि दोषवृत्तं समुद्घाटयेत्, आलोचयेत् तथा गुरुर्यत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छेत्, तस्य ग्रहणं स्वीकरणं वा कुर्यात्।**

---

व्रत ग्रहण कर लेने के बाद, उसका सर्वथा पालन हो –इसका (व्रती को) प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि व्रत के भंग होने पर महान् दोष या पाप होता है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1628) में कहा भी है–

''अरहंत, सिद्ध, केवली, उस स्थान के वासी देवता और समस्त संघ की साक्षी में ग्रहण किये गये 'प्रत्याख्यान' (त्याग व्रत) को तोड़ने से तो मरण श्रेष्ठ है।''

सागारधर्मामृत (7/52) में भी कहा गया है–

''गुरुजनों की साक्षी लेकर लिये हुए व्रत को, अपने प्राणों का संकट या अन्त होने की स्थिति में भी, तोड़ना नहीं चाहिए, क्योंकि प्राण जाए तो उसी क्षण में दुःख (कष्ट) होगा, किन्तु व्रत को तोड़ने से तो जन्म-जन्मान्तरों तक दुःख भोगना पड़ेगा।''

यदि सामर्थ्य की कमी, विस्मृति या रोग आदि कारणों से गृहीत व्रत में कभी अतिचार (दोष) लग जाए तो नियमतः शीघ्र ही शुद्ध मन से निश्छल रूप से गुरु के समक्ष (भोले) बालक की तरह समस्त आचरित दोष की घटना को बयान करे, आलोचना करे तथा गुरु जो भी प्रायश्चित्त दे, उसे ग्रहण या स्वीकार करे।

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-56)*–

*जह बालो जंप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि।*
*तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण॥*

**भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-620)* **च भणितम्**–

*पडिसेवणादिचारे जदि आजंपदि जहाकमं सव्वे।*
*कुव्वंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स॥*

*(समिदि)* **समितिरपि व्रतवत् शुभमनोयोगरूपा भवतीत्यर्थः। प्राणिपीडा न भवतु –इति भावनया आगमोचितक्रियायाः यदाचरणं तद् भवति सम्यग् अयनं, तदेव समितिः। निश्चयनयदृष्ट्या तु शुद्धात्मस्वरूपे लयनं तन्मयीभावो वा समितिः।'सम्' इत्युपसर्गः आचारस्य समीचीनतां प्रकटयति, अर्थात् जीवनिकायस्वरूपज्ञानपूर्विका गमनागमनादिका प्रवृत्तिः समितिः इति सिद्ध्यति। ताश्च समितयः पञ्च भवन्ति। ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, एषणासमितिः, आदाननिक्षेपणसमितिः, उत्सर्गसमितिश्चेति।**

---

मूलाचार (गाथा-56) में कहा गया है– "जिस प्रकार, कोई बालक कार्य या अकार्य को सरल भाव से बोलते हुए बयान कर देता है, उसी तरह माया व असत्य का त्यागकर (अपने दोषों की) आलोचना करनी चाहिए।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-620) में भी कहा गया है– "प्रतिसेवना सम्बन्धी सभी अतिचारों को यदि (शिष्य) क्रम से कहता है तो आगम के अनुसार व्यवहार (निर्णय) करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते हैं।"

**( समिति )** समिति भी व्रत की तरह शुभ मनोयोग रूप होती है –यह अर्थ है। प्राणी-पीड़ा न हो –इस भावना से, आगमोचित क्रिया का जो आचरण होता है, अर्थात् जो सम्यग् अयन (आचरण) है, वही समिति है। निश्चयनय की दृष्टि में तो शुद्धात्म-स्वरूप में लीनता या तन्मयता ही समिति है।'सम्' यह उपसर्ग आचार (इति) की समीचीनता को प्रकट करता है, अर्थात् जीवनिकाय (समस्त जीव जगत्) के स्वरूप का ज्ञान प्राप्तकर गमन-आगमन आदि जो प्रर्वृत्ति की जाती है, वह समिति है– ऐसा सिद्ध हो जाता है। वे समितियाँ पाँच हैं– (1) ईर्या-समिति, (2) भाषा समिति, (3) एषणा समिति, (4) आदाननिक्षेपण समिति, और (5) उत्सर्ग समिति।

**उक्तं च पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-203)*–

*सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।*
*सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः॥*

**समितिं पालयता यदि कदाचिद् जीवहिंसा भवेदपि, हिंसादोषो न भवति तस्य। उक्तं च प्रवचनसारे** *(3/17)* **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यैः**–

*मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।*
*पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥*

**तथैव भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1195)* **भणितमास्ते**–

*पउमणिमित्तं व जहा, उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं।*
*तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो॥*

---

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-203) में कहा गया है–

"(सावधान होकर) सम्यक्तया गमन-आगमन, सम्यक् वचन, सम्यक् एषणा, सम्यक् ग्रहण व क्षेपण, तथा सम्यक् व्युत्सर्ग –ये समिति रूप हैं।"

समिति का पालन करते हुए यदि कभी जीवहिंसा (द्रव्यहिंसा) हो भी जाय तो व्यक्ति को हिंसा का दोष नहीं लगता। प्रवचनसार (3/17) में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा भी है–

"जीव मरे या जीवित रहे, जिस मुनि का आचार यतना (संयम) पूर्वक नहीं है, उसके हिंसा (का दोष) निश्चित है, क्योंकि (पाँचों) समितियों में व यतना (संयम) वाले मुनि के (बाह्य में) जीवहिंसा होने मात्र से बन्ध नहीं होता।"

इसी तरह भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1195) में कहा गया है–

"स्नेह (गीलापन) गुण से युक्त कमल का पत्ता जिस प्रकार जल से लिप्त नहीं होता, उसी तरह जीव-कायों के मध्य विचरण करता हुआ भी समिति के कारण साधु पाप से लिप्त नहीं होता।"

*(सील)* **शीलपदेन गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं च समुदितं भण्यते। शीलप्राभृतानुसारं शीलं मोक्षस्य सोपानं, दर्शनज्ञानशुद्धिरूपं विशुद्धतपोरूपं च वर्तते। उक्तं च तत्रैव** *(गाथा-19-20)*–

*जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।*
*सम्मद्दंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारो॥*

*सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य।*
*सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं॥*

*(संजम)* **सम्यक् यमः संयमः। व्रतसमितिं पालयतः इन्द्रियसंवरणं, पञ्च व्रतानि, पञ्चविंशतिः क्रियाः, पञ्च समितयः, तिस्रो गुप्तयः –इत्येतानि संयमाचरणे अन्तर्भवन्ति –इति चारित्रप्राभृते** *(गाथा-28)* **निर्दिष्टम्। धवलाग्रन्थे** *(पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 16)* **च प्रतिपादितं यत्समितिभिर्युक्तानि व्रतानि संयमरूपेण अभिधीयन्ते, समितीः ऋते व्रतानां विरतिरूपत्वमेव, न संयमरूपत्वमिति।**

---

**( शील )** शील शब्द से तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत –इनका समुदित रूप कहा जाता है। शीलप्राभृत के अनुसार, शील मोक्ष की सीढ़ी है, दर्शन व ज्ञान की विशुद्धि है, विशुद्ध तप भी है। वहीं (गाथा-19-20) कहा गया है–

''जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तप –ये सब शील के ही परिवार हैं।''

''शील विशुद्ध तप है, शील दर्शन की शुद्धि है, शील ही ज्ञान की शुद्धि है, शील विषयों का शत्रु है और शील मोक्ष की सीढ़ी है।''

(संयम) सम्यक्तया यम (संयमन, नियन्त्रण) संयम है। व्रत व समिति की पालना करते हुए इन्द्रियों का संवरण, पाँच व्रत, पच्चीस क्रियाएँ, पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ –ये संयमाचरण के अन्तर्गत हैं –ऐसा चारित्र प्राभृत (गाथा-28) में निर्देश किया गया है। धवला ग्रन्थ (पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 16) में प्रतिपादित किया गया है कि समितियों के साथ व्रत (महाव्रत व अणुव्रत) संयम कहलाते हैं, और समिति से रहित हों तो वे व्रत 'विरति' रूप होते हैं, संयम रूप नहीं।

**संयतः कीदृशः, काः काः क्रियाः आत्मीयपरिणतयः, प्रवृत्तयो वा संयमरूपाः इति विषयेऽपि जैनाचार्याः स्वमतं प्राचीकटन्।**

**यथा प्रवचनसारे** *(3/39-40)*–

*चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं।*
*सो संजमो त्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण॥*

*पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।*
*दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥*

**गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, गाथा-465)* **च समुल्लिखितम्**–

*वदसमिदिकसायाणं दंडाणं इंदियाण पंचण्हं।*
*धारण-पालण-णिग्गह-चागजओ संजमो भणिओ॥*

---

संयत कैसा होता है, कौन-कौन सी क्रियाएँ, आत्मपरिणाम या प्रवृत्तियाँ संयम रूप हैं –इस विषय में भी जैनाचार्यों ने अपना मत प्रकट किया है।

जैसे, प्रवचनसार (3/39-प्रक्षिप्त, 3/40) में कहा गया है–

"त्याग, मनोवचनशरीर सम्बन्धी व्यापार से निवृत्ति, विषयों से वैराग्य, कषायों का क्षय, विशेषतः प्रव्रज्या की स्थिति में, संयम कहलाते हैं।"

"जो ईर्यादि पाँच समितियों को पालता है, तीन योगों के निरोध से तीन गुप्ति वाला है, पाँच इन्द्रियों का निग्रह किये हुए है, कषायजयी है, दर्शन-ज्ञान से सम्पन्न है, वह महामुनि संयत (संयमी) कहा जाता है।"

गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-465) में भी ऐसा उल्लिखित है–

"व्रतों का धारण करना, समितियों का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, (मन, वचन व काय की प्रवृत्ति रूप) दण्डों का त्याग तथा पाँचों इन्द्रियों पर जय –इसे संयम कहा गया है।"

**स च संयमो द्विविधः– सकलसंयमः श्रमणानाम्, विकलसंयमश्च गृहस्थानाम्। अथवा– प्राणिसंयमः, इन्द्रियसंयमश्च। सर्वजीवहिंसाविरतिरूपः प्राणिसंयमः, इन्द्रियमनोनिग्रहरूप इन्द्रियसंयमः। एवं व्रत-समिति-शील-संयमरूपम्** *(परिणामं)* **आत्मीयपरिणामम्,** *(सुहमणं जाणे)* **शुभमनोयोगरूपं जानीहि। व्रतादिकं शुभोपयोगलक्षणमपहृतसंयमाख्यं सरागचारित्रसंज्ञमेवेति अवबुद्ध्यस्व।**

**एवं भो ज्ञानिन्! निश्चयेन यद्यपि व्रत-समिति-शील-संयमादिरूपाः भावाः शुद्धात्म-स्वरूपस्वभावप्रतिपक्षभूताः सन्ति, तथापि आर्तरौद्रदुर्ध्यानवञ्चनार्थं सार्थकाः, अतः एतत्सर्वं व्यवहारचारित्रं निश्चयचारित्रसाधकत्वात् प्राक्तनभूमिकायामुपादेयं भवति, किन्तु न तत्साध्यरूपमिति विज्ञाय परमस्वास्थ्यसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभूत्यै प्रयतस्वेति गाथायाः तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः शुभवचनशुभकाययोगयोः स्वरूपादिकं निर्दिशन्ति–**

---

वह संयम दो प्रकार का होता है– श्रमणों का सकल संयम और गृहस्थों का विकल संयम। या प्राणीसंयम व इन्द्रियसंयम –इस प्रकार भी संयम के दो भेद किये जाते हैं। प्राणीसंयम है– समस्त जीवों की हिंसा से विरति (व्रत), और इन्द्रियों व मन पर निग्रह करना इन्द्रिय-संयम है। इस प्रकार, व्रत, समिति, शील, संयम रूप **( परिणामं )** आत्मीय परिणति को **( शुभमनः जानीहि )** शुभ मनोयोग रूप जानो। व्रत आदि शुभोपयोग रूप हैं, इन्हें अपहृतसंयमी भी कहा जाता है और इन्हें सरागचारित्र ही मानो।

इस प्रकार, हे ज्ञानी! निश्चयनय से यद्यपि व्रत, समिति, शील, संयम आदि भाव शुद्धात्मस्वरूप स्वभाव से विपरीत (प्रतिकूल) हैं, फिर भी आर्त, रौद्र रूपी दुर्ध्यान से बचने हेतु इनकी सार्थकता (उपयोगिता) है, इसलिए ये (व्रतादि) सब व्यवहारचारित्र हैं, फिर भी निश्चयचारित्र में साधन होने से प्रारम्भिक भूमिका में उपादेय होते हैं, किन्तु वे साध्यरूप नहीं हैं– ऐसा समझकर, परम स्वास्थ्य (समाधि) में उत्पन्न होने वाले एकमात्र सहज आनन्दस्वरूपी सुखामृत के रसास्वाद की अनुभूति के लिए प्रयत्नशील रहो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार शुभवचनयोग के स्वरूप आदि का निर्देश कर रहे हैं–

**संसारछेदकारणवयणं, सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।**
**जिणदेवादिसु पूया, सुहकायं त्ति य हवे चेट्ठा॥५५॥**

**छाया–** *संसारच्छेदकारणवचनं शुभवचनमिति जिनोद्दिष्टम्।*
*जिनदेवादिषु पूजा शुभकायमिति च भवति चेष्टा॥*

**(सर्वोदया टीका–) प्रथमं तावद् शुभवचनयोगः कः इति निरूपयन्नाह-** *(संसारछेदकारणवयणं)* **संसारस्य शुभाशुभकर्मजनितस्य छेदः उन्मूलनं, तत्तु कर्मक्षयादेव सम्भवति, कर्मक्षयोऽपि कर्मसंवरनिर्जराभ्यां सम्भवति, तस्मिन्नुन्मीलने यत् कारणं भवेत् अर्थात् वक्तुः कर्मक्षयादिकारकं भवेत् तादृशं यद् वचनम् इति भावः। तत् किं भवति, इति आचष्टे–** *(सुहवयणं)* **तद्वचनं शुभवचनं शुभवचनयोगो वा भवति।** *(इदि जिणुद्दिट्ठं)* **–इति जिनैः, तीर्थकरैः उद्दिष्टं, उपदिष्टमिति। जिनोद्दिष्टमिति निर्देशेन शास्त्रकाराः अस्य निर्दोषत्वं यथार्थत्वं हितकारित्वं च संकेतितवन्तः। जिनेन्द्राः सर्वज्ञत्वात् सत्यद्रष्टारः, वीतरागत्वात् यथार्थोपदेष्टारः, ते नान्यथाभाषिणो भवन्ति, अतस्तेषामुपदेशः सर्वेषां कृते प्रमाणभूतः सिद्ध्यति।**

---

**(55)**

**(गाथा-अर्थ–) संसार के उन्मूलन (कर्मक्षयादि) में जो कारण बने –वह (वचन) शुभ वचन है –ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। (इसी प्रकार) जिनेन्द्र देव आदि की पूजा सम्बन्धी चेष्टा शुभकाययोग है।**

**(सर्वोदया टीका–)** सर्वप्रथम यह बताने जा रहे हैं कि शुभवचन योग क्या है– **(संसारच्छेदकारण-वचनम्)** जो संसार शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न है, उसका छेद यानी उन्मूलन (विनाश), यह तो कर्म-क्षय से ही सम्भव है, वह कर्मक्षय भी कर्मों के संवर व निर्जरा से सम्भव होता है, उस (संसार-नाश) में जो कारण हो, अर्थात् वक्ता के लिए जो कर्मक्षय आदि का कारक हो, वैसा जो वचन –यह (पूरे पद का) भाव है। वह वचन क्या होता है? इसे कह रहे हैं– **(शुभवचनम्)** वह वचन शुभवचन या शुभ वचनयोग होता है। **(इति जिनोद्दिष्टम्)** –ऐसा जिनों यानी तीर्थंकरों द्वारा उद्दिष्ट है अर्थात् उपदिष्ट है। 'जिनोद्दिष्ट' यह कहकर शास्त्रकार यह संकेत दे रहे हैं कि यह उपदेश निर्दोष है, यथार्थ है और हितकारी भी है। जिनेन्द्र चूँकि सर्वज्ञ होते हैं, इसलिए सत्य का साक्षात्कार करने वाले होते हैं। वीतराग होने से वे यथार्थ कथन या उपदेश देते हैं और वे अन्यथाभाषण नहीं करते। इसलिए उनका उपदेश सभी के लिए प्रमाणभूत सिद्ध होता है।

**विस्तरेण कथ्यते– येन वचनेन स्वपरकल्याणं भवति, मिथ्यात्वादिनाशो भवति, रत्नत्रयस्य, वैराग्यस्य, सन्तोषस्य, सम्यग्ज्ञानस्य च वृद्धिर्भवति, अर्हदादिषु गुणानुरागः समेधते, तथा हितकरमपि, तत्सर्वं शुभवचनमिति सारः। प्रियं हितकारि च यद् भवेत्, तदेव वचनं वक्तव्यं, न कदाचिदपि हितकारि अपि अप्रियं पीडाकारि वा वचनं प्रयोक्तव्यम्।**

**उक्तं च अनगारधर्मामृते** *(4/42)*–

*सत्यं प्रियं हितं चाहुः, सूनृतं सूनृतव्रताः।*
*तत्सत्यमपि नो सत्यम्, अप्रियं चाहितं च यत्॥*

**किन्तु कदाचित् स्वसंघस्थशिष्यानुशासने कटु उपदेशोऽपि कर्तव्यः, तस्यैव तच्छिष्याय हितकारित्वात्। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-359)*–

*पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स।*
*कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवदि तस्स॥*

---

उक्त विषय को विस्तार से बताया जा रहा है– जिस वचन से अपने व पराये का कल्याण होता हो, मिथ्यात्व (अज्ञान, मोह) का नाश होता हो, रत्नत्रय, वैराग्य, सन्तोष व सम्यग्ज्ञान की वृद्धि हो, अर्हन्त आदि के प्रति गुणानुराग बढ़े, तथा जो हितकर हो –वह सब (कथन) शुभवचन है– यह निष्कर्ष है। प्रिय व हितकारी (दोनों) हो, वैसा ही वचन बोलना चाहिए, हितकारी होते हुए भी जो अप्रिय हो या पीड़ाकारक हो, वैसा वचन कभी नहीं बोलना चाहिए।

अनगारधर्मामृत (4/42) में कहा भी है–

"जिन्होंने सत्य ही बोलने का व्रत लिया है, उनके मत में सत्य वचन वह है जो सत्य, प्रिय व हितकारी हो। जो अप्रिय व अहितकारक है, वह सत्य भी सत्य नहीं है।"

किन्तु अपने संघीय शिष्यों को अनुशासित करने में कभी-कभी कटु उपदेश भी करणीय होता है, क्योंकि वही (कटु वचन) उनके लिए हितकारी होता है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-359) में कहा भी है–

"अपने गण के साधु को हितकारी, किन्तु हृदय को अनिष्ट (अरुचिकर, अप्रिय) लगने वाले भी वचन बोलने चाहिए, क्योंकि वे वचन कड़वी औषधी की तरह (परिणाम में) उसके लिए मधुर फलदायक होते हैं।"

*(य)* **च, तथैव,** *(जिणदेवादिसु पूया चेट्ठा)* **पूज्यत्वात् जिनो देवः, तदादयः परमेष्ठिनः संकेतिताः, तेषु तद्विषयिकी वा या पूजा भक्तिभावः, तदात्मिका या चेष्टा। एषा का भवति? उच्यते–** *(सुहकायं त्ति हवे)* **शुभकाययोगः भवति।**

**अत्रायं विस्तरः– संसारकारणभूतानि कर्माणि तथा कामक्रोधादिअष्टादशदोषान् वा जयति, स जिनः। स द्विविधः– सकलजिनः, देशजिनश्च। अर्हन्तः सिद्धाश्च सकलजिनाः। तयोर्घातिकर्मक्षयं विधाय अर्हदवस्थां प्राप्ता अर्हत्परमेष्ठिनो भवन्ति। अर्हदवस्थानन्तरं शेषाघातिकर्मक्षये, समस्ताष्टकर्मरहितां सिद्धावस्थां प्राप्ताः सिद्धपरमेष्ठिनो भवन्ति– इत्यनयोर्विशेषो ज्ञेयः। ये च तीव्रकषाय-इन्द्रियादिविजेतार आचार्योपाध्यायसाधुपरमेष्ठिनः, ते तु देशजिनाः** *(अपूर्णजिना वा)* **भवन्ति।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, अधिकार-1, सू. 1)– ''खवियघाइकम्मा सयलजिणा। के ते? अरहंतसिद्धा। अवरे आइरिय-उवज्झाय-साहू देसजिणा तिव्वकसाइंदियमोहविजयादो।''*

---

**( च )** और, उसी प्रकार, **( जिनदेवादिषु पूजा चेष्टा )** पूज्य होने से जिन देव हैं, आदि पद से परमेष्ठी रूप में अन्य देव सूचित हैं, उनके प्रति या उनसे सम्बन्धित जो पूजा यानी भक्तिभाव होता है, उस (भक्ति भाव) से पूर्ण जो चेष्टा (व्यापार) होती है, वह क्या होती है? इसे ही बता रहे हैं– **( शुभकाय इति भवति )** –शुभ काययोग होती है।

अब इसे विस्तार से बताया जा रहा है– संसार के कारणभूत कर्मों को और काम, क्रोध आदि अठारह दोषों को जो जीतता है, वह 'जिन' होता है। उसके दो भेद हैं– सकलजिन व देशजिन। अर्हन्त व सिद्ध (–ये दोनों) 'सकलजिन' हैं। इनमें अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जो घाती (चार) कर्मों का क्षय कर 'अर्हत्' अवस्था को प्राप्त होते हैं। अर्हत्– अवस्था की प्राप्ति के बाद, जब शेष (चार) अघाती कर्मों का क्षय हो जाता है, तब समस्त (घाती व अघाती) आठों कर्मों से रहित जो 'सिद्ध' अवस्था को प्राप्त होते हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी होते हैं –यह दोनों में अन्तर समझना चाहिए। और, तीव्र कषाय व इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त करने वाले जो आचार्य, उपाध्याय व साधु (–ये तीन) परमेष्ठी होते हैं, वे 'देशजिन' (या अपूर्ण जिन कहलाते) हैं।

धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, अधिकार-1, सू. 1) में कहा गया है– ''घाती कर्मों को क्षीण करने वाले सकलजिन हैं। वे कौन हैं? अरिहंत व सिद्ध होते हैं। इतर आचार्य, उपाध्याय व साधु– ये देशजिन हैं जिन्होंने तीव्र कषाय, इन्द्रियों व मोह पर विजय प्राप्त की होती है।''

**अत्रायं विशेषः– सिद्धः, अर्हन् –इत्येतौ द्वावपि सकलजिनौ प्रोक्तौ। जिनास्तु कर्मजये सति भवन्ति। एवं सकलाष्टकर्मजयिनः सिद्धा एव सकलजिना अभिधातुं शक्यन्ते, अर्हन्तस्तु घातिकर्मणामेव क्षयं कुर्वन्ति, तेषामघातिकर्मसद्भावस्तु विद्यते एव, अतस्ते कथं सकलजिनाः प्रोच्यन्ते –इति जिज्ञासा भवति। तत्समाधानमिदम्– अर्हतां यद्यपि घातिकर्मणामेव क्षयः, तथापि विद्यमानानि अघातिकर्माणि शक्तिहीनान्येव भवन्ति, अतस्तेऽपि सकलजिना उच्यन्ते।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 45)– "...अन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवत् निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननाद् अरिहन्ता"* **इति।**

**अत्रेदं ज्ञेयम्– 'सकल' इत्यस्य सर्व-समस्ताद्यर्थास्तु भवन्त्येव, 'कलया सहितः' इत्यर्थोऽपि भवति। अत्र कलापदस्य शरीरार्थोऽपि कुत्रचिद् गृहीतः, एवं 'सकल' इत्यस्य 'सशरीरः' इत्यर्थो भवति। तेन सकलजिनपदेन अर्हन्तोऽभिधीयन्ते, सिद्धास्तु निष्कलजिना इति विचारणाऽपि कालक्रमेण शास्त्रेषु दृश्यते।**

---

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है– सिद्ध व अर्हन्त –ये दोनों ही 'सकलजिन' कहे गये हैं। 'जिन' तो कर्मजय (क्षय) करने पर ही होते हैं। इस तरह समस्त आठों कर्मों के विजेता 'सिद्ध' को ही 'सकलजिन' कहा जा सकता है। अर्हन्त तो घाती कर्मों का ही क्षय करते हैं, उनके तो अघाती (चार) कर्मों का सद्भाव रहता ही है। अतः वे 'सकलजिन' कैसे कहे गये हैं– यह जिज्ञासा उठती है। इसका समाधान यह है– यद्यपि अर्हन्त देवों के घाती कर्मों का ही क्षय हुआ होता है, फिर भी उनके विद्यमान अघाती कर्म भी शक्तिहीन ही रहते हैं, इसलिए वे भी 'सकलजिन' कहे जाते हैं।

धवला (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 45) में कहा भी गया है– "(चूँकि) अन्तराय कर्म रूपी घाती कर्म का नाश कर दिया है, वह शेष तीन घाती कर्मों के नाश का अविनाभावी है ( अर्थात् अन्तराय का नाश यदि हुआ है तो शेष तीन घाती कर्म भी अवश्य नष्ट होंगे ही), और इस प्रकार शेष जो अघाती (चार) कर्म हैं, वे भी भ्रष्ट बीज के समान शक्तिहीन (प्रभावहीन) हो जाते हैं, इसलिए वे 'अरिहन्ता' हैं।"

यहाँ यह ज्ञातव्य है–'सकल' इस शब्द का सभी, समस्त, सारे –इत्यादि अर्थ तो होते ही हैं, 'कला से सहित' यह अर्थ भी होता है। यहाँ 'कला' पद का 'शरीर' अर्थ भी कुछ स्थलों में लिया गया है। इस प्रकार, 'सकल' इस पद का 'सशरीरी' अर्थ निकलता है। अतः 'सकलजिन' से 'अर्हन्त' अर्थ तो कहा जाएगा, सिद्ध तो 'निःकलजिन' हैं– ऐसी विचारणा कालक्रम से शास्त्रों में दृष्टिगोचर होती है।

**अत एव नियमसारस्य** *(गाथा-43)* **तात्पर्यवृत्तौ प्रोक्तम्–** *"औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजस-कार्मणाभिधानपञ्चशरीरप्रपञ्चाभावात् 'निःकलः' (परमात्मा)।"* **समाधिशतकस्य** *(श्लोक-2)* **प्रभाचन्द्रकृतटीकायां सकलजिनत्वमर्हतां कथमिति विशदीकृतम्–** *"सह कलया शरीरेण वर्तते – इति सकलः स चासौ आत्मा च, तस्मै (सकलात्मने) नमः"* **इति।**

**यद्यपि मिथ्यात्वगुणस्थानोपरि सासादन-मिश्र-अविरत-सम्यग्दृष्टिपर्यन्तं, तदुपरि च क्षीणकषायगुणस्थानं यावत् जीवा एकदेशजिनाः स्वीकृताः, उक्तं च प्रवचनसारस्य** *(गाथा-3/1)* **तात्पर्यवृत्तौ–** *"सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते"* **इति। तथापि अत्र पूजायाः प्रकरणं वर्तते, अतः प्रकरणवशाद् पञ्चपरमेष्ठिनामेव ग्रहणं कार्यम्।**

**जिनपूजा चतुर्धा भवति– सदार्चनपूजा, चतुर्मुखपूजा, कल्पद्रुमपूजा, अष्टाह्निका पूजा चेति। तासामेवापराणि नामानि क्रमेण नित्यमह– सर्वतोभद्र-कल्पद्रुम-नन्दीश्वरपूजेतिप्रसिद्धानि सन्ति। ऐन्द्रध्वजपूजाऽन्यापि एका वर्तते। एषां निरूपणमादिपुराणे** *(38/26-32)* **विहितमुपलभ्यते।**

---

इसीलिए नियमसार (गाथा-43) की (पद्मप्रभमलधारी देवकृत) तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है– "औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण नाम के पाँचों शरीरों के प्रपञ्च के अभाव से (परमात्मा) 'निःकल' है।" समाधिशतक (श्लोक-2) की आचार्य प्रभाचन्द्र-कृत (संस्कृत) टीका में 'सकलजिन' के स्वरूप को (इस प्रकार) स्पष्ट किया गया है– "कला यानी शरीर, उससे सहित जो है, वह 'सकल' है, वैसा जो आत्मा (सकलात्मा) है, उसे नमस्कार है।"

यद्यपि मिथ्यात्व (प्रथम) गुणस्थान से ऊपर सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि (चौथे) गुणस्थान तक, तथा उससे ऊपर भी क्षीण-कषाय (बारहवें) गुणस्थान तक जीवों को एकदेशजिन माना जाता है, प्रवचनसार (3/1) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा भी गया है– "सासादन गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक 'एकदेश जिन' कहे जाते हैं" तथापि यहाँ चूँकि पूजा का प्रकरण है, अतः प्रकरणवश पाँच परमेष्ठियों का ग्रहण 'जिन' पद से करना चाहिए।

जिनपूजा चार प्रकार की होती है। ये सदार्चन पूजा, चतुर्मुख पूजा, कल्पद्रुम पूजा और अष्टाह्निका पूजा –इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनके ही ये दूसरे नाम क्रम से इसप्रकार प्रसिद्ध हैं– नित्यमह, सर्वतोभद्र, कल्पद्रुम, नन्दीश्वर पूजा। एक अन्य (पाँचवीं) ऐन्द्रध्वज पूजा भी है। इन (सब) का निरूपण आदिपुराण (38/26-32) में मिलता है।

**गृहस्थानां कृते पूजा नित्यमेव कर्तव्यमनुष्ठानं वर्तते। तेषां षडावश्यककृत्येषु देवपूजा प्रथममावश्यकरूपं वर्तते। उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(6/7)*–

*देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।*
*दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥*

**रयणसारे** *(गाथा-11)* **च प्रोक्तम्–** *'दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे, ण सावया तेण विणा।'*

**जिनदेवपूजाया महत्त्वमपि अधिकृत्य शास्त्रेषु बहूनि वचनानि प्राप्यन्ते, तेषु कानिचिदत्र प्रस्तूयन्ते। यथा पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(6/14-16)* **प्रोक्तम्–**

*प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।*
*ते च दृश्याश्च पूज्याश्च, स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥*

---

गृहस्थों के लिए पूजा का विधान नित्य किया जानेवाला एक कर्तव्य है। इन (गृहस्थों) के छः आवश्यक कृत्यों में देवपूजा प्रथम आवश्यक (माना जाता) है। पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रन्थ (6/7) में कहा भी है–

"जिनपूजा, गुरु-सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान –ये छह कर्म गृहस्थों के लिए प्रतिदिन करने योग्य आवश्यक कर्तव्य हैं।"

रयणसार (गाथा-11) में भी कहा गया है– "दान देना और पूजा –ये श्रावक के मुख्य कर्तव्य हैं, इनके बिना तो वह श्रावक ही नहीं है।"

जिनदेवों की पूजा के महत्त्व को लेकर शास्त्रों में बहुत से वचन प्राप्त होते हैं, उनमें से कुछ को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

उदाहरणार्थ, पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (6/14-16) में कहा गया है–

"जो भव्य जीव भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् का पूजन, दर्शन व स्तुति करते हैं, वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन व स्तुति के योग्य हो जाते हैं (अर्थात् स्वयं भी पूज्य देवों की कोटि में आ जाते हैं)।"

*ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न।*
*निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥*

*प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्।*
*भक्त्या तद्वन्दना कार्या, धर्मश्रुतिरुपासकैः॥*

**तथैव प्रतिपादितं धवलाग्रन्थे** *(पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-9, सू. 22, पृ. 427-428)*–

*दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।*
*शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा॥*

*"जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो"* **इति।**

**देववत् शास्त्रस्य ( श्रुतदेवताया वा ) च पूज्यता शास्त्रकारैः समर्थिता। उक्तं च सागारधर्मामृते** *(2/44)*–

*ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या, ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।*
*न किञ्चिदन्तरं प्राहुः, आप्ता हि श्रुतदेवयोः॥*

---

"जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान् का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न ही स्तुति करते हैं, उनका जीवन निष्फल है तथा उनके गृहस्थपने को धिक्कार है।"

"श्रावकों को प्रातःकाल उठकर भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव एवं निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन व वन्दन करके धर्मश्रवण करना चाहिए। उसके बाद, अन्य कार्य करने चाहिए।"

इसीतरह धवला (पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-9, सू. 22 पृ. 427-428) में कहा गया है–

"जिनेन्द्रों के दर्शन से पाप-समूह रूपी हाथी के उसी प्रकार सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं। जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त व निकाचित रूप भी मिथ्यात्व आदि कर्म-समूह का नाश होता देखा जाता है।"

देव की तरह ही शास्त्र (या श्रुतदेवता) की भी पूज्यता का शास्त्रकारों ने समर्थन किया है। सागारधर्मामृत (2/44) में कहा गया है– "जो व्यक्ति भक्ति से जिनवाणी की पूजा करते हैं, वे वास्तव में जिनेन्द्र की ही पूजा करते हैं, क्योंकि (सर्वज्ञ) आप्त पुरुषों ने जिनवाणी व जिनेन्द्र देव में कुछ भी अन्तर नहीं माना है।"

**तथैव देववत् गुरुवोऽपि पूजार्हाः भवन्ति –इति श्रीमद्भिर्वीरसेनाचार्यैः धवलाग्रन्थे** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, अधिकार-1, सूत्र-1, पृ. 11)* **प्रोक्तम्–** *"होदु णाम सयलजिण-णमोक्कारो पावप्पणासओ, तत्थ सव्वगुणाणमुवलंभादो। ण देसजिणाणमेदेसु तदणुवलंभादो त्ति। ण, सयलजिणेसु व देसजिणेसु वि तिण्हं रयणाणमुवलंभादो। ...तदो सयलजिण-णमोक्कारो व्व देसजिणणमोक्कारोवि सव्वकम्मक्खयकारओ त्ति दट्ठव्वो। सयलासयलजिणट्ठियतिरयणाणं ण समाणत्तं... संपुण्णतिरयणकज्जम-संपुण्णतिरयणाणि ण करेंति, असमाणत्तादो त्ति ण, णाणदंसणचरणाणमुप्पणसमाणत्तुवलंभादो। ण च असमाणाणं कज्जं असमाणमेव त्ति णियमो अत्थि, संपुण्णग्गिणा कीरमाण दाहकज्जस्स तदवयवे वि उवलंभादो वा। अमियघडसएण कीरमाणणिव्विसीकरणादि-कज्जस्स अमियस्स चलुवे वि उवलंभादो वा।"*

**पूजाविधानविषये कानिचित् ज्ञातव्यानि निरूप्यन्ते– तत्र प्रथमं गृहस्थैः पूजाविधानात् पूर्वं स्नानं करणीयं भवति।**

---

इसी प्रकार, देवों की तरह गुरुजन (आचार्यादि) भी पूजा के योग्य हुआ करते हैं– ऐसा श्रीवीरसेनाचार्य जी ने धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, अधिकार-1, सू. 1, पृ. 11) में कहा है– "(प्रश्न–) सकल जिनों को किया गया नमस्कार पाप-नाशक भले ही हो, क्योंकि उनमें सभी गुण पाये जाते हैं, किन्तु देशजिनों को किया गया नमस्कार पाप-नाशक नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें वे सभी गुण नहीं पाये जाते। (उत्तर–) ऐसी बात नहीं, क्योंकि सकल जिनों के समान ही देशजिनों में भी तीन रत्न पाये जाते हैं। ...इसलिए सकलजिनों के नमस्कार के समान ही देशजिनों को किया गया नमस्कार भी सब कर्मों का क्षय करने वाला होता है– ऐसा निश्चय करना चाहिए। (प्रश्न–) सकलजिनों और देशजिनों में स्थित तीन रत्नों की समानता नहीं हो सकती... क्योंकि सम्पूर्ण रत्नत्रय का कार्य असम्पूर्ण रत्नत्रय नहीं करते, क्योंकि वे असमान हैं। (उत्तर–) ऐसी बात नहीं, क्योंकि ज्ञान, दर्शन व चारित्र के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई समानता उनमें पाई जाती है। और असमानों (पदार्थों) का कार्य असमान ही हो –ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण अग्नि के द्वारा किया जाने वाला दाह कार्य उस (अग्नि) के अवयव (चिनगारी) में भी पाया जाता है, अथवा अमृत के सैकड़ों घड़ों से किया जाने वाला निर्विषीकरण आदि का कार्य चुल्लू भर अमृत में भी पाया जाता है।"

पूजा-विधि के विषय में कुछ जानने योग्य तथ्यों का निरूपण किया जा रहा है– पूजा-विधि प्रारम्भ करने से पहले तो गृहस्थों को स्नान करना होता है।

**उक्तं च सागारधर्मामृते** *(2/34)*– *'स्नात्वाऽऽकण्ठमथाशिरः। स्वयं यजेतार्हत्पादान्, अस्नातोऽन्येन याजयेत्'* **इति।**

**सोमदेवाचार्यकृते उपासकाध्ययने** *(34/464)* **च–** *'नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे'* **इति।**

**अभिषेकक्रियायाश्च विधानं देवपूजायामनुष्ठेयम्। पूजाविधेः जलदुग्धदधिप्रभृतिद्रव्यैः क्रियमाणः पञ्चामृताभिषेकविधिरङ्गभूत इति सागारधर्मामृते** *(6/22)* **संकेत्यते–**

*आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्-*
*कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक्।*
*नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनम्,*
*सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः संपूज्य नुत्वा स्मरेत्॥*

---

सागारधर्मामृत (2/34) में कहा गया है– "मस्तक से या कण्ठ से स्नान करके ही स्वयं अर्हन्त देव के चरणों की पूजा करनी चाहिए, यदि स्नान न कर पाये तो (स्वयं न करके) किसी दूसरे (स्नान कर चुके) व्यक्ति द्वारा पूजन करावे।"

आचार्य सोमदेव कृत उपासकाध्ययन (34/464) में कहा है– "देवार्चन करने में गृहस्थ द्वारा नित्य स्नान करणीय होता है।"

देवपूजा में अभिषेक-क्रिया का विधान भी करणीय होता है। जल, दुग्ध, दही आदि द्रव्यों द्वारा किया जाने वाला पञ्चामृत अभिषेक भी पूजाविधि का अङ्ग है– ऐसा सागारधर्मामृत (6/22) में सङ्केत किया गया है–

"अभिषेक का संकल्प करके अभिषेक-भूमि की शुद्धि करे। उस पर सिंहासन स्थापित करे। सिंहासन के चारों कोनों में जल से भरे चार कलश स्थापित करे तथा चन्दन से 'श्री' और 'ह्री' अक्षर लिखे। उस पर कुश क्षेपण करे। फिर उसके ऊपर जिनेन्द्र भगवान् को स्थापित करे। फिर इष्ट दिशा में खड़े होकर आरती करे। फिर जल, रस, घी, दूध व दही से अभिषेक करके नन्द्यावर्त आदि का अवतरण करके पहले सुगन्धित जल से अन्त में चारों कोनों में स्थापित कलशों के जल से अभिषेक करे। इसके बाद, पूजा करके नित्य वन्दना आदि विधि से नमस्कार करे। फिर यथाशक्ति जप व ध्यान करे।"

**उपासकाध्ययने** *(35/526-565)* **च प्रोक्तविधेर्विस्तृतनिरूपणं वर्तते।**

**वसुनन्दिश्रावकाचारेऽपि** *(गाथा-453-454)* **तीर्थंकरकल्याणकदिवसेषु कालपूजाप्रसङ्गे अभिषेकविधिरभ्यधायि–**

*गब्भावयारजम्माहिसेयणिक्खमणणाणणिव्वाणं ।*
*जम्हि दिणे संजादं जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा॥*

*इच्छुरससप्पिदहिखीरगंधजलपुण्णविविहकलसेहिं।*
*णिसिजागरणं च संगीयणाडयाईहिं कायव्वं॥*

**तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे** *(8/584)* **चाभिषेकविधेः निरूपणं वर्तते–**

*खीरद्धिसलिलपूरिदकंचणकलसेहिं अठसहस्सेहिं।*
*देवा जिणाभिसेयं महाविभूदीए कुव्वंति॥*

---

उपर्युक्त विधि का विस्तृत निरूपण उपासकाध्ययन (35/526-565) में प्राप्त होता है।

वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-453-454) में भी तीर्थंकरों के कल्याणक दिनों में कालपूजा का विधान तथा उस प्रसंग में अभिषेक-विधि का भी निरूपण इस प्रकार किया है–

"जिस दिन तीर्थंकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए हैं, उस दिन इक्षुरस, घृत, दही, दूध, गन्ध व जल से परिपूर्ण विविध अर्थात् अनेक प्रकार के कलशों से जिन भगवान् का अभिषेक करे तथा संगीत, नाटक आदि के द्वारा जिनेन्द्र-गुणगान करते हुए रात्रि-जागरण करना चाहिए।"

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (8/584) ग्रन्थ में भी अभिषेक विधि का निरूपण किया गया है–

"दिव्य क्षीरसमुद्र के जल से भरे एक हजार आठ सुवर्ण कलशों के द्वारा महाविभूति (धूमधाम) के साथ जिनाभिषेक करते हैं।"

**अभिषेकविधेः पूर्वमष्टमङ्गलद्रव्यैः शोभाविधानमपि क्रियते –इति तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे** *(8/609)* **निरूपितम्–**

*भिंगारकलसदप्पणछत्तत्तयचमरपहुदिदव्वेहिं ।*
*पूजं कादूण तदो जलगंधादीहि अच्चंति॥*

**अभिषेकसमये वाद्यध्वनिरपि विधीयते। उक्तं च तत्रैव** *(ति. प. 8/585)*–

*वज्जंतेसु मद्दलजयघंटापडहकाहलादीसुं।*
*दिव्वेसुं तूरेसुं ते जिणपूजं पकुव्वंति॥*

**अभिषेकं विधाय अष्टद्रव्यैः पूजा तथा च भावपूजा च कर्तव्या। पूजायाः षड्विधत्वमपि वर्तते। यथा सोमदेवाचार्यकृते उपासकाध्ययने** *(35/529)* **प्रोक्तम्–**

*प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम्।*
*पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम्॥*

---

अभिषेक विधि से पहले, अष्टमङ्गल द्रव्यों से शोभाविधान (सजावट का काम) भी किया जाता है– ऐसा तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (8/609) में कहा गया है–

"दिव्य भृंगार, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चामर आदि द्रव्यों से पूजा करके (वे देव) जल-गन्धादि से अर्चन करते हैं।"

अभिषेक करते समय वाद्य ध्वनियाँ भी की जाती हैं। वहाँ (ति. प. 8/585) ही कहा गया है–

"मर्दल, जयघंटा, पटह और काहल आदि दिव्य वाद्यों के बजते हुए वे देव जिनपूजा किया करते हैं।"

अभिषेक करके, अष्ट द्रव्यों से पूजा (द्रव्यपूजा) और भावपूजा भी करनी चाहिए। पूजा के छः प्रकारों का निरूपण भी मिलता है। जैसे, सोमदेव सूरि कृत उपासकाध्ययन (35/529) में कहा गया है–

"प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा, पूजाफल –इस प्रकार देवसेवन (पूजा) के छः प्रकार हैं।"

**तत्र अभिषेकात्पूर्वं मनसि अभिषेकविषयकः संकल्पो विचारणा वा प्रस्तावना। पूजावेद्याः चतुर्षु कोणेषु घटादिस्थापनं पुराकर्म। रत्नजटिते विशुद्धे सिंहासने जिनेन्द्रस्थापना स्थापनाविधिः। जिनबिम्बे भावतो जिनेन्द्रस्य संश्रद्धानं सन्निधापनम्। अभिषेकादिकार्यं पूजा। तदन्ते च या सर्वसौख्यादिप्रार्थना या, सा पूजाफलम्।**

**एतस्याः षड्विधायाः पूजायाः अनुष्ठानं देशविरतश्रावकैः कर्तव्यमेवेति वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(478)* **निरूपितम्–**

*एसा छव्विहपूजा णिच्चं धम्माणुरायरत्तेहिं।*
*जहजोग्गं कायव्वा सव्वेहिं पि देसविरएहिं॥*

**उमास्वामिश्रावकाचारे** *(श्लोक-147-148)* **च पञ्चोपचारपूजाया निर्देशः कृतो लभ्यते–**

*आह्वाननं च प्रथमं ततः संस्थापनं परम्।*
*सन्निधीकरणं कृत्वा पूजनं तदनन्तरम्॥*

---

इनमें अभिषेक से पूर्व, मन में अभिषेक सम्बन्धी संकल्प (निश्चय) या विचारणा –यह प्रस्तावना है। पूजा-वेदी के चारों कोनों में घट आदि की स्थापना करना पुराकर्म है। रत्नजटित विशुद्ध सिंहासन पर जिनेन्द्र देव की स्थापना करना स्थापना विधि है। जिन-बिम्ब में भावपूर्वक जिनेन्द्र के सद्भाव की श्रद्धा करना सन्निधापन है। अभिषेक आदि कार्य पूजा है। उसके अन्त में सबके सौख्य आदि की प्रार्थना जो की जाती है, वह पूजाफल है।

देशविरत श्रावकों को यह षड्विध पूजा करनी ही चाहिए –ऐसा वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-478) में बताया गया है–

'यह छः प्रकार की पूजा धर्मानुरागी सभी देशविरत श्रावकों को यथायोग्य नित्य (रोज) करनी ही चाहिए।''

उमास्वामि-श्रावकाचार (श्लोक-147-148) में पञ्चोपचार पूजा-विधि का निर्देश इस प्रकार किया गया मिलता है–

''(पूजन करते समय) सर्वप्रथम (पूज्य देव का) आह्वान करे, फिर संस्थापन करे, फिर सन्निधीकरण करके पूजन करे।''

*ततो विसर्जनं कार्यं ततः क्षमापणा मता।*
*पञ्चोपचारापचितिः कर्तव्या हीति सज्जनैः॥*

**अन्यत्र नवाङ्गी पूजापि विधीयते यथा– अभिषेकाह्वाननस्थापनसन्निधिकरणाष्टद्रव्यार्चना-जयमालजाप्यशान्तिविर्सजनपाठाश्चेति।**

**सर्वत्र पूजाविधाने आन्तरिकभावानां मुख्यता भवति, तदभावे पूजा सार्थका न भवति।**

**धवलाग्रन्थे** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 1, पृ. 8)* **च प्रतिपादितम्–** *"ण ताव जिणो सगवंदणाए परिणयाणं चेव जीवाणं पावस्स पणासओ, वीयरायत्तस्साभावप्पसंगादो। ...परिसेसत्तणेण जिणपरिणयभावो जिणगुणपरिणामो च पावपणासओ त्ति इच्छियव्वो, अण्णहा कम्मक्खयाणुववत्तीदो।"*

**पूजाफलं च कर्मनिर्जरा, स्वर्गप्राप्तिः मोक्षप्राप्तिश्चेत्यादिकं शास्त्रेषु बहुत्र प्रतिपादितम्। भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-745, 750)* **भणितम्–**

---

"उसके बाद विसर्जन करना चाहिए और फिर क्षमापना करना चाहिए। इस प्रकार सज्जनों को पाँच प्रकार के उपचार वाली पूजा करनी चाहिए।"

अन्य जगह नवाङ्गी पूजा भी कही गई है। यथा– 1. अभिषेक 2. आह्वानन 3. स्थापन 4. सन्निधिकरण 5. अष्टद्रव्यपूजा 6. जयमाल 7. जाप 8. शान्तिपाठ, और 9. विसर्जन पाठ।

पूजाविधि में सर्वत्र आन्तरिक भावों की मुख्यता होती है, उसके न होने पर पूजा सार्थक नहीं हो पाएगी।

धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 1, पृ. 8) में भी प्रतिपादित है– "जिनदेव-वन्दन (मात्र) जीवों के पाप के विनाशक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर वीतरागता के अभाव का प्रसंग आयेगा (क्योंकि वीतराग किसी के पाप का नाश कैसे करेगा?)... तब पारिशेष रूप से (आत्मा में होने वाले) जिनात्मक परिणति रूप भाव व जिनेन्द्र-गुण-परिणाम को ही पाप का नाशक मानना चाहिए, अन्यथा कर्मों का क्षय घटित नहीं होता।"

पूजा का फल है– कर्मनिर्जरा, स्वर्गप्राप्ति व मोक्षप्राप्ति, इत्यादि का शास्त्रों में प्रतिपादन अनेक स्थलों पर किया गया है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-745 व 750) में कहा गया है–

*एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेदि।*
*पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धि परंपरसुहाणं॥*

*विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं।*
*तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं॥*

**पूजाविधानसम्बन्धिनां सर्वानुष्ठानानां फलान्यपि पृथक् पृथक् शास्त्रे वर्णितानि। यथा, वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-483-492)* **वर्णितम्–**

*जलधाराणिक्खेवेण पावमलसोहणं हवे णियमं।*
*चंदणलेवेण णरो जावइ सोहग्गसंपण्णो॥*

*जायइ अक्खयणिहि-रयणसामिओ अक्खएहि अक्खोहो।*
*अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ॥*

---

"अकेली जिन-भक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है, इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है और मोक्ष-प्राप्ति होने तक सुखों की परम्परा को देने में भी समर्थ है।"

"जिस प्रकार विधि (समुचित कारणों) से बोये गये (ही) धान्य को वर्षा उत्पन्न करती है, उसीप्रकार अर्हन्त आदि की भक्ति (ही) ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप की उत्पादक होती है।"

पूजा-विधान से सम्बन्धित समस्त अनुष्ठानों (क्रियाओं) के फलों को भी पृथक्-पृथक् रूप से शास्त्रों में बताया गया है। वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-483-492) में कहा गया है–

"पूजन के समय नियमतः जिनेन्द्र भगवान् के आगे जलधारा के छोड़ने से पापरूपी मैल का संशोधन होता है। चन्दन रस के लेप से मनुष्य सौभाग्य-सम्पन्न होता है।"

"अक्षतों से पूजा करने वाला मनुष्य नौ निधियों व चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है, तथा अक्षोभ –क्रोधरोगशोकरहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धि से युक्त होता है और अन्त में अक्षय मोक्ष-सुख प्राप्त करता है।"

*कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणणयण-कुसुमवरमाला-*
*वलएणच्चियदेहो जयइ कुसुमाउहो चेव॥*

*जायइ णिविज्जदाणेण सत्तिगो कंतितेयसंपण्णो।*
*लावण्णजलहिवेलातरंगसंपावियसरीरो ॥*

*दीवेहिं दीवियासेसजीवदव्वाइतच्चसब्भावो।*
*सब्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो॥*

*धूवेण सिसिरयरधवलकित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो।*
*जायइ फलेहि संपत्तपरमणिव्वाणसोक्खफलो॥*

*घंटाहिं घंटसद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि।*
*संकीडइ सुरसंघायसेविओ वरविमाणेसु॥*

"पुष्पों से पूजा करने वाला व्यक्ति कमल के समान सुन्दर मुख वाला, तरुणी-जनों द्वारा दर्शनीय और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से समर्चित देहवाला कामदेव होता है।"

"नैवेद्य के चढ़ाने से मनुष्य शक्तिशाली, कान्ति व तेज से सम्पन्न और सौन्दर्यरूपी समुद्र की वेला (तट) की तरंगों से संप्लावित शरीरवाला होता है (अर्थात् मानों वह सौन्दर्य के समुद्र के तट पर खड़ा हो और उसकी लहरें उसके शरीर को आप्लावित करती रहती हैं)।"

"दीपों से पूजा करने वाला व्यक्ति सद्भावों के कारण उत्पन्न केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज द्वारा समस्त जीवादि तत्त्वों के रहस्य को प्रकाशित करनेवाला (सर्वज्ञ) हो जाता है।"

"धूप से पूजा करने वाला व्यक्ति चन्द्रमा के समान धवलकीर्ति से तीनों जगत् को धवल करनेवाला अर्थात् त्रैलोक्यव्यापी यशवाला होता है। फलों से पूजा करनेवाला व्यक्ति परमनिर्वाण का सुख रूप फल प्राप्त करता है।"

"जिन-मन्दिर में घंटा समर्पण करने वाला मनुष्य घंटाओं की ध्वनियों से आकुल-व्याप्त, श्रेष्ठ विमानों में सुर-समूह से सेवित होकर श्रेष्ठ अप्सराओं के मध्य में क्रीड़ा करता है।"

*छत्तेहिं एयछत्तं भुंजइ पुहवी सवत्तपरिहीणो।*
*चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहिं॥*

*अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरिं।*
*खीरोयजलेण सुरिंदप्पमुहदेवेहिं भत्तीए॥*

*विजयपडाएहिं णरो संगाममुहेसु विजइओ होइ।*
*छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी य॥*

**अत्रेदमवधेयम्– पूजा द्विविधा। एका द्रव्यपूजा, अपरा भावपूजा चेति। द्रव्यादिसमर्पणं तथा अभ्युत्थान– प्रणामादिकाः कायक्रियाः, वाचा गुणसंस्तुतिः –इत्येतत् सर्वं द्रव्यपूजैव। भावपूजा तु मनसा उपास्यार्हदादित्रिकालवन्दन-ध्यान-गुणानुस्मरणादिका। एतदुभयपूजाविलक्षणा श्रेष्ठतमा च निश्चयपूजा भवति। आराध्याराधकयोरेकत्वेन अनुभूतिरेव निश्चयपूजा।**

**तन्निर्देशः समाधिशतके** *(श्लोक-31)* **कृतं विज्ञायते–**

---

"छत्र प्रदान करने से मनुष्य, शत्रुहीन होकर पृथ्वी को एकछत्र भोगता है। तथा चमरों के दान से चँवर-समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है (अर्थात् उसके ऊपर चँवर ढुलाये जाते हैं)।"

"जिन भगवान् के अभिषेक करने के फल स्वरूप उस व्यक्ति का सुदर्शन मेरु के ऊपर, क्षीरसागर के जल से सुरेन्द्रप्रमुख देवों द्वारा भक्तिपूर्वक अभिषेक किया जाता है।"

"जिन-मन्दिर में विजय-पताकाओं को देने से मनुष्य संग्राम में विजयी होता है। तथा षट्खण्ड रूप समग्र भरत क्षेत्र का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है।"

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है– पूजा के दो भेद हैं। एक है द्रव्यपूजा, दूसरी है भावपूजा। द्रव्य आदि समर्पित करना और अभ्युत्थान व प्रणाम आदि शारीरिक क्रियाएँ एवं वाणी से गुण-स्तवन –ये सब द्रव्यपूजा ही है। भावपूजा तो मन से उपास्य अर्हन्त आदि के प्रति त्रिकाल-वन्दना, उनका ध्यान तथा उन के गुणों का अनुस्मरण आदि रूप होती है। इन दोनों पूजाओं से विलक्षण व श्रेष्ठतम निश्चयपूजा है। आराध्य व आराधक में एकत्व की अनुभूति ही निश्चय पूजा है।

इसका निर्देश समाधि-शतक (श्लोक-31) में किया गया ज्ञात होता है–

*यः परात्मा स एवाऽहं, योऽहं स परमस्ततः।*
*अहमेव मयोपास्यः, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥*

**एतस्या निश्चयपूजायाः मनोभावप्रमुखायाः शुभमनोयोगत्वम्, तदनुसारिणी तत्प्रेरिता वा या कायचेष्टा सा शुभकाययोगरूपा। इत्येवं सर्वं शुभकाययोगं सम्यक् विज्ञाय भो भेदविज्ञानिन्! शुभाशुभयोगविकल्पान् परित्यज्य गुप्तिरूपद्वारेण समस्तयोगातीत-परमपारिणामिकज्ञायकभावं भज, समाश्रयेति गाथायाः तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति संसारपरिभ्रमणस्य किं कारणमिति शास्त्रकारा निर्दिशन्ति–**

**जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे।**
**जीवस्स परिब्भमणं, कम्मासवकारणं होदि॥५६॥**

***छाया–*** *जन्मसमुद्रे बहुदोषवीचिके दुःखजलचराकीर्णे।*
*जीवस्य परिभ्रमणं कर्मास्रवकारणं भवति॥*

---

"जो परमात्मा है, वही मैं हूँ, तथा जो स्वानुभव-गम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है, इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं। इसप्रकार ही आराध्य-आराधक भाव की व्यवस्था है।"

मनोभावों की प्रधानता वाली यह निश्चय पूजा शुभमनोयोग रूप होती है, उसका अनुसरण करनेवाली या उससे प्रेरित जो शारीरिक चेष्टा होती है, वह शुभकाययोग रूप होती है। इस प्रकार इन सभी शुभकाययोगों को जानकर हे भेदविज्ञानी! शुभ-अशुभ काययोग के विकल्पों को त्याग कर गुप्ति रूपी द्वार से समस्त योगों से अतीत परमपारिणामिक ज्ञायक भाव को भजो, उसी का आश्रयण करो –यही गाथा का तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार संसार-परिभ्रमण का क्या कारण है –इसे बता रहे हैं–

**( 56 )**

**( गाथा-अर्थ– ) दुःख रूपी जलचरों से भरे हुए तथा बहुत दोष रूपी तरंगों से युक्त ( इस ) जन्म-मरण रूप संसार-समुद्र में जीव का जो परिभ्रमण हो रहा है, उसमें कर्मों का आस्रव ( ही ) कारण है।**

**( सर्वोदया टीका– ) एष संसारः कीदृशस्वरूपः? उच्यते–** *(जम्मसमुद्दे)* **जन्मनां समुद्र इव संसारः, तत्र। जन्मशब्देन मृत्योरपि ग्रहणम्। एवमनन्त-जन्म-मरणरूपजलबिन्दूनां समुद्रे इव ( विस्तृते, अनन्ते ) संसारे –इति भावः।**

**समुद्रे तु वीचयो भवन्ति, बृहदाकाराः भयंकराः जलचराश्च भवन्ति, अस्मिन्संसारसमुद्रे का वीचयः, के च जलचराः? अत आह–** *बहुदोसवीचिये दुक्खजलयराकिण्णे* **इति।** *(बहुदोसवीचिये)* **बहुदोषवीचिके, बहुदोषा एव वीचयो लहर्यो यस्मिन् इति तादृशे समुद्रे। दोषशब्देन व्रतादीनां अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार-अनाचारादयो गृह्यन्ते। येन कारणेन मनःशुद्धिर्नश्यति, सोऽतिक्रमनामा दोषः। व्रतविनाशकसाधनसामग्रीणां संकलनं ग्रहणं च व्यतिक्रमनामको दोषः। यद्वा शील-व्रतस्योल्लंघनं व्यतिक्रमः। विषयेषु प्रवृत्तिरथवा इन्द्रियालस्यजनितव्रतशैथिल्यं चातिचारः। तथैव विषयासक्तिर्नाम अनाचारः, येन व्रतस्य पूर्णभङ्गो जायते।**

**उक्तं च पुरुषार्थसिद्ध्युपायस्य** *(श्लोक-30)* **टीकायामुद्धृतेन पद्येन–**

---

**( सर्वोदया टीका– )** इस संसार का क्या स्वरूप है? बता रहे हैं– **( जन्मसमुद्दे )**। यह संसार जन्मों का मानो समुद्र है, उस संसार में। यहाँ जन्म शब्द से मृत्यु का भी ग्रहण होता है, इस प्रकार, अनन्त जन्म-मरण रूप जल-बिन्दुओं का समुद्र जैसा (विस्तृत व अनन्त) यह संसार है, इस संसार में –यह भाव है।

समुद्र में तो लहरें होती हैं और बड़े-बड़े आकार वाले भयंकर जलचर भी होते हैं, इस संसार-समुद्र में कौन-सी लहरें हैं और कौन-से जलचर हैं? इस प्रश्न के समाधान हेतु कहा– बहुदोसवीचिए इत्यादि। **( बहुदोषवीचिके )** बहुत से दोष ही वीचियाँ-लहरें जहाँ हैं, ऐसे समुद्र में। दोष शब्द से व्रत आदि के अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार व अनाचार का ग्रहण किया जाता है। जिसके कारण मानसिक शुद्धि नष्ट होती है, वह अतिक्रम नामक दोष होता है। व्रत-नाशक के साधनभूत सामग्रियों का संकलन या ग्रहण व्यतिक्रम दोष होता है। या शीलव्रत का उल्लंघन व्यतिक्रम है। विषयों में प्रवृत्ति या इन्द्रियों के आलस्य के कारण होने वाली व्रत की शिथिलता अतिचार होता है। इसी तरह, विषयों में आसक्ति 'अनाचार' है, जिससे व्रत पूर्णतः खण्डित हो जाता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-30) की टीका में उद्धृत पद्य द्वारा भी कहा गया है–

*अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिः, व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।*
*तथातिचारं करणालसत्वं भङ्गो ह्यनाचारमिह व्रतानाम्॥*

**एवं सम्यग्दर्शनस्यापि पञ्चविंशतिर्दोषा भवन्ति। यथा– तिस्रो मूढताः, अष्टौ मदाः, षट् अनायतनानि, अष्टौ शंकादिदोषाः, एवं संहत्य पञ्चविंशतिदोषा भवन्ति। एते सर्वे दोषाः संसारवृद्धिमेव कुर्वन्ति। यथा वीचयः समृद्धाः समुद्रमपि प्रवर्धयन्ति, तथैव उक्तदोषाः संसारसमुद्रं प्रवर्धयन्ति। यद्वा, सामान्यसंसारिणां मिथ्यात्वग्रस्तानां च दुःखोत्पादकाः केचिद् दोषा भवन्ति। यथा– क्षुधा, तृषा, भयम्, रोषः, रागः, मोहः, चिन्ता, जरा, रोगः, मृत्युः, स्वेदः, खेदः, मदः, रतिः, विस्मयः, निद्रा, जन्म, उद्वेगः ( अरतिः ) –इत्यादिका अष्टादश दोषाः सहजतया भवन्ति –इति नियमसारे** *(गाथा-6)* **संकेतितम्। अर्हदवस्थायां प्राप्तायामेव दोषैरेतैर्मुक्तिः प्राप्तुं शक्यते, नान्यथा। यथा समुद्रे गतानां जीवानां वीचिभिरुच्चावचाभिः संघातः कष्टबहुलता च संभाव्येते एव, तथैव संसारिणां क्षुधादिकष्टैर्निरन्तरं व्याकुलताऽनिवार्यैव। बहवः, अर्थात् अष्टादश दोषाः, ते एव वीचिरूपाः यत्र, एतादृशे जन्ममरणात्मके संसारसमुद्रे –इति तात्पर्यम्।**

---

"मन की शुद्धि में हानि होना अतिक्रम है, विषयों में अभिलाषा व्यतिक्रम है, इन्द्रियों का आलस्य अतीचार है और व्रतों का भङ्ग अनाचार होता है।"

इसी तरह सम्यग्दर्शन के भी पच्चीस दोष होते हैं। जैसे– तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन, आठ शंका (निःशंकित न होना, निष्कांक्षित न होना) आदि दोष –इन्हें मिलाकर कुल पच्चीस दोष होते हैं। ये सभी दोष संसार की वृद्धि ही करते हैं। जिसप्रकार, लहरें समृद्ध हों तो समुद्र को भी समृद्ध करती हैं, उसीप्रकार उक्त दोष संसारसमुद्र को प्रवर्द्धित करते हैं। अथवा– मिथ्यात्वग्रस्त सामान्य संसारी जनों के लिए कुछ दोष दुःख पैदा करनेवाले होते हैं। जैसे– क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म, उद्वेग (अरति) –इत्यादि अठारह दोष (संसारियों में) सहजतया हुआ करते हैं –ऐसा नियमसार (गाथा-6) में संकेत किया गया है। इन दोषों से मुक्ति तो अर्हन्त अवस्था में ही प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। जिसप्रकार, समुद्र में गये (पड़े) हुए जीवों को ऊँची-नीची लहरों के आघात (थपेड़ों) की तथा बहुत कष्टों की प्राप्ति होती ही है, उसी प्रकार संसारी प्राणियों को क्षुधा आदि (अठारह दोष रूपी) कष्टों से निरन्तर व्याकुलता अनिवार्य रूप से होती ही है। बहुत से यानी अठारह दोष, वे ही लहर रूप हैं जहाँ, ऐसे जन्म-मरण रूप संसार-समुद्र में –यह तात्पर्य है।

**तथा** *(दुक्खजलचराकिण्णे)* **दुःखान्येव जलचराः, तैः आकीर्णे व्याप्ते संसारसमुद्रे इति भावः। समुद्रे जलचरप्राणिनां सद्भावः, अधिकता प्रचुरता वा भवति, तेषु प्रायो जीवहिंसकाः, अतो जीवानां कृते समुद्रयात्रा समुद्रस्य बाहुभ्यां तरणं च सर्वथा दुःखं जनयतः, तथैव संसारेऽमुत्र कथमपि कदाचिदपि दुःखाद् विमुक्तिर्न सम्भवति। वैराग्यभेदज्ञानशालिनां तु कथंचिद् विलक्षणत्वम्। शाश्वतपूर्णसुखावाप्तिस्तु अर्हत्-सिद्धावस्थायामेव। एवं संसारसमुद्रस्य दुःखजलचराकीर्णता स्पष्टमेवावगम्यते। तत्र** *(जीवस्स परिब्भमणं)* **प्रत्येकजीवस्य गतिविशेषाद् इतरगतिप्राप्तिरूपं, मृत्योरनन्तरं जन्मान्तरग्रहणं वा, तथा कर्मजनितसुखदुःखोपभोगयोः रागद्वेषवशाद् नवीनकर्मबन्धने पुनः सुखदुःखादिः, ततश्च पुनः कर्मबन्धः –इत्यादिपरम्परायाः सातत्येन संसार-नैरन्तर्यं वा यद् भवति, तदेव जीवस्य संसारे परिभ्रमणं विज्ञेयम्। तत्र परिभ्रमणे कारणं किम्, इत्याह–** *(कम्मासवकारणं होदि)* **–कर्मणामास्रवः एव कारणं तस्य संसारस्य भवति। तस्य कर्मास्रवस्य तु अनेकानि कारणानि –इति त्वन्यदेतत्।**

---

और **( दुःखजलचराकीर्णे )** दुःख ही है जलचर प्राणी, उनसे आकीर्ण यानी व्याप्त इस संसार-समुद्र में। समुद्र में जलचर प्राणियों की सत्ता, अधिकता या प्रचुरता हुआ करती है, उनमें भी प्रायः जीवहिंसक होते हैं, इसलिए जीवों के लिए समुद्र-यात्रा या समुद्र को भुजाओं से तैर पाना सर्वथा कष्टदायक होता है, उसी तरह इस संसार (समुद्र) में किसी तरह भी, कभी दुःख से मुक्ति नहीं सम्भव होती। किन्तु वैराग्य व भेदज्ञान से सम्पन्न व्यक्तियों की तो बात कुछ विलक्षण (भिन्न) होती है। शाश्वत पूर्ण सुख की प्राप्ति तो अर्हन्त व सिद्ध अवस्था में ही हो पाती है। इस तरह, संसार-समुद्र का दुःख रूपी जलचरों से व्याप्त होना स्पष्ट हृदयगम्य हो जाता है। वहाँ **( जीवस्य परिभ्रमणं )** प्रत्येक जीव का एक गति से दूसरी गति को प्राप्त करना, मृत्यु के बाद अन्य जन्म ग्रहण करना, तथा कर्मजनित सुख या दुःख के भोग करते हुए राग-द्वेष वश नवीन कर्मबन्धन करना और पुनः सुख-दुःखादि प्राप्त करना, परिणामतः पुनः कर्मबन्ध – इत्यादि परम्परा का अनवरत प्रवर्तन होते रहने से संसार की भी निरन्तरता जो बनी रहती है, वही जीव का संसार-भ्रमण है –यह जानें। इस परिभ्रमण में कारण क्या है? अतः बता रहे हैं– **( कर्मास्रवकारणं भवति )** –कर्मों का जो आना (आस्रव) है, वही संसार का कारण होता है, उस कर्मास्रव के भी अनेक कारण होते हैं– यह दूसरी बात है।

**अत्रेदं तात्पर्यम्– कर्मणामास्रवे सत्येव बन्धः, बन्धे सत्येव तस्योदयो विपाको वा भवति, कर्मोदयं विना संसारपरिभ्रमणं न भवति, अतः संसारपरिभ्रमणस्य कारणं प्रथमं कर्मास्रव एव। आस्रवति येन स आस्रवः, अर्थात् पुण्यपापादिशुभाशुभकर्मणामास्रवणद्वारमेव आस्रवः। यथा समुद्रजलं नदीभिः सततमापूर्यते, तथैव मिथ्यात्वादिभिरास्रवद्वारैः आत्मा समापूर्यते। स चास्रवो द्विविधः –साम्परायिक ईर्यापथिकश्चेति। सम्परायो नाम कषायः, यद्वा कर्मभिः समन्ताद् आत्मनः पराभवोऽभिभवो वा, तत्प्रयोजनं यस्य तादृशं कर्म साम्परायिकम्। अर्थात् संसारप्रयोजकं कर्म साम्परायिकं भवतीति ज्ञेयम्। तद्विपरीतमीर्यापथिकम्। ईर्या योगो गतिर्वा। तद्द्वारकं यत्कर्म ईर्यापथम्। अर्थात् ईर्यारूपयोग एव पन्थाः मार्गो हेतुर्वा यस्य कर्मणः, तदीर्यापथकर्म। अस्यैवापरं नाम ईर्यापथिकं कर्म। योगमात्रेण यः कर्मबन्धो भवति, न तत्र कषायो निमित्तं भवति, यतो हि तत्र कषायाभावः। योगवशादुपात्तं कर्म तत् कषायाभावात् शुष्ककुड्यपतितलोष्ठवद् बन्धनक्षणानन्तरसमये एव निवर्तते, निर्जीर्यते। एवमीर्यापथिककर्म न वस्तुतः परिणामतो वा बन्धप्रयोजकं, न च संसारकारणं भवति।**

---

यहाँ तात्पर्य (स्पष्टीकरण) इस प्रकार समझें –कर्मों के आस्रव होने पर ही बन्ध होता है, बन्ध के होने पर ही उसका उदय या विपाक होता है, कर्मोदय के बिना संसार-भ्रमण नहीं हो पाता, इसलिए संसार-भ्रमण का कारण प्रथमतः आस्रव ही है। जिससे कर्म आये, वह 'आस्रव' है, अर्थात् पुण्य-पाप आदि शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन का द्वार ही 'आस्रव' है। जिसप्रकार, समुद्र नदियों द्वारा जल से भरा जाता है, उसीप्रकार मिथ्यादर्शनादि आस्रव-द्वारों से आत्मा (कर्मों से) पूरित होती है। वह आस्रव दो प्रकार होता है– साम्परायिक व ईर्यापथिक। सम्पराय का अर्थ है– कषाय, अथवा कर्मों द्वारा चारों ओर से आत्म-स्वरूप का पराभव या अभिभव होना। वह प्रयोजन जिस कर्म का हो, वह साम्परायिक है। अर्थात् संसार-प्रयोजक जो कर्म है, वह साम्परायिक होता है –इतना जान लेना चाहिए। इससे विपरीत ईर्यापथिक होता है। ईर्या का अर्थ है– योग या गति। उसके द्वारा होने वाला जो कर्म है, वह ईर्यापथ है। अर्थात् ईर्यारूप योग (गमन) ही पथ, मार्ग या हेतु जिस कर्म का, वह ईर्यापथकर्म है। इसी का दूसरा नाम ईर्यापथिक कर्म है। जो कर्मबन्ध योग मात्र (मन-वचन-शरीर की चेष्टा) से होता है, वहाँ कषाय निमित्त नहीं होता, क्योंकि वहाँ कषाय का अभाव है। योग के कारण आया हुआ वह कर्म कषाय के अभाव के कारण, सूखी दीवार पर पड़े पत्थर की तरह द्वितीय क्षण में ही निवृत्त हो जाता है, झड़ जाता है। इस तरह ईर्यापथिक कर्म बन्ध का प्रयोजक नहीं हो पाता, और संसार का कारण भी नहीं होता है।

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(13/5, 4, सू. 24)*– *"इरियावहकम्मं गहिदं पि तण्ण गहिदं। कुदो। सरागकम्मगहणस्सेव अणंतरसंसारफलणिव्वत्तणसत्तिविरहादो...बद्धं पि तण्ण बद्धं चेव, विदियसमए चेव णिज्जरुवलंभादो...।"*

**एवं सिद्ध्यति यत् कषाययुक्तानां साम्परायिक आस्त्रवः, अकषायाणां तु ईर्यापथिकः। सकषायाः जीवाः मिथ्यादृष्टिगुणस्थानत आरभ्य सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानपर्यन्तं भवन्ति। तथैव अकषायाः उपशान्तमोह-( कषाय )-गुणस्थानत आरभ्य सयोगकेवलिगुणस्थानं यावद् भवन्ति। यद्यपि उपशान्तमोहे कषायस्य सर्वथाभावो नास्ति, स च सत्तायां वर्तते तथापि उदयाभावात् तदभावः कथित इति जानीहि। अयोगकेवलिनि तु कषाययोगयोरुभयोरभावात् साम्परायिक-ईर्यापथिकोभयकर्मास्त्रव-अभावः, तथैव सिद्धानामपि ऊह्यम्। संक्षेपरुचिशिष्यापेक्षया व्याख्यानं गतम्। इदानीं विस्तररुचिशिष्यदृष्ट्या व्याख्यानं विधीयते। संसारस्य कारणानि चत्वारि भवन्ति। यथा– मिथ्यात्वम्, अविरतिः, कषायाः, योगश्चेति।**

---

धवला ग्रन्थ (13/5, 4, सू. 24) में कहा भी गया है– "ईर्यापथकर्म गृहीत होकर भी गृहीत नहीं है, क्योंकि वह सरागी के द्वारा गृहीत कर्म की तरह पुनर्जन्मरूप संसार-फल-उत्पादक शक्ति से युक्त नहीं है। ...बद्ध होकर भी बद्ध नहीं है, क्योंकि दूसरे समय में ही उसकी निर्जरा देखी जाती है...।"

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि कषाययुक्त जीवों के साम्परायिक आस्त्रव होता है और कषायहीन के ईर्यापथिक आस्त्रव होता है। कषायसहित जीव मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय (दशम) गुणस्थान तक होते हैं। कषायरहित जीव उपशान्त (मोह) कषाय (ग्यारहवें) गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली (तेरहवें) गुणस्थान तक होते हैं। यद्यपि उपशान्तमोह गुणस्थान में कषाय का सर्वथा अभाव नहीं है, वह सत्ता में रहती है, फिर भी उदय का अभाव होने से उसे अभाव रूप कहा है– ऐसा जानना चाहिए। अयोगकेवली (अन्तिम) गुणस्थान में तो कषाय व योग –इन दोनों का ही अभाव होने साम्परायिक व ईर्यापथिक –इन दोनों कर्मास्त्रवों का अभाव है, यही स्थिति सिद्धों की भी समझ लेनी चाहिए। संक्षेपरुचि शिष्यों की अपेक्षा से व्याख्यान समाप्त हुआ। अब विस्तार रुचि शिष्यों की अपेक्षा से व्याख्यान कर रहे हैं। संसार के कारण चार होते हैं– जैसे– मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

**उक्तं च मूलाचारग्रन्थे** *(5/241)*–

*मिच्छत्ताविरदीहि य, कसायजोगेहिं जं च आसवदि।*
*दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि॥*

**तत्त्वार्थसूत्रे** *(8/1)* **बृहद्द्रव्यसंग्रहे** *(गाथा–30)* **च प्रमादस्यापि नाम निर्दिश्य पञ्च बन्धहेतवो भावास्रवाः प्रोक्ताः। वस्तुतः कषायः प्रमादरूप एव, यत्र प्रमादः, तत्र कषायसद्भाव एवेति दृष्ट्या मिथ्यात्वादिआस्रवचतुष्टयं यदुक्तं तन्न विरुद्ध्यते। एषां गुणस्थानानुसारं निरूपणं कुर्मः। मिथ्यात्वगुणस्थाने मिथ्यात्वादिका चत्वार एव प्रत्ययाः कर्मास्रवहेतुभूता भवन्ति। सासादनगुण-स्थानमादिं कृत्वा देशविरतिगुणस्थानं यावत् चतुर्षु गुणस्थानेषु मिथ्यात्वं विहाय शेषास्त्रयोऽपि आस्रवहेतवो भवन्ति।**

**अत्रैका आरेका– देशविरतिगुणस्थाने अविरतिरूपं यदास्रवकारणं प्रोच्यते, तत्कथम्? तत्र देशविरतिसद्भावात्। समाधानमुच्यते– यतो हि तस्मिन्गुणस्थाने जीवः त्रसवधविरतोऽपि, स्थावरहिंसाया अविरत एव, एतद्दृष्ट्या तस्य अविरतिसंज्ञक आस्रवहेतुः स्वीक्रियते।**

---

मूलाचार ग्रन्थ (5/241) में भी कहा गया है– ''मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग –इनसे जो कर्म आते हैं, वे सम्यग्दर्शन, विरतिपरिणाम, कषायनिग्रह व योगनिरोध से नहीं आते हैं।''

तत्त्वार्थसूत्र (8/1) और बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा–30) में प्रमाद का भी निर्देश कर पाँच बन्धहेतुओं व भावास्रवों का कथन किया गया है। वस्तुतः कषाय प्रमादरूप ही है, और जहाँ प्रमाद है, वहाँ कषाय रहता ही है, इस दृष्टि से मिथ्यात्व आदि चार आस्रवों का जो कथन है, वह विरुद्ध नहीं है। इनका गुणस्थानानुसार निरूपण कर रहे हैं– मिथ्यात्वगुणस्थान में मिथ्यात्व आदि चारों ही कर्मास्रव के कारण रहते हैं। सासादन (द्वितीय) गुणस्थान से लेकर देशविरति (पाँचवें) गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में मिथ्यात्व को छोड़ कर शेष तीनों ही आस्रवहेतु रहते हैं।

यहाँ एक शंका की जाती है– देशविरति (पाँचवें) गुणस्थान में अविरति रूप आस्रव-हेतु कहा गया है, वह किस प्रकार संगत है? क्योंकि वहाँ तो देशविरति का सद्भाव है। इस (शंका) का समाधान कह रहे हैं– चूँकि इस गुणस्थान में त्रसजीव के वध से विरत (संयत) होता हुआ भी, स्थावर-हिंसा से अविरत ही है, इस दृष्टि से उसके अविरति नामक आस्रव-हेतु का होना माना जाता है।

**एवं प्रमत्तसंयतगुणस्थानादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानं यावत्पञ्चसु गुणस्थानेषु कषाय-योगेतिद्वयमेव आस्रवहेतुरूपं भवति, नैव मिथ्यात्वमविरतिश्चेति। तदुपरि उपशान्तमोहगुणस्थानादारभ्य सयोगकेवलिगुणस्थानपर्यन्तं योग एवास्रवहेतुः, नान्ये मिथ्यात्वादिकाः त्रयः। तदुपरि अयोग-केवलिगुणस्थानवर्ती, तथैव सिद्धात्मनश्च निरास्रवत्वमेव भजन्ति।**

**अत्रेदमवधेयम्- केचिदाचार्यवराः प्रतिपादयन्ति यद् आस्रवक्षेत्रे मिथ्यात्वमकिञ्चित्करमिति। तन्न युक्तियुक्तं प्रतिभाति। शास्त्रेषु ( पूर्वोक्त-उद्धरणेषु ) स्पष्टमेव मिथ्यात्वस्य आस्रवहेतुत्वेन निर्देशात्। किञ्च, मिथ्यात्वगुणस्थाने षोडशकर्मप्रकृतीनां य आस्रवो भवति, तस्य मिथ्यात्वादिकाः पञ्चैव प्रत्ययास्तत्र बन्धस्य च कारणभूता भवन्ति। ननु तत्र मिथ्यात्वं विना कषायमात्रनिमित्तक एवास्रवः -इति चेन्न। कषायाभावेऽपि मिथ्यात्वहेतुकास्रवस्य कस्यचित् सिद्धत्वात्। अत्रेदं तात्पर्यम्- अनन्तानुबन्धिकषायस्य विसंयोजक उपशामको यदा उपशान्तमोहगुणस्थानात् कालक्षयेण ( मृत्यौ सति ) पतितः सन् मिथ्यात्वमागच्छति, तदा आवलिकापर्यन्तं तस्य कोऽपि कषायोदयो न भवति।**

इसतरह, प्रमत्तसंयत (छठे) गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें) गुणस्थान तक पाँच गुणस्थानों में कषाय व योग -ये दो ही आस्रव-हेतु रहते हैं, मिथ्यात्व व अविरति -ये दो नहीं होते। उसके ऊपर उपशान्तमोह (ग्यारहवें) गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली (तेरहवें) गुणस्थान तक योग ही आस्रव-हेतु रहता है, अन्य मिथ्यात्व आदि तीन नहीं रहते हैं। उसके ऊपर अयोगकेवली गुणस्थान में स्थित जीव तथा सिद्ध (मुक्त) आत्मा -ये (दोनों) निरास्रव ही होते हैं।

यहाँ यह विशेष जानने की बात है- कुछ आचार्य प्रतिपादित करते हैं कि आस्रव के क्षेत्र में मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है। वह युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। शास्त्रों में (पूर्वोक्त उद्धरण जो दिये जा चुके हैं, उनमें) स्पष्टतया मिथ्यात्व को आस्रव-हेतु के रूप में प्रदर्शित किया गया है। और, मिथ्यात्व गुणस्थान में सोलह कर्म-प्रकृतियों का जो आस्रव होता है, उसका कारण मिथ्यात्व आदि पाँचों प्रत्यय आस्रव तथा बन्ध के कारण होते हैं। (पूर्वपक्ष-) वहाँ (मिथ्यात्व गुणस्थान में) जो आस्रव होता है, वह मिथ्यात्व के बिना मात्र कषाय के कारण ही होता है। (समाधान-) ऐसी बात नहीं है। कषाय के अभाव में भी मिथ्यात्व के कारण आस्रव होना किसी जीव के सिद्ध होता है। हमारे इस कथन का तात्पर्य यह है- अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करनेवाला उपशामक जीव जब उपशान्तमोह नामक गुणस्थान से कालक्षय से (मृत्यु हो जाने की स्थिति में) पतित (च्युत) होकर मिथ्यात्व में आता है, तब एक आवलिका तक उसके कोई भी कषाय का उदय नहीं होता।

**उक्तं च गोम्मटसारे** *(कर्मकाण्डे, गाथा-448)*– *"अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्तेण आवलित्ति अणं"*

**तथा प्राकृतपञ्चसंग्रहे** *(4/103)*– *"आवलियमेत्तकालं अणंतबंधीण होइ णो उदओ"* **इति। एवं तत्र कर्मास्त्रवो भवति न वा? यदि न भवति, तर्हि सर्वसंसारिणां प्रतिक्षणं कर्मास्त्रवो भवतीति शास्त्रवचनं विरुद्ध्यते। यदि भवतीति स्वीक्रियते, तर्हि तत्र क आस्त्रवहेतुः, अनन्तानुबन्धि-कषायाभावात् मिथ्यात्वादिशेषप्रत्ययास्तत्र आस्त्रवहेतुरिति स्वीकरणीयमेव।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 5, खण्ड-1, भाग-7, सू. 2)*– *"मिच्छत्तोदओ एक्को चेव मिच्छत्तस्स कारणं तेण मिच्छादिट्ठित्ति भावो ओदइओत्ति परूविदो।"* **एवं सति मिथ्यात्वस्य आस्त्रवक्षेत्रे अकिंचित्करत्वं कथंचिदपि न स्वीकार्यमिति वस्तुस्थितिः।**

---

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, गाथा-478) में कहा गया है– "अनन्तानुबन्धी का विसंयोजक मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है, तब उसके एक आवलिकाल तक अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता है।"

प्राकृतपञ्चसंग्रह (4/103) में भी कहा गया है– "आवलिकाल मात्र तक वहाँ अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता।" वहाँ बताएँ कि कर्मास्त्रव होता है कि नहीं? यदि नहीं होना मानें तो 'समस्त संसारी जीवों के प्रतिक्षण कर्मास्त्रव होता ही है' –ऐसे शास्त्र-वचन से विरोध होगा। यदि कर्मास्त्रव वहाँ होता है– ऐसा मानते हैं तो वहाँ आस्त्रव का हेतु क्या मानेंगे? अनन्तानुबन्धी कषाय तो वहाँ (आवलिका काल तक) होती नहीं, ऐसी स्थिति में मिथ्यात्व आदि शेष प्रत्यय आस्त्रव-हेतु हैं– ऐसा मानना ही होगा।

धवला ग्रन्थ (पु. 5, खण्ड-1, भाग-7, सू. 2) में कहा गया है–"एक मिथ्यात्व का उदय ही मिथ्यादृष्टित्व में कारण होता है, इसलिए 'मिथ्यादृष्टि' यह भाव औदयिक कहा गया है।" ऐसा होने पर मिथ्यात्व को आस्त्रव के क्षेत्र में अकिञ्चित्कर किसी भी तरह नहीं माना जा सकता –यह वास्तविकता है।

**तथैव बंधक्षेत्रेऽपि तदवस्थं मिथ्यात्वमेव प्रधानरूपेण बंधप्रत्ययो भवति। मिथ्यात्वादिकाः प्रोक्ताः चत्वार आस्त्रवहेतवो बन्धहेतवोऽपि भवन्ति, तत्त्वार्थसूत्रे** *(8/1)* **तेषां बन्धहेतुत्वेन निर्देशात्।**

**समयसारेऽपि** *(गाथा-109)* **तत्समर्थनमुपलभ्यते-**

*सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।*
*मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा॥*

**मूलाचारग्रन्थे** *(गाथा-1225)* **च प्रोक्तम्-**

*मिच्छादंसण अविरदि कसाय जोगा हवंति बंधस्स।*
*आऊसज्झवसाणं हेदवो ते दु णायव्वा॥*

**तत्त्वानुशासने** *(श्लोक-8)* **च भणितम्-**

*स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः।*
*बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः॥*

---

उसी प्रकार बंध के क्षेत्र में भी उस (मिथ्यात्व) की अवस्था में प्रधानरूप से बंध का कारण होता है। जिन मिथ्यात्व आदि चार को आस्त्रव-हेतु रूप में कहा गया है, वे (चारों) बन्ध के हेतु भी हैं, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र (8/1) में उनको बन्धहेतु के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

समयसार (गाथा-109) में भी उसका समर्थन प्राप्त होता है-

"वास्तव में चार प्रत्यय (कारण) बन्ध के कर्ता कहे जाते हैं। उन चार प्रत्ययों को इस तरह जानें -मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग।"

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-1225) में कहा गया है-

"मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, योग और आयु का परिणाम -ये कर्मबन्ध के कारण हैं -ऐसा जानें।"

तत्त्वानुशासन (श्लोक-8) में भी बताया गया है-

"मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र -ये तीनों संक्षेप से बन्ध के कारण हैं। बन्ध के कारणों के रूप में और जो कुछ कथन है, वह सब इन तीनों का विस्तार है।"

**धवलाग्रन्थे च** *(पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 20)* **कथितम्**– *''मिच्छत्तासंजमकसायजोगेहिंतो पुरिसपओगेहि वा जे णिप्पण्णा अजीवभावा तेसिं विवागपच्चइओ अजीवभावबंधो त्ति सण्णा।''*

**एते मिथ्यात्वादिप्रत्ययाः गुणस्थानक्रमेण बन्धहेतवो भवन्ति, इति गुणस्थानसंख्यादृष्ट्या बन्धहेतूनां त्रयोदशभेदा अपि स्वीक्रियन्ते। संकेतितं च समयसारे** *(गाथा-110)*–

*तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।*
*मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं॥*

**उपर्युक्तानां चतुर्णां मिथ्यात्वादिआस्रवबन्धहेतूनां शास्त्रेषु सप्तपञ्चाशत् भेदा अपि स्वीकृताः। यथा– मिथ्यात्वस्य पञ्च, अविरतेः (असंयमस्य) द्वादश, कषायाणां पञ्चविंशतिः, योगस्य पञ्चदश –एवं संहत्य सप्तपञ्चाशत् भेदा भवन्ति।**

**समर्थितं चैतत् प्राकृतपञ्चसंग्रहे** *(4/77)*–

---

धवला ग्रन्थ (पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 20) में भी कहा गया है– ''मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से या पुरुष के प्रयत्न से जो अजीव भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी विपाकप्रत्ययिक अजीवभावबन्ध संज्ञा है।''

ये मिथ्यात्व आदि प्रत्यय गुणस्थानों में क्रमशः बन्धहेतु सिद्ध होते हैं, अतः गुणस्थानों की अपेक्षा रख कर बन्ध-हेतु के तेरह भेद माने जाते हैं। समयसार (गाथा-110) में इसका संकेत भी किया गया है–

''उन बन्धकारणों को तेरह प्रकार का माना कहा गया है, (क्योंकि) वे भेद मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली के चरम समय पर्यन्त हैं।''

उपर्युक्त मिथ्यात्व आदि आस्रव या बन्ध के चार हेतुओं के शास्त्रों में सत्तावन भेद भी बताये गये हैं। जैसे– मिथ्यात्व के पाँच, अविरति (असंयम) के बारह, कषायों के पच्चीस, तथा योग के पन्द्रह –इन्हें मिलाने से कुल सत्तावन भेद जाते हैं।

प्राकृत पंचसंग्रह (4/77) में कहा भी गया है–

*मिच्छासंजम हुंति हु कसाय जोगा य बंधहेऊ ते।*
*पंच दुवालस भेया कमेण पणुवीस, पण्णरसं॥*

**उक्त-सप्तपञ्चाशद्‌भेदानां स्पष्टीकरणं विधीयते –मिथ्यात्वं पञ्चविधम्, यथा– एकान्तमिथ्यात्वम्, विनयमिथ्यात्वम् विपरीतमिथ्यात्वम्, संशयमिथ्यात्वम्, आज्ञानिकमिथ्यात्वं चेति। अविरतेः ( असंयमस्य ) द्वादश भेदाः। यथा– पृथिवीकाय-असंयमः, जलकाय-असंयमः, अग्निकाय-असंयमः, वायुकाय-असंयमः, वनस्पतिकाय-असंयमः, त्रसकाय-असंयमः, चक्षुर्विषय-असंयमः, श्रोत्रविषय-असंयमः, घ्राणविषय-असंयमः, रसनाविषय-असंयमः, स्पर्शविषय-असंयमः, नोइन्द्रिय ( मनो- ) विषय-असंयमश्चेति।**

**एवं कषायस्य पञ्चविंशतिभेदाः। तत्र कषायाः षोडश, नोकषायाश्च नवेति संहत्य पञ्चविंशतिकषाया भवन्ति। क्रोध-मान-माया-लोभेतिकषायचतुष्कस्य अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणः, प्रत्याख्यानावरणः, संज्वलनश्चेति चत्वारो भेदाः ( प्रत्येकस्य ), एवं षोडशकषायाः जायन्ते। हास्य-रति-अरतिप्रभृतिनोकषायाणां संख्या नव भवति ( येषां निरूपणं प्राक्**

---

"मिथ्यात्व, असंयम, कषाय व योग –ये चार कारण कर्मबन्ध के हैं। इनके उत्तरभेद क्रम से पाँच, बारह, पच्चीस व पन्द्रह हैं (इसप्रकार कुल मिलाकर कर्मबन्ध के सत्तावन उत्तरप्रत्यय होते हैं)।"

उक्त सत्तावन भेदों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं– मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है। जैसे– एकान्तमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, और अज्ञानमिथ्यात्व। अविरति ( असंयम) के बारह भेद होते हैं। जैसे– पृथिवीकाय-असंयम, अप्‌काय-असंयम, तेजस्काय-असंयम, वायुकाय-असंयम, वनस्पतिकाय-असंयम, त्रसकाय-असंयम, चक्षुर्विषय-असंयम, श्रोत्रविषय-असंयम, घ्राणविषय-असंयम, रसनाविषय-असंयम, स्पर्श-विषय-असंयम और नो-इन्द्रिय (मन-)-असंयम।

इसीतरह, कषाय के पच्चीस भेद होते हैं। इनमें कषायों के सोलह तथा नोकषायों के नौ –इसतरह कुल मिलाकर पच्चीस भेद होते हैं। क्रोध, मान, माया व लोभ –ये चार कषाय हैं, इनके (प्रत्येक के) अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन –ये चार-चार भेद होते हैं, कुल सोलह कषाय हो जाते हैं। हास्य, रति, अरति आदि नोकषायों की संख्या नौ होती है (जिसका निरूपण पहले गाथा-52 में कर

**द्विपञ्चाशत्तमगाथायां कृतं वर्तते ), द्वयोः कषाय-नोकषाययोः संयोगे कषायाणां पञ्चविंशतिभेदाः भवन्ति।**

**योगश्च पञ्चदशविधः। यथा- चत्वारो मनोयोगाः, चत्वारो वचनयोगाः, सप्त काययोगाः, इति संहत्य पञ्चदश योगा भवन्ति। तत्र सत्यमनोयोगः, असत्यमनोयोगः, सत्यमृषामनोयोगः, असत्यमृषामनोयोगः -इत्येवं चत्वारो मनोयोगाः।सत्यवचनयोगः,असत्यवचनयोगः,उभयवचनयोगः, अनुभयवचनयोगश्चेति चत्वारो वचनयोगाः। औदारिककाययोगः, वैक्रियिककाययोगः, आहारक-काययोगः, वैक्रियिकमिश्रकाययोगः, कार्मणकाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, आहारकमिश्र-काययोगश्चेति सप्तकाययोगाः। उक्तभेदानां संकेतो राजवार्तिके *(8/1/29)* कृत एव।**

**इत्येवं संसारकारणभूतान् आस्रवान् सम्यक्तया परिज्ञाय, तांश्च शुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलांश्च समवबुद्ध्य निरास्रव-निर्बन्धशुद्धात्मस्वरूपे रतिः स्यात् इत्येतदर्थं सर्वास्रव-बन्धहेतून् यथाशक्ति परिहर, दूरतस्त्यज -इति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

दिया गया है)। कषाय व नोकषाय -दोनों को मिलाने से कषायों के पच्चीस भेद होते हैं।

योग पन्द्रह प्रकार का होता है। जैसे- चार मनोयोग हैं, चार ही वचनयोग है, सात काययोग हैं- सब मिलाकर पन्द्रह योग हो जाते हैं। इनमें सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, सत्य मृषामनोयोग, असत्य मृषामनोयोग -इस प्रकार चार मनोयोग होते हैं। सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभयवचनयोग व अनुभयवचनयोग (असत्यमृषावचनयोग) -ये चार वचन योग होते हैं। औदारिक काययोग, वैक्रियिक काययोग, आहारक काययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, कार्मणकाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, और आहारकमिश्रकाययोग -ये सात काययोग होते हैं। इन कहे गये भेदों का संकेत राजवार्तिक (8/1/29) में किया ही गया है।

इसप्रकार (पूर्वोक्त) संसार के कारणभूत आस्रवों को अच्छी तरह से जानकर, और उन्हें शुद्धात्म-स्वभाव से प्रतिकूल समझकर, निरास्रव-निर्बन्ध शुद्धात्म-स्वरूप में रति हो -इसके लिए सभी आस्रवों व बन्ध के हेतुओं का यथाशक्ति परिहार करो, उनका दूर से ही त्याग करो -यह गाथा का तात्पर्य है।

**इदानीं, शुभास्रवरूपा क्रिया यदि सम्यग्ज्ञानपूर्विका स्यात्, तदैव सा परम्परया मोक्षकारणं च भवति –इतिशास्त्रकाराः निर्दिशन्ति–**

**कम्मासवेण जीवो, बूडदि संसारसागरे घोरे।**
**जं णाणवसं किरिया, मोक्खणिमित्तं परंपरया॥५७॥**

***छाया–*** *कर्मास्रवेण जीवो निमज्जति संसारसागरे घोरे।*
*या ज्ञानवशा क्रिया मोक्षनिमित्तं परम्परया॥*

**( सर्वोदया टीका– ) कर्मास्रवः संसारस्य कारणमिति पूर्वस्यां गाथायामुक्तम्। स च कर्मास्रवो विविधबन्धरूपेण जीवस्य दुर्दशां प्रकटयति –इति प्रथममुच्यते–** *(कम्मासवेण)* **अष्टविधकर्मणां तत्तन्निमित्तैरास्रवो यो भवति, तस्मात्कारणात्,** *(जीवो)* **संसारस्थः प्राणी,** *(घोरे संसारसायरे)* **दुर्गतिबहुलत्वात् भयंकरे दुःखपूर्णे संसारे सागरसदृशे** *(बूडदि)* **निमज्जति, पतति, निमग्नो भवति, न तं सागरमुत्तरितुं प्रभवति –इत्यर्थः।**

---

अब, यदि सम्यग्ज्ञान-पूर्वक शुभास्रव क्रिया की जाय तो वह परम्परा से मोक्ष की भी कारण बनती है –इस तथ्य को शास्त्रकार बताने जा रहे हैं–

**( 57 )**

**( गाथा-अर्थ– ) कर्मास्रव के कारण ( जीव ) घोर संसार-समुद्र में डूबता रहता है। ( किन्तु ) जो क्रिया ( सम्यक् ) ज्ञान सहित होती है, वह परम्परा से मोक्ष का कारण होती है।**

**( सर्वोदया टीका– )** कर्मास्रव संसार का कारण है –ऐसा पूर्व की गाथा में बताया गया है। वह कर्मास्रव अनेक (आठ) प्रकार के बन्ध के रूप में जीव की दुर्दशा को प्रकट करते हैं– इस तथ्य को पहले बताया जा रहा है– **( कर्मास्रवेण )** उन-उन निमित्तों द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का जो आस्रव होता है, उसके कारण से **( जीवः )** संसारी प्राणी, **( घोरे संसार-सागरे )** घोर अर्थात् दुर्गति की बहुलता वाले दुःखपूर्ण संसार में, जो समुद्र के समान (अपार) है, **( निमज्जति )** डूब जाता है, गिर जाता है, निमग्न हो जाता है, अर्थात् उस सागर को पार नहीं कर पाता –ऐसा अर्थ है।

**अत्रायं विस्तर:– संसारी जीवो निरन्तरं पूर्वोक्तप्रकारेण साम्परायिकमीर्यापथिकं वा कर्मास्त्रवं करोति। तत्र साम्परायिक: कर्मास्त्रवोऽपि मुख्यतश्चतुर्द्धा भवति –इन्द्रियहेतुक:, कषायहेतुक:, अव्रतहेतुक:, क्रियाहेतुकश्चेति। तत्रेन्द्रियाणां पञ्च भेदा:, कषायाणां प्रमुखतश्चत्वार:, अव्रतानां पञ्च तथा क्रियाणां पञ्चविंशति: भेदा भवन्तीति तत्त्वार्थसूत्रे** *(6/5)* **प्रोक्तम्–** *'इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया: पञ्च-चतु:पञ्चपञ्चविंशतिसंख्या: पूर्वस्य भेदा:'* **इति।**

*(इन्द्रियाणि-)* **इन्दतीति इन्द्र आत्मा। तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। ज्ञस्वभावस्य आत्मन ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य, अर्थोपलब्धिलिङ्गमेव इन्द्रियमित्यर्थ:। अथवा– लीनमर्थं गमयति –इति इन्द्रियम्। किञ्च, सूक्ष्मस्यात्मनोऽस्तित्वज्ञानमिन्द्रियहेतुमाध्यमेन भवति। यथा धूमलिङ्गेन पर्वतस्थ-अग्नेरस्तित्वमनुमीयते, तथैव इन्द्रियमाध्यमेन आत्मन: इति भाव:। अथवा– इन्द्र: नामकर्म, तेन सृष्टं, दृष्टं, दत्तं वा –इति इन्द्रियम्।**

---

यहाँ विस्तार से कुछ कहना है– संसारी जीव निरन्तर ही पूर्वोक्त रीति से साम्परायिक या ईर्यापथ कर्मास्त्रव करता है। इनमें (सकषाय जीव के होनेवाला) साम्परायिक कर्मास्त्रव भी प्रमुखत: चार प्रकार का होता है– इन्द्रियहेतुक, कषायहेतुक, अव्रतहेतुक और क्रियाहेतुक। इनमें इन्द्रियों के पाँच भेद हैं, कषायों के प्रमुखत: चार भेद हैं, अव्रतों के पाँच भेद हैं और क्रियाओं के पच्चीस भेद हैं –ऐसा तत्त्वार्थसूत्र (6/5) में कहा गया है– ''पूर्व (साम्परायिक) के क्रम से पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रिया रूप भेद होते हैं।''

(इन्द्रियाँ–) जो आज्ञा व ऐश्वर्यवाला है, उसे इन्द्र कहते हैं। वह इन्द्र 'आत्मा' है, उसका जो लिङ्ग (जानने का निमित्त, चिन्ह) है, वह इन्द्रिय है। ज्ञानस्वभावी आत्मा का ज्ञानावरणक्षयोपशम होने पर भी, स्वयं पदार्थों को जानने में वह असमर्थ रहता है, तब उसके लिए जो अर्थोपलब्धि (पदार्थज्ञान) का लिङ्ग (निमित्त) होती है, वह इन्द्रिय है– यह अर्थ है। अथवा, जो लीन (गूढ़, अप्रकाशित) अर्थ का ज्ञान कराती है, वह लिङ्ग यानी 'इन्द्रिय' होती है। इसके अतिरिक्त, सूक्ष्म (अमूर्त) आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में इन्द्रियाँ हेतु रूप में माध्यम होती हैं। जिसप्रकार, धूम लिङ्ग (हेतु) से पर्वत की अग्नि के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, उसी तरह इन्द्रिय के माध्यम से आत्मा (के अस्तित्व) का बोध होता है –यह तात्पर्य है। अथवा– इन्द्र का अर्थ है– नामकर्म, उस नामकर्म से जो निर्मित है, प्रत्यक्षभूत है, उस द्वारा प्रदत्त है, वह इन्द्रिय होती है।

**अत एवोक्तं गोम्मटसारस्य** *(गाथा-165)* **जीवतत्त्वप्रदीपिकाटीकायामुद्धृते पद्ये–**

*यदिन्द्रस्यात्मनो लिङ्गं यदि वेन्द्रेण कर्मणा।*
*सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं चेति तदिन्द्रियम्॥*

**अथवा– इन्द्राः अहमिन्द्राः इव इन्दन्ति इत्यपि व्याख्यानं कृतमस्ति। उक्तं च प्राकृत-पंचसंग्रहे** *(1/65)*–

*अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहं ति मण्णंता।*
*ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदियं जाणे॥*

**प्रत्येकमिन्द्रियं स्वस्वविषयेषु व्यापृतं सत् तद्विषयकनिर्णये रतं भवति। इन्द्रियाणि पञ्च भवन्ति –चक्षुः, श्रोत्रम्, घ्राणम्, रसनम्, स्पर्शनं चेति। एतेषां क्रमशः पञ्च विषयाः– रूपम्, शब्दः, गन्धः, रसः, स्पर्शश्चेति। एतानीन्द्रियाणि मूर्तपदार्थस्यैव रूपादिगुणान् विषयीकुर्वन्ति। इन्द्रिय-आत्मनोरन्यत्वं भिन्नत्वं च कथंचिदनेकान्तदृष्ट्येति ज्ञेयम्।**

---

इसी दृष्टि से गोम्मटसार (की गाथा-165) की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक टीका में उद्धृत पद्य में कहा गया है–

"जो इन्द्र अर्थात् आत्मा का लिङ्ग (चिन्ह) है, अथवा इन्द्र अर्थात् नामकर्म के द्वारा रचित है, सेवित है, दृष्ट या प्रदत्त है, वह इन्द्रिय है।"

अथवा, इन्द्र अर्थात् अहमिन्द्र की तरह जो ऐश्वर्य से सम्पन्न होती हैं, (वे इन्द्रियाँ हैं) –ऐसा भी व्याख्यान किया गया है। प्राकृत पंचसंग्रह (1/65) में कहा भी है–

"जिस प्रकार इन्द्र– अहमिन्द्र देव बिना किसी विशेषता (तारतम्य) के 'मैं इन्द्र हूँ', 'मैं इन्द्र हूँ' इसप्रकार मानते हुए ऐश्वर्य का स्वतन्त्र रूप से अनुभव करते हैं, उसीतरह इन्द्रियों को भी जानना चाहिए।"

प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयों में व्यापाररत होती हुई उस विषय के निर्णय में रत होती है। इन्द्रियाँ पाँच हैं– चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना व स्पर्शन (त्वचा)। इनके क्रमशः विषय इस प्रकार हैं– रूप, शब्द, गन्ध, रस व स्पर्श। ये इन्द्रियाँ मूर्त पदार्थ के ही रूप आदि गुणों को विषय करती हैं। इन्द्रिय व आत्मा में अनेकान्त दृष्टि से कथंचित् अन्यत्व (भिन्नता) भी है और अभिन्नता भी।

**उक्तं च तत्त्वार्थराजवार्तिके** *(2/19/12)– "तद्वतोऽपि चैतन्यापरित्यागेन उभयपरिणाम-कारणापेक्षस्य इन्द्रियपर्यायात्मलाभे सति निष्टप्ताय:पिण्डवत् तथापरिणामात् तद्व्यतिरेकेण इन्द्रियस्यानुपलब्धिरिति स्यादिन्द्रियेन्द्रियवतोरेकत्वम्। इतरथा एकान्तान्यत्वे अनिन्द्रिय आत्मा स्याद् घटवत्। तथा अन्यतमेन्द्रियनिवृत्तौ तद्वतोऽवस्थानात् स्यात् नानात्वम्, पर्यायिपर्यायभेदाच्च स्यात् नानात्वम्...।"*

**स्वस्वविषये प्रवर्तमानैः पञ्चभिरिन्द्रियैः कर्मास्त्रवो भवति –इति तन्निमित्तका आस्त्रवा अपि पञ्च कथिताः इति विज्ञेयम्।**

*(कषायाः–)* **क्रोधमानमायालोभेति चत्वारः कषायाः। तस्य षोडशभेदाः पूर्वं वर्णिताः।**

*(अव्रतम्–)* **हिंसा, असत्यम्, चौर्यम्, अब्रह्मचर्यम्, परिग्रहश्चेति अव्रतानि पञ्च भवन्ति।**

*(क्रियाः)* **क्रियाणां पञ्चविंशतिभेदाः सन्ति, तन्नामस्वरूपवर्णनं विधीयते–**

**(1) चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। (2) अन्यदेवतास्तुत्यादिलक्षणा मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्तिः मिथ्यात्वक्रिया।**

---

राजवार्तिक (2/19/12) में भी कहा गया है– "चूँकि आत्मा ही चैतन्यांश का परित्याग न करके, तपे हुए लोहे के गोले की तरह इन्द्रिय रूप में परिणमन नहीं करती, उसको छोड़कर इन्द्रियाँ पृथक् उपलब्ध नहीं होतीं, अतः आत्मा और इन्द्रियों में एकत्व है, अन्यथा आत्मा इन्द्रियशून्य हो जाएगा। किसी एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता, आत्मा पर्यायी है और इन्द्रियाँ पर्याय। इस तरह आत्मा और इन्द्रियों में भेद है।"

अपने-अपने विषय में प्रवर्तमान पाँचों इन्द्रियों से कर्मास्त्रव होता है– इसलिए इन्द्रियनिमित्तक आस्त्रव भी पाँच कहे गये हैं– यह समझें।

**(कषाय–)** क्रोध, मान, माया व लोभ –ये चार कषाय होती हैं। इसके सोलह भेदों को पहले बताया जा चुका है।

**(अव्रत–)** हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य व परिग्रह –ये पाँच प्रकार के अव्रत होते हैं।

**(क्रियाएँ–)** क्रियाओं के पच्चीस भेद होते हैं, उनके नाम व स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं–

(1) चैत्य, गुरु व शास्त्र की पूजा आदि सम्यक्त्व को बढ़ानेवाली क्रिया सम्यक्त्व क्रिया होती है। (2) अन्य देवी-देवता का स्तवन आदि मिथ्यात्वकारक प्रवृत्ति मिथ्यात्व क्रिया होती है।

**( 3 ) गमनागमनप्रवृत्तिरूपा कायादिभिः प्रयोगक्रिया, वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गोपष्टम्भाद् आत्मनः काय-वाक्-मनोयोगनिर्वृत्तिसमर्थपुद्गलग्रहणं वा।( 4 ) संयतस्य अविरतिं प्रति आभिमुख्यं समादानक्रिया।( 5 ) ईर्यापथनिमित्ता ईर्यापथक्रिया।( 6 ) क्रोधावेशात् प्रादोषिकी क्रिया। ( 7 ) प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया। ( 8 ) हिंसोपकरण-आदानाद् आधिकरणिकी क्रिया। ( 9 ) दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात् पारितापिकी क्रिया। ( 10 ) आयुरिन्द्रिय-बलप्राणानां वियोगकरणात् प्राणातिपातिकी क्रिया। ( 11 ) रागार्द्रीकृतत्वात् प्रमादिनो रमणीय-रूपदर्शनाभिप्रायो दर्शनक्रिया। ( 12 ) प्रमादवशात् स्प्रष्टव्यसञ्चेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया। ( 13 ) अपूर्वाधिकरणोत्पादनात् प्रात्यायिकी क्रिया। ( 14 ) स्त्रीपुरुषपशुसंपातिदेशे अन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया ( 15 ) अप्रमृष्ट-अदृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपः अनाभोगक्रिया।( 16 ) परेण निर्वर्त्या या क्रिया, सा स्वयं क्रियमाणा स्वहस्तक्रिया ( 17 ) पापादानादि-प्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया।**

---

(3) शरीर आदि द्वारा गमन-आगमन आदि की प्रवृत्ति प्रयोग क्रिया होती है। अथवा वीर्यान्तराय व ज्ञानावरण के क्षयोपशम होने पर अंगोपांग नामकर्म के उदय से काय, वचन व मनोयोग की रचना में समर्थ पुद्गलों का ग्रहण करना प्रयोग क्रिया होती है। (4) संयम धारण करने पर भी अविरति की ओर झुकना समादान क्रिया होती है। (5) ईर्यापथ आस्रव में कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया होती है। (6) क्रोध के आवेग से प्रवृत्ति करना प्रादोषिकी क्रिया होती है। (7) प्रदोष होने पर प्रवृत्ति करना कायिकी क्रिया होती है। (8) हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया होती है। (9) दूसरे को दुःख पहुँचाने वाली पारितापिकी क्रिया होती है। (10) आयु, इन्द्रिय, बल आदि का वियोग करने वाली प्राणातिपातिकी क्रिया होती है। (11) रागाविष्ट होकर प्रमादी पुरुष का रमणीय रूप देखने की ओर प्रवृत्ति दर्शनक्रिया होती है। (12) प्रमादवश छूने की प्रवृत्ति स्पर्शन क्रिया होती है। (13) नये-नये अधिकरणों (हिंसा के साधनों) को उत्पन्न करना प्रात्यायिकी क्रिया होती है। (14) स्त्री, पुरुष, पशु आदि से व्याप्त स्थान में मलोत्सर्ग करना समन्तानुपात क्रिया होती है। (15) बिना शोधी और बिना देखी भूमि पर शरीर आदि को रखना (टेकना, बैठना, लेटना आदि) अनाभोग क्रिया होती है। (16) दूसरे द्वारा करणीय क्रिया को स्वयं करना स्वहस्तक्रिया होती है। (17) पापादान आदि को स्वीकार करना निसर्गक्रिया होती है।

**( 18 ) आलस्यात् प्रशस्तक्रियाणामकरणं, यद्वा पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया। ( 19 ) यथोक्तामाज्ञामावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणात् आज्ञाव्यापादिका क्रिया। ( 20 ) शाठ्य-आलस्याभ्यां प्रवचनापदिष्टविधिकर्तव्यता-अनादरः अनाकाङ्क्षक्रिया।( 21 ) छेदनभेदनादिक्रियापरत्वम्, अन्येन चारम्भे क्रियमाणे प्रहर्ष आरम्भक्रिया। ( 22 ) परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी। ( 23 ) ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनं मायाक्रिया। ( 24 ) अन्यं मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिः द्रढयति, यथा– साधु करोषि इति, सा मिथ्यादर्शनक्रिया। ( 25 ) संयमघातिकर्मोदयवशाद् अनिवृत्तिः अप्रत्याख्यानक्रिया।**

**एताभिः पञ्चविंशतिक्रियाभिः कर्मास्त्रवो जीवस्य भवति। उपर्युक्तसर्वविधास्त्रवेषु तीव्रता-मन्दताप्रभृति( निमित्त )भेदाद् हीनाधिक्यमपि भवति, अर्थात् तीव्रता-मन्दतादिकाः जीवपरिणाम-सम्बद्धाः, तेषां तीव्रतामन्दतादिकारणात् कार्यरूपस्यास्त्रवस्य विशेषता भेदो वा सम्भवति। एवं**

---

(18) आलस्यवश प्रशस्त क्रियाओं को नहीं करना या दूसरे के पाप आदि का प्रकाशन करना विदारण क्रिया होती है। (19) चारित्रमोह के उदय से आवश्यक आदि क्रियाओं को करने में असमर्थ होने पर शास्त्र-वचन का अन्यथा ही निरूपण करना आज्ञाव्यापादिका क्रिया होती है। (20) मूर्खता व आलस्य से शास्त्र-उपदिष्ट विधि-विधानों के प्रति अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया होती है। (21) छेदन, भेदन आदि (हिंसक) क्रियाओं में तत्पर होना, अथवा अन्य के द्वारा हिंसादि व्यापार किये जाने पर हर्षित होना आरम्भ क्रिया होती है। (22) परिग्रह को नष्ट न होने देने के लिए जो व्यापार है, वह पारिग्राहिकी क्रिया होती है। (23) ज्ञान-दर्शन आदि में छल-कपट करना माया क्रिया होती है। (24) दूसरे मिथ्यादर्शन क्रिया कारण से आविष्ट की प्रशंसा करके जैसे– तुम अच्छा कर रहे हो –ऐसा कह कर दूसरे को मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया होती है। (25) संयमघाती कर्म के उदय से विषयों का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करना अप्रत्याख्यान क्रिया होती है।

इन पच्चीस क्रियाओं से जीव के कर्मास्त्रव होता है। उपर्युक्त सब प्रकार के आस्त्रवों में (प्रत्येक जीव के आत्मीय परिणामों की) तीव्रता, मन्दता आदि (निमित्त-गत) भिन्नताओं के कारण, आस्त्रवों में भी हीनता या अधिकता हो जाती है। अर्थात् तीव्रता, मन्दता आदि जीव-परिणामों की होती है, उन तीव्रता व मन्दता आदि कारणों से कार्य रूप आस्त्रवों में भी विशेषता या भिन्नता हो जाती है। इसीतरह, संकल्पपूर्वक या

**संकल्पपूर्वकं ज्ञानपूर्वकं वा कर्मास्रवो भवति, तस्मात् प्रमादेन अज्ञानेन वा कृतः कर्मास्रवो विशिष्यते भिद्यते। तथैव आस्रवस्य अधिकरणभूतो जीवः, अजीवो व भवति, तत्सम्बन्धिन्या विशेषतयाऽपि, अर्थात् हिंसादिउपकरणानां तदानींतनबौद्धिकव्यापाराणां च विशेषतया आस्रवस्य भिन्नता सम्भवति। एवमेव आस्रवकर्तुर्जीवस्य शक्तिविशेषतां शारीरिकसंहननादिलक्षणामनुसृत्यापि आस्रवेषु तारतम्यं सम्भवति –इत्यादिकं सर्वार्थसिद्धिटीकायाम्** *(6/6-9)* **प्रतिपादितम्। विस्तरस्तु तत्तच्छास्त्रेभ्यो विज्ञेयः।**

**तथा तत्त्वार्थसूत्रे** *(6/10-27)* **अष्टसु कर्मसु प्रत्येक कर्मण आस्रवहेतोः निरूपणमपि कृतम्। यथा–** *तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः। दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानानि असद्वेद्यस्य। भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य। केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। कषायोदयात् तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य। बह्वारम्भपरिग्रहत्वं*

---

जानकारी में जो कर्मास्रव होता है, उसकी अपेक्षा से जो प्रमाद या अज्ञान में हो जानेवाला कर्मास्रव होता है, वह भिन्नता लिए होता है। इसी तरह, आस्रव के अधिकरण जीव या अजीव द्रव्य होते हैं, उनसे सम्बन्धित विशेषता से भी, अर्थात् हिंसादि-उपकरणों तथा उस समय के बौद्धिक व्यापारों की विशेषता के कारण भी आस्रव की भिन्नता सम्भव होती है। इसीतरह, आस्रवकर्ता जीव के शारीरिक संहनन आदि शक्तिविशेष के अनुरूप भी आस्रवों में तरतमता हो सकती है– इत्यादि कथन सर्वार्थसिद्धि टीका (6/6-9) में किया गया है। विस्तृत ज्ञान तो उन-उन शास्त्रों से प्राप्त किया जा सकता है।

तथा तत्त्वार्थसूत्र (6/10-27) में आठ कर्मों में प्रत्येक कर्म के आस्रव-हेतु का निरूपण भी किया गया है। उदाहरणार्थ– ज्ञान व दर्शन के विषय में प्रदोष (ज्ञानदर्शन-उपदेशक के प्रति ईर्ष्या), निह्नव (ज्ञानादि को छिपाना), मात्सर्य, अन्तराय (विघ्न करना), आसादन (रुकावट पैदा करना, अनादर भाव), उपघात (सच्चे ज्ञान में दोष लगाना) –ये ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव (कराते) हैं। असातावेदनीय कर्म के आस्रव (करानेवाले) हैं– स्वयं में, दूसरे में या दोनों में विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन (रोना-पीटना), वध व परिदेवन (करुण विलाप)। सातावेदनीय कर्म के आस्रव (करानेवाले) हैं– भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान, सराग संयम आदि का योग, क्षान्ति (क्षमा) और शौच (निर्लोभता)। केवली, श्रुत, संघ, धर्म व देव –इनका अवर्णवाद (असत्य दोष लगाना) दर्शनमोहनीय कर्म

*नारकस्यायुषः। माया तैर्यग्योनस्य। अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य। स्वभावमार्दवं च। निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्। सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य। सम्यक्त्वं च। योगवक्रता-विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः। तद्विपरीतं शुभस्य।*

*दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता-शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणम् अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिः मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य। परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य। विघ्नकरणमन्तरायस्य।*

---

का आस्रव (कराता) है। कषाय के उदय से होनेवाला तीव्र आत्मीय परिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव (कराता) है। अत्यधिक आरम्भ (हिंसासम्बन्धी कार्य) एवं अत्यधिक परिग्रह –ये नरकायु के आस्रव (कराते) हैं। मायाचार तिर्यञ्च आयु का आस्रव (कराता) है। अल्प आरम्भ व अल्प परिग्रह मनुष्यायु का आस्रव (करता) है। स्वभाव की मृदुता भी मनुष्यायु का आस्रव (कराता) है। शीलरहित और व्रतरहित होना सभी प्रकार की आयु का आस्रव (कराता) है। सराग संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बाल (अज्ञानपूर्वक) तप –ये देवायु के आस्रव (कराते) हैं। सम्यक्त्व भी देवायु का आस्रव (कराता) है। योगवक्रता (कुटिलता) और विसंवादन (अन्यथा प्रवर्तन कराना) –ये अशुभ नामकर्म के आस्रव (कराते) हैं। उक्त से विपरीत अर्थात् (सरलता) और अविसंवादन –ये शुभनाम कर्म के आस्रव (कराते) हैं।

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील व व्रतों का अतीचाररहित पालन, ज्ञान में सतत उपयोग, सतत संवेग, यथाशक्ति त्याग व तप, साधु-समाधि, वैयावृत्त्यकरण, अरिहन्त-भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओं को नहीं छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचन-वत्सलता –ये तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव (कराते) हैं। परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के विद्यमान गुणों का खण्डन, और अपने अविद्यमान गुणों का उद्भावन –इनसे नीच गोत्र का आस्रव होता है। उक्त का विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, दूसरों के सद्गुणों का उद्भावन और अपने गुणों का आच्छादन एवं नम्रता व अनुत्सेक (निरभिमानता) –इनसे उच्चगोत्र का आस्रव होता है। (दानादि में) विघ्न डालना अन्तराय कर्म का आस्रव कराता है।

**एवं सम्यक् परिज्ञाय अज्ञानपूर्विकाः सर्वाः संसारवर्धकाः क्रियाः सर्वतः परित्याज्याः इति भावः।** *(जं किरिया णाणवसं)* **या च क्रिया ज्ञानवशेन, सम्यग्ज्ञानालोके विहिता भवति, अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानान्विता प्रशस्तरागात्मिका च या काचिदपि क्रिया भवति, सा** *(परंपरया)* **यद्यपि नैव साक्षात्, किन्तु स्वर्गादिसुगतिमाध्यमेन,** *(मोक्खणिमित्तं)* **मोक्षस्य निमित्तभूता साधयित्री भवतीति सारः। अतएव श्रावकाणामप्युचिताचारपालनेन सम्यग्ज्ञानी जीवः स्वर्गादिसुखं प्राप्य क्रमश आत्मशुद्धिं वर्धयन् मोक्षसुखं प्राप्नोति –इति वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-539)* **च समर्थितम्–**

*सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए।*
*भुंजि वि सुरमणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं॥*

**किं च, सरागचारित्रमपि निश्चयचारित्रस्य साधकं भवति, निश्चयचारित्रं च मुक्तेः साक्षात् साधकमिति दृष्ट्या सरागचारित्रस्य परम्परया मुक्तिसाधकत्वं युक्तियुक्तमेव।**

---

इसप्रकार सम्यक्तया जानकर अज्ञानपूर्वक की जानेवाली समस्त संसारवर्धक क्रियाओं का सर्वथा त्याग करना चाहिए –यह भाव है। **( या क्रिया ज्ञानवशा )** जो क्रिया ज्ञान-अधीन –सम्यग्ज्ञान के आलोक में की जानेवाली, अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से युक्त प्रशस्त राग वाली जो कोई भी क्रिया होती है, वह **( परम्परया )** यद्यपि साक्षात् नहीं, अपितु स्वर्गादि-सुख के माध्यम से **( मोक्षनिमित्तं )** मोक्ष की निमित्तभूत या साधक होती है –यह निष्कर्ष है। इसीलिए, श्रावकों के भी उचित आचार का पालनकर सम्यग्ज्ञानी जीव स्वर्गादि-सुख को प्राप्तकर क्रमशः आत्मीय शुद्धि को बढ़ाता हुआ मोक्षसुख को (भी) प्राप्त करता है– ऐसा वसुनन्दिश्रावकाचार (की गाथा-539) में समर्थन किया गया है–

"(उत्तम रीति से श्रावकाचार का पालन करनेवाला) गृहस्थ भी तीसरे भव में सिद्ध होता है, कोई क्रमशः देव व मनुष्यों के सुख को भोग कर पाँचवें, सातवें या आठवें भव में सिद्ध पद को प्राप्त करता है।"

और दूसरी बात, सरागचारित्र भी निश्चयचारित्र का साधक होता है, और निश्चयचारित्र मुक्ति का साक्षात् साधक है– इस दृष्टि से सरागचारित्र परम्परा से मुक्ति का साधक युक्तियुक्त ही ठहरता है।

**इति विज्ञाय भो निर्विकल्पचैतन्यारामविहारिन्! सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधौ कथंचिदसमर्थस्य तव सविकल्पकावस्थायां व्यावहारिकसरागचारित्ररूपा शुभक्रिया उपादेया भवति, तथापि यथाशक्ति विकल्पातीतनिजात्मस्वरूपं भजेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति शुभकर्मास्रवक्रिया (साक्षात्) मोक्षकारणं न भवतीति शास्त्रकारा निर्दिशन्ति–**

**आसवहेदू जीवो, जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं।**
**आसवकिरिया तम्हा, मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो॥ ५८॥**

***छाया–*** *आस्रवहेतोः जीवः, जन्मसमुद्रे निमज्जति क्षिप्रम्।*
*आस्रवक्रिया तस्मात्, मोक्षनिमित्तं न चिन्तनीयम्॥*

**(सर्वोदया टीका–)** *(जीवो)* **अयं संसारी जीवः,** *(आसवहेदू)* **आस्रवहेतोः, आस्रवकारणाद्,** *(जम्मसमुद्दे)* **जन्मसमुद्रे जन्मजरामृत्युरूपे भवसमुद्रे** *(खिप्पं)* **शीघ्रम्** *(णिमज्जदे)* **निमज्जति, निमग्नो भवति, अर्थात् तस्योत्तरणे समर्थो न भवति।**

---

ऐसा जानकर, हे निर्विकल्प चैतन्यरूपी उद्यान में विहार करनेवाले! सहजशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावी परमात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुसरण रूप अभेदरत्नत्रय रूपी परम समाधि में किसी तरह स्थिर होने में असमर्थ तुम्हारे लिए यद्यपि सविकल्प स्थिति में व्यावहारिक सरागचारित्र रूप शुभ क्रिया उपादेय है, तथापि यथाशक्ति विकल्पातीत निज शुद्धात्म-स्वरूप का आश्रय लो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, शुभ क्रिया साक्षात् मोक्ष की कारण नहीं होती –इसका निरूपण शास्त्रकार कर रहे हैं–

(58)

**(गाथा-अर्थ–) आस्रव के कारण जीव जन्म-समुद्र में शीघ्र डूब जाता है। इसलिए आस्रवरूप क्रिया मोक्ष का निमित्त नहीं होती –ऐसा चिन्तन करना चाहिए।**

**(सर्वोदया टीका–) (जीवः)** यह संसारी जीव, **(आस्रवहेतोः)** आस्रव के कारण से, **(जन्मसमुद्रे)** जन्मसमुद्र में, अर्थात् जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु रूप संसार-समुद्र में, **(क्षिप्रं)** शीघ्र, **(निमज्जति)** डूब जाता है, निमग्न हो जाता है, अर्थात् उसे तैरकर पार करने में समर्थ नहीं होता।

**यथा समुद्रे निमज्जनात् सामान्यतो जन उद्विग्नतां तु यात्येव, स्वकीयबहुमूल्यवस्तूनां च रक्षणं कर्तुं न प्रभवति। स्वरक्षार्थमेव स आक्रन्दति, किन्तु न कश्चिच्छरण्यो भवति तस्य कृते। तथैव भवसमुद्रे निमज्जतो जनस्य बोधिरत्नं हस्ताद् भ्रश्यति।**

**पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(1/169)* **भणितम्–**

*संसारार्णवतारकं सुखकरं धर्मं न ये कुर्वते।*
*हस्तप्राप्तमनर्घ्यरत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः॥*

**तस्य बोधिरत्नस्य पुनः प्राप्तिस्तु सुदुर्लभैव। उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(2/189-190)–*

*सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे।*
*हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे॥*

---

जैसे समुद्र में डूबने से सामान्यतया तो व्यक्ति उद्वेग को प्राप्त करता ही है, साथ ही अपनी बहुमूल्य वस्तुओं की रक्षा भी नहीं कर पाता। वह तो अपनी रक्षा की गुहार लगाता रहता है। किन्तु उसे कोई शरणदाता नहीं मिलता। इसीतरह, भवसमुद्र में डूबते हुए प्राणी के हाथ से बोधिरत्न भी छूट जाता है।

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (1/169) में कहा भी है–

"जो भी प्राणी संसार-समुद्र से तारनेवाले धर्म का आचरण नहीं करते, वे दुर्बुद्धि तो हाथ में आये हुए बहुमूल्य रत्न को भी छोड़ देते हैं (वे रत्न उससे छूट जाते हैं)।"

उस बोधिरत्न की तब पुनः प्राप्ति तो सुदुर्लभ ही हो जाती है। ज्ञानार्णव (2/189-190) में कहा गया है–

"जिसप्रकार, हाथ से छूटा हुआ मूल्यवान् रत्न महासमुद्र में सरलता से पुनः नहीं मिलता, उसीप्रकार संसार-समुद्र में छूटे हुए बोधिरत्न (रत्नत्रय) का पुनः प्राप्त होना सरल नहीं होता।"

*सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्याम्, उरगनरसुरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम्।*
*कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्, किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम्॥*

**पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(1/166)* **च वर्णितम्–**

*नष्टं रत्नमिवाम्बुधौ निधिरिव प्रभ्रष्टदृष्टेर्यथा,*
*योगो यूपशलाकयोश्च गतयोः पूर्वापरौ तोयधी।*
*संसारेऽत्र तथा नरत्वमसकृद्दुःखप्रदे दुर्लभं,*
*लब्धे तत्र च जन्म निर्मलकुले तत्रापि धर्मे मतिः॥*

**एवं सुदुर्लभं बोधिरत्नं यावत्कालं स न प्राप्नोति, तावत्कालं संसारे शरणहीन एव दुःखाक्रान्तस्तिष्ठति। उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(2/4)*–

*अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः।*
*भ्रमत्यविरतं जीवः, एकाकी विधिवञ्चितः॥*

---

"इस संसार में सभी वस्तुओं का समूह सुलभ है, यहाँ तक धरणेन्द्र, चक्रवर्ती व सौधर्म इन्द्र द्वारा प्रार्थित आधिपत्य अर्थात् ऐश्वर्यादि, एवं कुल, बल, सौभाग्य, धन, स्त्री आदि भी सुलभ हो सकते हैं, किन्तु बोधिरत्न ही एकमात्र ऐसा है, जो दुर्लभ होता है।"

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (1/166) में भी कहा गया है– "जिसप्रकार दृष्टिहीन व्यक्ति का समुद्र में गिरा हुआ रत्न पुनः मिलना दुर्लभ है, इसी प्रकार यूप (यज्ञ में स्थापित किया जाने वाला स्तम्भ) और शलाका (सलाखें) –इनमें से एक पूर्वी समुद्र में गिरे और दूसरा पश्चिमी समुद्र में गिरे तो उनका पुनः योग दुर्लभ होता है, उसी तरह इस दुःखबहुल संसार में मनुष्य-जन्म का मिलना और मनुष्य जन्म में भी निर्मल वंश में जन्म लेना और वहाँ भी धर्म में रुचि होना तो और भी अधिक दुर्लभ है।"

इसतरह, जब तक दुर्लभ बोधिरत्न को वह प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक संसार में शरणहीन ही रहता हुआ दुःख से व्याकुल रहता है। ज्ञानार्णव (2/4) में भी कहा गया है– "ज्ञानादि रूप नेत्र से रहित होने के कारण, अपने निज स्वरूप से अनभिज्ञ यह प्राणी अपने कर्म (भाग्य) से ठगा हुआ अकेला ही इस संसार में निरन्तर भ्रमण करता रहता है।

*(तम्हा)* **तस्मात् पूर्वोक्तात् 'कर्मास्रवः जन्मसमुद्रे जीवं पातयति' इतिकारणात्,** *(आसवकिरिया)* **आस्रवभूता क्रिया,** *(मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो)* **मोक्षनिमित्तभूता भवति –इति न चिन्तनीयम्। अथवा– मोक्षनिमित्ता न भवति, इति चिन्तनीयम्।**

**अत्रेदं तात्पर्यम्– 'पूर्वस्यां गाथायां सम्यग्ज्ञानपूर्वकं विहिता आस्रवक्रिया परम्परया मोक्षसाधिका भवति' इति प्रतिपादितम्, अस्यां गाथायां तस्या मोक्ष-असाधनत्वं वर्णितं, तस्याभिप्राय एवमवगन्तव्यः– सम्यग्ज्ञानाभावे विहिता कर्मास्रवक्रिया मोक्षकारणं न भवति, अथ च शुभोपयोगरूपा सरागचारित्ररूपा वा आस्रवक्रियाऽपि प्रायो न साक्षात् मोक्षसाधिका। यदि क्वचित् परम्परया मोक्षसाधिका भवत्यपि, सा कस्यचित् सविवेकस्यैव भवति, न सामान्यतः।**

**अतएव समयसारे** *(गाथा-145)* **प्रतिपादितम्–**

*कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।*
*किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥*

---

**( तस्मात् )** इसलिए, पूर्व में जो कहा गया है कि कर्मास्रव जन्म-समुद्र में जीव को गिराता है, उस कारण से **( आस्रवक्रिया )** कर्मों के आस्रव की क्रिया **( मोक्षनिमित्तं न चिन्तनीयम् )** मोक्ष की निमित्त होती है– ऐसा चिन्तन न करें, मानें या समझें। अथवा– मोक्ष की निमित्त नहीं हैं– ऐसा चिन्तन करें।

यहाँ (समस्त कथन का) तात्पर्य यह है– पूर्व गाथा में यह प्रतिपादित किया गया था कि सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई आस्रव क्रिया परम्परा से मोक्ष की साधक होती है, और इस गाथा में उस (आस्रव क्रिया) को मोक्ष की साधक होने का निषेध किया गया है, इसका अभिप्राय इसप्रकार समझें– सम्यग्ज्ञान के अभाव में की गई कर्मास्रव की क्रिया मोक्ष की कारण नहीं होती, और शुभोपयोग रूप या सरागचारित्र रूप आस्रव क्रिया भी प्रायः साक्षात् मोक्ष की सिद्धि नहीं कराती। यदि वह कभी परम्परा से मोक्ष-साधिका होती भी है, तो वह किसी विवेकी व्यक्ति के लिए ही होती है, सामान्यतया नहीं।

इसलिए समयसार (गाथा-145) में प्रतिपादित किया गया है– "अशुभ कर्म कुशील (बुरा) है और शुभ कर्म सुशील (अच्छा) है– ऐसा तुम समझते हो, किन्तु जो कर्म जीव को संसार में ढकेलता है, वह किसप्रकार अच्छा हो सकता है?"

**अतएव चाचार्ययतिवृषभैः पुण्यस्य अनिष्टता प्रतिपादिता तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे** *(9/52)*–

*पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो।*
*मइमोहेण य पावं तम्हा पुण्णो वि वज्जेज्जो॥*

**किं च, परमात्मप्रकाशे** *(2/56-57)* **चेदं समर्थितमपि**–

*वर जिय पावइँ सुंदरइँ णाणिय ताइँ भणंति।*
*जीवहँ दुक्खइँ जणि वि लहु सिवमइ जाइँ कुणंति॥*

*मं पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति।*
*जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति॥*

**अत्रेदमवधेयम्– यद्यपि शुभोपयोगस्य पुण्योपचयपूर्वकः परम्परया मोक्षलाभः फलम्, तथापि कारणवैपरीत्यात् विपरीतफलमपि भवति। यथा– मिथ्यादृष्टेस्तु तस्य पुण्यस्य पापानुबन्धितया कुगतिकारणम्, सम्यग्दृष्टेस्तु पुण्यानुबन्धितया तथा च प्रोक्तव्यवहारधर्मस्य निश्चयधर्माभिमुखतया**

---

इसी दृष्टि से आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (9/52) में यह प्रतिपादित किया है–

"पुण्य से वैभव होता है, वैभव से मद, मद से मति-मोह, और मति-मोह से पाप होता है, इसलिए पुण्य भी वर्जनीय है।"

और, परमात्मप्रकाश (2/56-57) में इसी का समर्थन किया गया है–

"हे जीव! जो पाप का उदय जीव को दुःख पहुँचाकर शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपायों में बुद्धि पैदा कर दे, तो वह पाप भी बहुत अच्छा है।"

"और वे पुण्य भी अच्छे नहीं हैं जो जीव को राज्य देकर शीघ्र ही नरकादि दुःख को पैदा कर दें।"

यहाँ यह ध्यान देने की बात है– यद्यपि शुभोपयोग पुण्य-संचय कराते हुए परम्परा से मोक्ष-प्राप्ति रूप फल देता है, फिर भी कारण की विपरीतता से कार्य की विपरीतता भी फलित होती है। जैसे– मिथ्यादृष्टि का पुण्य तो पापानुबन्धी होने से कुगति का कारण होता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि का पुण्य पुण्यानुबन्धी होता हुआ, तथा पूर्वोक्त व्यवहार धर्म के निश्चय की ओर झुके होने के कारण परम्परा से निर्जरा व मोक्ष का

**परम्परया निर्जराया मोक्षस्य च कारणं भवति। समर्थितं चैतत् प्रवचनसारे तथा तस्य** *(3/55)* **तत्त्वप्रदीपिकायां तात्पर्यवृत्तौ च।**

**तदेव विशदीकृतं परमात्मप्रकाशस्य** *(2/60)* **टीकायाम्**– *"इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिरूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपाण्डवादि-पुण्यबन्धवत्...मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गताः।"* **एवं सिद्ध्यति यद् काचिदपि आस्रवक्रिया मोक्षहेतुर्न भवति, सम्यक्त्वपूर्विकया शुभक्रियया परम्परया मोक्षः प्राप्यते, अशुभकर्मास्रवक्रिया तु कथंचिदपि, न च साक्षात्, न च परम्परया मोक्षस्य हेतुः, अपितु संसारवर्द्धिकैव।**

**इत्थं विज्ञाय, भो ज्ञानिन्! शुभाशुभसमस्तरागद्वेषविनाशाय समस्तरागाद्युपाधिरहित-सहजानन्दैकलक्षणसुखामृत-स्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना विधेया, चिन्तनं मननं च विधत्स्व – इति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

भी कारण होता है। इसी तथ्य का समर्थन प्रवचनसार (3/55) तथा उसकी तत्त्वप्रदीपिका व तात्पर्यवृत्ति टीकाओं में किया गया है।

इसी को परमात्मप्रकाश (2/60) टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है– "भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित तथा दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगों की आकांक्षा रूप निदान बन्ध से सहित होने के कारण ही, जीवों के द्वारा पूर्व भव में उपार्जित वह पूर्वोक्त पुण्य व्यक्ति में मद व अहंकार को उत्पन्न करता है तथा बुद्धि को भ्रष्ट करता है, परन्तु सम्यक्त्व आदि गुणों सहित पुण्य ऐसा नहीं करता। जैसे कि भरत, सगर, राम व पाण्डव आदि का पुण्य, जिसे प्राप्त करके भी वे मद और अहंकार आदि विकल्पों का त्याग करते हुए मोक्ष को प्राप्त हो गये।" इसतरह यह सिद्ध हो जाता है कि कोई भी आस्रवक्रिया मोक्ष की हेतु नहीं होती। हां, सम्यक्त्वपूर्वक की गई आस्रव क्रिया से परम्परया मोक्ष प्राप्त होता है। अशुभ कर्मास्रव क्रिया तो किसी तरह भी, न तो साक्षात् ही, और न ही परम्परा से मोक्ष की हेतु होती है, अपितु वह तो संसार को बढ़ानेवाली ही होती है।

इसतरह जानकर, हे ज्ञानी! शुभ व अशुभ समस्त राग-द्वेष को नष्ट करने हेतु समस्त रागादि उपाधियों से रहित तथा सहजानन्द रूप एकमात्र लक्षण वाले सुखामृत स्वभावी निज आत्मद्रव्य में भावना भाएँ, चिन्तन-मनन करें –यह गाथा का तात्पर्य है।

**सम्प्रति शास्त्रकाराः निश्चयनयेन आस्त्रवक्रियायाः परम्परयाऽपि मोक्षकारणत्वं नेति आवेदयन्ति–**

**पारंपज्जाएण दु, आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं।**
**संसारगमणकारणमिदि, णिंदं आसवं जाण ॥५९॥**

***छाया–*** *पारम्पर्येण तु आस्त्रवक्रियया नास्ति निर्वाणम्।*
*संसारगमनकारणम् –इति निन्द्यम् आस्त्रवं जानीहि॥*

**( सर्वोदया टीका– ) अग्रिमायां गाथायां जीवस्य निश्चयनये कर्मास्त्रव एव न भवतीति शास्त्रकाराः प्रतिपादयिष्यन्ति। तद्दृष्ट्या आस्त्रवस्यैवाभावात् तस्य निर्वाणहेतुत्वं कथंचिदपि न संगच्छते। यद्वा मिथ्यादृष्टिमधिकृत्य गाथायामस्यां निरूपणं विधीयते–** *(आसवकिरियाए)* **आस्त्रवक्रियया,** *(पारंपज्जाएण दु)* **पारम्पर्येणापि** *(णिव्वाणं णत्थि)* **निर्वाणं न भवति। कथं मिथ्यादृष्टीनामेव कृते एषा मोक्षहेतुर्नेति प्रतिपाद्यते? समाधानमुच्यते– सम्यग्दृष्टेर्यदि निदानरहितः पुण्यास्त्रवो भवति, स तु संसारकारणं न भवति, अपितु मोक्षस्येति शास्त्रेषु प्रतिपादितं दृश्यते।**

अब, निश्चयनय से आस्त्रव क्रिया परम्परया भी मोक्ष की कारण नहीं होती –इसे शास्त्रकार बता रहे हैं –

**( 59 )**

**( गाथा-अर्थ– ) ( निश्चयनय से ) परम्परा से भी आस्त्रव क्रिया से निर्वाण नहीं होता। ( वह तो ) संसार-गमन ( भ्रमण ) का कारण है– इसलिए आस्त्रव को निन्दनीय जानो।**

**( सर्वोदया टीका– )** आगे की गाथा में जीव को निश्चयनय से कर्मों का आस्त्रव नहीं होता – ऐसा शास्त्रकार प्रतिपादित करेंगे। इस दृष्टि से आस्त्रव के ही अभाव होने से उसका निर्वाण में हेतु होना किसी प्रकार से भी संगत नहीं होता। अथवा, मिथ्यादृष्टि जीव को लक्ष्य करके (शास्त्रकार) इस गाथा में निरूपण किया जा रहा है। **( आस्त्रवक्रियया )** आश्रव-क्रिया से **( पारम्पर्येण तु )** परम्परा से भी **( निर्वाणं नास्ति )** निर्वाण या मोक्ष (प्राप्त) नहीं होता। (शंका-) मिथ्यादृष्टियों के लिए ही आस्त्रव क्रिया मोक्ष-हेतु नहीं होती –ऐसा क्यों कहते हैं? इस शंका का समाधान इस प्रकार है– सम्यग्दृष्टि का यदि निदानरहित पुण्यास्त्रव हो तो वह संसार-कारण नहीं होता, अपितु मोक्ष का कारण होता है –ऐसा शास्त्रों में प्रतिपादित किया हुआ दृष्टिगोचर होता है।

**यथा आचार्यदेवसेनैः भावसंग्रहे** *(गाथा-404)* **स्पष्टं निर्दिष्टं वर्तते–**

*सम्मादिट्ठी पुण्णं, ण होइ संसारकारणं णियमा।*
*मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई॥*

**प्रोक्तकथनात् सिद्ध्यति यत् मिथ्यादृष्टीनां पुण्यं संसारकारणमेव। उक्तप्रकरणे न सर्वेषां सम्यग्दृष्टीनां ग्रहणम्, अपितु निश्चयचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यग्दृष्टयो ग्राह्याः, न च सरागा अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतयः। यतो हि वीतरागसम्यग्दृष्टीनामेव पुण्यास्त्रवो मोक्षकारणं सम्भवति। के वीतरागसम्यग्दृष्टयः? उच्यते– मिथ्यात्वादिसप्तकर्मप्रकृतीनामुपशमेन क्षयोपशमेन वा सराग-सम्यग्दृष्टिर्यो भवति, स पञ्चपरमेष्ठिप्रभृतिभक्तिभावं करोति। स एव क्रमेण व्यवहारचारित्राद् निश्चयचारित्रानुष्ठाने प्रयतते, तथा निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दर्शनसम्पन्नो भवति, स त्रिगुप्तिप्रभृतिसम्पन्नः श्रमण एव सम्भवति, एवम्भूतस्य तस्य वीतरागसम्यग्दृष्टेः शुभाशुभकर्म-कर्तृत्वत्यागः –इति समयसारे** *(गाथा-97)* **तथा तद्व्याख्यायां च संकेतितम्।**

---

उदाहरणार्थ, आचार्य देवसेन ने अपने भावसंग्रह (गाथा-404) ग्रन्थ में स्पष्ट निर्देश किया है– "सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियमतः संसार का कारण नहीं होता, अपितु मोक्ष का हेतु होता है, बशर्ते वह निदान (भावी भोग रूप फल की आकांक्षा) नहीं करे।"

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यादृष्टि जीवों का पुण्य संसार का ही कारण है। उक्त प्रसङ्ग में सभी सम्यग्दृष्टियों का ग्रहण नहीं करना है, अपितु निश्चयचारित्र से अविनाभूत वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण करना चाहिए, न कि अविरत सराग सम्यग्दृष्टि आदि का, क्योंकि वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही पुण्यास्त्रव मोक्ष का कारण हो सकता है। वीतराग सम्यग्दृष्टि कौन होते हैं? बता रहे हैं– मिथ्यात्व आदि सातों कर्म-प्रकृतियों का उपशम या क्षयोपशम होने से जो सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे पाँच परमेष्ठी आदि के प्रति भक्ति-भाव रखते हैं। वे ही क्रमशः व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र में उद्यत होते हैं और निश्चयचारित्र से अनिवार्यतः जुड़े हुए रहनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होते हैं, ऐसे वे त्रिगुप्ति आदि से सम्पन्न श्रमण ही हो सकते हैं, ऐसे उस वीतराग सम्यग्दृष्टि द्वारा ही शुभ-अशुभ कर्मों के कर्तृत्व का त्याग होता है –ऐसा समयसार (गाथा-97) तथा उसकी व्याख्या में सङ्केत किया गया है।

**अत एवोक्तं समयसारस्य** *(गा. 154)* **तात्पर्यवृत्तौ–** *"वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मोपादेयभावनां विना व्रततपश्चरणादिकं पुण्यकारणमेव भवति, तद्भावनासहितं पुनर्बहिरंगसाधकत्वेन परम्परया मुक्तिकारणं चेति"।*

**प्रोक्तसम्यग्दृष्टिस्वरूपं मनसि कृत्वैव मोक्षप्राभृतग्रन्थे** *(गाथा-14)* **भणितमास्ते–**

*सद्दव्वरओ समणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।*
*सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि॥*

**एवं निष्कर्षतः सिद्ध्यति यत् साक्षात्तु कर्मास्त्रवः संसारकारणमेव। तदेव वक्ति–** *(संसारगमणकारणं)* **संसारभ्रमणस्य हेतुभूतः कर्मास्त्रवः, इत्यस्मात् कारणात्,** *(आसवं णिंदं जाण)* **कर्मास्त्रवं शुभमशुभं वा समस्तं निश्चयनयेन निन्द्यं गर्हणीयं तिरस्करणीयं वा जानीहि।**

---

इसी दृष्टि से समयसार (की गाथा-154) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है- "वीतराग सम्यक्त्व रूपी शुद्धात्मा सम्बन्धी उपादेय भावना के बिना व्रत, तपश्चर्या आदि पुण्य के कारण ही होते हैं, किन्तु उक्त भावना के साथ बहिरङ्ग साधक के रूप में (किये गये ये व्रत आदि) परम्परा से मुक्ति के कारण होते हैं।"

पूर्वोक्त सम्यग्दृष्टि के इसी स्वरूप को मन में रखकर मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-14) में कहा गया है –

"स्व (आत्म-) द्रव्य में रत साधु नियमतः सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्व रूप परिणत होता हुआ दुष्ट आठों कर्मों को नष्ट करता है।"

इसप्रकार निष्कर्ष रूप में यह सिद्ध हुआ कि साक्षात् तो कर्मास्त्रव संसार का ही कारण है। इसी तथ्य को कह रहे हैं- **(संसारगमनकारणम्)** संसार-भ्रमण का हेतु चूँकि कर्मास्त्रव है, इसलिए **(आस्त्रवं निन्द्यं जानीहि)** शुभ या अशुभ, सभी कर्मास्त्रवों को निश्चयनय से निन्दनीय, गर्हायोग्य या तिरस्कारयोग्य जानो-समझो।

**एवं ज्ञानिन्! पुण्यफलेष्वपि निजेष्टबुद्धिं परित्यज, तथा शुद्धात्मोपादेयभावनामाश्रित्य वीतरागसम्यग्दर्शनेन सम्पन्नो भूत्वा समस्तशुभाशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्च, तदैव संसारपरिभ्रमणान्मुक्तिरिति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति शुद्धनिश्चयनयेन आत्मा कर्मास्रवरहित एवेति शास्त्रकारा बोधयन्ति–**

**पुव्वुत्तासवभेदा, णिच्छयणयेण णत्थि जीवस्स।**
**उहयासवणिम्मुक्कं, अप्पाणं चिंतए णिच्चं॥६०॥**

***छाया–*** *पूर्वोक्तास्रवभेदाः निश्चयनयेन न सन्ति जीवस्य।*
*उभयास्रवनिर्मुक्तम् आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम्॥*

**( सर्वोदया टीका– ) पूर्वं** *'मिच्छत्तं अविरमणं'* **इत्यादिगाथायां मिथ्यात्वादीनां चतुर्णां कर्मास्रवत्वं ( कर्मास्रवहेतुत्वं ) निर्दिष्टम्, ततश्च तेषां स्वरूपादिपरिचयो दत्तः। समस्तकर्मास्रवाः संसारहेतवः इति निर्दिष्टम्। एतत्प्रतिपादनं व्यवहारदृशैव। तर्हि निश्चयनयेन, किं प्रतिपादितम्?**

---

इसप्रकार हे ज्ञानी! पुण्य-फल में भी अपनी इष्ट बुद्धि का त्याग करो, और शुद्धात्मा को ही उपादेय मानने की भावना का आश्रयण करो, वीतराग सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होकर समस्त शुभ-अशुभ कर्मों के कर्तापन को छोड़ो, तभी संसार-भ्रमण से मुक्ति होगी –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, शुद्ध निश्चयनय से आत्मा कर्मास्रवों से रहित ही है –ऐसा शास्त्रकार समझा रहे हैं–

( 60 )

**( गाथा-अर्थ– ) पहले जो आस्रव के भेद कहे गये हैं, वे निश्चयनय की अपेक्षा से जीव ( आत्मा ) के नहीं होते। अतः आत्मा को दोनों प्रकार के ( पुण्य व पाप ) आस्रव से मुक्त रूप में नित्य विचारना चाहिए।**

**( सर्वोदया टीका– )** पहले 'मिच्छत्तं अविरमणं' इत्यादि (47वीं) गाथा में मिथ्यात्व आदि चार कर्मास्रवों का निर्देश किया गया, उसके बाद, उनके स्वरूप आदि का परिचय दिया गया। समस्त कर्मास्रव संसार के हेतु हैं– ऐसा बताया गया। यह प्रतिपादन व्यवहारनय दृष्टि से ही है। तो फिर निश्चयनय से क्या प्रतिपादित किया जाता है?

**तदेव उच्यते–** *(णिच्छयणयेण पुव्वुत्तासवभेया)* **निश्चयनयेन तु पूर्वोक्ताः मिथ्यात्वप्रभृतिप्रकाराः, तद्भेदाश्च शुभाशुभरूपाः ये केचिदपि सन्ति, ते सर्वे** *(जीवस्स णत्थि)* **जीवस्य न सन्त्येव।**

**अत्रायं विस्तरः– कस्यचिद् वस्तुनः पदार्थस्य वा सम्यग्ज्ञानं प्रमाणेन नयेन निक्षेपेन च भवति। तत्र नयस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। जिनवाण्यां जिनप्रवचने वा नयदृष्टिः सर्वत्र विचारणीया भवति, अन्यथा सम्यक् वस्तुस्वरूपस्याधिगमो न भवति।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड–1, भाग–1, सू. 1, गाथा–10)* **उद्धृते पद्ये:–**

*प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थं नाभिसमीक्ष्यते।*
*युक्तं चायुक्तवत् भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्॥*

**अन्यच्च, तत्रैव** *(पु. 1, खण्ड–1, भाग–1, सू. 1, गाथा–68–69)* **समुल्लिखितम्–**

*णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि।*
*तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति॥*

---

यही आगे बता रहे हैं– **( निश्चयनयेन )** निश्चयनय से तो, **( पूर्वोक्तास्त्रवभेदाः )** पहले कहे गये मिथ्यात्व आदि भेद, उनके भी शुभाशुभ रूप जो कुछ भी भेद हैं, वे सभी **( जीवस्य न सन्ति )** जीव के होते ही नहीं हैं।

इसे विस्तार से इस प्रकार समझें– किसी भी वस्तु या पदार्थ का सम्यग्ज्ञान प्रमाण, नय व निक्षेप से होता है। इनमें नय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिनवाणी में या जिन-प्रवचन (आगम) में सर्वत्र नय-दृष्टि का विचार करना अपेक्षित होता है, अन्यथा वस्तु-स्वरूप का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता।

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड–1, भाग–1, सू. 1, गाथा–10) में उद्धृत पद्य में कहा गया है– ''जिस पदार्थ का प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा, नयों के द्वारा व निक्षेपों द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से विचार नहीं किया जाय, तो वह पदार्थ युक्तिसंगत होते हुए भी अयुक्तिसंगत, और कभी अयुक्तिसंगत होते हुए भी युक्तिसंगत जैसा प्रतीत होता है।''

और भी, वहीं (पु. 1, खण्ड–1, भाग–1, सू. 1, गाथा– 68–69) यह भी उल्लिखित है– ''जिनेन्द्र भगवान् के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता हैं।''

*तम्हा अहिगय सुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जइयव्वं।*
*अत्थ गई वि य णयवादगहणलीणा दुरहियम्मा॥*

**नीयते गम्यते अवबुद्ध्यते पदार्थो येनेति नयः। अथवा– नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयं, येन स नयः। यद्वा नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति, प्रापयति वेति नयः। अथवा– ज्ञातुरभिप्रायो नयः। नयमाध्यमेन अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः स्वाभिप्रेत-धर्म-विशेषरूप-एकदेशग्रहणं भवति, तन्माध्यमेन च पदार्थः प्रतीति-विषयो भवति। अतो युक्तमुच्यते–** *'वस्त्वेकदेशपरीक्षा नयलक्षणम्'* **अथवा–** *'प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः'* **इति।**

**उक्तं च श्लोकवार्तिके** *(1/6)– 'स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः'* **इति।**

**अत्रेदं ज्ञातव्यम्– अनेकान्तात्मकवस्तुनो धर्मविशेषग्रहणेऽपि धर्मान्तर-अप्रतिषेधक एव नयो भवति, अन्यथा तस्य दुर्नयत्वापत्तेः।**

---

"अतः जिसमें सूत्र अर्थात् परमागम को भलीप्रकार जान लिया है, उसे ही अर्थ-सम्पादन में अर्थात् नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थ का परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पदार्थों का परिज्ञान भी नयवाद रूपी गहन (यानी जंगल) में अन्तर्निहित है, अतएव दुरधिगम्य है।"

जिसके द्वारा पदार्थ (ज्ञान में) लाया जाता है, जाना जाता है, समझा जाता है, वह नय होता है। अथवा– जिसके द्वारा एकदेशविशिष्ट पदार्थ को प्राप्त कराया जाता है, प्रतीति का विषय बनाया जाता है, वह नय है। अथवा– नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को जो एक स्वभाव में प्राप्त कराये, उसे नय कहते हैं। अथवा– ज्ञाता का अभिप्राय नय है। नय के माध्यम से अनन्तधर्मात्मक वस्तु के अपने अभिप्रेत विशेष धर्म रूप एकदेश (अंश) का ग्रहण होता है, जिसके माध्यम से पदार्थ प्रतीति का विषय होता है। इसीलिए यह ठीक ही कहा गया है– वस्तु के एकदेश अंश की परीक्षा नय का लक्षण है। अथवा– प्रमाण से निश्चित किये हुए पदार्थ के एक (अंश) के ज्ञान करने को नय कहते हैं।

श्लोकवार्तिक (1/6) में कहा भी गया है– "अपने को और पदार्थ को एकदेश रूप से जानना, निर्णय करना नय कहा जाता है।"

यहाँ यह जानना चाहिए कि अनेकान्तात्मक वस्तु के विशेष धर्म का ग्रहण करते हुए भी नय अन्य धर्मों का प्रतिषेध नहीं करता है, अन्यथा वह (नय) दुर्नय हो जाएगा।

**उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-264)*–

*णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं ति वुच्चदे अत्थं।*
*तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं॥*

**तथा धवलाग्रन्थे** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 45 टीका, पृ. 182)– "एत एव दुरवधीरता मिथ्यादृष्टय: प्रतिपक्षनिराकरणमुखेन प्रवृत्तत्वात्।"* **इति**

**समर्थितं चैतत् सिद्धिविनिश्चये** *(10)*–

*सापेक्षा नया: सिद्धा: दुर्नया अपि लोकत:।*
*स्याद्वादिनां व्यवहारात्, कुक्कुटग्रामवासितम्॥*

**कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-266)*–

---

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-264) में कहा भी गया है–

"नाना धर्मों से युक्त भी पदार्थ के एक धर्म को ही नय कहता है, क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा होती है, शेष धर्मों की विवक्षा नहीं होती।"

तथा धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 45 टीका, पृ. 182) में भी कहा गया है– "वे (नय) ही जब दुराग्रहपूर्वक वस्तु-स्वरूप का अवधारण करनेवाले होते हैं, तब मिथ्या नय कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रतिपक्ष का निराकरण करने की मुख्यता से प्रवृत्त होते हैं।"

सिद्धिविनिश्चय (श्लोक-10) में इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है–

"लोक में प्रयोग किये जानेवाले जो दुर्नय हैं, वे भी स्याद्वादियों के यहाँ सापेक्ष हो जाने से सुनय बन जाते हैं। यह बात व्यवहार से सिद्ध है, जैसे किसी एक घर में अनेक गृहस्थ परिवार परस्पर मैत्री से रहते हैं।"

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-266) में भी कहा गया है–

*ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया हुंति।*
*सयलववहारसिद्धी सुणयादो होदि णियमेण॥*

**अत्र प्रमाणनययोर्भेदोऽपि ज्ञातव्यः– प्रमाणं सामस्त्येन वस्तुग्राहकं भवति, किन्तु नयस्तु तदेकदेशग्राहकः। प्रमाणं तु अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयं, नयस्तु नियतैकधर्मवद्वस्तुविषयो भवति। अत एव प्रमाणं सकलादेशि, नयस्तु विकलादेशी –इत्यपि निरूप्यते।**

**तस्य नयस्य मूलतो द्वौ भेदौ –द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्य– इत्यसौ द्रव्यार्थिकः। अयं द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतया विषयीकरोति, पर्यायास्तु गौणतयैव, अर्थात् वस्तुविशेषरूप-अविनाभूतसामान्यरूपं विषयीकरोति। पर्यायार्थिकस्तु पर्यायं मुख्यतया-नुभवति, द्रव्यं तु गौणतया। एतयोर्द्वयोर्नययोरेव सप्तभेदाः– ( द्रव्यार्थिकस्य- ), नैगमनयः, संग्रहनयः, व्यवहारनयः, तथा ( पर्यायार्थिकस्य ) ऋजुसूत्रनयः, शब्दनयः, समभिरूढनयः, एवम्भूतनयश्च। विस्तरभयादेषां स्वरूपादिकं नैव वितन्यतेऽत्र।**

---

"ये नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं। किन्तु सुनय से (ही) नियम से समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है।"

यहाँ प्रमाण व नय के भेद को भी समझना चाहिए। प्रमाण वस्तु को समग्र रूप में ग्रहण करता है, किन्तु नय उस वस्तु के एकदेश (यानी) धर्मविशेष को ग्रहण करता है। प्रमाण तो अनियत अनेक धर्मों वाले वस्तु को विषय करता है, किन्तु नय नियत एक धर्म वाले वस्तु को विषय करता है। इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी और नय को विकलादेशी कहा जाता है।

उस नय के मूलतः दो भेद हैं– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जिसका प्रयोजन (ग्राह्य) द्रव्य व पदार्थ हो, वह द्रव्यार्थिक नय है। यह नय द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में द्रव्य (सामान्य स्वरूप) को मुख्य रूप से अपना विषय बनाता है, पर्यायों को वह गौण रूप से ग्रहण करता है, अर्थात् वस्तु के विशेष रूपों (पर्यायों) से अविनाभावी रूप से जुड़े सामान्य रूप को विषय करता है। किन्तु पर्यायार्थिक नय पर्याय को मुख्य रूप से अनुभव करता है, और द्रव्य रूप को गौण रूप से। इन दोनों नयों के कुल सात भेद होते हैं– (द्रव्यार्थिक नय के) नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, तथा (पर्यायार्थिक नय के) ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय व एवम्भूतनय। विस्तार-भय से इन सब के स्वरूप (व उदाहरण) आदि का विस्तार यहाँ नहीं किया जा रहा है।

**नयस्य प्रकारान्तरेण द्वौ भेदौ– निश्चयनयः, व्यवहारनयश्च। एतौ प्रमुखतया अध्यात्म-तत्त्वचर्चायामुपयोगितां वहतः। उक्तं च आलापपद्धतौ** *(गाथा-4, सू.-40)–*

*णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।*
*णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह॥*

**अस्मिन्नध्यात्मप्रकरणे तयोः प्रासंगिकतां मनसिकृत्य ग्रन्थकारेण निश्चयनयेन जीव-कर्मास्त्रवयोः सम्बन्धविषये विचारः प्रकटितः। अत्र पूर्वं व्यवहारनिश्चयनययोः स्वरूपं विज्ञाप्यते। अभेदात्मके वस्तुनि गुणपर्याय-भेदोपचारं प्रयोजयति, स व्यवहारनयः। अर्थात् गुणगुणिनोः सद्रूपेणाभेदेऽपि यो भेदं करोति, स व्यवहारनयः। अथवा– प्रमाणनयनिक्षेपात्मकं वस्तु भेदोपचाराभ्यां व्यवहरति, स व्यवहारः। अतोऽन्यद्रव्यस्य ये गुणाः, तेषामेकस्मिन् द्रव्ये (असद्भूतानामपि) उपचारतः स्वीकरणमपि व्यवहारनयः। एवं परस्परं भिन्नानामपि द्रव्याणां परस्परसम्बन्धमपि (कर्मकर्तृत्व-प्रभृतिभावात्मकं) स्वीकरोति व्यवहारनयः। अस्य सद्भूत-**

---

नय के अन्य प्रकार से भी दो भेद माने गये हैं। वे हैं– निश्चयनय और व्यवहारनय। ये दोनों नय प्रमुख रूप से आध्यात्मिक तत्त्व-चर्चा में उपयोगी होते हैं। आलापपद्धति (गाथा-4, सू. 40) में कहा गया है –

"सभी नयों के मूल भेद हैं– निश्चयनय व व्यवहारनय। इनमें निश्चयनय का हेतु द्रव्यार्थिकनय है और निश्चयनय का साधन, व्यवहार नय है और उसका हेतु है– पर्यायार्थिकनय।"

इस अध्यात्म-प्रकरण में इन (दोनों नयों) की प्रमुखता को दृष्टि में रखकर ग्रन्थकार (आचार्य) निश्चयनय से जीव व कर्मास्त्रव –इन दोनों के सम्बन्ध के विषय में विचार प्रकट कर रहे हैं। यहाँ पहले व्यवहार व निश्चय –इन दोनों नयों का स्वरूप बता रहे हैं। अभेदात्मक वस्तु में गुण व पर्याय सम्बन्धी भेद का जो उपचार करता है, वह व्यवहारनय है। अर्थात् गुण व गुणी में, सद्रूप से अभेद होने पर भी जो नय भेद करता है, वह व्यवहारनय है। अथवा– प्रमाण, नय व निक्षेपात्मक वस्तु को जो भेद द्वारा या उपचार द्वारा भेद (या अभेद रूप) करता है, वह व्यवहार नय है। इसलिए अन्य द्रव्य के जो गुण हैं, उन (असद्भूत) गुणों को किसी एक द्रव्य में उपचार से स्वीकार करना –यह भी (असद्भूत) व्यवहारनय है। इसप्रकार परस्पर भिन्न द्रव्यों में भी परस्पर (कर्म-कर्तृत्व आदि भावों का) सम्बन्ध जो स्वीकार करता है,

**असद्भूत-उपचरित-अनुपचरितभेदैः सह शास्त्रेषु विस्तरेण निरूपणं कृतमस्ति, विस्तार-भयान्नोल्लिख्यते।**

**निश्चयनयो हि शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकः, आत्माश्रितः, परनिमित्तकान् भावान् द्रव्यस्य न स्वीकरोति। निश्चयनयोऽभेदविषयः, यद्वा अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयनयः इत्यपि स्वीक्रियते। तस्य द्वौ भेदौ– शुद्धनिश्चयनयः, अशुद्धनिश्चयनयश्च। तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयः। सोपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकस्तु अशुद्धनिश्चयनयः। यथा अशुद्धनिश्चयेन आत्मा रागादीनां कर्ता भवति। ( न तु द्रव्यकर्मणां कर्ता )। शुद्धनिश्चयेन तु केवलज्ञानादिमयो हि जीवः इति निश्चीयते। शुद्धनिश्चयनयानुसारं जीवस्य रागादयः, बन्धः, मोक्षश्च न भवन्ति।**

**उक्तं च बृहद्-नयचक्रे** *(गाथा-114)*–

*सुद्धो जीवसहावो जो रहिओ दव्वभावकम्मेहिं।*
*सो सुद्धणिच्छयादो समासिओ सुद्धणाणीहिं॥*

---

वह व्यवहारनय है। इस नय के सद्भूत-असद्भूत –(और इन दोनों के भी) उपचरित-अनुपचरित भेदों का शास्त्रों में निरूपण विस्तार से किया गया है, उसे विस्तार के भय से नहीं लिख रहे हैं।

निश्चयनय शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला 'आत्माश्रित' कहा गया है, और यह परनिमित्त से होनेवाले भावों को द्रव्य में स्वीकार नहीं करता। निश्चयनय का विषय अभेद द्रव्य होता है, अथवा इस नय में कर्ता, कर्म आदि भाव एक दूसरे से भिन्न नहीं होते –यह भी माना जाता है। इस निश्चय नय के दो भेद हैं– शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय। वहाँ उपाधिरहित गुण व गुणी में अभेदात्मक विषय करने वाला शुद्ध निश्चयनय है। इनमें सोपाधिक (कर्मोपाधि से उत्पन्न) गुण व गुणी में अभेद दर्शानेवाला अशुद्ध निश्चय होता है, जैसे अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा राग आदि का कर्ता है (किन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं होता)। किन्तु शुद्ध निश्चयनय से केवलज्ञान आदि रूप ही जीव है –यह निश्चित किया जाता है। शुद्धनिश्चय के अनुसार राग आदि बन्ध व मोक्ष –ये जीव के नहीं होते।

इसी दृष्टि से बृहद्नयचक्र (गाथा-114) में कहा गया है– "शुद्ध निश्चयनय से जो जीव-स्वभाव द्रव्यकर्मों से तथा भावकर्मों से रहित कहा गया है, वह शुद्धज्ञानियों द्वारा शुद्ध निश्चयनय से संक्षेप में कहा गया है।"

**एतच्छुद्धनिश्चयमतानुरूपमेवास्यां गाथायां जीवस्य आस्रवाभावो निरूपितः इति विज्ञेयम्। व्यवहारनिश्चयनययोः क आश्रयणीयः इति विषये शास्त्रकारैः प्रोक्तं यत् परमार्थप्रतिपादकत्वात् निश्चयनयः पूज्यतमः।**

**वस्तुतस्तु उभौ नयौ सम्यग्ज्ञानायोपयोगिनौ। भूमिकानुसारेण कस्यचिदेकस्योपादेयता अनुपादेयता वा भवति। परमार्थतस्तु आत्मद्रव्यमुभयनयातीतं निर्विकल्पं वर्तते।**

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा-142-143)*–

*कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं।*
*णयपक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥*

*दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो।*
*ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥*

---

इसी शुद्ध निश्चयनय के स्वीकृत सिद्धान्त के अनुरूप ही इस गाथा में जीव के आस्रव-अभाव निरूपित है –ऐसा जानें। व्यवहार व निश्चय नय में किसका आश्रयण करना चाहिए –इस विषय में शास्त्रकारों ने कहा है कि निश्चयनय परमार्थ का प्रतिपादक होने से पूज्यतम है।

वस्तुतः तो ये दोनों नय सम्यग्ज्ञान में उपयोगी हैं। हाँ, भूमिका के अनुसार किसी एक नय की उपादेयता या अनुपयोगिता मानी जाती है। परमार्थ दृष्टि से आत्म-द्रव्य दोनों नयों से अतीत व निर्विकल्प है।

इसीलिए समयसार (गाथा-142-143) में कहा गया है–

''जीवों में कर्म-बन्ध है या अबन्ध –इन (विकल्पों) को नयपक्ष जानें। किन्तु जो समयसार है, वह तो नय-पक्षों से अतिक्रान्त (ऊपर) है।''

''(ज्ञानी आत्मा) दोनों ही नयों के कथनों को मात्र जानता है और आत्मा (समय) का अनुभव करता हुआ समस्त नयपक्षों के विकल्पों से रहित होकर किसी भी नयपक्ष को किंचिन्मात्र भी ग्रहण नहीं करता।''

**एवं कर्मास्रवक्रिया संसारहेतुः, संसारमूलं हि जन्ममरणादि दुःखम्, इतिदुःखहेतुत्वात् सर्वा आस्रवक्रियाः परिवर्जनीया विज्ञेयाः –इत्यास्रवानुप्रेक्षाधिकारस्य सारः। एतामनुप्रेक्षां भावयन्साधकः आस्रवदोषानुचिन्तनं सातत्येन करोति। यथा– इन्द्रियविषयाकृष्टमनसां विविधदुःखानि उत्पद्यन्ते। कषायैश्च नानासंकटानि प्रादुर्भवन्ति। मिथ्यात्वमपि नानादुर्गतिषु जीवं पातयत्येव। एवं चिन्तनेन उत्तमक्षमादिधर्मेषु श्रेयस्करत्वबुद्धिर्न हीयते –इति राजवार्तिके** *(9/7/7)* **विशदीकृतम्।**

**आस्रवानुप्रेक्षां भावयतोऽपि यदि आस्रवक्रिया अनुष्ठीयन्ते, तर्हि अनुप्रेक्षणं निरर्थकमेव। इयमेव सार्थकता आस्रवानुप्रेक्षाया यत् कर्मास्रवहेतवो यावन्तः, तावतां परिवर्जनं क्रियते।**

**उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-93-94)*–

*एवं जाणंतो वि हु परिचयणीए वि जो ण परिहरइ।*
*तस्सासवाणुवेक्खा सव्वा वि णिरत्थया होदि॥*

---

इसप्रकार, कर्मास्रव की क्रिया संसार की हेतु हैं, और संसार ही जन्म-मरण आदि दुःखों का कारण है, इस दृष्टि से दुःख की (परम्परया) हेतु होने से, समस्त आस्रव-क्रियाएँ परित्याग योग्य हैं– यह समझ लेना चाहिए –यही इस आस्रवानुप्रेक्षा नामक (आठवें) अधिकार का सार है। इस अनुप्रेक्षा का भावन या चिन्तन करता हुआ साधक आस्रव सम्बन्धी दोषों का निरन्तर अनुप्रेक्षण करता रहता है। जैसे– इन्द्रिय-विषयों में आकृष्ट मन वालों के लिए विविध दुःख उत्पन्न होते हैं। कषाय भी नाना संकटों को जन्म देती हैं। मिथ्यात्व भी जीव को नाना दुर्गतियों में ढकेलता ही है। इसतरह (आस्रव-दोषों के) चिन्तन करने से, उत्तम क्षमा आदि धर्मों को श्रेयस्कर समझने की बुद्धि क्षीण नहीं होती –ऐसा राजवार्तिक (9/7/7) में स्पष्ट किया गया है।

आस्रवानुप्रेक्षा की भावनावाला व्यक्ति भी यदि आस्रव-क्रिया का अनुष्ठान करे, तो उसकी अनुप्रेक्षा निरर्थक ही है। आस्रवानुप्रेक्षा की यही सार्थकता है कि जितनी भी आस्रव हेतु क्रियाएँ हैं, उन सब का त्याग किया जाय।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-93-94) में कहा भी गया है–

''इसप्रकार से जानते हुए भी जो मनुष्य त्याग करने योग्य (भी मिथ्यात्व आदि) को नहीं छोड़ता है, उसकी सभी आस्रवानुप्रेक्षा निष्फल ही है।''

*एदे मोहयभावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो।*
*हेयं ति मण्णमाणो आसव-अणुवेहणं तस्स॥*

**एवं सम्यग् विज्ञाय भो भव्य प्राणिन्! समस्तकर्मास्त्रवं परमोपशममूर्तिपरमात्मस्वभावस्य क्षोभोत्पादकं तथाऽतीन्द्रियस्वशुद्धात्मसंवित्तिप्रतिरोधकं जानीहि, अवधेहि च यत् त्वदीयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणामूल्यरत्नभाण्डपूर्णजीवपोतं संसारसमुद्रे न निमज्जेत, अपितु केवलज्ञान-शाश्वतसुखादिअनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नुयात् —इत्येतदर्थं प्रयतस्वेति आस्त्रवाधिकार-स्याष्टमस्य सारभूत उपदेशः।**

**एवं** *'मिच्छत्तं अविरमणं'* **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** *'पुव्वुत्तासवभेदा'* **इत्यादिगाथां यावत् चतुर्दशगाथाभिः आस्त्रवानुप्रेक्षानामकोऽष्टमोऽधिकारः सम्पन्नः।**

*[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागररचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'आस्त्रवानुप्रेक्षा' -नामकोऽष्टमोऽधिकारः सम्पन्नतां प्राप्तः।]*

---

"जो मुनि साम्यभाव में लीन होता हुआ, मोहकर्म के उदय से होने वाले इन पूर्वोक्त भावों को त्यागने योग्य जानकर उन्हें छोड़ देता है, उसी के आस्त्रवानुप्रेक्षा (सार्थक) है।"

इसप्रकार सम्यक्तया जानकर हे भव्य प्राणी! समस्त कर्मास्त्रव को ऐसा समझो कि वह परमोपशम-मूर्ति परमात्मा के स्वभाव में विक्षोभ पैदा करता है, तथा अतीन्द्रिय निज शुद्धात्मा के संवेदन में रुकावट पैदा करता है। यह ध्यान रखना कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी अमूल्य रत्नभाण्डागार से पूर्ण तुम्हारा यह जीवात्मा रूपी जहाज संसार-समुद्र में कहीं डूब न जाय, और केवलज्ञान-शाश्वतसुखादि अनन्तगुण रूपी रत्नों से परिपूर्ण मुक्तिरूपी तट पर यह जहाज पहुँच जाय —इसके लिए प्रयत्नशील रहो —यह इस अष्टम आस्त्रवाधिकार का सारभूत उपदेश है।

इसतरह, 'मिच्छत्तं अविरमणं' इत्यादि (गाथा-47) से लेकर 'पुव्वुत्तासवभेदा' इत्यादि (गाथा-60) तक चौदह गाथाओं द्वारा यह 'आस्त्रवानुप्रेक्षा' नामक आठवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

*[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस सर्वोदया नामक टीका में 'आस्त्रवानुप्रेक्षा' नामक आठवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]*

## [ संवराणुवेक्खा– नवमो अहियारो ]

## ॥ संवरानुप्रेक्षा– नवमोऽधिकारः॥

**अथ सम्प्रति संवरानुप्रेक्षानामको नवमोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्याधिकारस्य पातनिका निर्दिश्यते। अस्मिन्नधिकारे** *'चलमलिणमगाढं च'* **इत्यादिगाथामादिं विधाय** *'जीवस्स ण संवरणं'* **इत्यादिगाथां यावत् पञ्च गाथाः सन्ति। गाथापञ्चके च** *'चलमलिणमगाढं'* **इत्यादिका प्रथमा गाथा, यस्यां चलमलिनादिदोषरहितसम्यक्त्वेन मिथ्यात्वास्त्रवो निरुद्ध्यते –इति प्रतिपादितमस्ति। तदनन्तरं च** *'पंचमहव्वयमणसा'* **इत्यादिका द्वितीया गाथा, यस्यां निरूपितमस्ति यत् पञ्चमहाव्रतात्मक-मनोभावेन अविरतिरूपकर्मास्त्रवनिरोधो भवति तथा निष्कषायतया कषायरूपास्त्रवा निरुद्ध्यन्ते। ततश्च** *'सुहजोगस्स पवित्ती'* **इत्यादिका तृतीया गाथा भवति, यस्यां शुभयोगेन अशुभयोगस्य शुद्धोपयोगेन च शुभोपयोगस्य संवरणं भवतीति प्रतिपादितमस्ति। तदनन्तरं** *'सुद्धुवजोगेण पुणो'*

---

## [ संवरानुप्रेक्षा– नवम अधिकार ]

अब, संवरानुप्रेक्षा नामक नवम अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। सर्वप्रथम इस अधिकार की पातनिका बताई जा रही है। इस अधिकार में '**चलमलिणमगाढं च**' इत्यादि गाथा (61वीं) से लेकर '**जीवस्स ण संवरणं**' इत्यादि (65वीं) गाथा तक पाँच गाथाएँ हैं। इन पाँच गाथाओं में '**चलमलिणमगाढं च**' इत्यादि प्रथम गाथा (61वीं) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि चल, मलिन आदि दोषों से रहित सम्यक्त्व से मिथ्यात्व के आस्रव का (मिथ्यात्व रूपी आस्रव-द्वार का) निरोध होता है। उसके बाद, '**पंचमहव्वयमणसा**' इत्यादि दूसरी (62वीं) गाथा है जिसमें यह बताया गया है कि पाँच महाव्रतों के मनोभावों से अविरति रूप कर्मास्रव (के द्वार) का निरोध होता है और कषाय- हीनता से कषायरूप आस्रव (के द्वार) का निरोध होता है। इसके अनन्तर, '**सुहजोगस्स पवित्ती**' इत्यादि तीसरी गाथा (63वीं) है जिसमें 'शुभयोग से अशुभ योग का तथा शुद्धोपयोग से शुभोपयोग का संवरण होता है' यह प्रतिपादित किया

**इत्यादिका चतुर्थी गाथा, यस्यां प्रतिपादितमस्ति यत् शुद्धोपयोगेन धर्मध्यानशुक्लध्यानयोरनुष्ठानं सम्पद्यते, तथा ध्यानेन कर्मसंवरणं सम्भवतीति। ततश्च *'जीवस्स ण संवरणं'* इत्यादिका पञ्चमी गाथा, यस्यां निरूपितमस्ति यत् शुद्धनिश्चयनयेन आत्मा शुद्धः संवरभावेन रहित एव तिष्ठतीति तादृश एवात्मा चिन्तनीयः इति। एवं नवमाधिकारस्य संक्षेपेण पातनिका विज्ञेया।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः निर्दोषसम्यक्त्वेन मिथ्यात्वरूपास्रवनिरोधो भवतीति प्रतिपादयन्ति–**

**चलमलिणमगाढं च वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।**
**मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥ ६१ ॥**

***छाया–*** *चलमलिनमगाढं च वर्जयित्वा सम्यक्त्वदृढकपाटेन।*
*मिथ्यात्वास्रवद्वारनिरोधो भवति –इति जिनैः निर्दिष्टम्॥*

**( सर्वोदया टीका– ) पूर्वस्मिन्नधिकारे मिथ्यात्वम्, अविरतिः, कषायाः योगाः –इत्येतानि कर्मास्रवद्वाराणि प्रोक्तानि। आस्रवद्वारस्य पिधानं संवरः। अस्मिन्नवमे संवरानुप्रेक्षाधिकारे तस्य**

---

गया है। इसके बाद **'सुद्धुवजोगेण पुणो'** इत्यादि चौथी (64वीं) गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि शुद्धोपयोग से धर्मध्यान व शुक्लध्यान का अनुष्ठान सधता है और ध्यान से कर्मों का संवर सम्भव होता है। इसके बाद, 'जीवस्स ण संवरणं' इत्यादि पाँचवीं (65वीं) गाथा है, जिसमें यह निरूपित किया गया है कि शुद्ध निश्चय नय से आत्मा शुद्ध एवं संवर से रहित ही रहता है, और ऐसी ही आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। इस तरह नवम अधिकार की संक्षिप्त पातनिका जाननी चाहिए।

अब, निर्दोष सम्यक्त्व से मिथ्यात्व रूपी आस्रव का निरोध होता है– इसे शास्त्रकार बता रहे हैं–

**( 61 )**

**( गाथा-अर्थ– ) चल, मलिन और अगाढ़ दोषों को छोड़कर, सम्यक्त्व रूपी दृढ़ किवाड़ों द्वारा मिथ्यात्व रूपी आस्रव-द्वार का निरोध हो जाता है –ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।**

**( सर्वोदया टीका– )** पूर्व (आठवें) अधिकार में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग –इन चारों को (47वीं गाथा में) कर्मास्रव का द्वार कहा गया था। आस्रवद्वार को बन्द करना 'संवर' होता है। इस नवम 'संवराधिकार' में उसी संवर का निरूपण किया जाना है। वह संवर (आस्रव भाव के) प्रतिपक्षी भाव

**संवरस्यैव निरूपणं कर्तव्यमस्ति। स संवरः प्रतिपक्षभावेन सम्भवति। मिथ्यात्वादीनां प्रतिपक्षभूता भावाः के, यैस्तेषां निरोधो भवेत्? इति जिज्ञासां मनसि निधाय प्रोच्यते–** *(सम्मत्तदिढकवाडेण मिच्छत्तासवणिरोहो होदि)* **सम्यक्त्वं मिथ्यात्वास्त्रवप्रतिपक्षभूतं, तदेव दृढकपाट इव मिथ्यात्वास्त्रव-निरोधनाय प्रभवति –इत्यर्थः। किन्तु तेन सम्यक्त्वेन निर्दोषेणैव भाव्यम्, अन्यथा कर्मास्त्रवद्वारस्य सम्यक्तया पिधानं न सम्भवेत्, अतः उच्यते–** *(चलमलिणमगाढं च वज्जिय)* **चल-मलिनदोषौ तथा अगाढदोषं च अर्थात् एतत्त्रयं वर्जयित्वा परित्यज्येत्यर्थः। यदि सम्यक्त्वे चलदोषः, मलिनता, यद्वा अगाढदोषः स्यात्, तर्हि तेन मिथ्यात्वरूपस्य कर्मास्त्रवद्वारस्य संवरणं नैव सम्यक्तया भवतीत्यतस्त-द्दोषाणां त्यागो विधेयः इति भावः।** *(त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं)* **इति जिनैः तीर्थकरैः समुपदिष्टम्।**

**अत्रायं विस्तरः–** आस्त्रवनिरोधः संवरः *(तत्त्वार्थसूत्र-9/1)*। **आत्मीयेन परिणामविशेषेणैव स संवरः सम्भवति। अयमेव भावसंवरः कथ्यते। तेन भावसंवरेण यत् कर्मद्रव्याणां संवरणं निरोधनं वा, तत्तु द्रव्यसंवरः।**

---

द्वारा सम्भव होता है। मिथ्यात्व आदि (आस्त्रव-द्वारों) के प्रतिपक्षी भाव कौन हैं जिनका निरोध किया जाना है? इस जिज्ञासा को मन में रख कर कह रहे हैं– **( सम्यक्त्वदृढकपाटेन मिथ्यात्व-आस्त्रव-निरोधो भवति )**। मिथ्यात्व आस्त्रवद्वार का प्रतिपक्षी 'सम्यक्त्व' है, वही दृढ़कपाट की तरह मिथ्यात्व-आस्त्रव के निरोध में सक्षम है –यह अर्थ हुआ। किन्तु उस सम्यक्त्व को निर्दोष होना चाहिए, अन्यथा कर्मास्त्रव-द्वार को अच्छी तरह बन्द कर पाना सम्भव नहीं होगा, इसलिए कहा जा रहा है– **( चल-मलिनम् अगाढं च वर्जयित्वा )**। चल, मलिन व अगाढ़ –ये दोष हैं, इन तीनों दोषों को छोड़कर, इनका परित्याग कर –यह अर्थ है। यदि सम्यक्त्व में चल दोष हो, मलिनता हो अथवा अगाढ़ दोष हो, तो उस (सम्यक्त्व) से कर्मास्त्रव के द्वार का संवरण (बन्द करना) ठीक तरह से नहीं होगा –इसलिए उन दोषों का त्याग करना चाहिए –यह भाव है। **( इति जिनैः निर्दिष्टम् )**। ऐसा जिन-देवों –तीर्थंकरों ने अपने उपदेश में बताया है।

यहाँ इसे विस्तार से बता रहे हैं– (तत्त्वार्थसूत्र-9/1 के अनुसार) **आस्त्रवों को बन्द करना 'संवर' कहा जाता है।** वह संवर आत्मीय परिणति-विशेष से ही सम्भव होता है। इस (परिणति-विशेष) को ही भावसंवर कहा जाता है। उस भावसंवर (रूपी निमित्त) से कर्म-द्रव्यों का जो संवरण व निरोध होता है, वह तो द्रव्यसंवर है।

**उक्तं च बृहद्द्रव्यसंग्रहे** *(गाथा-34)-*

*चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।*
*सो भावसंवरो खलु दव्वासवणिरोहणे अण्णो॥*

**मिथ्यात्वादिकानि आस्त्रवद्वाराणि, तानि सम्यक्त्वादिभिः आत्मपरिणामैरेव संवृतानि जायन्ते, अतः संवरणकर्तृत्वात् सम्यक्त्वादिः संवरः कथ्यते।**

**उक्तं च राजवार्तिके** *(9/1/6)- 'मिथ्यादर्शनादयः प्रत्यया व्याख्याताः, तदुपादानस्य कर्मणः संवरणं संवरः इतिनिर्धियते।'*

**तथैवोक्तं देवसेनाचार्यकृते नयचक्रे** *(गाथा-155)-*

*रुंधिय छिद्दसहस्से जलजाणे जह जलं तु णासवदि।*
*मिच्छत्ताइअभावे तह जीवे संवरो होइ॥*

---

बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-34) में कहा गया है-

"आत्मा का जो परिणाम, कर्म के आस्त्रव को रोकने में कारण होता है, उसे भावसंवर कहते हैं और जो द्रव्यास्त्रव को रोकने में कारण है, वह द्रव्यसंवर है।"

मिथ्यात्व आदि आस्त्रव-द्वार हैं, वे सम्यक्त्व आदि आत्मीय परिणामों से ही संवृत (तिरोहित, निरुद्ध) होते हैं, इसलिए संवरण-कारक होने से सम्यक्त्वादि को संवर कहा जाता है।

राजवार्तिक (9/1/6) में कहा भी गया है- "मिथ्यादर्शन आदि प्रत्ययों (कारणों) का व्याख्यान हुआ, उनके उपादानभूत कर्मों का जो संवरण है, वह 'संवर' है -ऐसा निर्धारित होता है।"

इसी दृष्टि से देवसेनाचार्य-कृत नयचक्र (गाथा-155) में कहा गया है-

"जिस प्रकार नाव के हजारों छिद्रों को बन्द कर देने से, उसमें जल का प्रवेश नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि का अभाव होने पर (उनके आगमन को रोकने पर) जीव में कर्मों का संवर होता है (अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता)।"

**तथैव कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-95)*–

*सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।*
*एदे संवरणामा जोगाभावो तहा चेव॥*

**यतो हि संवर इव संवरः, अतः सम्यक्त्वादीनां संवरसंज्ञा सार्थिकैव –इतिराजवार्तिके** *(1/4/18)– ''संवर इव संवरः। क उपमार्थः? यथा सुगुप्तसुसंवृतद्वारकवाटं पुरं सुरक्षितं दुरासदम् अरातिभिर्भवति, तथा सुगुप्ति-समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रात्मनः सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसंवरणात् संवरः।''*

**एवं सिद्ध्यति यत्सम्यक्त्वं मिथ्यात्वरूपास्त्रवद्वारसंवररूपम्। तस्य महत्त्वं ज्ञानार्णवे** *(6/55)* **प्रतिपादितम्**–

*अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम्।*
*न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते॥*

---

इसी तरह कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-95) में कहा गया है– ''सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत तथा कषाय-जय एवं योग-अभाव –इनका नाम संवर है।''

चूंकि 'संवर' का अर्थ है– संवर जैसा, अतः सम्यक्त्व आदि की संवर संज्ञा सार्थक ही है –ऐसा राजवार्तिक (1/4/18) में कहा गया है– ''संवर यानी संवरतुल्य। यहाँ 'तुल्यता' –इस उपमा से क्या तात्पर्य है? जैसे किसी नगर के द्वार के किवाड़ों को अच्छी तरह बन्द कर दिया जाय तो वह नगर सुरक्षित हो जाता है और शत्रुओं द्वारा अगम्य (अभेद्य) भी हो जाता है। इसी तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय व चारित्र का अनुष्ठान करने वाली आत्मा, जिसके इन्द्रिय व कषाय योग द्वार संवृत हो जाते हैं, उसके नये कर्मों के आने के द्वारों के बंद होने से 'संवर' (की स्थिति होती) है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्व मिथ्यात्वरूपी आस्रवों के द्वारों का संवरण करता है। इसका महत्त्व ज्ञानार्णव (6/55) में इस प्रकार बताया गया है–

''सम्यक् चारित्र व सम्यग्ज्ञान से रहित एकमात्र सम्यग्दर्शन का होना भी प्रशंसनीय है, किन्तु मिथ्यात्व विष से दूषित संयम व ज्ञान प्रशंसनीय नहीं हैं।''

**एतच्च सम्यक्त्वं विशदतयाऽत्र सम्प्रति निरूप्यते। सम्यग्दर्शनस्य चर्चा प्रागपि प्रकरणानुसारं विहिता। तस्य त्रयो भेदाः– औपशमिकं, क्षायिकं, क्षायोपशमिकं चेति। चारित्रमोहस्य अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभेतिचतस्त्रः प्रकृतयः, दर्शनमोहस्य च मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृतीतितिस्त्रः प्रकृतयः, आसामेव सप्तानां प्रकृतीनामुपशमाद् औपशमिकं सम्यक्त्वं भवति। तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वम्। अथ दर्शनमोहस्य मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वेति द्वे प्रकृती, चारित्रमोहस्य च प्रोक्ताः चतस्त्रः प्रकृतयः, एतासां षण्णां प्रकृतीनां सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावक्षये तस्यैव सर्वघातिस्पर्द्धकस्य अनुदयप्राप्तस्य सदवस्थारूपोपशमे, दर्शनमोहस्य या सम्यक्त्वरूपा प्रकृतिः, तस्याः देशघातिस्पर्द्धकोदयो यदा भवति, तदा सर्वघाताभावाद् उपलभ्यमानो भावः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूपो विज्ञेयः, अस्यैवापरं नाम वेदकसम्यक्त्वं वर्तते।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 144, गाथा-215)–*

*दंसणमोहुवयादो उप्पज्जइ जं पयत्थ सद्दहणं।*
*चलमलिनमगाढं तं वेदगसम्मत्तमिह मुणसु॥*

---

अब इस सम्यक्त्व का स्पष्ट रूप से निरूपण कर रहे हैं। सम्यग्दर्शन की चर्चा पहले भी प्रकरणवश की गई है। उसके तीन भेद हैं– 1. औपशमिक, 2. क्षायिक और 3. क्षायोपशमिक। चारित्रमोह की चार कर्मप्रकृतियाँ होती हैं– अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ। और, दर्शनमोह की तीन प्रकृतियाँ होती हैं– 1. मिथ्यात्व, 2. सम्यग्मिथ्यात्व, और 3. सम्यक्त्व प्रकृति। इन सातों (4+3) प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन्हीं सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अब, दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व व सम्यक्मिथ्यात्व –ये दो प्रकृतियाँ, और चारित्रमोहनीय की उपर्युक्त चार प्रकृतियाँ, इन छः प्रकृतियों के उदयप्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का क्षय होने पर, अनुदयप्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्था रूप उपशम होने पर, दर्शनमोहनीय की जो सम्यक्त्व प्रकृति है, उसके देशघाती स्पर्धक का उदय जब होता है, तब सर्वघात की स्थिति न होने से जो प्रादुर्भूत भाव है, उसे ही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जानना चाहिए। इसी का दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व (भी) है।

धवला (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 144, गाथा-215) में कहा भी गया है– "सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़ रूप श्रद्धान होता है, उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं।"

**तथा च तत्रैव** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 12, पृ. 173)– "सम्मत्तदेसघाइवेदय-सम्मत्तुदएणुप्पण्णवेदयसम्मत्तं खओवसमियं।"*

**तथैव अनगारधर्मामृते** *(2/56)* **भणितमास्ते–**

*पाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये ।*
*शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम्॥*

**अस्य वेदकसम्यक्त्वस्य बाह्यचिन्हान्यपि शास्त्रकारैः वर्णितानि। यथा– प्राकृतपंचसंग्रहे** *(1/163-164)–*

*बुद्धी सुहाणुबंधी सुइकम्मरओ सुए य संवेगो।*
*तच्चत्थे सद्दहणं पियधम्मे तिव्वणिव्वेदो॥*

*इच्चेवमाइया जे वेदयमाणस्स होंति ते य गुणा।*
*वेदयसम्मत्तमिणं सम्मत्तुदएण जीवस्स॥*

---

और भी वहीं (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 12, पृ. 173) यह कहा गया है– "सम्यक्त्व का एकदेश रूप से वेदन करानेवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होनेवाला वेदकसम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।"

इसी तरह, अनगारधर्मामृत (2/56) में भी कहा गया है– "सम्यग्दर्शन के एकदेश का घात करने वाली देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से तथा उदयप्राप्त मिथ्यात्व आदि छः प्रकृतियों के उदय की निवृत्ति होने पर और आगामी काल में उदय में आने वाली इन्हीं छः प्रकृतियों की सदवस्था रूप उपशम होने पर वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, जो चल, मलिन व अगाढ़ (दोषयुक्त) होता है।"

इसी वेदकसम्यक्त्व के बाह्यचिन्हों के विषय में भी शास्त्रकारों ने वर्णन किया है। जैसे, प्राकृत पंचसंग्रह (1/163-164) में कहा है– "वेदक सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर जीव की बुद्धि शुभानुबन्धी या सुखानुबन्धी हो जाती है। शुचि (निर्दोष) कार्य में रति होती है। श्रुत में संवेग (प्रीति) होती है। तत्त्वार्थ में श्रद्धान, प्रिय धर्म में अनुराग एवं संसार से तीव्र निर्वेद (वैराग्य) जागृत हो जाता है। इन गुणों के अलावा इस प्रकार के जितने गुण हैं, वे सब वेदक सम्यक्त्वी जीव के प्रकट हो जाते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन करने वाले जीव को वेदकसम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।"

**स वेदकसम्यग्दृष्टिर्जीवः शिथिलश्रद्धानं बिभर्ति। यथा कस्यचिद् वृद्धस्य हस्ते दण्डं शिथिलतया गृह्यते, तथैव वेदकसम्यक्त्वयुक्तो जीवः श्रद्धानं न दृढतया दधाति, अतः कुहेतुभिः कुदृष्टान्तैश्च झटिति सम्यक्त्वस्य विराधनां करोति। किन्तु सम्यक्त्वप्रकृत्युदयेन तत्त्वार्थश्रद्धाने केवलं मलमुत्पद्यते, ततः कारणात् तस्य देशघातित्वमेव, यतो हि सम्यक्त्वप्रकृत्युदये देशघातिस्पर्द्धकोदयस्य तत्त्वार्थश्रद्धानविनाशनसामर्थ्याभावः।**

**अतः चलमलिनागाढदोषयुक्तमपि वेदकसम्यक्त्वं कर्मक्षयहेतुकमेवेति गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, गाथा-25)* **प्रोक्तम्–**

*सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।*
*चलमलिणमगाढं तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदू॥*

**अत्र नित्यमिति विशेषणेन तात्पर्यमिदं यदिदं सम्यक्त्वमुत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपम-कालावस्थायित्वात् दीर्घकालावस्थायि।**

---

इस वेदकसम्यग्दृष्टि जीव का श्रद्धान भाव शिथिल रहता है। जैसे किसी वृद्ध के हाथ में डण्डा (लाठी) शिथिलता से ग्रहण किया जाता है, वैसे ही वेदकसम्यक्त्व वाले जीव का श्रद्धान भाव दृढ़ नहीं रहता है, इसलिए कुहेतुओं व कुदृष्टान्तों से वह सम्यक्त्व की विराधना कर देता है। किन्तु (यह भी ज्ञातव्य है कि) सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थश्रद्धान में (शंका आदि) मात्र मल उत्पन्न होता है, इस कारण से उसमें देशघातीपना ही है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धक के उदय में तत्त्वार्थश्रद्धान को नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं होती।

इसलिए चल, मलिन, अगाढ़ दोष से युक्त होने पर भी वेदक सम्यक्त्व कर्मक्षय का हेतु ही है– ऐसा गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-25) में कहा गया है–

"सम्यक्त्व के देशघाती स्पर्धकों के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है जो चल, मलिन व अगाढ़ होता है और वह नित्य कर्म-क्षय का हेतु होता है।"

यहाँ 'नित्य' शब्द से तात्पर्य यह है कि यह उत्कृष्टतः छियासठ सागर प्रमाण स्थिति वाला होने से दीर्घकालीन होता है।

**चलदोषस्वरूपमपि अनगारधर्मामृते** *(2/60)* **निरूपितमुपलभ्यते–**

*लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम्।*
*नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा॥*

**अर्थात् नानात्मीयविशेषेषु आप्तागमपदार्थश्रद्धानविकल्पेषु चलतीति चलं स्मर्यते।**

**अनगारधर्मामृते** *(2/58)* **च भणितम्–**

*स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते।*
*अन्यस्यासाविति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते॥*

**सर्वेष्वर्हत्तीर्थंकरदेवेष्वनन्तशक्तिज्ञानदर्शनसुखरूपेण समानेषु सत्स्वपि अस्मिन् शान्तिकार्ये शान्तिनाथ एव शान्तिं करोति, अथवा अस्मिन् विघ्नविनाशकादिकार्ये पार्श्वदेव एव समर्थ इत्यादिप्रकारेण सम्यक्श्रद्धानात्मकरुचिशिथिलताया हेतुरगाढदोषमेव।**

---

चल दोष के स्वरूप को अनगारधर्मामृत (2/60) में इस प्रकार निरूपित किया गया है–

"जैसे उठती हुई लहरों में जल एकरूप ही स्थित रहता है, लहरों के कारण जल में कोई अन्तर नहीं पड़ता, वैसे ही सम्यग्दर्शन के विषयभूत नाना प्रकार के देव आदि भेदों में स्थित रहते हुए भी चंचलता के कारण वेदक सम्यक्त्व 'चल' (दोष से युक्त) होता है।"

अर्थात् अपने ही नाना आत्मीय विशेषों में– आप्त, आगम व पदार्थ विषयक श्रद्धान के विकल्पों में जो चलित होता है, वह 'चल' कहा जाता है।

अनगारधर्मामृत (2/58) में कहा गया है– "यह श्रद्धावान् सम्यग्दृष्टि भी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से भ्रम में पड़ कर अपने बनवाये हुए जिन-प्रतिमा, जिन-मन्दिर आदि में 'यह मेरे देव हैं' 'यह मेरा जिनालय है' 'यह अमुक का है' –ऐसा व्यवहार करता है।"

सभी अर्हन्त तीर्थंकरदेव अनंतशक्ति, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख रूप से समान होने पर भी इस शान्ति कार्य में शान्तिनाथ भगवान् शान्ति करते हैं अथवा इस विघ्नविनाशक आदि कार्य में पार्श्वनाथदेव ही समर्थ हैं –इत्यादि प्रकार से रूचि (सम्यक् श्रद्धान) की शिथिलता का कारण अगाढ़ दोष ही है।

**अथवा कियन्तमपि कालं स्थित्वा यश्चलति, शिथिलीभवति, एतस्मात् कारणात् चलदोषः उच्यते। मलिनदोषस्यापि स्वरूपमपि अनगारधर्मामृते** *(2/59)* **निर्दिष्टम्–**

*तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः।*
*मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत्॥*

**सम्यक्त्वप्रकृत्युदये पञ्चविंशतिः दृग्दोषा अपि वर्णिताः शास्त्रकारैः। यथा– बृहद्द्रव्य-संग्रहस्य** *(गाथा-41)* **टीकायाम्, विशेषज्ञानाय तत्स्थलमध्येयम्।**

**ज्ञानार्णवे** *(6/8 उद्धृते पद्ये)* **अपि एतेषां निरूपणमुपलभ्यते–**

*मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।*
*अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥*

---

अथवा कुछ काल तक रहकर वह चलायमान होता है, शिथिलता को प्राप्त होता है, इस कारण से उसे चल दोष कहा जाता है। मलिन दोष के स्वरूप को अनगारधर्मामृत (2/59) में इस प्रकार बताया गया है –

''जैसे स्वर्ण अपने कारणों से शुद्ध उत्पन्न होकर भी चाँदी आदि के मैल से मलिन हो जाता है, वैसे ही यह (वेदक सम्यक्त्व) उत्पत्ति के समय निर्मल होने पर भी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के कारण (शंका आदि दोषों से) मलिन हो जाता है।''

सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से होने वाले पच्चीस दर्शन-दोषों का भी वर्णन शास्त्रकारों द्वारा किया गया है, जैसे- बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-41) की टीका में कहा गया है। विशेष ज्ञान के लिए वहां ही उस स्थल का अध्ययन करना चाहिए।

ज्ञानार्णव (6/8) में उद्धृत पद्य में भी इनका कथन इस प्रकार है–

''तीन मूढ़ता (लोक, देव, पाखण्डिमूढ़ता), आठ मद (ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर -इनका मद), छः अनायतन (कुदेव, कुश्रुत व कुलिंगी-कुगुरु, तथा इन तीनों के भक्त, इस प्रकार छः की प्रशंसा आदि करना) तथा शंका (काङ्क्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना) आदि आठ दोष -ये कुल मिला कर पच्चीस दोष सम्यग्दर्शन के कहे गये हैं।''

**अगाढदोषस्यापि स्वरूपं पण्डिताशाधरचिते अनगारधर्मामृते *(2/57)* निरूपितम्–**

*वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता।*
*स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढमिति कीर्त्यते॥*

**स्थाने आप्तागमपदार्थस्य श्रद्धाने अनवस्थायामेव स्थितेऽपि अगाढमिति कीर्त्यते।**

**अत्रेदमवधेयम्– वेदकसम्यक्त्वमेव चलमलिनादिदोषयुक्तं भवति, न चौपशमिकम्, न च क्षायिकम्। तत्र द्वयोः शङ्कादिमललेशस्यापि अनुत्पत्तेः। अत एतद्द्वयं निर्मलं निश्चलं तथा गाढं भवति, आप्तादिषु तीव्ररुचिसम्भवात्। वेदकसम्यक्त्वस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमितः, उत्कृष्टतस्तु तस्य षट्षष्टिसागरोपमकालमवस्थानं स्वीक्रियते। गाथायां 'जिनैः निर्दिष्टम्' –इति यत्कथितं, तद् वचनस्य प्रामाणिकतां ज्ञापयितुमिति विज्ञेयम्। जिना वीतरागाः सर्वज्ञाः सकलत्रैकालिकपदार्थान्**

---

अगाढ़ दोष के स्वरूप को पं. आशाधर-रचित 'अनगारधर्मामृत' (2/57) में इस प्रकार बताया गया है–

"जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ की लाठी हाथ में ही रहती है, उससे छूटती नहीं है और अपने स्थान को छोड़ती तो नहीं है फिर भी कुछ काँपती रहती है। वैसे ही वेदकसम्यक्त्व अपनी श्रद्धा के विषयभूत देव आदि में स्थिर रहते हुए भी थोड़ा सकम्प होता है, अस्थिर-सा रहता है।"

अपने स्थान में अर्थात् आप्त, आगम और पदार्थ के श्रद्धान में अनवस्थ, दोलायमान या अस्थिर अवस्था में स्थित होने पर भी काँपती हुई लाठी रूपी श्रद्धा ही अगाढ़ दोष कहा जाता है।

यहाँ यह समझने की बात है– वेदकसम्यक्त्व ही चल, मलिन आदि दोष वाला होता है, औपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्व नहीं। वहाँ (उन दोनों में) शङ्का आदि मल लेशमात्र भी उत्पन्न नहीं होते। इसीलिए ये दोनों (औपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्व) निर्मल व निश्चल होते हैं और प्रगाढ़ भी, क्योंकि उनमें आप्त आदि विषयों में तीव्र रुचि हुआ करती है। वेदक सम्यक्त्व का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है, उत्कृष्टतया तो उसकी स्थिति छियासठ सागरोपम काल तक की मानी जाती है। इस (61वीं) गाथा में 'जिनों-तीर्थंकरों ने ऐसा कहा है' –यह कथन जो किया गया है, वह उक्त कथन की प्रामाणिकता का ज्ञापन (संकेत) करने के लिए है। जिनेन्द्र वीतराग व सर्वज्ञ होते हैं, उन्हें सकल त्रैकालिक पदार्थों का प्रत्यक्ष

**प्रत्यक्षीकुर्वाणाश्च सन्ति, अतस्ते मध्यस्थतया पक्षपातराहित्येन यथार्थतया उपदिशन्ति। ते परमाप्ता भवन्ति, अतस्तेषां यथार्थवक्तृत्वमसंदिग्धमेव।**

**एवं हे ज्ञानिन्! अनादिसंसारसागरे यत्परिभ्रमणं, तत्र मिथ्यात्वमेव प्रमुखं कारणमिति विज्ञाय सम्यक्त्वस्य विराधना न कदाचिदपि भवेदिति प्रयतस्व, तथा सम्यक्त्वमेव निर्दोषतया दृढमाश्रय, येन मिथ्यात्वादिकर्मसंवरणं सम्भवेत् –इति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः अविरतिआस्त्रव-कषायास्त्रवयोः पृथक् पृथक् कः संवरः इति निर्दिशन्ति–**

**पंचमहव्वयमणसा, अविरमण-णिरोहणं हवे णियमा।**
**कोहादि-आसवाणं, दाराणि कसायरहिदपलगेहिं ॥६२॥**

***छाया–*** *पञ्चमहाव्रतमनसा अविरमण-निरोधनं भवेत् नियमात्।*
*क्रोधादि-आस्रवाणां द्वाराणि कषायरहितफलकाभ्याम्॥*

---

होता रहता है, इसलिए वे मध्यस्थ रूप से, पक्षपात-रहित होकर, यथार्थ उपदेश (ही) करते हैं। वे परम आप्त होते हैं, इसलिए उनका यथार्थवक्तृत्व सन्देहरहित ही है।

इसप्रकार, हे ज्ञानी! इस अनादि संसार-सागर में जो परिभ्रमण हो रहा है, उसका प्रमुख कारण मिथ्यात्व ही है। अत: (प्राप्त) सम्यक्त्व की कभी विराधना न हो –इसके लिए प्रयत्नशील रहो और निर्दोष व दृढ़ रूप से सम्यक्त्व का आश्रय लो ताकि मिथ्यात्वादि कर्मों का संवर हो (नवीन कर्मों का आना रुके) –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, अविरति आस्त्रव व कषाय आस्त्रव –इनका पृथक्-पृथक् संवर (रोकने का साधन) क्या है –इसे शास्त्रकार बताने जा रहे हैं–

(62)

**(गाथा-अर्थ–) पाँच महाव्रतों से युक्त मन से नियमत: अविरति रूप आस्त्रव का निरोध हो जाता है। (और) क्रोध आदि (कषाय रूप आस्त्रवों) के द्वार कषाय-अभाव (वीतरागता) रूपी फाटकों से (बन्द हो जाते हैं)।**

**( सर्वोदया टीका– ) मिथ्यात्वास्त्रवद्वारनिरोधः सम्यक्त्वेन भवतीति पूर्वगाथायां प्रत्यपादि। इदानीं क्रमप्राप्तयोरविरतिकषायास्त्रवयोस्तन्निरोधकसंवरस्य निर्देशो विधीयते।** *(पंचमहव्वयमणसा)* **पञ्च यानि महाव्रतानि– अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहेतिसंज्ञकानि सन्ति, तत्सम्बन्धिमनसा तदुपयुक्तेन मनोयोगेनेति भावः।** *(णियमा)* **नियमतः, नूनमेव, निस्सन्देहतया वा।** *(अविरमण-णिरोहणं हवे)* **अविरति-आस्त्रवद्वाराणां संवरणं निरोधनं भवेत्। हिंसा-असत्य-चौर्य-अब्रह्मचर्य-परिग्रहेतिपञ्चपापेभ्यः स्थूलसूक्ष्मादिविविधरूपेभ्यः सर्वदा सर्वथा कृत-कारित-अनुमोदनाप्रकारैर्यद्-विरमणं, तस्य निरोधो जायते –इत्यर्थः।**

**अत्रेदमवधेयम्–** *'णियमा'* **( नियमेन ) तथा** *'मणसा'* **( मनसा ) इतिपदद्वयं गाथायामस्यां प्रयुक्तं, तत्र शास्त्रकाराणामभिप्रायविशेषः समुल्लसति। इदं निरूपणं प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्तिनां, न तु अविरत-देशविरतादीनां वर्तते। देशविरते अविरमणस्य स्थूलतयैव निरोधो भवति, न च सूक्ष्मस्य। किं च, महाव्रतानां पालनं यदि भावत एव क्रियेत, तदैव अविरतिनिरोधः, नान्यथा। अतः**

---

**( सर्वोदया टीका– )** मिथ्यात्व रूपी आस्त्रव के द्वार का निरोध सम्यक्त्व से होता है– इसे पूर्व गाथा में बताया गया। अब, क्रमप्राप्त अविरमण व कषाय –इन दोनों आस्त्रवों के निरोधक 'संवर' का निर्देश किया जा रहा है। **( पञ्चमहाव्रतमनसा )** –अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह –ये जो पाँच महाव्रत होते हैं, उससे सम्बद्ध मन से, अर्थात् महाव्रतों में उपयोग वाले मन यानी मनोयोग से –यह भाव है। **( नियमेन )** नियम हो, अवश्य ही या निस्सन्देह रूप से। **( अविरमण-निरोधनं भवेत् )** अविरति-आस्त्रव के द्वार का संवरण व निरोध होता है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह –ये पाँच पाप हैं जो स्थूल रूप भी होते हैं और सूक्ष्म रूप भी, इन सब से सर्वदा, सर्व प्रकार से, कृत-कारित व अनुमोदना रूपी भेदों के साथ जो अविरति (निरन्तर प्रवृत्ति) होती है, उसका निरोध हो जाता है –यह अर्थ है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है– **( नियमेन )** नियम से तथा **( मनसा )** मन से, (मनोयोग से) –ये दो पद इस गाथा में प्रयुक्त हैं, इनमें शास्त्रकार का विशेष अभिप्राय प्रकट हो रहा है। यह निरूपण प्रमत्तसंयत (छठे) गुणस्थान में स्थित आत्माओं को दृष्टि में रख कर किया गया है, न कि अविरत (चौथे) व देशविरत (पाँचवें) गुणस्थान वालों को रख कर किया गया है। देशविरत गुणस्थान में अविरमण का स्थूल रूप से ही निरोध होता है, सूक्ष्म रूप से नहीं। दूसरी बात, महाव्रतों का पालन यदि भावपूर्वक (मनोयोग के साथ) किया

**'मनसा' इतिपदेन भावसहितैः पञ्चमहाव्रतैरेव अविरतिनिरोधो भवति इति प्रकटितम्। तथैव, देशविरतानां तु अविरति-आस्रवाणां निरोधोऽपि आंशिकतया भवति, आंशिकतया न च भवति, सर्वविरतानां भावसहितानां तु नियमेन अर्थात् तन्निरोधो भवत्येवेति नियमपदं सार्थकतां वहति।**

**समर्थितं चैतत् परमात्मप्रकाशे** *(2/66)*–

*वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु।*
*पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मणसुद्धि ण तासु॥*

**भावप्राभृते** *(गाथा-99-100)* **च समर्थितमेतत्**–

*भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।*
*भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे॥*

---

जाय, तभी अविरमण (अविरति) का निरोध (संवरण) होता है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से 'मन से' इस पद से यह बताया गया है कि भाव सहित ही किये गये महाव्रतों से अविरति-आस्रवों का निरोध होता है। इसीतरह, देशविरत आत्माओं के अविरति-आस्रवों का जो निरोध होता है तो वह आंशिक रूप से होता है और आंशिक रूप से नहीं भी होता है। किन्तु सर्वविरत (प्रमत्तसंयत) गुणस्थान वाले यदि भावसहित हों तो उनके नियम से निरोध (संवर) होता है, अर्थात् वह होता ही है –इसतरह 'नियम से' यह कहना सार्थक होता है।

परमात्मप्रकाश (2/66) में इस कथन का समर्थन भी किया गया है–

"निःशंक वन्दना करो, (आत्म-दोष की) निन्दा करो, प्रतिक्रमण आदि करो, लेकिन जब तक परिणाम अशुद्ध हैं, तब तक नियमतः संयम नहीं हो सकता, क्योंकि उसके मन की शुद्धता नहीं है।"

भावप्राभृत (गाथा-99-100) में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–

"हे मुनिवर! भावसहित मुनिराज ही चार आराधनाओं को पाता है और भावरहित मुनि चिरकाल तक दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता रहता है।"

*पावंति भावसमणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।*
*दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए॥*

**ज्ञानार्णवे** *(22/7)* **चानुमोदितमेतद् दृश्यते–**

*कलङ्कविलयः साक्षात् मनःशुद्ध्यैव देहिनाम्।*
*तस्मिन्नपि शमीभूते स्वार्थसिद्धिरुदाहृता॥*

**एवं शुद्धभावविहितेन सर्वविरतिरूपमहाव्रतैः अविरतिरूपास्रवनिरोधोऽवश्यंभावी भवति इतिसिद्धम्, तेन मोक्षार्थिभिः नित्यं महाव्रतस्यानुष्ठानं विधेयम्।**

**इदानीं कषायास्रवनिरोधः कया रीत्येति समाधीयते–**

*(कोहादिआसवाणं दाराणि)* **क्रोध-मान-माया-लोभेतिचतुर्विधकषायरूपा ये आस्रवाः, तेषां द्वाराणि,** *(कसायरहिदपलगेहिं)* **कषायाभाव एव फलकद्वयं तेन। द्वारं कपाटद्वयात्मकं भवति।**

---

"भावलिङ्गी मुनि कल्याणों की परम्परा और अनेक सुखों को प्राप्त करते हैं और द्रव्यलिङ्गी मुनि मनुष्य, तिर्यञ्च व कुदेवों की योनियों में दुःख पाते हैं।"

ज्ञानार्णव (22/7) में भी इसी तथ्य का अनुमोदन किया गया है– "प्राणियों के दोषों का साक्षात् विनाश मनःशुद्धि से ही होता है। उस मन के शान्त हो जाने पर स्वार्थ अर्थात् मोक्ष की सिद्धि का होना माना गया है।"

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि शुद्ध भावसहित किये गये सर्वविरति रूप महाव्रतों से अविरति रूप आस्रव का निरोध अवश्यम्भावी है, इसलिए मोक्षार्थियों को चाहिए कि वे नित्य महाव्रतों का अनुष्ठान (पालन) करें।

अब यहाँ कषायास्रव का निरोध (संवर) किस रीति से होता है –इस (जिज्ञासा) का समाधान करते हैं–

**( क्रोधादिआस्रवाणां द्वाराणि )**– क्रोध, मान, माया व लोभ –इन चतुर्विध कषायों के रूप में जो आस्रव हैं, उनके द्वारों को। **( कषायरहितफलकाभ्याम् )** कषाय-अभाव ही द्वार के दो फलक (पल्ले) हैं, उनसे द्वार दो कपाटों (किवाड़ों) वाला होता है। कपाट (किवाड़) का ही नाम 'फलक' है।

**कपाटस्यैव फलकेतिनाम। पलक –इति 'फलक' इति संस्कृतरूपस्य प्राकृतं रूपं लोकभाषायां ( पल्ला इति अर्थे ) प्रयुज्यते। एवं 'फलक' इत्यस्य कपाटभाग इत्यर्थः, द्वारपिधानं नैकेन कपाटेन भवति, अपितु द्वाभ्यां कपाटाभ्याम्। कपाटद्वयात्मकस्य परस्परं सम्मेलनमेव द्वारपिधानमिति द्वाभ्यां कपाटाभ्यां कषायरूपास्त्रवद्वारस्य पिधानं सम्भवति –इति तात्पर्यम्।** *'णिरोहणं हवे'* **इति यद् द्वितीयचरणे प्रयुक्तम्, तदेवाध्याहार्यम्, प्रकरणवशाद् 'तेषाम्' इति च उपरिष्टाद् योजनीयं भवति। अथवा–** *'कसायरहिद पलएति'* **इति पाठः कस्मिंश्चित् संस्करणे। तस्य संस्कृतच्छाया– 'कषायरहितः प्रलगयति' अर्थात् कषायरहित आत्मा कषायास्त्रवद्वारं लापयति, पिधत्ते इत्यर्थः।**

**कषायाभावस्य कर्मास्त्रवसंवरणे महत्त्वं मनसि निधायैव ज्ञानार्णवे** *(20/4)* **परामृष्टं दृश्यते–**

*कषायवैरिव्रजनिर्जयं यमी करोतु पूर्वं यदि संवृतेन्द्रियः।*
*किलानयोर्निग्रहलक्षणो विधिः, न हि क्रमेणात्र बुधैर्विधीयते॥*

---

'फलक' संस्कृत रूप का ही 'पलक' यह प्राकृत रूप है, जिसका लोकभाषा (हिन्दी) में (पल्ले, किवाड़, कपाट अर्थ में) प्रयोग होता है। इस प्रकार, 'फलक' का अर्थ है– कपाट रूपी भाग। एक पल्ले से द्वार बन्द नहीं होता, अपितु दोनों पल्लों से, क्योंकि दोनो पल्लों को परस्पर मिलाना द्वार को बन्द करना होता है –यह तात्पर्य है। (उनका) निरोधन (संवर) होता है– यह दूसरे चरण में कहा गया है, उसी का यहाँ अध्याहार करना चाहिए, प्रकरणवश 'उनका' यह पद अलग से जोड़ना चाहिए। [सम्पूर्ण अर्थ इस प्रकार होगा– क्रोधादि आस्रव के जो कपाट हैं, कषायहीनतारूपी दोनों कपाटों से उनका निरोधन किया जाता है, अर्थात् उन्हें बन्द किया जाता है।] अथवा– कुछ संस्करणों में अलग पाठ मिलता है– 'कसायरहिद पलएति'। इसकी संस्कृत छाया है– 'कषायरहितः प्रलगयति' अर्थात् कषायरहित आत्मा कषाय-आस्रव के कपाट को लगा देता है, अर्थात् बन्द कर लेता है।

कर्मास्रव को रोकने (संवर) में कषायहीनता के महत्त्व को मन में रखकर ही ज्ञानार्णव (18/118) में यह परामर्श दिया गया है– ''यदि पूर्व में जो इन्द्रियनिरोध कर चुका है, ऐसा मुनि कषाय रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, क्योंकि विद्वान् मानते हैं कि इन दोनों (इन्द्रिय-निग्रह व कषाय-विजय) में कौन पहले और कौन बाद में –यह नियत नहीं है। यथावत् किसी को भी किया जा सकता है।''

**तात्पर्यमिदं यज्जितेन्द्रियेणापि कषायजयः कर्तव्य एव। अथवा जितेन्द्रियता-प्राप्त्यै अपि कषाय-निग्रहो विधेय एवेति।**

**कषायजयिन एव तपःसिद्धिः, कषायजयी एव वास्तविको योगिवर इति च ज्ञानार्णवे** *(19/75-76)* **भणितमास्ते–**

*गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः।*
*तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसम्॥*

*यदि क्रोधादयः क्षीणाः, तदा किं खिद्यते वृथा।*
*तपोभिरथ तिष्ठन्ति, तपस्तत्राप्यपार्थकम्॥*

**पञ्चास्तिकायग्रन्थे** *(गाथा-142)* **अपि स्पष्टीकृतमेतद्–**

*जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।*
*णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥*

---

तात्पर्य यह है कि जितेन्द्रिय व्यक्ति को भी कषाय-जय करना चाहिए। अथवा– जितेन्द्रियता प्राप्ति हेतु भी कषाय-निग्रह करना ही उचित है।

कषायजयी के ही तप की सिद्धि होती है और वही वास्तविक श्रेष्ठ योगी है– ऐसा ज्ञानार्णव (19/75-76) में कहा गया है–

"जिसका मन क्रोध आदि कारणों के विद्यमान होने पर भी क्षुब्ध नहीं होता, वही गुणों की अधिकता से योगी है और गुणीजनों का गुरु है– ऐसा मेरा मानना है।"

"यदि क्रोध आदि क्षीण हो चुके हैं तो फिर तपश्चरण कर क्यों व्यर्थ कष्ट पा रहे हो? और यदि क्रोधादि विद्यमान हैं, तब भी तपश्चर्या करना व्यर्थ ही है।"

पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा-142) में भी इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है–

"जिसका किसी भी द्रव्य में न राग है, न द्वेष है, न मोह है, सुख-दुःख में समभाव रखने वाले उस भिक्षु के शुभ या अशुभ, दोनों प्रकार का आस्रव नहीं होता।"

**एवं भो विनेय! पूर्वोक्तमास्त्रवद्वारनिरोधनरूपं संवरं विज्ञाय तदर्थं प्रयतस्व। व्रतादि-अनुष्ठानेष्वपि यावान् वीतरागताया अंशः, तावानेव संवरो भवति, अतो व्रतादिष्वपि रागांशात्म-प्रवृत्तेस्त्यागो विधेयः, वीतरागतात्मकनिवृत्तेरंशो वर्द्धनीयः— इत्येतदर्थमपि सावधानेन भाव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**अथेदानीं शुभोपयोग-शुद्धोपयोगावपि संवररूपौ —इति शास्त्रकारा अत्र विशदयन्ति—**

**सुहजोगस्स पवित्ती, संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।**
**सुहजोगस्स णिरोहो, सुद्धुवजोएण संभवदि॥६३॥**

***छाया—*** *शुभयोगस्य प्रवृत्तिः, संवरणं करोति अशुभयोगस्य।*
*शुभयोगस्य निरोधः, शुद्धोपयोगेन सम्भवति॥*

**( सर्वोदया टीका— ) मिथ्यात्व-अविरति-कषायास्त्रवाणां तु संवरणं पूर्वगाथयोर्द्वयोरुक्तम्। इदानीं योगास्त्रवनिरोधसंवरणमाचष्टे—** *(सुहजोगस्स पवित्ती)* **—शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः**

---

इस प्रकार, हे भव्य प्राणी! अभी तक बताये गये आस्त्रव-द्वार के निरोध रूप संवर (के स्वरूप) को समझ कर उसी के लिए प्रयत्नशील रहो। व्रतादि अनुष्ठान में भी जितना अंश वीतरागता (निवृत्ति) का होता है, उतना संवर होता है, इसलिए व्रत आदि में भी रागांश प्रवृत्ति का त्याग करना चाहिए और वीतरागता रूप निवृत्ति-अंश को बढ़ाना चाहिए —इस उद्देश्य के लिए भी सावधान (अप्रमत्त) होना चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, 'शुभोपयोग व शुद्धोपयोग —ये दोनों भी संवर रूप हैं' —इसे शास्त्रकार यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं —

( 63 )

**( गाथा-अर्थ— ) शुभोपयोग की प्रवृत्ति अशुभोपयोग ( आस्त्रव ) का संवर करती है, और शुद्धोपयोग से शुभोपयोग का निरोध ( संवरण ) होता है।**

**( सर्वोदया टीका— )** मिथ्यात्व, अविरति व कषाय रूप आस्त्रवों का संवरण पूर्व की दो गाथाओं में कहा गया। अब, योगास्त्रव-निरोध रूप संवर का कथन कर रहे हैं— **( शुभयोगस्य प्रवृत्तिः )** शुभ परिणामों से जनित जो योग (क्रिया, प्रवृत्ति) है, वह शुभ योग है, उसकी अथवा उससे सम्बन्धित जो

**शुभयोगः, तस्य तत्सम्बन्धिनी वा या प्रवृत्तिः, यथा– अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधून् पञ्चपरमेष्ठिनः प्रति निश्छलभक्तिः, चतुर्विधसंघाय आहारादिचतुर्विधदानम्, तीर्थयात्रा, तीर्थोद्धार-व्रत-संयम-तपःस्वाध्यायजपादिरूपप्रवृत्तिश्च शुभयोगात्मकप्रवृत्तिः। सा किं करोति?**

**उच्यते–** *(असुहजोगस्स संवरणं कुणदि)* **अशुभयोगस्य मिथ्यात्व-अविरति-प्रमादादि-जन्यदुर्ध्यानादिकस्य संवरणं निरोधं करोति। कस्य शुभयोगप्रवृत्तिः संवरं करोति? उच्यते– सम्यग्दृष्टिजीवस्य अशुभयोगस्य संवरणं करोति –इति बोध्यम्। मिथ्यादृष्टिजीवस्तु शुभयोगरूपक्रियाः करोत्यपि, तथापि तन्निमित्तकसंवर-निर्जरादिकं तस्य न भवति। तस्य शुभयोगक्रिया वचनकाययोगरूपैव, मनसि तु भोगाकांक्षानिदान-भावसद्भावात् कर्मबन्ध एव।**

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा-275)*–

*सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि य।*
*धम्मं भोगणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥*

---

(कायिक आदि) प्रवृत्ति है, वह शुभयोग रूप प्रवृत्ति होती है। जैसे– अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु –इन पाँच परमेष्ठियों के प्रति निश्छल भक्ति, चतुर्विध संघ को आहार आदि चतुर्विध दान देना, तीर्थयात्रा, तीर्थोद्धार, व्रत, संयम, तप, स्वाध्याय, जप आदि की प्रवृत्तियाँ। वह प्रवृत्ति क्या करती है?

बता रहे हैं– **( अशुभयोगस्य संवरणं करोति )** अशुभ योग का, अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि से जनित दुर्ध्यान आदि का संवरण यानी निरोध करती है। यह शुभयोगात्मक प्रवृत्ति किस का संवरण करती है? बता रहे हैं– सम्यग्दृष्टि जीव के अशुभयोग का संवरण करती है। मिथ्यादृष्टि जीव शुभयोग की क्रिया करता भी है, तो उससे (कर्म-) संवर व निर्जरा आदि उसके नहीं होती। उसकी शुभयोग की क्रिया वचनयोग व काययोग रूप ही रह जाती है, मन में उसके चूँकि भोगाकांक्षा रूप 'निदान' का सद्भाव रहता है, इसलिए कर्मबन्ध ही होता है।

समयसार (गाथा-275) में कहा भी गया है–

''वह (अभव्य) जीव भोग के निमित्त रूप धर्म की ही श्रद्धा करता है, उसी की प्रतीति करता है, उसीकी रुचि रखता है और उसी का स्पर्श करता है, किन्तु कर्मक्षय के निमित्त रूप (निश्चय) धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि व स्पर्श नहीं करता।''

**भावप्राभृतेऽपि** *(गाथा-84)* **शब्दान्तरेण मतमेतदेव समर्थितं दृश्यते।**

**अथवा, अत्र शुभयोगस्य संवरः प्रोक्तः, न तु शुभोपयोगस्य। योग-उपयोगयोरन्तरमस्तीति विज्ञेयम्। यथा– शुभोपयोगस्य स्वामिनस्तु असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानादारभ्य प्रमत्तसंयतगुण-स्थानवर्तिनः प्रोक्ताः** *(बृ. द्रव्यसंग्रह, गाथा-34 टीका)*।

**समयसारग्रन्थस्य** *(गाथा-12)* **टीकायां तात्पर्यवृत्तौ सप्तमेऽप्रमत्तगुणस्थानेऽपि शुभोपयोग उद्दिष्टः। शुभयोगस्तु मिथ्यादृष्टेरपि सम्भवति। सोऽपि शुभयोगेन पुण्यार्जनं करोति, अन्यथा मिथ्यादृष्टीनां कदाचिदपि पुण्याभावात् स्वर्गादिप्राप्तिर्न स्यात्, किन्तु मिथ्यादृष्टयोऽपि बालतपश्चर्या-अकामनिर्जरादिभिः देवत्वं प्राप्नुवन्तीति शास्त्रेषु** *(त. सू. 6/20 तथा तट्टीकासु च)* **प्रत्यपादि। किञ्च, शुभोपयोगेऽपि शुभयोगः अशुभयोगो वा –द्वयोरपि ( अन्यतरस्य ) सद्भावः सम्भवति।**

**एवं मिथ्यादृष्टीनामपि ग्रहणेऽत्र तेषां संवरः कथं संगच्छते?**

---

भावप्राभृत (गाथा-84) में भी इसी भाव का अन्य शब्दों से समर्थन किया गया है।

अथवा, यहाँ शुभयोग का संवर होना कहा गया है, शुभोपयोग का नहीं। योग व उपयोग में अन्तर है –यह समझना चाहिए। जैसे– शुभोपयोग के स्वामी तो असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर प्रमतसंयत गुणस्थान (4-6) तक के जीव बताये गये हैं ( बृ. द्रव्यसंग्रह, गाथा-34 की टीका)।

समयसार ग्रंथ (12वीं गाथा) की तात्पर्यवृत्ति टीका में सातवें अप्रमत्तगुणस्थान में भी शुभोपयोग कहा गया है। किन्तु शुभयोग तो मिथ्यादृष्टि के भी होता है, क्योंकि वह (मिथ्यादृष्टि) भी शुभ योग से पुण्य अर्जित करता है, अन्यथा मिथ्यादृष्टियों को कभी पुण्य प्राप्त न होने से स्वर्ग आदि की प्राप्ति नहीं हो पाएगी, किन्तु शास्त्रों (त. सू. 6/20 तथा उसकी टीकाओं) में यह प्रतिपादित किया गया है कि मिथ्यादृष्टि भी बाल तप, अकामनिर्जरा आदि द्वारा देवत्व प्राप्त करते हैं। दूसरी बात, शुभोपयोग होने पर भी शुभयोग या अशुभयोग, दोनों (में कोई) हो सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यहाँ मिथ्यादृष्टि का भी ग्रहण करें तो उनका संवर किस प्रकार संगत होगा?

**उच्यते– अत्र संवरशब्देन सामान्यतोऽशुभकर्मनिरोधनं गृह्यते, न तु मोक्षमार्गोपयोगि-गुप्तिसमितिप्रभृतिरूपसंवरो ( निर्जरासहितो ) गृह्यते।**

**अत्रेदं बोध्यम्– मिथ्यादृष्टीनां शुभयोग-क्रियाः कथंचित् शुभोपयोगसंज्ञिकाः स्युरपि, तथापि ताः पुण्यमात्रसाधिकाः, न निर्वाणसाधिकाः** *(प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति, गाथा-389, समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा-74 कर्तृकर्माधिकार)* **यतो हि सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो यदि भवति, तदैव मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धः, परम्परया निर्वाणं च, नैव पुण्यबन्धमात्रमेवेति भावः।**

**ननु यदि योग आस्त्रवहेतुकः, योगाभावश्च संवरः, एवं यदि अशुभयोगस्य शुभयोगेन संवरो भवति, तर्हि शुभयोगस्य केन संवरो भवतीति प्रश्ने समाधीयते–** *(सुद्धवजोएण)* **शुद्धोपयोगेन** *(सुहजोगस्स णिरोहो संभवदि)* **शुभयोगस्य शुभोपयोगस्य वा निरोधः संवरो वा सम्भवति। वस्तुतः शुद्धोपयोगेन शुभाशुभेतियोगद्वयस्य संवरो भवतीति ज्ञेयम्।**

---

उत्तर यह है– यहाँ संवर पद से सामान्यतया अशुभकर्म-निरोध का ही ग्रहण करना चाहिए, न कि मोक्षमार्गोपयोगी गुप्ति, समिति आदि की तरह संवर (निर्जरासहित) का ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ यह ज्ञातव्य है– मिथ्यादृष्टियों की शुभ योगात्मक क्रियाओं को किसी दृष्टि से शुभोपयोग संज्ञा दी भी जाय, तथापि वे पुण्य मात्र की साधक होती हैं, निर्वाण की साधिका नहीं (देखें– प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति, गाथा-389, तथा समयसार-तात्पर्यवृत्ति, गाथा-74 कर्ताकर्म अधिकार) क्योंकि सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग यदि होता है, तभी मुख्यतया पुण्यबन्ध होता है और साथ ही परम्परा से निर्वाण की प्राप्ति भी होती है, मात्र पुण्यबन्ध ही नहीं होता है –यह तात्पर्य है।

यदि योग आस्त्रव हेतुक है तो योग का अभाव संवर है, इस प्रकार यदि अशुभ योग का संवर शुभ योग से होता है, तो शुभ योग का संवर किससे होता है? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं– **( शुद्धोपयोगेन )** शुद्धोपयोग द्वारा **( शुभयोगस्य निरोधः सम्भवति )** शुभयोग या शुभोपयोग का निरोध या संवर होता है। वस्तुतः शुद्धोपयोग से शुभ व अशुभ –इन दोनों योगों का संवर होता है –यह जानें।

**अयम्भावः– अर्हदादिभक्तिप्रभृतिशुभोपयोगरूपा क्रिया प्रशस्तरागलेशयुक्तत्वात् कथंचिद् बन्धहेतुः सम्भवति, अतः शुभोपयोगस्यापि संवरणमावश्यकमेवेति दृष्ट्या शुद्धात्मद्रव्यविश्रान्तिरूपं ( यद्वा पारमार्थिकस्वसंवित्तिरूपं निश्चयसिद्धभक्तिरूपं वा ) शुद्धोपयोगालम्बनमेव परमनिःश्रेयसकरमिति। अशुभयोगस्थितानां तु शुभोपयोगाश्रयणं हितकार्येव, अथ च शुद्धोपयोगसाधकत्वात् शुभोपयोगस्यापि कथंचिदुपादेयतेति च सम्यगवधेयम्।**

**विस्तरेण तु पञ्चास्तिकायग्रन्थे** *(गाथा-166-169)* **तथा तट्टीकायां चाचार्यामृतचन्द्रवैर्निरूपितमस्ति। तत्र मूलगाथाः सन्ति–**

*अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो ।*
*बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥*

*जस्स हिदयेणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।*
*सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि॥*

---

तात्पर्य यह है– अर्हन्त आदि की भक्ति आदि शुभोपयोग रूप क्रियाएँ प्रशस्त राग के लेश से युक्त होने के कारण किसी दृष्टि से बन्ध की हेतु होती हैं, इसलिए शुभोपयोग का भी संवर आवश्यक है –इस दृष्टि से शुद्धात्म द्रव्य में विश्रान्ति रूप (या फिर पारमार्थिक रूप से स्वसंवित्ति रूप या निश्चयसिद्धभक्तिरूप) शुद्धोपयोग का आलम्बन ही परमनिःश्रेयसकारी है। अशुभ योग में स्थित जीवों के लिए तो शुभोपयोग का ही आश्रयण हितकारी है, और शुद्धोपयोग के साधक होने वाले शुभोपयोग की भी किसी दृष्टि से उपादेयता है ही –इसे सम्यक्तया समझ लेना चाहिए।

पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा-166-169) तथा उस पर आचार्य अमृतचन्द्र-कृत टीका में इसे विस्तार से निरूपित किया गया है। वहाँ मूल गाथा इस प्रकार हैं–

"अरहंत, सिद्ध, चैत्यालय, सिद्धान्त, मुनिसंघ और ज्ञान –इनकी भक्ति से युक्त व्यक्ति अनेक प्रकार के पुण्य (शुभ) कर्म को बाँधता है, किन्तु कर्मक्षय नहीं करता।"

"जिस व्यक्ति के हृदय में परमाणु मात्र भी पुद्गलादि पर-द्रव्य में राग भाव है, वह समस्त श्रुत का धारक होता हुआ भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है।"

*धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं।*
*रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स॥*

*तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविअ पुणो।*
*सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि॥*

**शुद्धोपयोगस्य साक्षात् फलं मुक्तिरेवेति पूर्वं शास्त्रकारेण** *(42 गाथायां)* **प्रतिपादितमेव। शुभाशुभोपयोगौ द्वावपि निश्चयनयेन अशुद्धौ, परद्रव्यकारणत्वाद्, किन्तु शुद्धोपयोगस्तु स्वद्रव्याश्रितत्वात् शुद्धमेव। अनेन शुभाशुभपरिणामयोर्द्वयोरपि निर्मूलक्षयो भवति।**

**धवलाग्रन्थे** *(पु. 12, खण्ड-4, भाग-2, अधिकार-8, सू. 3)* **प्रोक्तम्–** *"कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहिंतो जायदे, सुद्धपरिणामेहिंतो तेसिं दोण्णं पि णिम्मूलक्खओ।"* **अयं शुद्धोपयोगः पूर्णसाम्यावस्थैव, यत्र चैतन्यस्वरूपमात्रमेव प्रतिभासते।**

---

"और जिस व्यक्ति की मन:संकल्प रूपी उद्भ्रान्ति (विस्तार) आत्मा के ध्यान बिना होती है (अर्थात् जिसके संकल्प-विकल्प आत्मेतर पदार्थों में होते हैं), उसके शुभ-अशुभ भावों से किये गये कर्मों का रोध (संवर) नहीं होता।"

"इसलिए, मोक्ष का इच्छुक व्यक्ति निस्संग, ममत्वहीन होकर सिद्धों के अनन्त ज्ञानादि गुणों में (निश्चय) भक्ति करता है, तो निर्वाण को प्राप्त करता है।"

शुद्धोपयोग का साक्षात् फल मुक्ति ही है –ऐसा शास्त्रकार ने पूर्व (42वीं गाथा) में बताया ही है। शुभ हो या अशुभ –दोनों ही उपयोग निश्चयनय से अशुद्ध हैं क्योंकि वे पर-द्रव्य से जनित हैं, किन्तु शुद्धोपयोग स्वद्रव्यआश्रित होने के कारण शुद्ध ही होता है। इसके द्वारा शुभ व अशुभ –दोनों ही परिणामों का निर्मूल क्षय होता है।

धवला ग्रन्थ (पु. 12, खण्ड-4, भाग-2, अधिकार-8, सू. 3) में कहा गया है– "शुभ व अशुभ परिणामों से कर्मबन्ध होता है, किन्तु शुद्धपरिणामों से उन दोनों का ही निर्मूल क्षय होता है।" यह शुद्धोपयोग पूर्ण साम्य की ही वह अवस्था है जहाँ एकमात्र चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है।

**उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(4/64-65)*–

*साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।*
*शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः॥*

*नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन।*
*शुद्धं चैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते॥*

**शुद्धोपयोगस्य फलं ज्ञानार्णवे** *(3/34)* **वर्णितम्**–

*निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम्।*
*फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम्॥*

**समयसारस्य** *(गाथा-215)* **तात्पर्यवृत्तिटीकायां चास्य स्वरूपं निर्दिष्टं वर्तते**– *''परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं, परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्ल-ध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति''* **इति।**

---

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (4/64-65) में कहा भी गया है–

''साम्य, स्वास्थ्य, समाधियोग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग –ये शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।''

''जहाँ न कोई आकार है, न अकारादि अक्षर हैं, न ही काला, पीला आदि वर्ण हैं, न ही कोई विकल्प है, किन्तु जहाँ केवल एक चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है, उसी को 'साम्य' कहा जाता है।''

शुद्धोपयोग का फल ज्ञानार्णव (3/34) में इस प्रकार वर्णित है– ''जीवों के शुद्धोपयोग का फल है– समस्त दुःखों से रहित, स्वभाव से उत्पन्न एवं अविनाशी ज्ञानराज्य (की प्राप्ति) है।''

समयसार (की गाथा-215) की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी इसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है– ''परमार्थ शब्द से कहा जाने वाला और साक्षात् मोक्ष का कारणभूत शुद्धात्म-संवित्ति (शुद्धोपयोग) है, जिसे आगम-भाषा में वीतराग धर्मध्यान व शुक्लध्यान स्वरूपी कहते हैं। (अप्रमत्त मुनि) स्वसंवेदनगम्य शुद्धात्मस्वरूप को परम समरसीभाव से अनुभव करता है।''

**तथैव प्रवचनसारस्य** *(3/30)* **तात्पर्यवृत्तिटीकायामपि विशदीकृतम्–** *"शुद्धात्मनः सकाशाद् अन्यद् बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपं सर्वं त्याज्यम् –इत्युत्सर्गो निश्चयनयः सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः।"*

**वस्तुतः शुभोपयोग-शुद्धोपयोगद्वयं क्रमिकसाधनाया अङ्गभूतम्। मिथ्यात्वादिजन्यपापरतानां सर्वेषां कृते शुभोपयोगे स्थितिः करणीया, अर्थात् अशुभनिबन्धनानामव्रतानां त्यागं विधाय शुभनिबन्धनव्रतानुष्ठानमुपयोगितां भजते। अन्ते च शुभसंयमत्यागोऽपि विधेयः शुद्धोपयोगाश्रयणं च विधेयमिति।**

**ज्ञानार्णवे** *(32/87-88)* **एतदेव स्पष्टीकृतम्–**

*यतो व्रताव्रते पुंसां शुभाशुभनिबन्धने।*
*तदभावः पुनर्मोक्षः, मुमुक्षुस्ते ततस्त्यजेत्॥*

---

इसी तरह, प्रवचनसार (3/30) की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है– "(अप्रमत्त मुनियों को) शुद्धात्मा से अतिरिक्त अन्य बाहरी या आन्तरिक परिग्रह सर्व त्याज्य है– ऐसा उत्सर्ग (सामान्य नियम), अथवा निश्चयनय, अथवा सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासंयम, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग –ये सब एकार्थवाचक ही हैं।"

वस्तुतः शुभोपयोग व शुद्धोपयोग –ये क्रमिक साधना के अङ्ग हैं। मिथ्यात्व आदि से जनित पापों में जो निरत हैं, उन सभी के लिए शुभोपयोग में स्थिर होना करणीय है, अर्थात् अशुभनिमित्तक अव्रतों का त्याग कर शुभनिमित्तक व्रतों का अनुष्ठान उपयोगी होता है। अन्त में, शुभसंयम का भी त्याग करना और शुद्धोपयोग का आश्रयण लेना चाहिए।

इसी तथ्य को ज्ञानार्णव (32/87-88) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

"चूँकि व्रत और अव्रत शुभ व अशुभ भावों से किये जाते हैं, और मोक्ष उन दोनों के अभाव से होता है, अतः मुमुक्षु उन दोनों का ही त्याग करे।"

*प्रागसंयममुत्सृज्य संयमैकरतो भवेत्।*
*ततोऽपि विरमेत् प्राप्य, सम्यगात्मन्यवस्थितिम्॥*

**एवं संवरहेतुज्ञानेन संवरोपाये प्रवृत्तिः सुकरेति कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-100-101)* **परामृष्टम्-**

*एदे संवरहेदू वियारमाणो वि जो ण आयरइ।*
*सो भमइ चिरं कालं संसारे दुक्खसंतत्तो॥*

*जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ।*
*मणहर-विसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि॥*

**एवं शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगिन् आत्मन्! संवरहेतून् सम्यक्तया विज्ञाय, स्वशुद्धात्मनि एव रतिं कुरु, या साक्षान्मोक्षसाधिकेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

''पहले, असंयम (अविरति) को छोड़ कर संयम में ही निरत हो जाए। उससे भी विरत होकर सम्यक् आत्म-स्थिति प्राप्त करे।''

इस प्रकार, संवर के हेतुओं का ज्ञान प्राप्त करने से संवर के उपाय में प्रवृत्ति सरल हो जाती है – ऐसा कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-100-101) में विचार व्यक्त किया गया है-

''इन संवर-हेतुओं पर विचार करते हुए भी जो इसे आचरण में नहीं लाता, वह संसार में दुःखसंतप्त होकर चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है।''

''किन्तु जो विषय-विरक्त होकर, मनोहर विषयों से स्वयं की आत्मा को सभी तरह से संवृत करता है, उस के स्पष्ट रूप से 'संवर' (सार्थक) होता है।''

इस तरह, हे शुद्ध ज्ञान-दर्शनोपयोगसम्पन्न भव्य प्राणी! (पूर्वोक्त) संवर-हेतुओं को अच्छी तरह से समझ कर, निज शुद्धात्मा में ही रति करो जो मोक्ष की साक्षात् साधक है –यह गाथा का तात्पर्य है।

**अथ सम्प्रति शुद्धोपयोगसाध्यं ध्यानं संवरहेतुरिति शास्त्रकाराः निरूपयन्ति–**

**सुद्धुवजोएण पुणो, धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।**
**तम्हा संवरहेदू, झाणो त्ति विचिंतए णिच्चं॥६४॥**

***छाया–*** *शुद्धोपयोगेन पुनः धर्म्यं शुक्लं च भवति जीवस्य।*
*तस्मात् संवरहेतुः ध्यानमिति विचिन्तयेत् नित्यम्॥*

**( सर्वोदया टीका– )** *(पुणो)* **तथा,** *(सुद्धुवजोएण)* **शुद्धोपयोगेन, शुद्धात्मनि स्थिरतायामुपागतायां निजशुद्धात्मसंवेदनरूपं निश्चयरत्नत्रयात्मकं वीतरागचारित्रं यत् तेन,** *(जीवस्स धम्मं सुक्कं च होदि)* **निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च सम्भवति।**

**अत्र धर्मध्यानस्य निश्चयेतिविशेषणं यदुक्तं, तत्र कारणमस्ति। शुद्धोपयोगेन निश्चयधर्मध्यानस्याविनाभावसम्बन्धोऽस्ति, न तु व्यवहारधर्मध्यानस्य। व्यवहारधर्मध्यानं तु निश्चयधर्मध्याने परम्परया कारणमिति बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य** *(गाथा–49)* **टीकायां निरूपितम्।**

---

और अब, शुद्धोपयोग से साध्य ध्यान संवर का हेतु है –इसे शास्त्रकार बता रहे हैं–

( 64 )

**( गाथा-अर्थ– ) और शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान होते हैं। इसलिए ध्यान संवर का हेतु है –ऐसा नित्य चिन्तन करें।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( पुनः )** और, **( शुद्धोपयोगेन )** शुद्धोपयोग द्वारा, शुद्धात्मा में स्थिरता होने पर निजशुद्धात्मा का संवेदन रूप निश्चयरत्नत्रय रूप जो वीतरागचारित्र है, उसके द्वारा **( जीवस्य धर्म्यं शुक्लं च भवति )** निश्चयधर्मध्यान व शुक्लध्यान जीव के सम्भव होता है।

यहाँ धर्म्य ध्यान का 'निश्चय' विशेषण जो (व्याख्या में) कहा जा रहा है, उसके पीछे कारण है। शुद्धोपयोग के साथ निश्चयधर्मध्यान का अविनाभाव सम्बन्ध है, न कि व्यवहारधर्मध्यान के साथ। व्यवहार धर्मध्यान तो निश्चयधर्मध्यान में परम्परया कारण है –ऐसा बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा–49) की टीका में बताया गया है।

**किञ्च, पूर्वगाथायां शुद्धोपयोगेन शुभोपयोगस्य निरोध उक्तः, तत्र शुभोपयोगे व्यवहारधर्मध्यानमपि अन्तर्हितमेव, एवं व्यवहारधर्मध्यानस्य शुभविकल्परूपस्य निरोध एव जातः, अस्यां स्थितौ शुद्धोपयोगे निश्चयधर्मध्यानस्यैव सद्भावः समुचितः, न तु शुभविकल्पात्मक-धर्मध्यानस्य। एवं सिद्ध्यति यत् शुद्धोपयोगेन सह निश्चयधर्मध्यानस्यैव सद्भावः, अतोऽस्यां गाथायां धर्मध्यानेन निश्चयधर्मध्यानमेव ग्राह्यं, न तु व्यवहारधर्मध्यानम्।**

**इदानीं गुणस्थानानुसारं निरूपणं विधीयते– भावप्राभृते भावशब्द उपयोगार्थे प्रयुक्तः। तत्र** *(गाथा-76-77)* **निरूपितमस्ति–**

*भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।*
*असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं॥*

*सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णादव्वं।*
*इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह॥*

---

और, पूर्व गाथा में यह बताया गया था कि शुद्धोपयोग से शुभोपयोग का निरोध होता है। वहाँ शुभोपयोग में व्यवहार धर्मध्यान भी अन्तर्हित ही है, इस तरह (शुद्धोपयोग से) शुभविकल्प रूप व्यवहार धर्मध्यान का भी निरोध जब हो जाता है, तब उस स्थिति में शुद्धोपयोग में निश्चय धर्मध्यान का ही सद्भाव मानना उचित है, न कि शुभविकल्पात्मक धर्मध्यान का। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि शुद्धोपयोग के साथ निश्चय धर्मध्यान का ही सद्भाव है, इसलिए इस गाथा में धर्मध्यान से निश्चयधर्मध्यान अर्थ ही ग्राह्य है, व्यवहार धर्मध्यान अर्थ नहीं।

अब, गुणास्थानानुसार निरूपण कर रहे हैं। भावप्राभृत में उपयोग के अर्थ में 'भाव' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ (गाथा-76-77) बताया गया है–

"भाव (उपयोग) के तीन भेद जानने योग्य हैं– शुभ, अशुभ व शुद्ध। इनमें अशुभ भाव आर्त-रौद्रध्यान रूप होता है और शुभ भाव धर्मध्यान रूप होता है –ऐसा जिनेन्द्रों ने बताया है।"

"शुद्ध स्वभाव वाला आत्मा शुद्धभाव है, वह आत्मा आत्मा में ही लीन रहता है –ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। इन तीन भावों में जो श्रेयस्कर हो, उसका आचरण कर।"

**प्रोक्तनिरूपणेन स्पष्टं प्रतीयते यत् शास्त्रकाराणां मते शुभोपयोगसद्भावो धर्मध्यानपरिणत-सप्तमगुणस्थानं यावत् ( अप्रमत्तसंयतगुणस्थानपर्यन्तं ) भवति।**

**समयसारस्य** *(गाथा-12)* **टीकायां तात्पर्यवृत्तावपि प्रतिपादितम्–** *"अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्य-पेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिता:।"*

**अनेन सिद्ध्यति यत्सम्यग्दृष्टिर्भव्य: सप्तमगुणस्थानं यावच्छुभोपयोगयुक्त: सम्भवति। सप्तमगुणस्थानस्य अप्रमत्तसंयतसंज्ञकस्य द्वौ भेदौ– स्वस्थानाप्रमत्त:, सातिशयाप्रमत्तश्च। तत्र स्वस्थानाप्रमत्तस्थानं तु सर्वेषां मुनीनां भवति; सातिशयाप्रमत्तस्थानं तु श्रेण्यारोहणाभिमुखानां मुनिविशेषाणामेव भवति। इदं गुणस्थानं ध्यानात्मकं भवतीति** *'झाणणिलीणो हि अपमत्तो'* **इति गोम्मटसारे** *(जीवकाण्ड, गाथा-46)* **निर्दिष्टम्। सातिशयाप्रमत्तगुणस्थाने शुद्धोपयोगस्य सद्भावे न किञ्चित् वैमत्यम्। किन्तु सातिशय-अप्रमत्तस्थिति: पञ्चमकालेऽत्र न सम्भवति।**

---

उपर्युक्त निरूपण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शास्त्रकारों के मत में शुभोपयोग का सद्भाव धर्मध्यान परिणत सातवें गुणस्थान तक (अर्थात् अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक) होता है।

समयसार (की गाथा-12) की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी प्रतिपादित है– "अशुद्ध (भाव में) अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से या श्रावक की अपेक्षा से सराग सम्यग्दर्शन स्वरूपी शुभोपयोग में, या प्रमत्तसंयत व अप्रमत्तसंयत की अपेक्षा से भेदरत्नत्रयरूप शुभोपयोग में स्थित (व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं)।"

इस (कथन) से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि भव्य सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग से युक्त हो सकता है। अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं– स्वस्थान-अप्रमत्त और सातिशय-अप्रमत्त। इनमें स्वस्थानाप्रमत्त (प्रकार) तो सभी मुनियों के होता है, किन्तु सातिशय-अप्रमत्त (प्रकार) श्रेणी-आरोहण के प्रति अभिमुख होने वाले विशेष मुनियों के होता है। यह (सातवाँ) गुणस्थान ध्यानात्मक होता है –ऐसा 'ध्याननिलीनो हि अप्रमत्त:' इस गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-46) के वचन से निर्दिष्ट होता है। सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थान में शुद्धोपयोग के सद्भाव में कोई वैमत्य नहीं है। किन्तु सातिशय-अप्रमत्त की स्थिति इस पञ्चम काल में सम्भव नहीं।

**स्वस्थानाप्रमत्त-स्थितिस्तु सम्प्रत्यपि सम्भवति, अतोऽस्यां स्थितौ शुभोपयोगशुद्धोपयोगयोरुभयोरपि ( द्वयोरन्यतरस्य ) सद्भावः सम्भवति, कस्यचित् शुभोपयोगः, कस्यचित् शुद्धोपयोगः, यतो हि युगपदुभयोपयोगयोः सद्भावो न सम्भवति। स्वस्थानाप्रमत्तप्रकारेऽपि आरोहणावरोहणापेक्षया द्वे स्थिती भवतः। आरोहदशायां प्रमत्तापेक्षया अप्रमत्तस्थितौ विशुद्धिरधिका भवति, तदा शुद्धोपयोगस्थितिः। अवरोहदशायां विपरीता स्थितिः, अत्र विशुद्ध्यपेक्षया हीयमानदशा भवति, अर्थादप्रमत्तदशापेक्षया प्रमत्तदशायाम-वरोहदृष्ट्या भावविशुद्धिगतहीनता वर्तते, तेन शुद्धोपयोगस्थाने शुभोपयोगप्रवृत्तिर्घटिता भवति। एवं स्वस्थानाप्रमत्तगुणस्थाने आरोहदशापेक्षया शुद्धोपयोगः, अवरोहापेक्षया तु शुभोपयोगः इति विशेषो ज्ञेयः। अधस्तनगुणस्थानेषु तु** (षष्ठे, पञ्चमे, चतुर्थे) **किञ्चिदपि कदाचिदपि शुद्धोपयोगो न प्राप्यते, एतेषु सरागधर्मध्यानात्मकः शुभोपयोगः। एवं सप्तमगुणस्थाने निर्विकल्पकं धर्मध्यानं ( निश्चयधर्मध्यानं ) यद्भवति, तदेव शुद्धोपयोगः इति स्पष्टं भवति। अस्मिन् गुणस्थाने एषणासमितिरपि न भवति, यतः सा प्रवृत्तिरूपा, अप्रमत्तगुणस्थानन्तु निवृत्तिरूपमेवेति विशेषः।**

---

स्वस्थान-अप्रमत्त की स्थिति तो आज भी सम्भव है, इसलिए इस स्थिति में शुभोपयोग व शुद्धोपयोग -इन दोनों (में से किसी एक) का ही सद्भाव संभावित है, किसी के शुभोपयोग तो किसी के शुद्धोपयोग, क्योंकि एक साथ, (एक काल में) दोनों उपयोग की सत्ता सम्भव नहीं होती। स्वस्थानाप्रमत्त प्रकार में भी आरोहण व अवरोहण की अपेक्षा से दो स्थितियाँ बनती हैं। आरोहदशा में प्रमत्त की अपेक्षा अप्रमत्त बनने में विशुद्धि अधिक है, तब शुद्धोपयोग की स्थिति होती है। अवरोह-दशा में ठीक इसके विपरीत स्थिति होती है, वहाँ विशुद्धि की अपेक्षा हीयमान दशा है, अर्थात् अप्रमत्त दशा की अपेक्षा प्रमत्त दशा में अवरोह की दृष्टि से भाव-विशुद्धि की हीनता है, इसलिए शुद्धोपयोग की जगह शुभोपयोग की प्रवृत्ति घटित होती है। इस तरह स्वस्थान-अप्रमत्त गुणस्थान में आरोहदशा की दृष्टि से शुद्धोपयोग होता है, किन्तु अवरोह-दशा की दृष्टि से शुभोपयोग होता है- यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है। नीचे के **( छठे, पाँचवें व चौथे )** गुणस्थानों में तो कुछ भी और कभी भी शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं होता, अपितु इनमें सराग धर्मध्यान रूप शुभोपयोग होता है। इस तरह सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पक धर्मध्यान (निश्चय धर्मध्यान) जो होता है, वही शुद्धोपयोग है- यह स्पष्ट हो जाता है। इस गुणस्थान में एषणा समिति भी नहीं होती, क्योंकि वह (समिति) प्रवृत्तिरूप होती है, किन्तु अप्रमत्तगुणस्थान निवृत्तिरूप होता है- यह विशेष बात है।

**अधस्तनगुणस्थानेषु तु व्यवहारधर्मध्यानम्, यस्य शुभोपयोगरूपस्य निरोधः शुद्धोपयोगेन विधीयते। शुद्धोपयोगे यत् निश्चयधर्मध्यानं यदुच्यते, तर्हि किं ध्येयं तत्र भवति? उच्यते– शुद्ध उपयोगः, अर्थात् शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोगः। अयं सहजशुद्धपारिणामिक-भावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपो भवति। अस्मिन् शुद्धबुद्धैक-स्वभावो निजात्मा ध्येयो भवति, अत एव शुद्धध्येयत्वात्, शुद्धालम्बनत्वात्, शुद्धात्मस्वरूप-साधकत्वाच्च शुद्धोपयोगसंज्ञा सार्थकतां वहति। विस्तरस्तु अस्मद्विरचिते 'शुद्धोपयोग' इतिनामके ग्रन्थे द्रष्टव्यः।**

*(तम्हा)* **एतस्मात् कारणात्, यतो हि शुद्धोपयोगे ध्यानप्रमुखे निश्चयधर्मध्यानं तथा क्रमेण शुक्लध्यानं चेति द्वयं सम्भवति, अतो हेतोः।** *(संवरहेदू झाणो)* **ध्यानं संवरहेतुर्भवति,** *(त्ति णिच्चं विचिंतए)* **–इति नित्यमेव विशेषरूपेण भावयेत्, चिन्तयेत्। उत्कृष्टधर्मध्यानेन शुभास्रवः, संवरः, निर्जरा चेत्येतानि फलानि भवन्ति –इतिधवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, गाथा-56)* **प्रोक्तम्–**

---

नीचे के गुणस्थानों में तो व्यवहार धर्मध्यान है, शुभोपयोग रूप उस धर्मध्यान का निरोध शुद्धोपयोग द्वारा किया जाता है। शुद्धोपयोग में जो निश्चय धर्मध्यान कहा जाता है, उसमें ध्येय (ध्यान का विषय) आखिर क्या होता है? बता रहे हैं– जो शुद्ध अर्थात् शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम है, वह शुद्धोपयोग होता है। यह सहजशुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण वाले निज परमात्म द्रव्य का सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् आचरण रूप पर्याय है। इसमें ध्येय होता है– शुद्ध बुद्ध मात्र स्वभाव वाला निज आत्मा द्रव्य। चूँकि इसका ध्येय शुद्ध है, इसका आलम्बन शुद्ध है, और यह शुद्धात्म-स्वरूप (की प्राप्ति) का साधक भी है, इसीलिए ही इसकी शुद्धोपयोग संज्ञा सार्थक होती है। इस सम्बन्ध में विस्तृत निरूपण हमारे द्वारा विरचित 'शुद्धोपयोग' नामक ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

**( तस्मात् )** इस कारण से, (अर्थात्) चूँकि ध्यान की प्रमुखता वाले शुद्धोपयोग में निश्चय धर्मध्यान तथा क्रम से शुक्लध्यान –ये दोनों सम्भावित होते हैं, इस कारण से। **( संवरहेतुः ध्यानम् )** ध्यान संवर का हेतु होता है, **( इति नित्यं विचिन्तयेत् )** –यह नित्य ही, विशेष रूप से भावना करें, चिन्तन करें। उत्कृष्टधर्मध्यान से शुभ-आस्रव, संवर व निर्जरा –ये (तीनों) फल प्राप्त होते हैं– ऐसा धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, गाथा-56) में कहा गया है–

*होंति सुहासव संवर णिज्जरामरसुहाइं विउलाइं।*
*ज्झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स॥*

**निश्चयधर्मध्यानेन तु अन्यद्रव्यसंसर्गाभावात् संवर एव ( निर्जरया सह ) भवति। उक्तं च तिलोयपण्णत्तौ** *(9/21)*–

*दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंसत्तं।*
*जायदि णिज्जरहेदू सहावसहिदस्स साहुस्स॥*

**अत्रायं विशेषः– अस्मिन् काले शुक्लध्यानं तु नैव भवति, तथापि निश्चयधर्मध्यानं तु भवत्येव। [ विस्तरेणास्मिन् विषये पूर्वं** *(42 गाथायां)* **वर्णितमेव। ] किं च, वर्तमानकाले मोक्षोऽपि नास्ति, तथापि ध्यानालम्बनं संसारस्थितिं स्तोकां करोति, ततश्च देवगतिं प्राप्य तस्माच्च मनुष्यभवे आगत्य रत्नत्रयभावनाबलेन शीघ्रं मोक्षो भाविनि काले प्राप्स्यते –इति ध्यानाश्रयणं हितकार्येव।**

---

''उत्कृष्ट धर्मध्यान से प्रवृत्तिरूप शुभास्रव, निवृत्ति रूप से अशुभ कर्मों का संवर, निर्जरा और देवों का सुख –ये शुभानुबन्धी विपुल फल प्राप्त होते हैं।''

(शुद्धोपयोग के साथ होने वाले) निश्चय धर्मध्यान से तो अन्य द्रव्य-संसर्ग के न होने से (निर्जरा के साथ) संवर ही होता है। तिलोयपण्णत्ति (9/21) में कहा भी गया है–

''शुद्ध स्वभाव से सहित साधु का दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण ध्यान निर्जरा का कारण होता है, अन्य द्रव्यों से संसक्त हो तो वह निर्जरा का कारण नहीं होता।''

यहाँ यह भी विशेषरूप से जानने की बात है कि इस काल में यद्यपि शुक्लध्यान नहीं होता है, तथापि निश्चय धर्मध्यान तो होता ही है। *[इस विषय में विस्तार से पूर्व (गाथा-42) में कहा जा चुका है।]* दूसरी बात, वर्तमान काल में मोक्ष भी नहीं है, फिर भी ध्यान का आलम्बन संसार की स्थिति को अल्प करता है, जिससे देवगति प्राप्त कर, वहाँ से (च्युत होकर) मनुष्य भव में आकर रत्नत्रय भावना के बल से शीघ्र ही भविष्य में मोक्ष प्राप्त होगा –इसलिए ध्यान का आश्रयण हितकारी ही है।

**एवं भो मनीषिन्! परमागमे तप एवोत्तमं चारित्रं भणितम्, तपस्सु च ध्यानमुत्तमम्, ध्यानेषु च निश्चयध्यानमुत्तममस्ति। ध्यानाश्रयणेन च कर्मनिर्जरया कर्मभारस्य लघुता जायते, तेन च भाविनि काले संवरनिर्जराभ्यां मोक्षलाभोऽपि तव भविष्यति इति मत्त्वा निरन्तरं ध्यानं तद्धेतुभूतं शुद्धोपयोगं च समाश्रयेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**अथ, शुद्धनिश्चयनयेन तु आत्मा संवररहित एव भवतीति शास्त्रकाराः निरूपयन्ति–**

**जीवस्स ण संवरणं, परमट्ठणएण सुद्धभावादो।**
**संवरभावविमुक्कं, अप्पाणं चिंतए णिच्चं॥ ६५॥**

***छाया–*** *जीवस्य न संवरणम्, परमार्थनयेन शुद्धभावात्।*
*संवरभावविमुक्तम् आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम्॥*

**( सर्वोदया टीका– )** *(परमट्ठणएण)* **परमार्थनयेन, निश्चयनयेन इत्यर्थः। परमश्चासौ अर्थः इति परमार्थ आत्मा। तत्साधको तत्प्रतिपादको वा यो नयः स परमार्थनयः। निश्चयनय एव परमार्थप्रतिपादकः यतो हि तेनैव शुद्धात्मस्वरूपं द्योत्यते।**

---

इस प्रकार, हे मनीषी! परमागम में तप को ही उत्तम चारित्र कहा गया है, तप में भी ध्यान उत्तम है, ध्यान में भी निश्चयध्यान उत्तम है। ध्यान के आश्रयण से कर्मनिर्जरा होगी और जिससे कर्मभार कम होगा, परिणाम स्वरूप भविष्य में संवर-निर्जरा के द्वारा तुम्हें मोक्ष का लाभ होगा –यह सोच कर निरन्तर ध्यान का तथा उसके कारणभूत शुद्धोपयोग का आश्रयण लो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, शुद्ध निश्चयनय से आत्मा संवर रहित ही होता है –ऐसा शास्त्रकार बता रहे हैं–

**( 65 )**

**( गाथा-अर्थ– ) परमार्थ ( शुद्ध निश्चय ) नय से जीव का शुद्ध स्वभाव होने से संवर नहीं होता। ( इसलिए ) संवर भाव से रहित ( शुद्ध ) आत्मा का नित्य चिन्तन करना चाहिए।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( परमार्थनयेन )** परमार्थ नय से, अर्थात् निश्चयनय से। परम जो अर्थ, वह परमार्थ है– आत्मा। उसका साधक या प्रतिपादक जो नय है, वही परमार्थनय है। निश्चयनय ही परमार्थ का प्रतिपादक है, क्योंकि वही शुद्धात्म-स्वरूप को दिखलाता है।

**उक्तं च प्रवचनसारस्य** *(गाथा-2/97)* **तत्त्वप्रदीपिकाटीकायाम्–** *"शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः। ...साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वात् निश्चयनय एव साधकतमः।"*

**नयचक्रे** *(श्रुत/32)* **च भणितमास्ते–** *"निश्चयनयः परमार्थप्रतिपादकत्वात् भूतार्थः"*।

**अत एव समयसारे** *(गाथा-11)* **च–** *"भूयत्थो देसिदो हु सुद्धणयो"* **इति प्रोक्तम्।**

**किं च, पुरुषस्य चासौ अर्थः प्रयोजनं पुरुषार्थः, स च मोक्ष एव, तत्प्रतिपादकः तत्प्रापको वा यो नयः, स परमार्थनयः। यतो हि निश्चयनयाश्रयणेनैव मुक्तिः प्राप्यते, अतः स एव परमार्थनयः।**

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा-272)–* *'णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं'* **इति।**

*(सुद्धभावादो)* **निश्चयनय आत्मद्रव्यस्य शुद्धस्वरूपमेव विषयीकरोति, अस्मात् कारणादित्यर्थः। उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(1/157)–*

---

प्रवचनसार (गाथा-2/97) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में कहा भी है– "निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करता है। ...वह साध्य रूप शुद्ध द्रव्य की शुद्धता को दिखाता है, इसलिए निश्चयनय ही साधकतम है (इसलिए वही ग्रहणयोग्य है)।"

नयचक्र (श्रुत/32) में भी कहा गया है– "निश्चयनय परमार्थ-प्रतिपादक होने से 'भूतार्थ' है"।

इसी दृष्टि से समयसार (गाथा-11) में कहा है– "शुद्ध नय को भूतार्थ कहा गया है।"

और, पुरुष का अर्थ यानी प्रयोजन वह पुरुषार्थ, वह परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है, उस (मोक्ष) का प्रतिपादक या उसको प्राप्त करने वाला जो नय है, वह परमार्थ नय है। चूँकि निश्चयनय के आश्रयण से ही मुक्ति प्राप्त होती है, इसलिए वही परमार्थनय है।

समयसार (गाथा-272) में कहा भी गया है– "निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिराज निर्वाण को प्राप्त करते हैं।"

**(शुद्धभावात्)** चूँकि निश्चयनय आत्म-द्रव्य के शुद्ध स्वरूप को ही विषय करता है (निरूपित करता है), इस कारण से, पद्मनन्दिपंचविंशतिका (1/157) में कहा भी गया है–

*शुद्धं वागतिवर्तितत्त्वमितरद् वाच्यं च तद्वाचकम्,*
*शुद्धादेश इति प्रभेदजनकं शुद्धेतरत् कल्पितम्।*

**अस्मिन्नये आत्मा शुद्ध एव, एतस्मात् कारणाद् वा।** (जीवस्स संवरणं ण) **जीवस्य संवरो नास्ति। शुद्धनिश्चयनय आत्माश्रितो भवति, स परद्रव्यनिमित्तकपरिणामान् विषयीकरोत्येव न हि।**

**उक्तं च पद्मनन्दिपंचविंशतिकाग्रन्थे** *(1/80)*–

*निरूप्य तत्त्वं स्थिरतामुपागता, मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी।*
*अखण्डमेकं विशदं चिदात्मकं, निरन्तरं पश्यति तत्परं महः॥*

**एवमस्मिन्नये कर्मणामास्रव एव जीवस्य नास्ति –इति ग्रन्थेऽस्मिन्नेव पूर्वं** *(गाथा-60)* **प्रतिपादितमेव, ततः संवरस्यापि अभावः स्वत एव सिद्ध्यति।**

---

''शुद्ध तत्त्व तो वाणी से अतीत (परे) है। शुद्ध तत्त्व को प्रकट करने वाला तो शुद्धादेश है, अर्थात् निश्चयनय ही है, और अशुद्ध व भेद को प्रकट करने वाला अशुद्ध निश्चयनय है।''

अथवा, इस नय में आत्मा शुद्ध (स्वभाव वाला) ही है, इस कारण से। **( जीवस्य संवरणं न )** जीव का 'संवर' नहीं होता। शुद्ध निश्चयनय आत्माश्रित होता है, वह पर द्रव्यों के निमित्त से होने वाले परिणामों को विषय ही नहीं करता।

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (1/80) में कहा भी है–

''शुद्ध नय का आश्रय लेने वाली साधु जनों की बुद्धि, जो तत्त्व का निरूपण कर स्थिरता को प्राप्त होती है, वह निरन्तर अखण्ड, एक, निर्मल व चित्स्वरूप उस उत्कृष्ट ज्योति का ही दर्शन करती रहती है।''

इस प्रकार, इस नय में जीव के कर्मों का आस्रव ही नहीं होता –ऐसा इसी ग्रन्थ के पूर्व (गाथा-60) में प्रतिपादित किया जा चुका है, इसलिए भी संवर का अभाव भी स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

**जीवस्य संवराभावात्,** *(अप्पाणं संवरभावविमुक्कं णिच्चं चिंतए)* **आत्मा संवरभावविमुक्त एव –इति सततं चिन्तयेत्, मनसि भावयेत्। एवं संवरानुप्रेक्षा मुमुक्षुभिर्भावनीयेति शास्त्रकाराणामुपदेश आज्ञा वेति मन्तव्यम्। आत्मा स्वभावतः शुद्धः, आस्त्रव-संवर-बन्ध-निर्जरादिकास्तु व्यवहारदृष्ट्यैव, न तु परमार्थदृष्ट्या –इति तथ्यस्य प्रतिपादकानि कानिचित् शास्त्रीयाणि उद्धरणानि प्रस्तूयन्ते।**

**नियमसारे** *(गाथा-42)* **निरूपितम्–**

*चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य।*
*कुलजोणि जीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति॥*

**बृहदद्रव्यसंग्रहे च** *(गाथा-8)* **प्रत्यपादि–**

*पुद्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।*
*चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥*

**अन्यच्च, बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य** *(गाथा-57)* **टीकायामुद्धृतं पद्यमपि समर्थयति मतं पूर्वोक्तम्–**

---

जीव के संवर का अभाव होने से, **( आत्मानं संवरभावविमुक्तं नित्यं चिन्तयेत् )** आत्मा संवर भाव से मुक्त ही है –इस तरह हमेशा चिन्तन करते रहना, भावना करते रहना चाहिए। इस तरह मुमुक्षुओं के लिए संवरानुप्रेक्षा (उपादेय या) भावनीय है– यह शास्त्रकार का उपदेश या आज्ञा समझना चाहिए। आत्मा (निश्चयनय से) स्वभावतः शुद्ध है, किन्तु उसके आस्त्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा आदि तो व्यवहार दृष्टि से ही हैं, न कि परमार्थ दृष्टि से –इस तथ्य के प्रतिपादक कुछ शास्त्रीय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

नियमसार (गाथा-42) में कहा गया है–

''चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण, जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग, शोक, कुल, (मनुष्यत्व आदि) योनि, जीवस्थान व मार्गणास्थान –ये जीव के नहीं होते।''

बृहद् द्रव्यसंग्रह (गाथा-8) में भी प्रतिपादित किया गया है–

''आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल-कर्मों का कर्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से तो वह राग-द्वेषादि चेतन कर्मों का कर्ता है और शुद्ध नय से तो वह शुद्ध भावों का ही कर्ता है।''

इसके अतिरिक्त, बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-57) की टीका में एक उद्धृत पद्य द्वारा भी पूर्वोक्त मत का समर्थन होता है–

*मुक्तश्चेत् प्राक् भवेद् बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम्।*
*अबन्धे मोचनं नैव, मुञ्चेरर्थो निरर्थकः॥*

**परमात्मप्रकाशे** *(1/65)* **च विशदीकृतम्–**

*बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय, जीवहँ कम्मु जणेइ।*
*अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ॥*

**समयसारे** *(गाथा-56)* **च प्रोक्तम्–**

*ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।*
*गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥*

**अत्रैका आरेका जागर्ति– यदि आत्मा संवरादिरहितस्तर्हि पूर्वगाथासु संवरसद्भाववर्णनं कथं कृतम्?**

---

"यदि जीव मुक्त है तो इस जीव को पहले बन्ध अवश्य होना चाहिए; क्योंकि यदि बन्ध नहीं तो मोक्ष किस प्रकार हो सकता है? अबन्ध (जो बँधा ही नहीं है, उस) की मुक्ति नहीं होती तो 'मुञ्च' धातु का प्रयोग ही निरर्थक है (इसलिए जीव को मोक्ष हुआ –यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं)।"

परमात्मप्रकाश (1/65) में इसे और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है–

"बन्ध या मोक्ष –इन सबको करने वाला तो 'कर्म' होता है, और आत्मा तो कुछ भी नहीं करता –ऐसा निश्चयनय का कथन है।"

समयसार (गाथा-56) में कहा गया है–

"ये जो वर्ण आदि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव जीव के कहे गये हैं, वे सब व्यवहारनय से होते हैं, निश्चयनय से तो इनमें से कोई भी जीव के नहीं होते।"

यहाँ एक शंका पैदा होती है कि यदि आत्मा संवर आदि से रहित है तो पहले की गाथाओं में संवर होने का वर्णन क्यों किया गया?

**अत्र समाधीयते– यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेनात्मा शुद्धस्वभावोऽतः स संवरादिरहितः, तथापि स व्यवहारेण संसारेऽस्ति, तेन कारणेन जीवस्य संवरादयः सन्ति, न तेषामभावः। प्रत्येकनय एकदेशेनैव पदार्थस्य वर्णनं करोति, न तु सर्वथा सम्पूर्णरूपेण, तेन कारणेन ते सम्यक्नयाः भवन्ति, अन्यथा ते नया मिथ्यानयाः स्युः। किञ्च, व्यवहारनयेन विना परमार्थनयोपदेशो न समीचीनतामञ्चति, अतः शास्त्रकारैः पूर्वं व्यवहारनयेन संवर उक्तः, पश्चात् निश्चयनयेन तदभावोऽपि प्रतिपादितः।**

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा–8)*–

*जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।*
*तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं॥*

**एवं समस्ता आस्रवदोषाः संवरयुक्तस्य न भवन्ति। यथा महासागरे नौकायाः छिद्रपिधाने न कृते सति, क्रमशो जलविप्लवे सति नौकास्थितजनानां विनाशो भवत्येव, छिद्रपिधाने कृते तु निर्विघ्नमेव अभीष्टदेशप्रापणं तया नौकया, तथैव कर्मागम–द्वारे संवृते सति नास्ति कश्चित् श्रेयसि**

---

इसका समाधान इस प्रकार है– यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा शुद्ध स्वभाव से संयुक्त होने के कारण संवर आदि से रहित है, फिर भी व्यवहारनय से संसार में है –इस कारण से जीव के संवरादि है उन सबका सर्वथा अभाव नहीं है। प्रत्येकनय पदार्थ का एकदेश रूप से ही वर्णन करते हैं, न कि सर्वथा सम्पूर्ण रूप से, इस कारण से वे सम्यक्नय कहलाते हैं, अन्यथा वे नय मिथ्यानय ही हो जाएंगे। और, चूँकि व्यवहारनय के बिना परमार्थनय का उपदेश करना समीचीन (उपयुक्त) नहीं होता, इसलिए शास्त्रकार ने (इस ग्रन्थ में) पहले व्यवहारनय से संवर होना बताया है, उसके बाद निश्चयनय से उस (संवर) का अभाव बताया है।

समयसार (गाथा–8) में कहा भी है–

"जिस प्रकार अनार्य को अनार्य भाषा के बिना समझाना सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार व्यवहारनय के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं किया जा सकता।"

इस प्रकार, संवर से युक्त व्यक्ति के आस्रव दोष नहीं रहते। जैसे, महासागर में नौका का छिद्र बन्द नहीं किया जाय तो क्रमशः उस नौका का जल–विप्लव होने पर (उसके पानी में डूब जाने पर), उस पर बैठे प्राणियों का विनाश अवश्यम्भावी है, किन्तु छेद बन्द कर देने पर निर्विघ्न अभीष्ट देश तक उस नौका से पहुँच

**प्रतिबन्धः, इत्यादिसंवरगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा, तस्याः सुफलमेतद् यत् चिन्तयतो जनस्य संवरे नित्योद्यमो भवति, इति राजवार्तिके** *(9/7/7)* **निरूपितमस्ति।**

**एवं भो भव्य! मोक्षः कर्मसंवरनिर्जराभ्यां समधिगम्यते। कर्मणां संवरणं कथं कया रीत्या भवति –इति सम्यक् विज्ञाय तदर्थं प्रयतस्व, यथाशक्ति निश्चयध्यान-साधकं व्यवहारधर्मध्यानं चानुष्ठेयम्, तथा निश्चयधर्मध्यानसिद्ध्यै च यथाशक्ति प्रयतितव्यमिति गाथायाः, तथा संवरानुप्रेक्षाधिकारस्य च सकलस्य सारभूत उपदेशः।**

**एवं** 'चलमलिणमगाढं' **इत्यादिकां गाथामादिं कृत्वा** 'जीवस्स ण संवरणं' **इत्यादिकां गाथां यावत् पञ्चगाथात्मकः संवरानुप्रेक्षात्मको नवमोऽधिकारः सम्पन्नः।**

*[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागररचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'संवरानुप्रेक्षा'-नामको नवमोऽधिकारः सम्पन्नतां गतः।]*

---

जाना सम्भव हो जाता है, उसी तरह कर्मागम-द्वारों का संवरण होने पर श्रेयस्कर कार्य में कोई रुकावट नहीं होगी –इत्यादि रूप से संवर-सम्बन्धी गुणों का अनुचिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है, उसका सुफल यह होता है कि इसका अनुचिन्तन करते रहने से संवर की ओर व्यक्ति की प्रयत्नशीलता बनी रहती है –ऐसा राजवार्तिक (9/7/7) में बताया गया है।

इस प्रकार हे भव्य! मोक्ष की प्राप्ति कर्मों के संवर व निर्जरा –इन दोनों से होती है। कर्मों का संवर किस रीति से होता है –इसे अच्छी तरह जान कर उसके लिए प्रयत्नशील रहो, यथाशक्ति निश्चय ध्यान के साधक व्यवहार धर्मध्यान का अनुष्ठान भी करो और (साथ ही) निश्चय धर्मध्यान की सिद्धि के लिए भी यथाशक्ति प्रयत्न करते रहो –यह गाथा का तथा समस्त संवरानुप्रेक्षा अधिकार का सारभूत उपदेश है।

इस प्रकार, **'चलमलिणमगाढं'** इत्यादि गाथा से लेकर **'जीवस्स ण संवरणं'** इत्यादि गाथा तक पाँच गाथाओं वाला संवरानुप्रेक्षा नामक नवम अधिकार सम्पन्न हुआ।

*[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस सर्वोदया नामक टीका में 'संवरानुप्रेक्षा' नामक नवम अधिकार सम्पन्न हुआ।]*

## [ णिज्जराणुवेक्खा– दसमो अहियारो ]
## ॥ निर्जरानुप्रेक्षा– दशमोऽधिकारः ॥

**अथ पूर्वं संवरानुप्रेक्षाया निरूपणं विधाय सम्प्रति 'निर्जरानुप्रेक्षा'-नामको दशमोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्य पातनिका निर्दिश्यते। गाथाद्वयात्मके अत्राधिकारे आदौ** *'बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं'* **इत्यादिप्रथमगाथायां निर्जरास्वरूपं निर्दिश्य संवरनिर्जरयोः समानकारणत्वं प्रतिपादितम्। तदनन्तरं द्वितीयगाथा** *'सा पुण दुविहा णेया'* **इत्यादिका वर्तते, यस्यां निर्जराया भेदौ निर्दिश्य तत्स्वामित्वं च प्रतिपादितमस्ति। एवं गाथाद्वयात्मकाधिकारस्य पातनिका विज्ञेया।**

**सम्प्रति येन कारणेन संवरो भवति, तेनैव कारणेन निर्जरा भवतीति शास्त्रकारा निरूपयन्ति–**

---

## [ निर्जरानुप्रेक्षा– दशम अधिकार ]

पहले संवरानुप्रेक्षा का निरूपण किया गया, अब 'निर्जरानुप्रेक्षा' नामक दसवाँ अधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है। सर्वप्रथम इस अधिकार की पातनिका का निर्देश कर रहे हैं। यह अधिकार दो गाथाओं का है, इसमें पहले '**बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं**' इत्यादि प्रथम गाथा है, जिसमें निर्जरा का स्वरूप (लक्षण) बताकर संवर व निर्जरा के कारण समान होते हैं– इसे प्रतिपादित किया गया है। इसके बाद, '**सा पुण दुविहा णेया**' इत्यादि दूसरी गाथा (67वीं) है, जिसमें निर्जरा के दो भेद बताकर उनके स्वामियों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार, दो गाथा वाले इस (दसवें) अधिकार की पातनिका जाननी चाहिए।

अब, जिस कारण से संवर होता है, उसी कारण से निर्जरा भी होती है– इसे शास्त्रकार बता रहे हैं –

**बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहिं पण्णत्तं।**
**जेण हवे संवरणं, तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे॥ ६६॥**

*छाया– बन्धप्रदेशगलनं निर्जरणम् –इति जिनैः प्रज्ञप्तम्।*
*येन भवति संवरणं, तेन तु निर्जरणम् –इति जानीहि॥*

**( सर्वोदया टीका– ) निर्जरानुप्रेक्षानामकोऽयमधिकारः। तत्र प्रथमं का निर्जरा –इति प्रथममभि-धातव्यम्। अतः प्रथमं निर्जरालक्षणं निरूप्यते–** *(बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं)* **बन्ध-प्रदेशाः अर्थात् पूर्वबद्धकर्मप्रदेशाः, तेषां गलनम्– एकदेशेन संक्षयः, स एव निर्जरणं यद्वा कर्मनिर्जरा इति कथ्यते। मोक्षस्तु सर्वकर्मणां पूर्णतया क्षयो भवति, निर्जरा तु कर्मणामांशिकः क्षय इति तयोर्भेदो ज्ञातव्यः।**

**शुभाशुभफलविपाकानन्तरं कर्मणां निषेकरूपेण गलनं भवत्येव। निषेको नाम कर्म-परमाणुस्कन्धानां निक्षेपणम्। अर्थात् पक्वाम्रफलवत् कर्मपरमाणूनामात्मप्रदेशेभ्यो यो वियोगः, पूर्वबद्धस्थितिक्षयो वा जायते, सैव निर्जरेति भावः।**

---

**( 66 )**

**( गाथा-अर्थ– ) बँधे हुए ( कर्म- ) प्रदेशों का गलना ( झड़ना ) निर्जरा है– ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। जिस कारण से ( कर्मों का ) संवरण होता है, उसी कारण से निर्जरा ( भी ) होती है–ऐसा जानें।**

**( सर्वोदया टीका– )** निर्जरानुप्रेक्षा नाम का यह अधिकार है। यहाँ निर्जरा क्या होती है? इसे बताना उचित है। इसलिए पहले निर्जरा का लक्षण बताया जा रहा है– **( बन्धप्रदेशगलनं निर्जरणं )** – बन्ध प्रदेश अर्थात् पूर्व में बँधे कर्मों के प्रदेश, उनका गलन –एकदेश (आंशिक) रूप से जो क्षय होना, उसे ही निर्जरण या कर्मनिर्जरा कहा जाता है। मोक्ष तो समस्त कर्मों का पूर्णतया क्षीण होना है किन्तु निर्जरा कर्मों का आंशिक क्षय है –यह इन दोनों में भेद जानना चाहिए।

शुभ या अशुभ फल रूप में कर्म-विपाक होने पर कर्मों का निषेक रूप से गिरना (झड़ना) होता ही है। निषेक का अर्थ है– कर्म-परमाणुओं के स्कन्धों का गिरना अर्थात् पके आम्रफल की तरह कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों से जो वियोग या पूर्वबन्ध की स्थिति का नाश होता है, वही निर्जरा है– यह भाव है।

**निर्जरायाः प्रोक्तं स्वरूपमेव कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-103)* **प्रकटीकृतम्–**

*सव्वेसिं कम्माणं सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ।*
*तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण॥*

*(इदि जिणेहिं पण्णत्तं)* **–निर्जरायाः स्वरूपमिदं जिनैः जिनेन्द्रैः तीर्थंकरैः प्रज्ञप्तं समुपदिष्टम्।**

*(जेण संवरणं हवे)* **येन आत्मीयेन भावेन कारणरूपेण कर्मणां संवर आस्रवनिरोधरूपो भवति, तेषु कारणेषु गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्ररूपाणि परिगणितानि प्रमुखतः स्वीक्रियन्ते,** *(तेण दु)* **तैरेव,** *(णिज्जरणं)* **निर्जराऽपि भवति,** *(इदि जाणे)* **इति जानीहि, अवबुद्ध्यस्वेत्यर्थः। यानि यानि संवरकारणानि, तानि तानि ( अविपाक ) निर्जराया अपि भवन्ति –इति तात्पर्यम्।**

**उक्तं च पञ्चास्तिकाये** *(गाथा-145)–*

*जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।*
*मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं॥*

---

निर्जरा के उपर्युक्त स्वरूप को ही कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-103) में स्पष्ट किया गया है–

''सब कर्मों की शक्ति के उदय-विपाक होने को अनुभाग कहते हैं। उसके पश्चात् कर्मों का जो गिरना होता है, उसे निर्जरा जानो।''

**( इति जिनैः प्रज्ञप्तम् )** निर्जरा के इस स्वरूप को जिन अर्थात् जिनेन्द्र देवों –तीर्थंकरों ने प्रज्ञापित किया है, उपदिष्ट किया है।

**( येन संवरणं भवति )** जिस आत्मीय भाव (परिणाम) रूप साधनों से कर्मों का आस्रव-निरोध रूप संवर होता है, उनमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय व चारित्र की गणना प्रमुखतः मानी जाती है, **( तेन तु )** उन्हीं से **( निर्जरणं )** निर्जरा भी हो जाती है, **( इति जानीहि )** ऐसा जानो, अर्थात् समझो, मानो। जो जो संवर के कारण हैं, वे वे (अविपाक) निर्जरा के भी कारण हैं– यह तात्पर्य है।

पंचास्तिकाय (गाथा-145) में कहा भी गया है–

''संवर से युक्त ऐसा जो जीव है, वह वस्तुतः आत्मप्रसाधक होकर आत्मानुभव करते हुए ज्ञान को निश्चल रूप से ध्याता है, वह कर्म-रज को भी हटा देता है, निर्जरा करता है।''

**न केवलेन संवरेण मोक्षः, न च संवरेण विना निर्जरा सार्थका भवतीति शास्त्रेषु स्पष्टमुद्घोषितम्। यथा— भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1840)*—

*तवसा विणा न मोक्खो, संवरमित्तेण होइ कम्मस्स।*
*उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं॥*

**किं च, तत्रैव** *(गाथा-1848)*—

*तवसा चेव न मोक्खो, संवरहीणस्स होइ जिणवयणे।*
*ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं॥*

**अत्रेदं ज्ञेयम्— यद्यपि संवरो निर्जरा चेति पृथक् पृथक् तत्त्वरूपेण शास्त्रेषु वर्णितौ, तयोः कारणान्यपि व्यवहारेण भिन्नानि निरूपितानि, तथापि निश्चयेन संवर-निर्जरयोः कारणं सामान्यतयैकं भवति। निर्जराशब्देनात्र अविपाकनिर्जरारूपः प्रकारो ग्राह्यः। निर्जरां विना संवरो न भवति, अतः यदा संवरो भवति, तदाऽविपाकनिर्जराऽपि भवत्येवेति गाथासारः।**

---

केवल संवर से मोक्ष नहीं होता, और न ही संवर के बिना निर्जरा सार्थक होती है– ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट उद्घोषित किया गया है। जैसे, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1840) में कहा है–

"जैसे सुरक्षित भी धन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी तरह तप के बिना कर्मों के संवर मात्र से कर्मों का क्षय नहीं होता।"

और भी वहीं (गाथा-1848) कहा गया है–

"जिनागम में संवर के बिना, मात्र तप से ही सब कर्मों का विनाश नहीं कहा गया है, क्योंकि यदि तालाब में जल आता रहे तो तालाब को पूर्णरूप से सुखाया नहीं जा सकता।"

यहाँ यह ज्ञातव्य है– यद्यपि संवर व निर्जरा –इन दोनों को शास्त्रों में पृथक्-पृथक् तत्त्वों के रूप में वर्णित किया गया है, उनके कारणों को भी व्यवहार-दृष्टि से भिन्न-भिन्न बताया गया है, फिर भी निश्चयनय से संवर व निर्जरा का सामान्य रूप से एक ही कारण है। यहाँ निर्जरा शब्द से अविपाक निर्जरा अर्थ लेना चाहिए। बिना संवर के निर्जरा नहीं होती, इसलिए जब संवर होता है, तब अविपाक निर्जरा भी होती ही है –यह गाथा का सार है।

**किं च, स्वकालपच्यमानाम्रफलवत् सविपाकनिर्जरा तु सर्वेषां प्राणिनां मिथ्यादृष्टीनामपि भवति, किन्तु तत्रैव तेषां कर्मास्रवोऽपि प्रवर्तते, अतः सा निर्जरा गजस्नानवत् निरर्थिका, यतः तत्र स्तोककर्मनिर्जरा, बहुतरकर्मबन्धोऽपि। अतो मोक्षप्रकरणे संवरपूर्विका निर्जरा ग्राह्या। तपोमुख्याचरणैः संवरनिर्जरेत्युभयफलं प्राप्यते। एवं सिद्ध्यति यत् संवरहेतूनि अनुष्ठानानि निर्जराहेतुत्वमपि वहन्ति। यथा शरीरे मलसञ्चये जाते अजीर्णरोगदोषग्रस्तो जनो दुःखमनुभवति, तथैव कर्ममले सञ्चिते दुःखमेव। तत्र यथा उपयुक्तौषधग्रहणेन मलपाको भवति, ततश्च मलस्य स्वतः निस्सरणं जायते, ततश्च रोगी सुखमनुभवति, तथैव जिनवचनौषधिना कर्मनिर्जरायां सुखप्राप्तिरिति बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य** *(गाथा-35)* **ब्रह्मदेवविरचितायां संस्कृतटीकायां प्रतिपादितं तन्मननीयम्–**

*"यथा कोऽप्यजीर्णदोषेण मलसञ्चये जाते सति आहारं त्यक्त्वा किमपि हरीतक्यादिकं मलपाचकमग्निदीपकं चौषधं गृह्णाति। तेन च मलपाकेन मलानां पातने गलने निर्जरणे सति सुखी भवति।*

---

एक बात और, अपने नियतकाल में पक चुके आम्र-फल की तरह सविपाक निर्जरा तो सभी प्राणियों को अर्थात् मिथ्यादृष्टियों को भी होती है, किन्तु वहीं उनके कर्मों का आस्रव भी चलता रहता है, इसलिए वह निर्जरा गज-स्नान की तरह (जैसे हाथी नहाकर बाहर आता है और पुनः मिट्टी अपने ऊपर डाल लेता है और उसका नहाना बेकार हो जाता है, वैसे ही) निरर्थक हो जाती है। क्योंकि वहाँ कर्मनिर्जरा तो थोड़ी होती है, कर्मबन्ध ज्यादा हो जाता है। इसलिए मोक्षप्रकरण में संवरपूर्वक निर्जरा का ग्रहण होता है। तपस्या-प्रधान आचरणों से संवर व निर्जरा -दोनों फल प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि संवर के हेतु जो अनुष्ठान हैं, वे निर्जरा के भी हेतु होते हैं। जैसे शरीर में मल संचित होने पर अजीर्ण दोष से ग्रस्त हुआ व्यक्ति दुःख अनुभव करता है, वैसे ही कर्ममल संचित होने पर दुःख ही प्राप्त होता है। वहाँ जैसे उपयुक्त दवा लेने पर मल का पाक होकर मल स्वतः (शरीर से) बाहर निकल जाता है, परिणामस्वरूप रोगी सुख का अनुभव करता है, उसी तरह जिन-वाणी रूपी औषधि से कर्म-निर्जरा होकर सुख प्राप्त होता है -ऐसा बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-35) की ब्रह्मदेव-कृत संस्कृत टीका में (निम्नलिखित कथन) प्रतिपादित है जिस पर मनन करना चाहिए-

"जिस प्रकार किसी व्यक्ति को अजीर्ण दोष के कारण मल-संचय होने से वह आहार का त्याग करके मल को पकानेवाली और जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाली हरड़ आदि दवा लेता है और उससे मल पक जाने से, गल जाने, खिर जाने पर वह सुखी होता है। उसी प्रकार, वह भव्य जीव भी अजीर्णता पैदा

*तथायं भव्यजीवोऽपि अजीर्णजनक-आहारस्थानीयमिथ्यात्वरागादि-अज्ञानभावेन कर्ममलसञ्चये सति मिथ्यात्वरागादिकं त्यक्त्वा परमौषधिस्थानीयं जीवितमरण-लाभालाभसुखदुःखादिसमभावनाप्रतिपादकं कर्ममलपाचकं शुद्धध्यानाग्निदीपकं च जिनवचनौषधं सेवते। तेन कर्ममलानां गलने निर्जरणे सति सुखी भवति। किञ्च, यथा कोऽपि धीमान् अजीर्णकाले यद् दुःखं जातं तदजीर्णे गतेऽपि न विस्मरति, ततश्च अजीर्णजनकाहारं परिहरति, तेन च सर्वदैव सुखी भवति। तथा विवेकिजनोऽपि 'आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति' इति वचनाद् दुःखोत्पत्तिकाले ये धर्मपरिणामा जायन्ते, तान् दुःखे गतेऽपि न विस्मरति।''*

**एवं भव्य! निजपरमात्मानुभूतिबलेन कर्मनिर्जरणाय दृष्टश्रुतभोगाकांक्षादिविभावपरिणाम-परित्यागरूपैः संवेगवैराग्यपरिणामैः निरन्तरं वर्तस्व। कर्मक्षये एव सुखम्, स च कर्मक्षयः संवरनिर्जराभ्यामेव, तत्कारणभूतेषु च प्रमुखं तपश्चरणं, तदेवानुष्ठातव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

करनेवाले आहार के समान मिथ्यात्व, राग आदि अज्ञान भाव से कर्मरूपी मल का संचय कर लेता है, ऐसी स्थिति में जब वह मिथ्यात्व आदि का त्याग करता है और परम औषधि के समान, तथा जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि में समभाव का प्रतिपादन करनेवाली, कर्मरूपी मल को पकानेवाली शुद्धध्यान रूपी अग्नि को प्रज्ज्वलित करनेवाली जिन-वचन रूपी औषधि का सेवन करता है और उससे कर्मरूपी मल गल जाने पर निर्जरित हो जाता है और उससे जीव सुखी हो जाता है। इसके अतिरिक्त, जैसे कोई बुद्धिमान् मनुष्य अजीर्ण (रोग) के समय स्वयं को जो दुःख हुआ था, उसे अजीर्ण मिट जाने पर भी भूलता नहीं है और अजीर्ण पैदा करनेवाले आहार का परित्याग करता है, जिससे वह हमेशा ही सुखी रहता है। उसी तरह, विवेकसम्पन्न व्यक्ति भी 'आर्त (दुःखी) मनुष्य धर्म में तत्पर रहते हैं' इस वचन के अनुसार, दुःख-उत्पत्ति के समय जो धार्मिक (आत्मीय) परिणाम हुए थे, उन्हें दुःख नष्ट होने पर भी याद रखता है।''

इस प्रकार, हे भव्य! निज परमात्मानुभूति के बल से कर्म-निर्जरा हेतु, देखे व सुने भोगों की आकांक्षा आदि विभाव-परिणामों के त्याग रूपी संवेग व वैराग्य रूपी परिणामों के साथ नित्य प्रवर्तित रहो। कर्म क्षीण होने से ही सुख मिलता है, वह कर्मक्षय भी संवर व निर्जरा के द्वारा होता है, उनके कारणों में प्रमुख तपश्चरण है, तो उसी का अनुष्ठान करते रहना चाहिए -यह गाथा का तात्पर्य है।

**सम्प्रति शास्त्रकारा निर्जराभेदं तत्स्वामित्वं च निरूपयन्ति–**

**सा पुण दुविहा णेया, सकालपक्का तवेण कयमाणा।**
**चदुगदियाणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे विदिया॥६७॥**

**छाया–** *सा पुनः द्विविधा ज्ञेया, स्वकालपक्वा तपसा क्रियमाणा।*
*चतुर्गतिकानां प्रथमा, व्रतयुक्तानां भवति द्वितीया॥*

**( सर्वोदया टीका– )** *(पुण)* **पुनः, तथा च,** *(सा)* **पूर्वोक्तलक्षणा सा निर्जरा,** *(दुविहा णेया)* **द्विविधा विज्ञेया। तस्या निर्जरायाः द्वौ भेदौ भवतः इति विजानीहि –इत्यर्थः। तयोर्नामनी के? उच्यते–** *(सकालपक्का, तवेण कयमाणा)* **प्रथमा स्वकालपक्वा, द्वितीया तु तपसा विधीयमाना-निर्जरा।**

'स्वकालपक्वा' **इत्यस्य नामान्तराणि– विपाकजा, सविपाकजा, यथाकालजा, अकुशलानुबन्धा च। तथैव 'तपसा विधीयमाना' इत्यस्य नामान्तराणि–अविपाकजा, औपक्रमिकी, कुशलमूला च।**

---

अब, शास्त्रकार निर्जरा के भेदों और उसके स्वामी जीवों के विषय में बताने जा रहे हैं–

**( 67 )**

**( गाथा-अर्थ– ) और, उस ( निर्जरा ) को दो प्रकार की जानना चाहिए– स्वकालपक्व, और तप द्वारा की जानेवाली। इनमें पहली ( निर्जरा ) चारों गतियों के जीवों को होती है और दूसरी व्रतों से युक्त जीवों को हुआ करती है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( पुनः )** और, **( सा )** पूर्वोक्त लक्षणवाली उस निर्जरा को **( द्विविधा ज्ञेया )** दो प्रकार की जानें, अर्थात् उस निर्जरा के दो भेद होते हैं –ऐसा जानें, यह अर्थ है। उनके नाम क्या हैं? बता रहे हैं– **( स्वकालपक्वा, तपसा क्रियमाणा )** पहली है– स्वकालपक्वा और दूसरी है– तप से की जानेवाली निर्जरा।

स्वकालपक्वा निर्जरा के अन्य नाम हैं– विपाकजा, सविपाकजा, यथाकालजा और अकुशलानुबन्धा। इसी तरह, 'तप से की जानेवाली' इसके अन्य नाम है– अविपाकजा, औपक्रमिकी और कुशलमूला।

**एतयोर्द्वयोः या** *(पढमा)* **प्रथमा स्वकालपक्वा वर्तते, अर्थात् क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्य अनुभवोदयावलि-स्त्रोतोऽनुप्रविष्टस्य आरब्धफलस्य या निवृत्तिः, तद्रूपा विपाकजा निर्जरा अथवा, नरकादिगतिषु कर्मफलविपाकजा, सविपाकजा वा, अबुद्धिपूर्वा अकुशलानुबन्धा वा या निर्जरा, सा** *(चदुगदियाणं)* **चतुर्गतिषु स्थितानां प्राणिनां भवति, सर्वेषां संसारिजीवानां भवतीत्यर्थः।**

**अयम्भावः– अकामनिर्जरेयं प्रथमा निर्जरा भवति। अकामेन या निर्जरा भवति, साऽकामनिर्जरा। अत्र अकामशब्देन चारकनिरोधबन्धनबद्धेषु क्षुत्तृष्णानिरोधब्रह्मचर्यभूशय्या-मलधारणपरितापादिर्गृह्यते। अथवा विषयनिवृत्तित्यागादिं च आत्माभिप्रायेण अकुर्वतः पारतन्त्र्याद् भोगोपभोगनिरोधस्तत्र अकामनिर्जरा विज्ञेया। सकामनिर्जरा औपक्रमिकी निर्जरैव, अनगारधर्मामृत-स्वोपज्ञटीकायां** (2/43) **भणितमपि–** 'सकामा पुनरुपक्रमापक्वकर्मनिर्जरणलक्षणा' **इति।**

---

इन दोनों भेदों में, जो **( प्रथमा )** पहली 'स्वकालपक्वा' निर्जरा है, अर्थात् क्रमशः अपने परिपाक-काल को प्राप्त हुए और अनुभव रूपी उदयावली के स्रोत में प्रविष्ट हुए ऐसे शुभ या अशुभ कर्म की फल देकर जो निवृति होती है, वह तद्रूपा विपाकजा निर्जरा है। अथवा, नरकादि गतियों में रह रहे जीवों को होनेवाली कर्मफल-विपाकजा, सविपाकजा, अबुद्धिपूर्वा, अकुशलानुबन्धा जो निर्जरा है, वह **( चतुर्गतिकानां )** चारों गतिवाले प्राणियों को होती है, अर्थात् सभी प्राणियों को हुआ करती है –ऐसा अर्थ है।

तात्पर्य यह है– प्रथम निर्जरा 'अकामनिर्जरा' है। जो अकाम (अनिच्छा रूप तप से) जो निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा होती है। चारक (कारागार) में रोक रखने पर या रस्सी आदि से बाँधे जाने पर जो भूख-प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ता है, भूमि पर सोना पड़ता है, मल-मूत्र को रोकना पड़ता है और सन्ताप आदि सहना होता है –ये सब यहाँ अकाम शब्द से ग्राह्य हैं। इनसे होने के कारण अकामनिर्जरा कही जाती है। अथवा, विषयों की निवृत्ति व त्याग आदि को आत्मीय अभिप्राय से न करने वाले व्यक्ति को जो परतन्त्रता के कारण भोग-उपभोग का निरोध (सहना) होता है, वहाँ अकामनिर्जरा जाननी चाहिए। सकामनिर्जरा यथाकाल निर्जरा ही है, अनगारधर्मामृत (2/43) की स्वोपज्ञ टीका में कहा भी है– उदय में अप्राप्त कर्मों को जो उपक्रम (बुद्धिपूर्वक आत्मपरिणाम) के द्वारा उदयावली में प्राप्त करा कर जो कर्म अपक्व रूप से यथाकाल निर्जीर्ण किया जाता है, इसे सकाम या औपक्रमिकी निर्जरा कहा जाता है।

*(विदिया)* **द्वितीया, या अविपाकजा, अर्थात् अप्राप्तविपाककालम् औपक्रमिकक्रिया-विशेषसामर्थ्यानुदीर्णबलाद् उदीर्णोदयावलिं प्रवेश्य यत्कर्म वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत्, एवम्भूता अविपाकनिर्जरा, सा** *(वयजुत्ताणं हवे)* **व्रतेन युक्तानां, महाव्रतिनां मुनीनां भवति। अथवा परीषहजये कृते सत्यपि एषा द्वितीया निर्जरा भवति। एषाऽपि शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति भेदद्वयं बिभर्ति।**

**एतयोः प्रथमद्वितीयरूपयोरन्तरम्– सविपाकनिर्जरा प्रथमा केवलमुदयगतकर्मणामेव भवति, किन्तु अविपाकनिर्जरा द्वितीया तपसा पक्वानामपक्वानां च सर्वकर्मणामेव भवति। प्रथमा सर्वेषां जीवानां भवति, द्वितीया तु सम्यग्दृष्टिव्रतधारिणामेवेति प्रागुक्तमपि।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-107)*–

*जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।*
*तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण॥*

---

**( द्वितीया )** जो अविपाकजा है अर्थात् जैसे आम व कटहल को औपक्रमिक क्रियाविशेष (पाल) के सामर्थ्य से उदयावली में प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाता है, ऐसी जो अविपाकनिर्जरा है, वह **( व्रतयुक्तानां भवति )** व्रत से युक्त, अर्थात् महाव्रती मुनियों के होती है। अथवा परीषह-जय करने पर भी यह द्वितीय निर्जरा होती है। इस (द्वितीय) निर्जरा के भी दो भेद किये जाते हैं– शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा।

इन दोनों प्रथम व द्वितीय निर्जरा में यह अन्तर है– सविपाक निर्जरा प्रथम निर्जरा है, जो मात्र उदय में आये कर्मों की ही होती है, किन्तु दूसरी अविपाकनिर्जरा तप से पक्व व अपक्व सभी कर्मों की होती है। प्रथम निर्जरा सभी जीवों के होती है, किन्तु दूसरी सम्यग्दृष्टी व्रती आत्माओं की होती है –यह पहले कह चुके हैं।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-107) में कहा भी है–

''अज्ञानी जिस कर्म को लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है, उसी कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त होता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल में ही नष्ट कर देता है।''

**किञ्च, सामान्यतो द्वितीया निर्जरैव मोक्षकारणभूता, न प्रथमा। सरागसम्यग्दृष्टीनां तु प्रथमा निर्जरा यद्यपि अशुभकर्मक्षयं करोति, तथा च संसारस्थितिं स्तोकां कुरुते, तद्भवे तीर्थंकरप्रकृत्यादि-विशिष्टपुण्यबन्धकारणं भवति, एवं सा परम्परया मुक्तिकारणमपि भवति। केषांचित् वीतराग-सम्यग्दृष्टीनां ( अप्रमत्तादिक्षीणकषायगुणस्थानवर्तिनां ) तद्भवे एव पुण्यपापद्वयस्य नाशे, सा प्रथमा निर्जराऽपि तद्भवे मुक्तिकारणं भवितुमर्हति –इति बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य** *(गाथा-36)* **टीकायां संकेतितम्। आत्मस्वरूपलीनानां महाव्रतधारिणां मुनीनां संवरनिर्जरार्थं सततमुद्युक्तता स्वभावतो भवति। परमात्मप्रकाशे** *(2/38)* **च स्पष्टतया भणितमास्ते–**

*अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्पसरूवि णिलीणु।*
*संवर णिज्जर जाणि तुहुँ सयल वियप्प विहीणु॥*

**एवं निर्जरास्वरूपादिकं विज्ञाय तपश्चरणे निरतो भवन् संवरनिर्जरारहितशुद्धबुद्धैकस्वभाव-परमात्मतत्त्वं ध्येयं विधेहि, तथा निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानाभ्यासाय प्रयतस्व –इति गाथायास्तात्पर्यम्।**

और, सामान्यत: दूसरी निर्जरा ही मोक्ष की कारण होती है, प्रथम नहीं, किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि जीवों के प्रथम निर्जरा में अशुभ कर्मों का क्षय होता है तथा संसार-स्थिति अल्प होती है, और उसी भव में तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य-बन्ध भी होता है, इस प्रकार वह (निर्जरा) परम्परा से मुक्ति का कारण भी होती है। किन्हीं वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के (अप्रमत्तादि अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक विद्यमान जीवों के) उनके उसी भव में यदि पुण्य व पाप दोनों का नाश हो, ऐसी स्थिति में वह प्रथम निर्जरा उसी भव में मुक्ति का कारण हो जाती है –यह सब बृहद् द्रव्यसंग्रह (गाथा-36) की टीका में इंगित किया गया है। आत्मस्वरूप-लीन महाव्रती मुनियों में संवर-निर्जरा हेतु सतत उद्यत होना स्वाभाविक रूप से होता है। परमात्मप्रकाश (2/38) में इसे स्पष्ट रूप से कहा गया है–

"मुनिराज जब तक आत्मस्वरूप में लीन हुए स्थित होते हैं, तब तक सकल विकल्प समूह से रहित उनको तूं संवर व निर्जरा स्वरूप जान।"

इस प्रकार, निर्जरा के स्वरूप आदि को जान कर, तपश्चर्या में निरत होते हुए संवर-निर्जरा से रहित, शुद्ध-बुद्ध एकस्वभावी परमात्म-तत्त्व को ध्यान का विषय बनाओ, तथा निर्विकार-स्वसंवित्तिरूप परम ध्यान के अभ्यास हेतु प्रयत्नशील रहो –यह गाथा का तात्पर्य है।

**द्वितीयनिर्जरा मुख्यतस्तपसा विधीयते –इति गाथायां निर्दिष्टम्। अतः तपोविषये विशेषेण प्रासङ्गिकतया किञ्चिद् विव्रियते पाठकानां लाभाय।**

**इच्छा-निरोधस्तप उच्यते। कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः। तपःस्वरूपविषये जैनशास्त्रेषु बहुधा निरूपणं कृतं दृश्यते।**

**यथा– धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26)* **उक्तम्–** *"तिण्णं रयणाणमा-विब्भावट्ठमिच्छाणिरोहो"*।

**सर्वार्थसिद्धौ** *(6/24)–* *"अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशः तपः"*।

**राजवार्तिके** *(6/24/7)* **च–** *"यथाशक्ति मार्गाविरोधिकायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते"*।

**किं च तत्रैव** *(9/19/21)–* *"देहस्येन्द्रियाणां च तापं करोति इत्यनशनादि तप इत्युच्यते"*।

---

दूसरी (अविपाकजा) निर्जरा मुख्यतया तप से होती है– ऐसा गाथा में बताया गया है। अतः प्रासंगिक रूप से तप के विषय में विशेष रूप से यहाँ कुछ व्याख्यान किया जा रहा है ताकि पाठकों को लाभ हो।

इच्छा-निरोध को तप कहा जाता है। जो कर्मक्षय हेतु तपा जाए, वह तप होता है। तप के स्वरूप के बारे में जैन शास्त्रों में अनेक प्रकार से निरूपण दृष्टिगोचर होता है।

जैसे– धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26) में कहा गया है– "तीनों रत्नों (मोक्ष-मार्ग) के आविर्भाव हेतु इच्छा का जो निरोध किया जाता है, वह तप होता है।"

सर्वार्थसिद्धि (6/24) में कहा गया है– "शक्ति को न छिपा कर, मोक्ष-मार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना यथाशक्ति तप कहलाता है।"

राजवार्तिक (6/24/7) में कहा गया है– "अपनी शक्ति को न छिपा कर मार्गाविरोधी (मोक्षमार्ग के प्रतिकूल न हो, ऐसा) कायक्लेश आदि करना तप होता है।"

और वहीं (9/19/21) यह कहा गया है– "देह और इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति को रोक कर उन्हें तपाते हैं– इसलिए अनशन आदि को तप कहा जाता है।"

**किं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-400)*–

*इह परलोयसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।*
*विविहं कायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥*

**अथवा सम्यक्चारित्रे क्रियमाण उद्यमो योऽपि भवति, स तपःशब्देन परिगण्यते। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-10)*–

*चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो आउंजणा य जो होई।*
*सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स॥*

**एतस्य तपसो द्वौ प्रकारौ –सम्यक् मिथ्या च। सम्यग्ज्ञानेन सह क्रियमाणं तपः सम्यक्, अन्यथा मिथ्यातपो बालतपो वा भण्यते। अत्र मोक्षप्रकरणे सम्यक्तप एव ग्राह्यम्। अज्ञानकृतं तपो बन्धहेतुरिति समयसारस्य** *(गाथा-152)* **आत्मख्यातिटीकायां संकेतितमपि। अथवा सम्यक्तपोरूपेण महाव्रतिनां तपोऽभिप्रेतम्। अथवा दृष्टफलनिरपेक्षता यत्र, तत्तपः सम्यक्।**

---

और, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-400) में कहा गया है–

''जो समभावी इस लोक व परलोक के सुख की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का काय-क्लेश करता है, उसके निर्मल तप धर्म होता है।''

अथवा, सम्यक्चारित्र के रूप में जो भी उद्यम (प्रयास या क्रिया) किया जाय, उसे तप माना जाता है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-10) में कहा भी है–

''उस (अकर्तव्य के त्याग रूप) चारित्र में जो उद्योग व उपयोग (परिणाम) होता है, उसे ही छल-कपट त्याग करनेवाले का तप कहा गया है।''

इस तप के दो भेद हैं– सम्यक् (तप) और मिथ्या (तप)। सम्यक् ज्ञान (सम्यक्त्व) के साथ किया जानेवाला तप सम्यक् है, अन्यथा वह मिथ्या तप या बालतप कहा जाता है। यहाँ मोक्ष प्रकरण है, इसलिए सम्यक् तप का ही ग्रहण करना चाहिए। (इसीलिए) समयसार (गाथा-152) की आत्मख्याति टीका में यह संकेत भी किया गया है कि अज्ञान से किया गया तप बन्ध का हेतु है। अथवा सम्यक्तप रूप से महाव्रतियों का तप यहाँ अभिप्रेत है। अथवा –जिसमें दृष्ट (लौकिक) फल की अपेक्षा नहीं होती, वह सम्यक् तप होता है।

**उक्तं च राजवार्तिके** *(9/19/16)– "सम्यग्ग्रहणमनुवर्तते, तेन दृष्टफलनिवृत्तिः कृता भवति सर्वत्र।"*

**सम्यक्त्वरहितं संयमरहितं तपो निरर्थकमेव। गुप्तिसहितं तपस्तु विपुलकर्मनिर्जरां करोति। उक्तं च दर्शनप्राभृते** *(गाथा-5)*–

*सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठुवि उग्गं तवं चरंताणं।*
*ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं॥*

**समाधिशतके** *(श्लोक-33)* **च भणितमास्ते**–

*यो न वेत्ति परं देहाद्, एवमात्मानमव्ययम्।*
*लभते न स निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः॥*

**शीलप्राभृते** *(गाथा-5)* **च प्रतिपादितं दृश्यते**– *'संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।'*

---

राजवार्तिक (9/19/16) में कहा गया है– "[सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः– इस सूत्र से] सम्यक् पद का अनुवर्तन होता है, इसलिए दृष्टफल की निवृत्ति सर्वत्र (बाह्य तपों में) माननी चाहिए।"

सम्यक्त्व-रहित व संयम रहित तप तो निरर्थक ही है। गुप्तियों के साथ किया तप विपुल कर्म-निर्जरा करता है। दर्शनप्राभृत (गाथा-5) में कहा गया है–

"सम्यक्त्व के बिना करोड़ों वर्ष तक उग्र तप भी किया जाय, तो भी उस बोधि की प्राप्ति नहीं होती।"

समाधिशतक (श्लोक-33) में भी कहा गया है–

"जो अविनश्वर आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता है, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है।"

शीलप्राभृत (गाथा-5) में भी यह प्रतिपादित किया मिलता है– "संयमहीन तप यदि कोई करता है, तो उसका सारा तप व्यर्थ (निष्फल) है।"

**राजवार्तिके** *(8/23/7)* **उद्धृते पद्ये च निरूपितम्–**

*कायमणोवचिगुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं।*
*सो कम्मणिज्जराए विपुलाए वट्टदे मणुस्सोत्ति॥*

**सम्यक्तपोऽपि बाह्याभ्यन्तरभेदात् द्विविधम्। बाह्यं च तपः षड्विधम्– अनशनम्, अवमौदर्यम्, वृत्तिपरिसंख्यानम्, रसपरित्यागः, विविक्तशय्यासनम्, कायक्लेशश्च। आभ्यन्तरं च तपोऽपि षड्विधम्। यथा– प्रायश्चित्तम्, विनयः, वैयावृत्त्यम्, स्वाध्यायः, व्युत्सर्गः, ध्यानं च।**

**तत्र बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्, परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्येतिसंज्ञा कृताऽस्ति। अथवा, अन्यधर्मस्थगृहस्थेन मिथ्यादृष्टिना वाऽपि विधीयते, अतो बाह्यमित्यभिधीयते।**

**एतेषु बाह्येषु प्रथममनशनं तपः, तच्च अहोरात्रादिकालमर्यादया चतुर्विधाशनत्यागरूपं भवति। तत्राशनं चतुर्विधं यथा– खाद्यं, स्वाद्यं, लेह्यं, पेयं चेति। एतेषु मोदकादिकं खाद्यम्, एलालवङ्गादिकं स्वाद्यम्, श्रीखण्डादिकं लेह्यम्, दुग्धादिकं पेयम्। अनशनतपसि उक्तचतुर्विधः**

---

राजवार्तिक (8/23/7) में उद्धृत पद्य (के माध्यम) से बताया गया है–

''काय, मन और वचन गुप्ति से युक्त होकर जो अनेक प्रकार का तप करता है, वह मनुष्य विपुल कर्म-निर्जरा को करता है।''

सम्यक् तप भी बाह्य व आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। बाह्य तप के छः भेद हैं– अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्तशय्याशन और कायक्लेश। आभ्यन्तर तप के भी छः भेद हैं– प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

तपों की बाह्यसंज्ञा इसलिए की गई है क्योंकि ये बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रखते हैं, और दूसरों को प्रत्यक्ष होते हैं। अथवा अन्य धर्म के गृहस्थ द्वारा या मिथ्यादृष्टि द्वारा भी ये किये जा सकते हैं, इसलिए भी इन्हें बाह्य कहा जाता है।

इन बाह्य तपों में प्रथम तप अनशन है जिसमें दिन, रात आदि की समय-मर्यादा रखकर चतुर्विध भोजन का त्याग होता है। अशन के चार प्रकार हैं– खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय। इनमें लड्डू आदि खाद्य हैं, इलायची, लौंग आदि स्वाद्य हैं, श्रीखण्ड आदि लेह्य हैं और दुग्ध आदि पेय हैं। अनशन तप में उपर्युक्त खाद्य

**खाद्याद्यशनत्यागो नवकोटिपूर्वको भवति, अर्थात् मनसा, वचसा कायेन न भुञ्जे, न भोजयामि, नापि च भुञ्जन्तं कंचित् अनुमोदे –इत्यादिरूपेण नवकोटयो ज्ञेयाः। एवं चतुर्विधस्याहारस्य अभिसन्धिपूर्वकं कायेनादानं, हस्तसंज्ञायाः प्रवर्तनम्, कायेन चानुसूचनम् –इत्यादीनां मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारकाणां त्यागोऽनशनं भवति।**

**उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा–440–441)*–

*जो मण–इंदिय–विजई इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो।*
*अप्पाणे विय णिवसइ सज्झायपरायणो होदि॥*

*कम्माण णिज्जरट्ठं आहारं परिहरेइ लीलाए।*
*एगदिणादिपमाणं तस्स तवं अणसणं होदि॥*

**अथवा, रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक–109)* **प्रोक्तम्**–

---

आदि चारों प्रकार के अशन (खाने) का नौ कोटियों से त्याग किया जाता है, अर्थात् मन से, वचन से, शरीर से न खाऊँगा, न खिलाऊँगा और न ही किसी खाते हुए का अनुमोदन करूँगा –इत्यादि रूप से नौ कोटियाँ जाननी चाहिए। इस तरह, चतुर्विध आहार का संकल्पपूर्वक ग्रहण करना, हाथ से इशारा करके दूसरे को ग्रहण करने में प्रवृत्त करना, आहार ग्रहण करने के कार्य से शरीर द्वारा सम्मति देना –इत्यादि मन, वचन व शरीर की कर्म–ग्रहण में निमित्त होनेवाली जो भी क्रियाएँ हों –उन सबका त्याग करना अनशन तप होता है।

कार्तिकियानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा–440–441) में कहा गया है–

"जो मन व इन्द्रियों को जीतता है, इस लोक और परलोक के सुख की अपेक्षा नहीं रखता, अपने आत्मस्वरूप में ही निवास करता है और स्वाध्याय में तत्पर रहता है।"

"उक्त प्रकार का जो पुरुष कर्मों की निर्जरा के लिए एक दिन आदि का परिमाण (मर्यादा) रख कर, बिना क्लेश का अनुभव किये ही, आहार का त्याग करता है, उसके अनशन नामक तप होता है।"

अथवा, रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक–109) में कहा गया है–

*चतुराहारविसर्जनमुपवास:, प्रोषध: सकृद्भुक्ति:।*
*स प्रोषधोपवास:, यदुपोष्यारम्भमाचरति।।*

**अनशनतपसो द्वौ प्रकारौ– अर्धानशनं सर्वानशनं च। तत्र नियतकालपर्यन्त-अशनत्यागरूपं यत्तद् अर्धानशनम्। ग्रन्थान्तरेऽस्य अवधृतकालानशनं, इत्तिरियानशनं तथा साकांक्षानशनमित्यपि नामानि प्राप्यन्ते। अस्य स्वरूपं यथा– प्रतिदिनं भोजनवेलाद्वयं भवति। तत्रैकस्यां भक्तवेलायां भोजनं द्वितीयवेलायां तु त्यागः इतिएकभक्तम्। एवं चतसृणां वेलानामशनत्यागश्चतुर्थभक्तः, स एकोपवासः।**

**एकोपवासस्य स्वरूपमित्थमपि स्वीक्रियते –प्रथमदिवसे जिनार्चनाद्यनन्तरं शुद्धाहारं गृहीत्वा, द्वितीयवेलायामनशनम्, द्वितीयदिवसे चोभयोर्वेलयोरनशनम्, तृतीयदिवसे च प्रथमवेलायामनशनम्, एवं चतसृणां भक्तवेलानां त्यागः, तथा तृतीयदिवसे द्वितीयवेलायां पारणारूपेण भोजनग्रहणमिति सम्यगनशनरूप एकोपवासः।**

---

"(दाल-रोटी आदि खाद्य, रबड़ी आदि लेह्य, दूध-पानी आदि पेय, लौंग-इलायची आदि खाद्य –इन) चारों प्रकार के आहार का त्याग 'उपवास' कहलाता है। दिन में मात्र एक बार (एकाशन से) आहार-पानी लेना प्रोषध कहलाता है, और प्रोषध सहित उपवास, अर्थात् धारणा–पारणा के दिन एकाशन सहित किये जाने वाले उपवास को प्रोषधोपवास कहते हैं। जो श्रावक इस प्रकार से आचरण प्रारम्भ करते हैं, वे प्रोषधोपवास व्रत (प्रतिमा) के धारी कहलाते हैं।"

अनशन तप के दो भेद हैं– अर्धानशन और सर्वानशन। इनमें नियत काल के लिए ही अशन का त्याग करना –यह अर्धानशन है। अन्य ग्रन्थों में इसके अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं– अवधृतकाल-अनशन, इत्तिरिय अनशन, व साकांक्ष अनशन। इसका स्वरूप इस प्रकार है– जैसे प्रतिदिन भोजन की दो वेला होती हैं। इनमें एक वेला में भोजन करना और दूसरी वेला में उसका त्याग करना –यह 'एकभक्त अनशन है। इसी तरह, चार वेला भोजन का त्याग जो चतुर्थभक्त होता है, वह 'एक उपवास' कहा जाता है।

एकोपवास के स्वरूप को इस प्रकार भी माना जाता है– प्रथम दिन में जिन-पूजा आदि के बाद शुद्ध आहार लेकर, दूसरी वेला में अनशन, फिर दूसरे दिन दोनों वेलाओं में अनशन, तीसरे दिन भी प्रथम वेला में अनशन, इस प्रकार चार भोजन-वेला का त्याग कर तीसरे दिन की दूसरी वेला में पारणा रूप से आहार लेना –यह सम्यक् अनशन वाला 'एक उपवास' है।

**षण्णां भक्तवेलानां त्यागः षष्ठो द्विदिनपरित्यागः, एवं द्वौ उपवासौ। एवमष्टानां त्यागोऽष्टमः, एवं त्रय उपवासाः। एवं दशानां त्यागे दशमे चत्वार उपवासा भवन्ति। द्वादशवेलानां त्यागे द्वादशे च पञ्चोपवासा भवन्ति। मूलाचारे** *(गाथा-347-348)* **अस्य स्वरूपमित्थं निरूपितम्–**

*इत्तिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेयव्वं।*
*इत्तिरियं साकंखं णिरावकंखं हवे बिदियं॥*

*छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं मासद्धमासखमणाणि।*
*कणगेगावलिआदी तवोविहाणाणि णाहारे॥*

**द्वितीयमनशनं यावज्जीवं सर्वानशनमनवधृतकालादिनामभिः प्रथितम्। मृत्युवेलायां तपोधनैश्चतुर्विधाहारत्यागो मृत्युपर्यन्तं यत् क्रियते, तस्य प्रयोजनं तु प्राणिसंयम-इन्द्रियसंयमसिद्धिरेव।**

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-349)*–

---

छः वेलाओं का आहार-त्याग –यह छठा, दो दिनों का आहार त्याग 'दो उपवास' है। इसी तरह आठ वेला का त्याग अष्टम अनशन यानी 'तीन उपवास' है। इसी तरह दस भोजन-वेला के त्याग दशम अनशन में चार उपवास होते हैं। बारह वेलाओं का आहार-त्याग 'द्वादश' अनशन है, जो 'पाँच उपवास' वाला है। मूलाचार (गाथा-347-348) में इसके स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया गया है–

"काल की मर्यादा सहित और जीवन पर्यन्त (आहार-त्याग) के भेद से अनशन तप के दो भेद जानने चाहिए। इनमें काल की मर्यादा वाला 'साकांक्ष' होता है और यावज्जीवन अनशन 'निराकांक्ष' अनशन होता है।"

"बेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन व महीने भर का उपवास कनकावली, एकावली आदि तपश्चरण के विधान अनशन में कहे गये हैं।"

दूसरा अनशन यावज्जीवन का होता है जो सर्वानशन, अनवधृतकाल अनशन आदि नामों से प्रसिद्ध है। मृत्यु के समय तपस्वी जन चतुर्विध आहार का मृत्युपर्यन्त त्याग करते हैं, उसका प्रयोजन प्राणि-संयम व इन्द्रियसंयम की सिद्धि करना ही होता है।

मूलाचार (गाथा-349) में कहा भी गया है–

*भत्तपइण्णा इंगिणि पाउवगमणाणि जाणि मरणाणि।*
*अण्णे वि एवमादी बोधव्वा णिरवकंखाणि॥*

**राजवार्तिके** *(9/19/2)* **च–** *'अनवधृतकालमादेहोपरमात्'*।

**सर्वार्थसिद्धौ** *(9/19)* **च भणितम्–** *"इष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाश-ध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम्।"*

**धवलाग्रन्थे च** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26)* **प्रोक्तम्–** *"किमट्ठं एसो कीरदे? पाणिंदियसंजमट्ठं भुत्तीए उहयासंजम-अविणाभावदंसणादो।"* **अनशनतपसोऽतिचारा अपि ज्ञातव्याः। यथा– स्वयं न भुंक्ते, अन्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुमोदते मनसा वचसा कायेन च। स्वयं क्षुधापीडया भोजनमभिलषति, यद्वा पारणां मह्यं कः प्रयच्छति, क्व वा करिष्यामि –इति मनसा चिन्तयति –इत्येतानि तस्यातिचारा एव सन्ति।**

---

"भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन (पादपोपगमन) –ये जो मरण हैं, ऐसे और भी जो अनशन हैं, उन्हें निराकांक्ष अनशन जानना चाहिए।"

राजवार्तिक (9/19/2) में कहा गया है– "देह छूटने तक का अनशन 'अनवधृतकाल' कहलाता है।"

सर्वार्थसिद्धि (9/19) में भी बताया गया है– "इष्ट फल आदि की अपेक्षा (चाह) किये बिना, संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्म-क्षय तथा ध्यान व आगम (श्रुतज्ञान) की प्राप्ति हेतु अनशन तप किया जाता है।"

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26) में प्रतिपादित किया गया है– "यह अनशन क्यों किया जाता है? (उत्तर–) यह प्राणी-संयम और इन्द्रिय-संयम की सिद्धि हेतु किया जाता है, क्योंकि भोजन के साथ उक्त दोनों प्रकार के असंयम का अविनाभाव देखा जाता है।" अनशन तप के अतिचारों को भी जानना चाहिए। उदाहरणार्थ– स्वयं तो नहीं खाये, पर औरों को खिलाये या दूसरे को भोजन करते हुए का अनुमोदन करे –यह अतिचार मन से, वचन से व शरीर से करना, तथा स्वयं क्षुधा से पीड़ित होकर भोजन की अभिलाषा करे, या मेरी पारणा कौन कराएगा, कहाँ (किस घर में) मैं पारणा करूँगा –ऐसी चिन्ता करना –ये अनशन के अतीचार होते हैं।

**इदानीमवमौदर्यस्वरूपादिकं निरूप्यते। यद् यस्य प्राकृतिकाहारपरिमाणं वर्तते, तन्न्यूनाहार-विषयकाभिग्रह एवावमौदर्यं तपो भवतीति ज्ञेयम्।**

**उक्तं च यथा मूलाचारे** *(गाथा–350)–*

*बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।*
*एगकवलादिहिं तत्तो ऊणियगहणं उमोदरियं॥*

**अवमौदर्यतपस अतीचाराः– रसवदाहारं विना मम परिश्रमो नापैति, प्रचुरनिद्रतया संक्लेशकारि मयाऽवमौदर्यमनुष्ठितम्, संतापकारि इदं, नाचरिष्यामि –इत्यादिचिन्तनम्, अथवा मनसा बहुभोजनविषयकादरः, परं बहु भोजयामि –इतिचिन्तनम्, भुङ्क्ष्व त्वं यावत् तव तृप्तिः इति कथनम् –इत्यादिरूपेण तपसोऽस्य अतीचाराः निर्दिष्टाः।**

---

अब अवमौदर्य (तप) के स्वरूप आदि का निरूपण किया जा रहा है। जिसका जितना जो स्वाभाविक आहार-परिमाण है, उससे कम मात्रा में आहार लेने का अभिग्रह (प्रतिज्ञा) ही अवमौदर्य तप होता है।

जैसा कि मूलाचार (गाथा–350) में कहा गया है–

"पुरुष का स्वाभाविक आहार बत्तीस ग्रास है। उसमें से एक (या अधिक) ग्रास आदि कम करके आहार लेना अवमौदर्य तप होता है।"

अवमौदर्य तप के अतीचार– रसयुक्त आहार के बिना मेरा श्रम (थकावट) दूर नहीं होगा, मुझे तो बहुत निद्रा आती है, मैंने आखिर यह कष्टकारी तप क्यों ग्रहण किया, यह तो संक्लेशदायक है –इत्यादि चिन्तन करना, अथवा मन से अधिकाधिक भोजन की इच्छा करना, दूसरों को अधिक खिलाऊँगा –ऐसा चिन्तन करना, या तुम, जब तक तृप्ति न हो, तब तक खूब खाओ –ऐसा कहना –इत्यादि रूप से इस तप के अतीचार बताये गये हैं।

**अस्य तपसोऽनुष्ठानं कैः किमर्थं कर्तव्यं भवति, अर्थात् केषां कृते उपकारि भवतीति विषये धवलाग्रन्थे** *(13/5, 4 सू. 26)* **निरूपितं यद्ये पित्तप्रकोपेन उपवासं कर्तुमसमर्थाः, अर्धाहारापेक्षया उपवासकरणेन ये परिश्रमाधिक्यमनुभवन्ति, अथवा ये स्वतपोमाहात्म्येन भव्यजीवानामुपशमं कर्तुमुद्यताः, अथवा ये स्वोदरे कृमि-उत्पत्तिनिरोधं कर्तुं वाञ्छन्ति, अथवा ये व्याधिजन्यवेदनायां निमित्तभूतेन अतिमात्रभोजनेन स्वाध्यायभंगो भवतीति भयेन भीता भवन्ति, तैरवमौदर्यव्रतमिदं करणीयम्।**

**अवमौदर्यव्रतस्य लाभा अपि मूलाचारे** *(गाथा-351)* ***संकेतिताः–***

*धम्मावासयजोगे णाणादीए उवग्गहं कुणदि।*
*ण य इंदियप्पदोसयरी उम्मोदरितवोवुत्ती॥*

**इदानीं क्रमप्राप्तं तृतीयं वृत्तिपरिसंख्यानतपो निरूप्यते। वृत्तीनां परिसंख्यानं वृत्तिपरिसंख्यानम्। परिसंख्यानं नाम संकल्पपूर्वकं परिमाण-नियन्त्रणम्। वृत्तयः काः?**

---

इस तप का अनुष्ठान किन्हें और क्यों करना चाहिए, अर्थात् यह व्रत किनके लिए उपकारक हो सकता है? –इस विषय में धवला (13/5, 4 सू. 26) में बताया गया है कि जो पित्तप्रकोप के कारण उपवास करने में असमर्थ हैं, उनके द्वारा, अथवा जो आधा (या कम) आहार करने की अपेक्षा उपवास करने में अधिक परिश्रम अनुभव करते हैं, अथवा जो अपने तप के माहात्म्य से भव्य जीवों को उपशान्त करने हेतु उद्यत हैं, अथवा जो अपने पेट में कृमियों की उत्पत्ति का निरोध करना चाहते हैं, अथवा जो व्याधिजन्यवेदना में निमित्त होने वाले अधिक मात्रा के भोजन करने पर स्वाध्याय भंग होगा –इस भय से भीत हैं, उनके द्वारा यह अवमौदर्य व्रत करने योग्य है।

अवमौदर्य व्रत के लाभों का भी संकेत मूलाचार (गाथा-351) में किया गया है–

"धर्म, आवश्यक क्रिया और योगों में तथा ज्ञानादि में यह अवमौदर्य व्रत उपकार करता है, क्योंकि अवमौदर्य तप की वृत्ति इन्द्रियों से द्वेष करनेवाली नहीं होती (अर्थात् वश में रखती है)।"

अब क्रमप्राप्त तीसरे वृत्तिपरिसंख्यान (बाह्य) तप का निरूपण किया जा रहा है। वृत्तियों का परिसंख्यान ही वृत्तिपरिसंख्यान है। परिसंख्यान का अर्थ है– संकल्पपूर्वक परिमाण का नियन्त्रण (अर्थात् मर्यादाकरण)। वृत्तियाँ क्या हैं?

**उच्यते– भोजनद्रव्यम्, भाजनम्, गृहम्, द्वारं निवासभूमयो वा, दाता इत्यादीनां वृत्तिः इति संज्ञा वर्तते। वृत्तिपरिसंख्यानसम्बद्ध-अवग्रहो यो भवति, यथा– अहमद्य इयन्ति वस्तूनि ग्रहीष्यामि, इयद्भ्यो गृहेभ्यो ग्रहीष्यामि, पेयं लेह्यं वा ग्रहीष्यामि, नीरसमाहारमेव ग्रहीष्यामि –इत्यादिकं परिमाणादिनियन्त्रणं, तस्यैव वृत्तिपरिसंख्यानतप इति नाम।**

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-355)*–

*गोयरपमाण दायगभायण णाणाविहाण जं गहणं।*
*तह एसणस्स गहणं विविहस्स य वुत्तिपरिसंखा॥*

**अथ च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-445)* **च प्रतिपादितम्–**

*एगादिगिहपमाणं किच्चा संकप्पकप्पियं विरसं।*
*भोज्जं पसुव्व भुंजदि वित्तिपमाणं तवो तस्स॥*

---

बता रहे हैं– भोजन द्रव्य, पात्र, घरबार या निवासभूमि (मुहल्ले), दाता –इत्यादि का नाम 'वृत्ति' है। वृत्तिपरिसंख्यान से सम्बन्धित जो अवग्रह होता है, जैसे– मैं आज इतनी वस्तुएँ (आहार में) लूँगा, इतने घरों से लूँगा, पेय या लेह्य –ऐसे विशेष आहार को लूँगा, नीरस आहार ही लूँगा –इत्यादि परिमाण-सम्बन्धी जो नियन्त्रण होता है, उसी का नाम है– वृत्तिपरिसंख्यान।

मूलाचार (गाथा-355) में कहा भी गया है–

"गृहों (की संख्या) का प्रमाण, भोजनदाता-विशेष, कांसे आदि पात्र-विशेष, मोठ, सत्तू आदि भोजन विशेष, इनमें अनेक तरह के विकल्पों के साथ भोजन ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान (तप) है।"

इसके अतिरिक्त, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-445) में कहा गया है–

"जो मुनि आहार के लिए जाने से पहले अपने मन में ऐसा संकल्प कर लेता है कि आज एक घर या दो घर तक जाऊँगा अथवा नीरस आहार मिलेगा तो लूँगा और वैसा आहार मिलने पर गाय की जैसी गोचरीवृत्ति की तरह उसे ले लेते हैं, उन मुनि के वृत्तिपरिसंख्यान तप होता है।"

**इदं तपः कैः कर्तव्यम्? अस्मिन् विषये शास्त्रकारैर्निर्देशः कृतो यद् ये स्वतपोविशेषैः भव्यजनानामुपशान्तिं विदधति तथा स्वरुधिरमांसादिशोषणद्वारा इन्द्रियसंयमसिद्धिमिच्छन्ति, तैः साधुभिरिदं तपः कर्तव्यम्। अथवा ये भोजनादिविषयरागं समुन्मूलयितुं वाञ्छन्ति, तैरपि इदमनुष्ठातव्यम्।**

**वृत्तिपरिसंख्यानव्रतस्य अतीचाराः– चत्वारि गृहाण्येव गमिष्यामि, विशेषदातृपुरुषाणामेव गृहं गमिष्यामि, एवंविधमाहारं ग्रहीष्यामि –इति संकल्पं कृत्वा चतुःसंख्याधिकगृहेषु गच्छति, असंकल्पितपुरुषाणामपि गृहं गच्छति, संकल्पितआहारातिरिक्तं गृह्णाति, इत्येवमतीचारो भवति तस्य साधोः।**

**चतुर्थं रसपरित्यागनामकं तपो वर्तते। घृतादिवृष्यसरसवस्तूनां त्यागः, सर्वेषां युगपत् त्यागोऽथवा केषांचित् अथवा क्रमश एकैकरसस्य त्यागः रसपरित्यागतपो भवति।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-217)*–

---

यह तप किन्हें करना चाहिए –इस विषय में शास्त्रकारों ने निर्देश किया है कि जो अपने विशेष तप से भव्य जनों को शान्त करके अपने रक्त व मांस आदि के शोषण द्वारा इन्द्रिय-संयम की सिद्धि करना चाहते हैं, उन साधुओं को यह व्रत करना चाहिए, अथवा जो भोजन आदि विषय के प्रति राग को नष्ट करना चाहते हैं, उन्हें यह तप करना चाहिए।

वृत्तिपरिसंख्यान व्रत के अतीचार –मैं चार ही घरों में जाऊँगा, विशेषदाता पुरुषों के घर जाऊँगा, ऐसा ही आहार लूँगा –इस तरह का संकल्प कर, चार से अधिक घरों में जाता है, असंकल्पित पुरुषों के भी घर जाता है, संकल्पित आहार से अतिरिक्त आहार का ग्रहण करता है, तो इस तरह उस साधु के अतीचार होता है।

चौथा (बाह्य) तप रसपरित्याग नाम का है। घृत आदि गरिष्ठ व सरस वस्तुओं का त्याग, सभी का एक साथ त्याग या किन्हीं का त्याग या क्रमशः एक-एक का त्याग करना रसपरित्याग तप होता है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-217) में कहा गया है–

*खीरदधिसप्पितेल्लगुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं।*
*णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं॥*

**किं च, कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-446)* **च स्वरूपमस्य विनिर्दिष्टम्-**

*संसारदुक्खतट्ठो विससमविसयं विचिंतमाणो जो।*
*णीरसभोज्जं भुंजइ रसचाओ तस्स सुविसुद्धो॥*

**रसपरित्यागव्रतस्य अनुष्ठानेन इन्द्रियदर्पनिग्रहः, निद्राविजयः, सुखपूर्वकस्वाध्यायसिद्धिः, तेजोवृद्धिः, संयमबाधानिवृत्तिः -इत्यादीनि प्रयोजनानि सिद्धानि भवन्ति।**

**पञ्चमं विविक्तशय्यासनसंज्ञकं तपो वर्तते। विविक्तेषु निर्जनेषु स्थानादिषु शय्या आसनम्, अर्थात् शयन-स्थानादिक्रियाकरणं तपसि अस्मिन् अभीष्टं भवति। शून्यागारेषु विविक्तेषु जन्तुपीड़ादिरहितेषु निर्बाधतया ब्रह्मचर्य-स्वाध्याय-ध्यानादिप्रसिद्धिः स्यात् -इत्येतदर्थं संयतेन तप इदं करणीयम्।**

---

"दूध, दही, घी, तेल, गुड़ का, और पूए, पत्रशाक, सूप व लवण आदि में सबका या एक-एक का त्याग करना रसपरित्याग तप होता है।"

और, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-446) में भी इसका स्वरूप इस तरह बताया गया है-

"संसार के दु:खों से संतप्त जो मुनि इन्द्रियों के विषयों को विष के समान मानकर नीरस भोजन करता है, उसके निर्मल रसपरित्याग तप होता है।"

रसपरित्यागव्रत के अनुष्ठान से इन्द्रियों के दर्प का निग्रह (जितेन्द्रियता), निद्रा पर विजय, सुखपूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि, तेजोवृद्धि, संयम की बाधा दूर होना -इत्यादि प्रयोजनों की सिद्धि होती है।

पाँचवाँ विविक्तशय्यासन नाम का तप है। विविक्त अर्थात् निर्जन स्थान आदि में, शय्या व आसन होना, अर्थात् शयन, निवास आदि क्रियाएँ करना -इस तप में अभीप्सित होता है। जन्तुओं से होनेवाली पीड़ा से रहित एकान्तशून्य घर आदि में निर्बाध रूप से ब्रह्मचर्य की सिद्धि, स्वाध्याय व ध्यान आदि की सिद्धि हो सके -इस (उद्देश्य) के लिए संयमी (मुनि) द्वारा यह तप करणीय होता है।

**उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-447-449)*–

*जो रायदोसहेदू आसणसिज्जादियं परिच्चयइ।*
*अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो॥*

*पूयादिसु णिरवेक्खो संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।*
*अब्भंतरतवकुसलो उवसमसीलो महासंतो॥*

*जो णिवसेदि मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे।*
*अण्णत्थ वि एयंते तस्स वि एदं तवं होदि॥*

**सामान्ये जनाकीर्णे स्थाने असभ्यजनानां दर्शनेन तत्सहवासेन च त्रैकालिको विषयरागादिः प्रवर्तते, तस्य विविक्तशय्यासनतपसा सहितस्य साधोः सद्भावो न भवति, तथा च चित्तव्याकुलता नश्यति, समिति-गुप्ति-आत्मलीनतादिकं च सुखपूर्वकं समनुष्ठातुं शक्यते।**

---

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-447-449) में कहा गया है–

''जो मुनि राग व द्वेष को पैदा करनेवाले आसन, शय्या आदि का त्याग करता है, अपने आत्मस्वरूप में रमता है और इन्द्रिय-विषयों से विरक्त रहता है, उसके विविक्तशय्यासन नाम का पाँचवाँ उत्कृष्ट तप होता है।''

''अपनी पूजा आदि को नहीं चाहनेवाला, संसार, शरीर व भोगों से उदासीन, प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप में कुशल, शान्तपरिणामी, क्षमाशील महापराक्रमी जो मुनि श्मसान भूमि में, गहन वन में, निर्जन महाभयानक स्थान में अथवा किसी अन्य एकान्त स्थान में निवास करता है, उसके विविक्तशय्यासन तप होता है।''

सामान्य जनाकीर्ण (भीड़ भरे) स्थान में असभ्य जनों का दर्शन होता है, उनके साथ रहना भी पड़ता है, जिससे त्रैकालिक (हमेशा रहनेवाला) विषय-राग आदि हो जाता है, जिसका सद्भाव उस साधु को नहीं होता जो विविक्तशय्यासन तप से युक्त है, इसके अतिरिक्त (इस तप वाले के) चित्त की व्याकुलता नष्ट हो जाती है, और समिति, गुप्ति, आत्मलीनता आदि की साधना सुखपूर्वक की जा सकती है।

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-234)*–

*कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्तिं च।*
*ज्झाणाज्झयणविवादो णत्थि विवित्ताए वसधीए॥*

**षष्ठं बाह्यं तपः कायक्लेशसंज्ञकं वर्तते। कायसुखाभिलाषत्याग एव कायक्लेशतपः। उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-356)*–

*ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं।*
*अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो॥*

**अथवा, प्रकारान्तरेण कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-450)* **प्रोक्तम्**–

*दुस्सहउवसग्गजई आतावणसीयवायखिण्णो वि।*
*जो ण वि खेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो तस्स॥*

---

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-234) में कहा भी है–

"विविक्त (एकान्त) स्थान (वसतिका) में कलह, शब्दबहुलता (शोरगुल), संक्लेश, चित्त का व्यामोह, अयोग्य संयमियों के साथ सम्बन्ध, यह मेरा है –ऐसा भाव, तथा ध्यान व अध्ययन में व्याघात (विघ्न) नहीं होते।"

छठे बाह्य तप का नाम है– कायक्लेश। शरीर के सुख की अभिलाषा का त्याग करना ही कायक्लेश तप है। मूलाचार (गाथा-356) में कहा गया है–

"खड़े रहना, एक पार्श्व (करवट) से सोना, अनेक प्रकार के वीरासन आदि से बैठना और बहुविध-नियमों को ग्रहण करना, इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना –यह कायक्लेश तप होता है।"

अथवा, अन्य प्रकार से कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-450) में कहा गया है–

"दुःसह उपसर्ग को जीतनेवाला जो मुनि आतापन, शीत, वात आदि से पीड़ित होने पर भी खिन्न नहीं होता, उस मुनि के कायक्लेश तप होता है।"

**तथा, वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-351)* **भणितमास्ते–**

*आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं।*
*जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो॥*

**अनगारधर्मामृते** *(श्लोक-7/32)* **कायक्लेशतपसः केचन प्रकारा इत्थं निर्दिष्टाः–**

*ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः,*
*स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः ।*
*योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः ,*
*कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत्॥*

**भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-224-229)* **कायक्लेशप्रकाराणां लक्षणादिकमपि विशदीकृतम्–**

---

तथा वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-351) में भी कहा गया है–

"आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, चतुर्भक्त (उपवास), षष्ठ भक्त (बेला), अष्टम भक्त (तेला) आदि के द्वारा जो शरीर को कृश किया जाता है, उसे कायक्लेश तप जानें।"

अनगारधर्मामृत (श्लोक-7/32) में कायक्लेश तप के कुछ प्रकारों का निर्देश इस प्रकार किया गया है–

"सूर्य के सिर पर या मुँह के सामने आदि रहते हुए अन्य ग्राम को जाना और वहाँ से लौटना, शवासन या दण्डासन से शयन करना, वीरासन आदि आसन लगाना, एक पैर आगे करके या दोनों पैरों को बराबर करके खड़े होना, न थूकना और न खुजलाना आदि, धर्मोपकारक अवग्रह पालना, आतापन आदि योग करना इत्यादि के द्वारा तपस्वी साधु जो शरीर को कष्ट देता है, उसे कायक्लेश तप कहते हैं। यह कायक्लेश दुःख आ पड़ने पर समीचीन ध्यान की सिद्धि के लिए करना चाहिए।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-224-229) में कायक्लेश के प्रकारों के लक्षण आदि को स्पष्ट किया गया है–

*अणुसूरी पडिसूरी य उड्ढसूरी य तिरियसूरी य।*
*उब्भागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं॥*

*साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव वोसट्टं।*
*समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि॥*

*समपलियंकणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया।*
*मगरमुह हत्थिसुण्डी गोणिसेज्जद्धपलियङ्का॥*

"अनुसूर्य– जिस दिन कड़ी धूप हो, उस दिन सूरज को पीछे करके पूरब दिशा से पश्चिम दिशा की ओर जाना। प्रतिसूर्य– पश्चिम दिशा से सूरज की ओर मुख करके गमन करना। ऊर्ध्वसूर्य– सूरज के ऊपर आ जाने पर गमन करना, तिर्यक्सूर्य– सूरज को एक ओर रखते हुए गमन करना। अवाभ्यागमनेन गमन– जिस ग्राम में मुनि ठहरे हों, उस ग्राम से दूसरे ग्राम में भिक्षा हेतु जाना। गत्वा प्रत्यागमन– जाकर लौट आना –ये सब कायक्लेश तप हैं।"

"साधारण– चिकने स्तम्भ आदि का आश्रय लेकर खड़े होना। सवीचार– पूर्व स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर कुछ समय तक खड़े रहना। सणिरुद्ध– अपने स्थान पर ही निश्छल स्थित होना। वोसट्ट– कायोत्सर्ग करना। समपाद– दोनों पैर बराबर करके खड़े होना। एगपाद– एक ही पैर से खड़े होना। गिद्धोलीण– जैसे गिद्ध उड़ते समय अपने दोनों पंख फैलाता है, उस तरह दोनों हाथ फैलाकर खड़े होना।"

"समपर्यंकनिषद्या– सम्यक् पर्यंकासन से बैठना। समपद– जाँघें और कटिभाग को सम करके बैठना। गोदोहिका– गो दुहते समय जैसा आसन होता है, वैसे आसन से बैठना। उत्कुटिका– ऊपर को संकुचित आसन से बैठना अर्थात् दोनों पैरों को जोड़ भूमि को न छूते हुए बैठना। मकरमुख– मगर के मुख की तरह पैर करके बैठना। हस्तिशुण्डी– हाथी के सूंड फैलाने की तरह एक पैर फैलाकर बैठना (कुछ के मत में हाथ फैलाकर बैठना हस्तिशुण्डी है)। गोनिषद्या– दोनों जँघाओं को संकोचकर गाय की तरह बैठना। और अर्द्धपर्यंकासन। ये सब कायक्लेश के आसन हैं।"

*वीरासणं च दण्डायउड्ढसाई य लगडसाई य।*
*उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य॥*

*अब्भावगास सयणं अणिट्ठुवणा अकंडुगं चेव।*
*तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचो य॥*

*अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतधोवणं चेव।*
*कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य॥*

**एतानि कायक्लेशतपांसि परीषहजयोद्यमरूपाण्येव। कायक्लेशतपोभिः शरीरं परीषहजयसक्षमं भवति। परीषहजयः कायक्लेशश्च तपःसंयमरूपावेव, अथवा तदेकदेशभूतावेव। उक्तं च** *(चारित्रसारे, 107 श्लोके उद्धृते पद्ये)*–

---

"दोनों जँघाओं को दूर रखकर बैठना वीरासन है। शयन के भेद इस प्रकार हैं– दण्डे के समान शरीर को लम्बा करके सोना। खड़े होकर सोना इसे ऊर्ध्वशायी कहा जाता है। लकटशायी– शरीर को संकुचित करके सोना। उत्तान– ऊपर को मुख करके सोना। अवमस्तकशयन– मस्तक नीचे करके सोना अर्थात् नीचे मुख करके सोना। एकपार्श्वशायी– एक करवट से सोना। मृतकशायी– मृतक की तरह निश्चेष्ट सोना।"

"अभ्रावकाश शयन– बाहर खुले आकाश में सोना। अष्ठीवन– थूकने का त्याग करना। अकण्डूयन– खुजाने का त्याग करना। तथा तृण, काठ का पटिया, शिला या भूमि पर सोना और केशलोंच करना।"

"रात में शयन नहीं करना अर्थात् जागना। स्नान नहीं करना। दाँतों को नहीं धोना, उनकी सफाई नहीं करना। शीतकाल में तथा गर्मी में आतापन योग करना –आदि आदि भी कायक्लेश तप हैं।"

ये कायक्लेश तप परीषह-जय हेतु किये जाने वाले उद्यम रूप होते हैं। कायक्लेश तप से शरीर परीषह-जय में समर्थ हो जाता है। परीषह-जय व कायक्लेश तप संयम रूप ही हैं या उनके एकदेश (अंग) ही हैं। (चारित्रसार के श्लोक-107 पर उद्धृत पद्य में) कहा भी है–

*परिषोढव्या नित्ये दर्शनचारित्ररक्षणेऽविरतैः।*
*संयमतपोविशेषास्तदेकदेशाः परीषहाख्याः स्युः॥*

**परीषह-कायक्लेशयोः किमन्तरम्?**

**उच्यते– यदृच्छया उपनिपतितः परीषहः, कायक्लेशस्तु स्वयंकृतो भवति –इति सर्वार्थसिद्धौ** *(9/19)* **प्रतिपादितमस्ति। कायक्लेशतपसामुपादेयतामधिकृत्य शास्त्रेषु प्रतिपादितमस्ति यत् देहदुःखसहनसामर्थ्यं प्रकटितं स्यात्, सुखासक्तिः क्षीणा स्यात्, तथा प्रवचन-प्रभावना भवेत् –इत्येतदर्थं कायक्लेशतपांसि अनुष्ठेयानि भवन्ति। किं च, ध्यानसिद्ध्यै अपि कायक्लेशतपः करणीयं भवति, यतो हि यैः शीत-वात-आतपादिबाधाः, तृषाक्षुधादिकबाधाश्च नैव जिताः, तेषां ध्यानसिद्धिर्न सम्भवति।**

**इदानीमाभ्यन्तरतपसां निरूपणं विधीयते। आभ्यन्तरतपसां षड्भेदाः प्रायश्चित्तादिकाः भवन्ति। एतानि आभ्यन्तरमनोनिग्रहार्थं विधीयन्ते, अथ च बाह्यद्रव्याणामपेक्षा एषु न भवति,**

---

''दर्शन व चारित्र की रक्षा करने में तत्पर रहने वाले मुनियों को चाहिए कि वे परीषहों को सहन करें। क्योंकि ये परीषह संयम व तप –इन दोनों का ही विशेष रूप हैं या उन्हीं दोनों का एकदेश (अंगभूत) हैं।''

परीषह व कायक्लेश में आखिर अन्तर क्या है?

बता रहे हैं– अपने आप प्राप्त हुआ परीषह होता है, कायक्लेश तो स्वयंकृत होता है –ऐसा सर्वार्थसिद्धि (9/19) में बताया गया है। कायक्लेश तप की उपादेयता को लेकर शास्त्रों में बताया गया है कि देह में दुःख सहने की सामर्थ्य प्रकट हो, सुख की आसक्ति क्षीण हो, तथा प्रवचन (शासन) की प्रभावना हो –इसके लिए कायक्लेश तप किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, ध्यान की सिद्धि हेतु भी कायक्लेश तप करना होता है, क्योंकि जो शीत, वायु, धूप आदि की बाधाओं तथा भूख-प्यास आदि की बाधाओं को नहीं जीत पाते हैं, उनके ध्यान की सिद्धि नहीं हो पाती।

अब, आभ्यन्तर तप का निरूपण किया जा रहा है। आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त आदि छः भेद होते हैं। चूँकि आभ्यन्तर तप मन के निग्रह हेतु किये जाते हैं, और इनमें बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती, इनमें

**अन्तःकरणव्यापारप्रधानानि चैतानि, तथा अन्यतीर्थ्यजनैरनभ्यस्तानि च भवन्तीत्यादिकारणैः एषामाभ्यन्तरेति संज्ञा वर्तते –इति विज्ञेयम्। उक्तं च अनगारधर्मामृते** *(7/33)*–

*बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वतः परैः।*
*अनध्यासात्तपः प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत्॥*

**षड्विधेषु आभ्यन्तरतपःसु प्रथमं प्रायश्चित्तसंज्ञकं तपो भवति। प्रायः साधुलोकः, तस्य चित्तं यस्मिन् कर्मणि तत् प्रायश्चित्तम्। अथवा, प्रायः अपराधः, तस्य चित्तं शुद्धिः प्रायश्चित्तम्, अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26 गाथा-9)*–

*प्राय इत्युच्यते लोकः, चित्तं तस्य मनो भवेत्।*
*तच्चित्तग्राहकं कर्म, प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।*

---

अन्तःकरण के व्यापार की प्रधानता भी है, अन्य तीर्थिक लोगों में इनका अभ्यास नहीं पाया जाता –इत्यादि कारणों से इनकी आभ्यन्तर संज्ञा है –यह जानना चाहिए। अनगारधर्मामृत (7/33) में कहा भी गया है–

"प्रायश्चित्त आदि अन्तरङ्ग तप हैं क्योंकि इनमें बाह्य द्रव्य की अपेक्षा न होकर अन्तःकरण का व्यापार मुख्य रहता है। दूसरी बात, ये आत्मा द्वारा ही जाने जाते हैं, दूसरों को इनका पता नहीं चलता। तीसरी बात, अन्य धर्मों में इनका प्रचलन नहीं है।"

छः प्रकार के आभ्यन्तर तपों में प्रथम तप प्रायश्चित्त नाम का है। 'प्रायः' का अर्थ है– साधु-लोग, उसका चित्त जिस क्रिया में हो, वह प्रायश्चित्त है। अथवा, प्रायः का अर्थ है– अपराध, उसका चित्त अर्थात् शुद्धि, अर्थात् अपराध की शुद्धि को प्रायश्चित्त कहते हैं।

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26 गाथा-9) में कहा गया है–

"प्रायः का अर्थ है– लोक, चित्त का अर्थ है मन। जो लोक के चित्त का ग्राहक कर्म हो, उसे प्रायश्चित्त समझना चाहिए।"

**अनगारधर्मामृते** *(7/37)* **च भणितमास्ते–**

*प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्-क्रिया:।*
*प्राये तपसि वा चितं निश्चयस्तन्निरुच्यते॥*

**प्रायश्चित्तस्य निश्चयेन व्यवहारेण च स्वरूपं ज्ञेयं भवति। तत्र निश्चयप्रायश्चित्तस्य स्वरूपं नियमसारे** *(गाथा-114, 116, 117, 119)* **प्रोक्तम्–**

*कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।*
*पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो॥*

*उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।*
*जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स॥*

*किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।*
*पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेउ॥*

---

अनगारधर्मामृत (7/37) में भी कहा गया है–

"प्राय: का अर्थ लोक (साधर्मी जन), चित्त का अर्थ है– मन। मन को शुद्ध करनेवाली क्रिया प्रायश्चित्त है। या प्राय: का अर्थ है– तप, चित्त का अर्थ है– निश्चय, अत: निश्चय के संयोग से तप को प्रायश्चित्त कहते हैं।"

प्रायश्चित्त का स्वरूप निश्चय व व्यवहार से जानना उचित है। इनमें निश्चय प्रायश्चित्त का स्वरूप नियमसार (गाथा-114, 116, 117, 119) में इस प्रकार बताया गया है–

"क्रोधादि स्वकीय विभाव परिणामों के क्षय आदि की भावना में लीन रहना तथा निजगुणों का चिन्तन करना निश्चय से प्रायश्चित्त कहा जाता है।"

"उसी आत्मा का जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान या चिन्तन है, उसे जो मुनि निरन्तर धारण करता है, उसके प्रायश्चित्त होता है।"

"अधिक कहने से क्या लाभ? महर्षियों का जो उत्कृष्ट तपश्चरण है, उस सबको तुम अनेक कर्मों के क्षय करनेवाला प्रायश्चित्त है –ऐसा जानो।"

*अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।*
*सक्कदि काउं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं॥*

**व्यवहारप्रायश्चित्तस्वरूपं निरूप्यते। संवेग-निर्वेदयुक्तः कृतापराधो मुनिः स्वापराध-निराकरणाय यदनुष्ठानं करोति, तत् प्रायश्चित्तम् –इति धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26)* **निर्दिष्टम्।**

**उक्तं च प्रवचनसारे** *(3/11-12)*–

*पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।*
*जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया॥*

*छेदपउत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।*
*आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं॥*

**तथा च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-408)* **प्रोक्तम्–**

---

"आत्मस्वरूप का अवलम्बन करनेवाले भाव से जीव समस्त विभाव परिणामों का निराकरण करने में समर्थ होता है, इसलिए ध्यान ही सब कुछ है।"

व्यवहार प्रायश्चित्त का स्वरूप बताया जा रहा है। संवेग व निर्वेद से युक्त एवं अपराध करनेवाला मुनि अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त है– ऐसा धवला (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26) में कहा गया है।

प्रवचनसार (3/11-12) में भी कहा गया है–

"यतनाचारपूर्वक (संयमपूर्वक) प्रारम्भ की गई शारीरिक क्रिया में भी यदि संयम-भंग (छेद) की स्थिति हो तो उस मुनि को आलोचना-पूर्वक (प्रतिक्रमणादि) करणीय है।"

"यदि अन्तरंग उपयोग रूप श्रामण्य भंग हुआ हो, तो वह मुनि जैन मत के व्यवहार-कुशल (प्रायश्चित्त आदि देने में सुविज्ञ) किसी महामुनि के पास जाकर अपने दोष की आलोचना करे और उसके द्वारा बताये हुए कर्तव्य (प्रायश्चित्त आदि) को करे।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-408) में भी प्रतिपादित किया गया है–

*आलोयणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं।*
*जदि आयरिओ अमुहो हवेज्ज आराहओ होइ॥*

**अपराधे, संयमभङ्गादिके जाते सति, अविलम्बमेव तत्प्रकाशनं गुरु-आचार्यसमक्षे करणीयं संयतेन मुनिना –इति शास्त्रकाराणां निर्देशो वर्तते।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-543)*–

*कल्ले परे व परदो काहं दंसणणाणचरित्तसोधि त्ति।*
*इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणंति॥*

**कालक्षेपे कृते, चिरातीतस्यापराधस्य विस्मृतिरपि सम्भवति, अतो मुनिना कालक्षेपं न विधाय प्रायश्चितदानकुशलस्य आचार्यस्य गुरोर्वा सकाशे गन्तव्यम्। वीतरागो जिनवाणीविशारद एव कृतापराधाय शिष्याय प्रायश्चित्तादिदानं कर्तुमर्हति, नान्यः।**

---

''मैं गुरु के पास जाकर अपने दोषों की सम्यक् आलोचना करूँगा –यह संकल्प करके जो गुरु के पास जाने हेतु चला है, तब यदि आचार्य बोलने में असमर्थ हों अथवा समाधिस्थ हो जाय तो भी वह आराधक ही है।''

(संयम-भङ्ग आदि) अपराध हो जाने पर संयती मुनि को चाहिए कि वह अविलम्ब ही गुरु या आचार्य के समक्ष उसका प्रकाशन करे –ऐसा शास्त्रकारों का निर्देश (प्राप्त होता) है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-543) में कहा भी गया है–

''कल या परसों मैं दर्शन, ज्ञान व चारित्र की शुद्धि करूँगा। ऐसा संकल्प करनेवाले (वस्तुतः) क्षीण हो रहे आयु-काल को नहीं जानते।''

कालक्षेप (देर करने पर) किये हुए अपराध की विस्मृति भी हो सकती है, इसलिए मुनि को चाहिए कि वह बिना देरी किये प्रायश्चित्त देने में कुशल आचार्य या गुरु के पास जाए। वीतराग व जिनवाणी के ज्ञाता ही अपराधयुक्त शिष्य को प्रायश्चित्त आदि देने में सक्षम होते हैं, अन्य नहीं।

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-453-455)*–

*मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्टवेइ सो तस्स।*
*ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो॥*

*ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरंतो खु।*
*उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदियदि॥*

*जह ण करेदि तिगिंच्छं वाधिस्स तिगिंच्छओ अणिम्मादो।*
*ववहारमयाणंतो ण सोधिकामं वि सुज्झेइ॥*

**अत्र कीदृशश्च प्रायश्चित्तदानयोग्यः, इतिविषये** *(भगवती-आराधनाग्रन्थे-619 गाथायाष्टीकायामुद्धृतया गाथया)* **निर्दिष्टम्**–

*एत्थ दु उज्जुगभावा ववहरिदव्वा भवंति ते पुरिसा।*
*संका परिहरिदव्वा सेसे पट्ठहिं जहिं विसुद्धा॥*

---

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-453-455) में कहा भी गया है–

''प्रायश्चित्त देने में कुशल एवं जिनवाणी में विशारद (शास्त्रज्ञ) धीर वह आचार्य राग व द्वेष को त्याग कर अर्थात् मध्यस्थ होकर उस (शिष्य) को प्रायश्चित्त देते हैं।''

''जो व्यवहार (शास्त्र) को नहीं जाने, फिर भी व्यवहरणीय (प्रायश्चित्त देने योग्य) को व्यवहार (प्रायश्चित्त आदि) देता है, तो वह (आचार्य) संसार रूपी कीचड़ में फँसता है और (लोक में) अपयश कर्म भी उपार्जित करता है।''

''जैसे अनिपुण वैद्य व्याधि की चिकित्सा नहीं करता, वैसे ही प्रायश्चित्त को न जानने वाला आचार्य रत्नत्रय की विशुद्धि के इच्छुक (शिष्य) को शुद्ध नहीं करता।''

कैसा शिष्य प्रायश्चित्त देने योग्य होता है –इस विषय में भी (भगवती-आराधना, गाथा-619 पर विजयोदया टीका में उद्धृत गाथा में) कहा गया है–

''जो पुरुष सरल भाव से अपने दोषों को कह देते हैं, वे ही प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य होते हैं, और जिनके विषय में शंका हो, वे प्रायश्चित्त देने के योग्य नहीं है।''

**किं च, भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-620)* **च प्रोच्यते–**

*पडिसेवणादिचारे जदि आजंपदि जहाकमं सव्वे।*
*कुव्वंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स॥*

**प्रायश्चित्तदानमपि शिष्यशक्ति-अपराधस्वरूपादि-अनुरूपमेव गुरुणा दातव्यम्। उक्तं च राजवार्तिके** *(9/22/10)– "तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशकालशक्तिसंयमाद्यविरोधेन अपराधानुरूपं दोषप्रशमनं चिकित्सितवद् विधेयम्। जीवस्य असंख्येयलोकपरिमाणाः परिणामविकल्पाः, अपराधाश्च तावन्त एव, न तेषां तावद्विकल्पं प्रायश्चित्तमस्ति। व्यवहारनयापेक्षया पिण्डीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्तम्।"*

**प्रायश्चित्ततपसो दश प्रकाराः प्रोक्ताः। यथा मूलाचारे** *(गाथा-362)–*

*आलोयणपडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।*
*तव छेदो मूलं विय परिहारो चेव सद्दहणा॥*

---

और, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-620) में कहा गया है–

"प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारों को (शिष्य) क्रमशः यदि कहता है तो आगम के अनुसार व्यवहार करनेवाले आचार्य उसकी शुद्धि करते हैं।"

गुरु को भी चाहिए कि वह शिष्य की शक्ति, अपराध-स्वरूप आदि के अनुरूप ही प्रायश्चित्त दे। राजवार्तिक (9/22/10) में कहा भी है– "इन नौ प्रायश्चित्तों का विधान देश, काल, शक्ति और संयम आदि के अविरोध रूप से और अपराध के अनुरूप दोष-शान्ति हेतु उसी तरह होना चाहिए जिस तरह औषधि दी जाती है। यद्यपि जीव के परिणाम असंख्येय लोक-प्रमाण हैं और अपराध भी उतने ही हैं, पर प्रायश्चित्त तो उतने प्रकार के नहीं हो सकते। इसलिए व्यवहारनय से वर्गीकरण करके प्रायश्चित्तों का स्थूल रूप से निर्देश किया गया है।"

प्रायश्चित्त तप के दस भेद माने गये हैं, जैसा कि मूलाचार (गाथा-362) में कहा गया है–

"आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान –ये दश (प्रायश्चित्त के) भेद हैं।"

**तत्त्वार्थसूत्रे ( 9/22 ) तु एतस्य नवैव भेदा वर्णिताः–** *"आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेक-व्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः"।*

**अनगारधर्मामृते तु दश भेदा व्यवहारनयेन स्वीकृताः, निश्चयनयेन तु असंख्यातलोकपरिमाणं तेषां स्वीकृतम्। उक्तं च तत्र** *(7/59)–*

*व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम्।*
*निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यते॥*

**तत्र प्रथमालोचनानामकं प्रायश्चित्तं निरूप्यते। श्रुतपारगानां वीतरागाणां कर्मास्त्रवरहितानां तथा रत्नत्रये मेरुवत् दृढतया स्थिराणां गुरूणां समक्षं मायामृषादिदोषराहित्येन निन्दागर्हापूर्वकं निजदोषनिवेदनम्-आलोचना। उक्तं च समयसारे** *(गाथा-385)–*

*जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।*
*तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया॥*

---

किन्तु तत्त्वार्थसूत्र (9/22) में इसके नौ ही भेद वर्णित हैं– "आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना –(ये नौ प्रकार प्रायश्चित्त के हैं)।"

अनगारधर्मामृत में तो व्यवहारनय से दश भेद स्वीकृत हैं और निश्चयनय से तो यह असंख्यातलोकप्रमाण माना गया है। वहीं (7/59) कहा गया है–

"इस प्रकार व्यवहारनय से प्रायश्चित्त के दस भेद होते हैं। निश्चयनय से उसके असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं।"

इनमें आलोचना नामक प्रथम प्रायश्चित्त का निरूपण कर रहे हैं। श्रुतपारगामी, वीतराग, कर्मास्त्रव-रहित तथा रत्नत्रय में मेरु की तरह अडिग रूप से स्थिर रहने वाले गुरु जन के सामने माया, असत्य आदि दोषों से रहित होकर, निन्दा व गर्हा पूर्वक अपने दोषों का निवेदन करना आलोचना कहलाती है। समयसार (गाथा-385) में कहा भी गया है–

"वर्तमान में उदय में आये अनेक विस्तार वाले शुभ-अशुभ रूपी दोष को जो आत्मा अनुभव करता है, वह आत्मा वास्तव में 'आलोचना' है।"

**तथा च नियमसारे** *(गाथा-109)* **च विवेचितम्–**

*जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।*
*आलोयणमिदि जाणह परमजिणिंदस्स उवएसं॥*

**आलोचनाया भेदमधिकृत्य भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-535-537)* **प्रोक्तम्–**

*आलोयणा हु दुविहा ओघेण य होदि पदविभागी य।*
*ओघेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदरस्स॥*

*ओघेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधि सव्वघादी वा।*
*अज्जोपाए इच्छं सामण्णमहं खु तुच्छोत्ति॥*

*पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण।*
*पडिसेविदं तहा तं आलोचिंता पदविभागी॥*

---

इसी तरह नियमसार (गाथा-109) में भी विवेचना की गई है–

"जो जीव अपने परिणाम को समभाव में स्थापित कर अपने आत्मा को देखता है, उसके वीतराग स्वभाव का चिन्तन करता है, वह आलोचन है –ऐसा परम जिनेन्द्र का उपदेश जानें।"

आलोचना के भेद के विषय में भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-535-537) में कहा गया है–

"आलोचना दो प्रकार की होती है– ओघ (सामान्य) से और पद-विभागी (विशेष से)। मूल नामक प्रायश्चित्त वाला ओघ से आलोचना करता है और जिसको मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता, वह विशेष रूप से आलोचना करता है।"

"जिसने अपरिमित अपराध किये हैं या सभी (सम्यक्त्व आदि) व्रतों का घात किया है, वह सामान्य से इस तरह आलोचना करता है– मैं आज से मुनि-दीक्षा लेना चाहता हूँ, मैं रत्नत्रय से तुच्छ हूँ (यह सामान्य आलोचना का स्वरूप है)।"

"दीक्षा से लेकर सब काल में, सब क्षेत्र में जिस भाव से और जिस क्रम से जो दोष किया हो, उसी प्रकार आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना होती है।"

**अथवा मूलाचारे** *(गाथा-621)* **च समुपदिष्टम्–**

*आलोचणं दिवसियं रादिअ इरियापधं च बोद्धव्वं।*
*पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च॥*

**आचार्यकुन्दकुन्ददेवैश्च नियमसारे** *(गाथा-107-108, 110-112)* **आलोचनास्वरूप-भेदादिकं यन्निरूपितं, तत्प्रस्तूयते–**

*णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।*
*अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि॥*

*आलोयणमालुंछणवियडीकरणं च भावसुद्धी य।*
*चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए॥*

*कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।*
*साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं॥*

---

अथवा, मूलाचार (गाथा-621) में बताया गया है–

"(आलोचना के ये भेद हैं–) दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुमार्सिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ।"

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने नियमसार (गाथा-107-108, 110-112) में आलोचना के स्वरूप व भेदों को जो निरूपण किया है, उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

"जो कर्म व नोकर्म से रहित तथा विभावगुण-पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है, उस साधु के आलोचना होती है।"

"आलोचन, आलुंछन, अविकृतीकरण और भावशुद्धि –इस तरह आगम में आलोचना का लक्षण चार प्रकार का कहा गया है।"

"कर्मरूपी वृक्ष का मूलच्छेद करने में समर्थ, स्वाधीन, समभाव रूप जो अपना परिणाम है, वह 'आलुंछन' नाम से कहा गया है।"

*कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।*
*मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं॥*

*मदमाणमायलोहविवज्जिय भावो दु भावसुद्धि त्ति।*
*परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं॥*

**आलोचनाया दोषाधारेण च दशभेदानां व्याख्यानं भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-564)* **कृतमस्ति–**

*आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।*
*छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी॥*

**राजवार्तिके** *(9/22/2)* **आलोचनाया अन्ये दशदोषा अपि निर्दिष्टाः, तत एव विस्तरेण बोद्धव्याः।**

---

"जो मध्यस्थ भावना में कर्म से भिन्न तथा निर्मल गुणों के निवास स्वरूप आत्मा की भावना करता है, उसकी यह भावना अविकृतीकरण है –ऐसा जानना चाहिए।"

"भव्य जीवों का मद, मान, माया व लोभ से रहित जो भाव है, वह भावशुद्धि है –ऐसा लोकालोक को देखनेवाले सर्वज्ञ देव ने कहा है।"

आलोचना के दोष आधारित दस भेदों का व्याख्यान भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-564) में किया गया है– "(1) आकम्पित– स्वयं पर गुरु-कृपा प्राप्त करके आलोचना करना, (2) अनुमानित– उपाय से गुरु का अभिप्राय जानकर आलोचना करना। (3) दृष्ट– दूसरों ने जो देखा, उसकी आलोचना करना। (4) बादर– स्थूल अतिचार की आलोचना करना। (5) सूक्ष्म-सूक्ष्म अतिचार की आलोचना करना। (6) छन्न– कोई देख न पाये– ऐसी आलोचना करना। (7) शब्दाकुलित– शोरगुल के मध्य आलोचना करना। (8) बहुजन– गुरुजनों की बहुलता में, बहुत से गुरुओं से आलोचना करना। (9) अव्यक्त– अप्रकट रूप से आलोचना करना, और (10) तत्सेवी– जो अपने समान दोषों का भागी है, उससे आलोचना करना।"

राजवार्तिक (9/22/2) में आलोचना के अन्य दस दोषों का भी निर्देश किया गया है, वहीं से विस्तारपूर्वक उनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

**आलोचनाया माहात्म्यं च राजवार्तिके** *(9/22/2)* **इत्थं वर्णितमस्ति–** *"लज्जापरपरिभवादि-गणनया निवेद्य अतिचारं यदि न शोधयेद् अपरीक्षितायव्ययाधमर्णवद् अवसीदति। महदपि तपस्कर्म अनालोचनपूर्वकं नाभिप्रेतफलप्रदम् आविरिक्तकायगतौषधवत् कृतालोचनस्यापि गुरुमतप्रायश्चित्तमकुर्वतः अपरिकर्मसस्यवत् महाफलं न स्यात्। कृतालोचनचित्तगतं प्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते।"*

**इदानीं प्रतिक्रमणस्वरूपं प्रकाश्यते। गुरुसमीपे स्वदुष्कृताभिधानम्, स्वदोषप्रकटनं वा प्रतिक्रमणप्रायश्चित्तम्। अथवा, गुरूणां समक्षं दोषालोचनां विना, संवेग-निर्वेदयुक्तस्य 'पुनः इदं न करिष्यामि' इति कथयित्वा अपराधाद् या निवृत्तिः, सैव प्रतिक्रमणनामकं प्रायश्चित्तम्।**

**निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपमुच्यते। तद्धि समयसारे** *(गाथा-383)* **निर्दिष्टम्–**

*कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।*
*तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥*

---

आलोचना का माहात्म्य भी वहीं राजवार्तिक (9/22/2) में इस प्रकार वर्णित किया गया है– "लज्जा और दूसरों से प्राप्त तिरस्कार आदि के कारण दोषों को निवेदन करके भी यदि उनका शोधन (प्रायश्चित्त) नहीं किया जाता है तो अपनी आमदनी व खर्च का हिसाब न रखनेवाले कर्जदार की तरह दुःख का पात्र बनना पड़ता है। बड़ी भारी दुष्कर तपस्याएँ भी आलोचना के बिना उसी तरह इष्ट फल नहीं दे सकतीं जिस प्रकार विरेचन से शरीर के मल की शुद्धि किये बिना खायी गई औषधि (निष्फल होती है)। आलोचना करके भी यदि गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह बिना सँवारे धान्य की तरह महाफलदायी नहीं हो सकता। आलोचना युक्त चित्त से किया गया प्रायश्चित्त माँजे हुए दर्पण के रूप की तरह निखर कर चमक उठता है।

अब प्रतिक्रमण के स्वरूप को स्पष्ट कर रहे हैं। गुरु के समीप अपने दुष्कर्म को कह देना, अपने दोषों को प्रकट कर देना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। या गुरुजनों के सामने दोष-सम्बन्धी आलोचना किये बिना, संवेग व निर्वेद से युक्त होकर 'मैं फिर इसे नहीं करूँगा' –यह कहकर अपराध से जो निवृत्ति होती है, वही प्रतिक्रमण नामक प्रायश्चित्त है।

निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप बता रहे हैं। वह समयसार (गाथा-383) में इस प्रकार बताया गया है– "पूर्व में किये गये अनेक विस्तार वाले जो शुभ-अशुभ कर्म हैं, उनसे स्वयं को जो जीव दूर कर लेता है, वह जीव ही प्रतिक्रमण है।"

**नियमसारे** *(गाथा-83-84)* **च भणितमास्ते–**

*मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।*
*अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं॥*

*आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण।*
*सो पडिकमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा॥*

**प्रतिक्रमणस्य भेदाः मूलाचारे** *(गाथा-615)* **इत्थं निरूपिताः–**

*पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापथं च बोधव्वं।*
*पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च॥*

**अथवा, प्रतिक्रमणं त्रिविधम्– मनःप्रतिक्रमणम्, वचःप्रतिक्रमणम्, कायप्रतिक्रमणं चेति। तत्र हा दुष्कृतमिति मनसि विचारणं मनःप्रतिक्रमणम्। सूत्रोच्चारणं वचःप्रतिक्रमणम्। कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणम्।**

---

नियमसार (गाथा-83-84) में भी कहा गया है–

''जो वचनों की रचना को छोड़कर तथा रागादि भावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है, उसके प्रतिक्रमण होता है।''

''जो विराधना का विशेषतः त्याग कर, आराधना में वर्तता (प्रवृत्त होता) है, वह साधु प्रतिक्रमण कहा जाता है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।''

प्रतिक्रमण के भेद मूलाचार (गाथा-615) में इस प्रकार बताये गये हैं–

''प्रतिक्रमण के ये सात भेद जानने चाहिए– दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ।''

अथवा, प्रतिक्रमण के ये तीन भेद हैं– मनःप्रतिक्रमण, वचन-प्रतिक्रमण और काय-प्रतिक्रमण। इनमें 'यह तो मेरा दुष्कर्म है' –ऐसा पश्चात्ताप करते हुए मन में विचार करना मनःप्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के सूत्रों का उच्चारण करना वचःप्रतिक्रमण है और शरीर से दुष्कर्मों का आचरण न करना कायप्रतिक्रमण है।

**इदानीं प्रतिक्रमणविधिः कथ्यते। यथा मूलाचारे** *(गाथा-620)* **भणितम्–**

*काऊण य किदियम्मं पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो।*
*आलोचिज्ज सुविहिदो गारवमाणं च मोत्तूण॥*

**इदमत्रावधेयम्। किञ्चित्कर्म आलोचनामात्रादेव शुद्ध्यति, किञ्चित्तु प्रतिक्रमणेनैव, अपरं पुनस्तदुभयसंसर्गे सति शुद्धिमुपयाति। अत्र यत् 'प्रतिक्रमणेनैव शुद्ध्यति' इति यदुक्तं, तत्रायं विशेषः– वस्तुतः अनालोचयतो न किञ्चिदपि प्रायश्चित्तम्, अत आलोचनपूर्वकमेव प्रतिक्रमणं शुद्धिकरमिति बोद्धव्यम्। एवं तर्हि 'तदुभयेन शुद्ध्यति' इति पृथक्कथनं व्यर्थम्– इति शंका भवति, तस्याः समाधानमुच्यते–**

**तदुभयप्रायश्चित्ते गुरोराज्ञया शिष्यः प्रतिक्रमणं करोति, प्रतिक्रमणमात्रेण शुद्धिः इति यत्कथितम्, तत्र गुरुरेव तदनुष्ठानं करोति –इति तात्पर्यम्, यतो हि गुरुः स्वयं कस्माच्चिदन्यस्मात् आलोचनां न करोति –इति सर्वं राजवार्तिके** *(9/22/4)* **स्पष्टीकृतं वर्तते।**

---

अब प्रतिक्रमण विधि का निरूपण किया जा रहा है। जैसे, मूलाचार (गाथा-620) में कहा गया है– ''कृतिकर्म करके, तथा पिच्छी से परिमार्जन कर, अंजली जोड़कर, शुद्ध हुआ, गौरव व मान को त्याग कर समाहित हुआ साधु आलोचना करे।''

यहाँ यह ध्यान देने की बात है– कोई कर्म (दोष) तो आलोचना मात्र से ही शुद्ध हो जाता है, कोई प्रतिक्रमण से ही शुद्ध होता है, और दूसरा (कोई) उक्त (आलोचना व प्रतिक्रमण) दोनों के संसर्ग से शुद्धि को प्राप्त होता है। यहाँ जो 'प्रतिक्रमण से ही शुद्ध होता है' यह कहा गया है, उसमें विशेष ज्ञातव्य यह है– वस्तुतः आलोचना के बिना तो कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं होता, इसलिए आलोचना-पूर्वक ही किया गया प्रतिक्रमण शुद्धिकारक है– यह समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'जो दोनों से शुद्ध होता है' इस प्रकार पृथक् कथन निरर्थक हो जाता है– ऐसी शंका उत्पन्न होती है, उसका समाधान कहा जा रहा है–

उक्त दोनों प्रायश्चित्त में गुरु की आज्ञा से शिष्य प्रतिक्रमण करता है। 'प्रतिक्रमणमात्र से शुद्धि होती है' ऐसा जो कहा जाता है, वहाँ 'गुरु ही वह अनुष्ठान करता है' –यह तात्पर्य है, क्योंकि गुरु किसी अन्य से आलोचना नहीं करता –इत्यादि सभी बातें राजवार्तिक (9/22/4) में स्पष्ट की गई हैं।

**किञ्च, दोषाल्पतायां गुरुसाक्ष्यमनपेक्षितमपि भवति। यथा–** *अस्थितानां योगानां धर्मकथा-दिव्याक्षेपहेतुसंनिधानेन विस्मरणे सति आलोचनं पुनरनुष्ठायकस्य संवेगनिर्वेदपरस्य गुरुविरहितस्य अस्य अल्पापराधस्य 'पुनर्न करोमि, मिथ्या मे दुष्कृतम्' इत्येवमादिभिः दोषात् निवर्तनं प्रतिक्रमणं भवति।* **–इति चारित्रसारे** *(पृ. 141)* **निरूपितमस्ति।**

**धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26)* **च भणितम्–** *''एदं कत्थ होदि? अप्पावराहे गुरुहि विणा वड्ढमाणम्हि होदि''।*

**प्रतिक्रमणविधौ सर्वदण्डकोच्चारणं प्रथम-चरमतीर्थंकरयोः शासने नियमतः कार्यमेव, शेषतीर्थंकरशासने तु कृतदोषस्यैव गर्हादिकरणं भवतीति मूलाचारे** *(गाथा-630, 632)* **निरूपितं दृश्यते–**

*इरियागोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु।*
*पुरिमचरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमदि॥*

---

और, अल्पदोष हो तो गुरु को साक्षी करना अपेक्षित भी नहीं होता। जैसे– योगों की अस्थिरता में धर्मकथा आदि में किसी विघ्न के कारण उपस्थित हो जाने पर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगों को भूल जाय तो पहले आलोचना करते हैं और फिर यदि संवेग व वैराग्य में तत्परता हो, और समीप में गुरु न हों तथा छोटा-सा अपराध लगा हो तो 'मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा, यह मेरा पाप मिथ्या हो' –इस प्रकार से दोषों से अलग रहना (निवृत्त होना) 'प्रतिक्रमण' कहलाता है –ऐसा चारित्रसार (पृ. 141) में निरूपित किया गया है।

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26) में भी कहा गया है– ''यह (प्रतिक्रमण नामक) प्रायश्चित्त कब होता है? (उत्तर-) जब अपराध छोटा हो और गुरु पास में न हों, तब यह प्रायश्चित्त होता है।''

प्रतिक्रमण-विधि में सभी दण्डकों का उच्चारण करना प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के शासन में तो नियमतः करणीय ही है, शेष तीर्थंकरों के शासन में तो कृत दोष की ही गर्हा आदि करनी होती है– ऐसा मूलाचार (गाथा-630, 632) में निरूपित किया गया है–

''ईर्यापथ-सम्बन्धी, आहार सम्बन्धी, स्वप्न आदि सम्बन्धी सभी दोष करें या न करें, प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के काल में साधु सभी दोषों का नियम से प्रतिक्रमण करते हैं।''

*पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।*
*तो सव्वपडिक्कमणं, अंधलय घोडय दिट्ठंतो॥*

**तदुभयप्रायश्चित्तस्वरूपमुच्यते। सावद्यप्रवृत्तौ तदुभयात् विशोधनं तदुभयप्रायश्चित्तम्। केशलुञ्चन-नखच्छेद-दुःस्वप्नदर्शन-इन्द्रियातिचार-रात्रिभोजनेषु तथा पक्ष-मास-संवत्सरादिदोषेषु च तदुभयप्रायश्चित्तमनुष्ठेयं भवति।**

**विवेकप्रायश्चित्तं निरूप्यते। यस्य निराकरणं नैव कर्तुं शक्यते, तस्मिन् दोषे सति विवेकनामकं प्रायश्चित्तं भवति। विवेको नाम संसक्त-अन्नपानोपकरणादिविभागः। अथवा– गणगच्छद्रव्य-क्षेत्रादितो निस्सारणं विवेकः। अथवा– अतिचार-निमित्तद्रव्यक्षेत्रादिकात् मनसा अपगतिः, तत्र अनादरो विवेकः।**

---

''प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य तो चूँकि चलचित्त (अस्थिर चित्तवाले) व मूढ़ मन वाले होते हैं, अतः उनके सर्वप्रतिक्रमण का विधान है, इसमें अंधलकघोटक (अश्व) का उदाहरण (मननीय) है।'' [दृष्टान्त का सार यह है– राजा का घोड़ा अन्धा हो गया था। उसने वैद्य-पुत्र से औषधि पूछी। वैद्यपुत्र को उस विशिष्ट औषधि का ज्ञान नहीं था, औषधि के जानकार तो उसके पिता थे, किन्तु वे कहीं बाहर गये हुए थे। अतः वैद्यपुत्र ने उस सभी सम्भावित औषधियों का प्रयोग किया जो उसके पास थीं। उन औषधियों में वह कारगर औषधि थी, और वह घोड़ा रोगमुक्त हो गया। इसी तरह सभी दण्डकों के उच्चारण से किसी न किसी दण्डक में साधक स्थिरचित्त होकर कर्मक्षय करने में सफल हो जाएगा।]

अब तदुभयप्रायश्चित्त का स्वरूप बता रहे हैं। सावद्य (सदोष) प्रवृत्ति (रूप दोष) होने पर दोनों (आलोचना व प्रतिक्रमण) द्वारा शुद्धि करना 'तदुभयप्रायश्चित्त' कहलाता है। केशलोंच, नाखून काटना, दुःस्वप्न दर्शन, इन्द्रियसम्बन्धी अतिचार, रात्रिभोजन, तथा पक्ष, मास व संवत्सर आदि के दोषों में तदुभयप्रायश्चित्त का अनुष्ठान किया जाता है।

अब विवेकप्रायश्चित्त का निरूपण किया जा रहा है। जिस दोष के होने पर उसका निराकरण नहीं किया जा सकता हो, उस दोष के होने पर यह विवेक नामक प्रायश्चित्त होता है। विवेक का अर्थ है– संसक्त हुए अर्थात् परस्पर में मिले-जुले अन्नपान आदि का अथवा उपकरण आदि का विभाग करना। अथवा गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदि से अलग करना 'विवेक' है। अथवा अतिचार के कारणभूत द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि से मनोयोगपूर्वक पृथक् रखना या दोषोत्पादक द्रव्यादि का मन से अनादर करना 'विवेक' है।

**अथवा– संसक्तेषु द्रव्यक्षेत्रान्नपानोपकरणादिषु दोषात् निवर्तयितुमलभमानस्य तद्द्रव्यादिविभजनं विवेकः। अथवा– शक्त्यनगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणात् प्रासुक-ग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं विवेकः। शास्त्रेषु विवेकस्य पञ्च भेदा वर्णिताः। तद्यथा भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-170-171)* **प्रोक्तम्–**

*इंदियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स।*
*एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो॥*

*अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स।*
*वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव॥*

**विस्तरस्तु तत्र टीकायां द्रष्टव्यः। भावतोऽविवेको विवेकतप-अतीचारो भवतीति विज्ञेयम्।**

---

अथवा– किसी मुनि का हृदय किसी द्रव्य, क्षेत्र, अन्नपान अथवा उपकरण में आसक्त हो और किसी दोष को दूर करने के लिए (उससे बचाने के लिए) गुरु उस मुनि को वह पदार्थ प्राप्त न होने दे, उस पदार्थ को उस मुनि से अलग कर दे तो यह 'विवेक' (नामक प्रायश्चित्त) है। अथवा– अपनी शक्ति को न छिपा कर, प्रयत्नपूर्वक जीवों की बाधा दूर करते हुए भी किसी कारण से अप्रासुक पदार्थ को ग्रहण कर ले, अथवा जिसका त्याग कर चुके हैं, ऐसे प्रासुक पदार्थों को भी भूल से ग्रहण कर ले और फिर स्मरण हो आने पर उन सबका त्याग कर दे तो वह भी विवेक (नामक प्रायश्चित्त) है। शास्त्रों में विवेक के पाँच भेद बताये गये हैं। जैसे- भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-170-171) में बताया गया है–

"इन्द्रिय-विवेक, कषाय-विवेक, उपधिविवेक, भक्तपानविवेक, देह का विवेक –इस प्रकार यह विवेक पाँच प्रकार का कहा गया है। यह पाँच प्रकार का विवेक भी द्रव्य व भाव के भेद से दो-दो प्रकार का होता है।"

"अथवा शरीर-विवेक, वसति-विवेक, संस्तर विवेक, उपधि-विवेक, भक्तपान-विवेक और वैयावृत्त्य करने वालों का विवेक –द्रव्य व भाव रूप होता है।"

इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी इसकी टीका में देखनी चाहिए। परिणामों के द्वारा 'विवेक' का न होना –यह विवेक (प्रायश्चित्त) का अतीचार होता है –यह जानें।

**सम्प्रति व्युत्सर्गप्रायश्चित्तस्वरूपं वर्ण्यते। ममकाराहंकारात्मकसंकल्पविकल्पत्यागो व्युत्सर्गः। अथवा– शरीरविषये आहारविषये च मनो-वचन-प्रवृत्तीः उत्सार्य ध्येयवस्तुनि एकाग्रतया चित्तनिरोध एव व्युत्सर्गः। व्युत्सर्गस्यापरं नाम कायोत्सर्गः। कायोत्सर्गस्य स्वरूपं च नियमसारे** *(गाथा-121)* **प्रोक्तम्–**

*कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।*
*तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्विअप्पेण।।*

**स च व्युत्सर्गो द्विविधः– बाह्योऽन्तरङ्गश्च। तत्र आभ्यन्तरोपधिक्रोधादित्यागरूपोऽन्तरङ्ग-व्युत्सर्गः, तत्र बाह्योपधीनां, श्रमणापेक्षया पिच्छिकुण्डिकादीनां गृहस्थापेक्षया क्षेत्रवास्तुप्रभृतीनां ममत्वत्यागरूपो बाह्यः। अन्तरङ्गव्युत्सर्गोऽपि द्विविधः– यावज्जीवं नियतकालश्चेति। यावज्जीवमपि त्रिविधः– भक्तप्रत्याख्यान-इङ्गिनीमरणप्रायोपगमनभेदात्। नियतकालश्च द्विविधः– नित्यनैमित्तिक-भेदात्। तत्र नित्य आवश्यकादयः। नैमित्तिकस्तु पार्वणी क्रिया निषद्याक्रियाद्याश्च। व्युत्सर्गस्य प्रयोजनानि शास्त्रे वर्णितानि– निःसङ्गत्वम्, निर्भयत्वम्, जीविताशाव्युदासः, दोषोच्छेदः, मोक्षमार्ग-प्रभावनापरत्वम् –इत्येवमादीनि।**

---

अब, व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त का स्वरूप बता रहे हैं। ममकार व अहंकार रूप संकल्प-विकल्प त्याग 'व्युत्सर्ग' कहलाता है। अथवा शरीर व आहार में मन व वचन की प्रवृत्तियों को हटाकर ध्येय वस्तु के प्रति एकाग्रता से चित्त के निरोध को व्युत्सर्ग कहा जाता है। व्युत्सर्ग का दूसरा नाम कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के स्वरूप को नियमसार (गाथा-121) में इस प्रकार बताया गया है–

''शरीर आदि पर-द्रव्यों में स्थिर भाव छोड़कर, जो आत्मा को निर्विकल्प रूप से ध्याता है, उसके कायोत्सर्ग होता है।''

वह व्युत्सर्ग दो प्रकार का है– बाह्य और अन्तरङ्ग (आभ्यन्तर)। इनमें आभ्यन्तर उपधि रूप क्रोधादि का त्याग अन्तरङ्ग व्युत्सर्ग है। बाह्य उपधि रूप का, (जैसे) श्रमण की अपेक्षा से शरीर व आहार आदि का, गृहस्थ की अपेक्षा से खेत, वास्तु आदि के प्रति ममत्व का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है। अन्तरङ्ग व्युत्सर्ग के भी दो भेद हैं– यावज्जीव और नियतकालिक। यावज्जीव (अन्तरङ्ग व्युत्सर्ग) के भी तीन भेद हैं– भक्तप्रत्याख्यान, इङ्गिनीमरण और प्रायोपगमन। नियतकाल व्युत्सर्ग दो प्रकार का है– नित्य और नैमित्तिक। इनमें आवश्यक आदि क्रियाओं का करना नित्य व्युत्सर्ग है और पर्व के दिनों में होने वाली क्रियाएँ करना एवं निषद्या आदि क्रिया करना नैमित्तिक है। शास्त्र में व्युत्सर्ग के प्रयोजन ये बताये गये हैं– (1) निःसङ्गता, (2) निर्भयता, (3) जीविताशा का त्याग, (4) दोष-उच्छेद, (5) मोक्षमार्गप्रभावना-तत्परता, इत्यादि।

**शरीरममत्व-अनिवृत्तिस्तु व्युत्सर्गतपसोऽतिचाररूपा बोध्या।**

**व्युत्सर्गस्य प्रायश्चित्तभेदरूपेण वर्णनं विधीयते। तस्य पृथक्तपोरूपेण निरूपणमपि क्रियते –इत्यत्र किं कारणम्?**

**समाधीयते– व्युत्सर्गतपसोऽनुष्ठानं निरपेक्षतया विधीयते। किन्तु प्रायश्चित्त-भेदरूपेण परिगणितो व्युत्सर्गः, अतीचारसद्भावे तच्छुद्ध्यै भवति। विस्तरस्तु तत्तच्छास्त्रादिभ्योऽवगन्तव्यः।**

**तपःप्रायश्चित्तस्वरूपं विव्रियते– शारीरिक-मानसिकबलादियुक्तेन कृतापराधेन सता उपवास-एकासन-आचाम्ल-निर्विकृतिप्रभृतिभिः क्रियमाणं प्रायश्चित्तरूपं तप उच्यते। अथवा– अनशन-अवमौदर्य-निर्विकृतिप्रभृतिलक्षणं तपः। अनशनस्वरूपं प्रागुक्तम्। आचाम्लं च काञ्जीयुक्तस्य ओदनस्याहारः। अम्लं चतुर्थो रसः, स एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माष-सक्तुप्रभृतिके स्यात्तद् आचाम्लम्।**

---

शरीर सम्बन्धी ममत्व का नहीं हटना व्युत्सर्ग तप का अतीचार समझना चाहिए।

व्युत्सर्ग का प्रायश्चित्त के एक भेद के रूप में वर्णन किया जा रहा है। इसका तप के स्वतन्त्र भेद रूप में भी निरूपण किया जाता है– इसका कारण क्या है?

समाधान यह है– व्युत्सर्ग तप स्वयं निरपेक्ष भाव से किया जाता है जब कि प्रायश्चित्त के भेद के रूप में गिनाया गया व्युत्सर्ग, अतीचार होने पर उसकी शुद्धि के उद्देश्य से किया जाता है। विस्तार से तो उन-उन शास्त्र आदि से जानना चाहिए।

तप प्रायश्चित्त का स्वरूप बता रहे हैं– शारीरिक, मानसिक बल आदि से सम्पन्न मुनि, अपराध होने पर, उपवास, एकासना, आचाम्ल व निर्विकृति (गोरस आदि का त्याग) आदि द्वारा जो प्रायश्चित्त करता है, वह प्रायश्चित्त रूप तप है। अथवा– अनशन, अवमौदर्य, निर्विकृति आदि को तप प्रायश्चित्त कहा जाता है। अनशन का स्वरूप पहले कहा गया है। आचाम्ल है– कांजीयुक्त मात्र ओदन का आहार। अम्ल चौथा रस है, वही प्रायः चावल, कांजी, सत्तू आदि व्यंजन या भोज्य पदार्थों में रहे, वह 'आचाम्ल' होता है।

**निर्विकृतिः विकृतिरहितं भोजनम्। विक्रियते येन, जिह्वायां मनसि वा विकारो येन जायते, तादृशं भोजनं विकृतिः– यथा गोरसः, इक्षुरसः, फलरसः, धान्यरसश्च। अत्र क्षीरघृतादिः गोरसः। इक्षुरसः खण्डगुडादिः। फलरसो द्राक्षाम्रादिनिष्यन्दः। धान्यरसस्तैल-मण्डादिः। अथवा यद् येन सह भुज्यमानं स्वदते, तत् तत्र विकृतिरित्युच्यते। तद्रहितं भोजनं निर्विकृतिकम्। तपःप्रायश्चित्तप्रदानं तस्मै एव कृतपराधाय साधवे भवति, यस्तीव्रेन्द्रियः, यौवनपूर्णः, शक्तिसम्पन्नश्च भवति।**

**सम्प्रति छेदप्रायश्चित्तस्वरूपं कथ्यते। दिवसपक्षमासादिना प्रव्रज्या-हापनं छेदः। अथवा– दिवस-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-संवत्सरादिदीक्षापर्यायछेदं विधाय इच्छितपर्यायाद् अधस्तनभूमिकायां स्थापनं छेदः। एतस्यापि प्रदानं कृतापराधाय तस्मै साधवे क्रियते य उपवासादिकरणे समर्थः, सर्वप्रकारेण बलसम्पन्नः, शूरः, गर्वितश्च भवति।**

**परिहारप्रायश्चित्तस्वरूपं निरूप्यते। पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः। स च द्विविधः– अनवस्थाप्यः, पारञ्चिकश्च।**

---

निर्विकृति का अर्थ है– विकृतिरहित भोजन। जिससे विकृति पैदा हो, अर्थात् जिह्वा या मन में विकार उत्पन्न हो, वैसा भोजन विकृति है, जैसे– गोरस, इक्षुरस, फलरस और धान्यरस। यहाँ गोरस हैं– दूध, घी आदि। खाँड, गुड़ आदि इक्षुरस हैं। दाख व आम आदि फलों का रस –ये फलरस हैं। तेल, माण्ड आदि धान्य रस हैं। अथवा– जिसको मिलाकर भोजन करने से भोजन में विशेष स्वाद आता हो, उसे विकृति कहते हैं। उस विकृति से रहित भोजन करना निर्विकृतिक तप है। यह तप प्रायश्चित्त अपराध करनेवाले ऐसे साधु को ही दिया जाता है, जिसकी इन्द्रियाँ तीव्र हों, जो यौवन से पूर्ण हो तथा शक्तिसम्पन्न हो।

अब छेद प्रायश्चित्त का स्वरूप बता रहे हैं। दिन, पक्ष, महीना आदि की प्रव्रज्या का छेद करना छेद (प्रायश्चित्त) होता है। अथवा– एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन, एक वर्ष आदि तक के दीक्षा-पर्याय का छेद कर इच्छित पर्याय से नीचे की भूमिका में स्थापित करना छेद (प्रायश्चित्त) है। इस प्रायश्चित्त को भी अपराध करनेवाले उसी साधु को दिया जाता है जो उपवासादि करने मे समर्थ हो, सभी प्रकार से बल-सम्पन्न हो, शूर हो और अभिमानी हो।

परिहारप्रायश्चित्त का स्वरूप बता रहे हैं। पक्ष, महीना आदि के विभाग (मर्यादीकरण) द्वारा संघ से दूर रखना या करना परिहार प्रायश्चित्त होता है। वह दो प्रकार का होता है– अनवस्थाप्य व पारञ्चिक।

**अनवस्थाप्यप्रायश्चित्तस्यापि द्वौ प्रकारौ– निज-गण-अनवस्थापनम्, परगण-अनवस्थापनं च। ये प्रमादकारणाद् अन्यमुन्यादिसम्बन्धिनमृषिं छात्रं गृहस्थं वा, अन्यधर्मप्रतिबद्धं चेतनमचेतनं वा द्रव्यं परस्त्रियं वा अपहरन्ति, चोरयन्ति, अथवा अन्यदपि तादृशविरुद्धाचरणमाचरन्ति, किन्तु तेषु ये नवदशपूर्वधराः त्रिसंहननधारिणो जितपरिषहाः दृढधर्मिणो धीरा भवभीता स्युः, तेभ्यो निजगुणानुपस्थापनप्रायश्चित्तं दीयते। ये तु दर्पात्पूर्वोक्तदोषानाचरन्ति, तेभ्यस्तु परगणानुपस्थापन-प्रायश्चित्तं दीयते।**

**अथ पारञ्चिकप्रायश्चित्तस्वरूपं निरूप्यते। तीर्थंकर-गणधर-आचार्य-संघादि-आसातना-कारकस्य, नरेन्द्रविरुद्धाचरणकर्तुः, राजानभिमतामात्यादीनां दीक्षादायकस्य, राजकुलवनिता-सेवनकर्तुः, तथा च एतादृशान्यदोषैर्धर्मदूषकस्य कृते पारञ्चिकं प्रायश्चित्तं भवति।**

**अथवा परिहारप्रायश्चित्तं द्विविधम्– पारञ्चिक-अनवस्थाप्यभेदात्। अनवस्थाप्यमपि द्विधा–निजपरगणभेदात्।**

---

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के भी दो भेद हैं– निजगणअनवस्थापन और परगणअनवस्थापन। जो प्रमाद के कारण, अन्य मुनि आदि से जुड़े ऋषि, विद्यार्थी, या गृहस्थ का अथवा अन्य धर्माराधक द्वारा रोके हुए चेतन या अचेतन द्रव्य का या परस्त्री आदि का अपहरण करते हैं या उसे चुराते हैं, अथवा अन्य भी ऐसे (धर्म-)विरुद्ध आचरण करते हैं, किन्तु उनमें जो नौ या दस पूर्वों के ज्ञाता, प्रथम तीन संहननों के धारक, परीषहजयी, दृढ़धर्मी, धीर व भवभीरु हों, उन्हें यह निजगुण-अनुपस्थापन नामक प्रायश्चित्त देय होता है। किन्तु जो अभिमानपूर्वक उपर्युक्त दोषों का आचरण करते हैं, उन्हें परगण-अनुपस्थापन प्रायश्चित्त देय होता है।

अब पारञ्चिक प्रायश्चित्त का स्वरूप बता रहे हैं। जो तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, संघ आदि की आसातना (झूठी निन्दा आदि) करते हैं, जिसने राजा के विरूद्ध आचरण किया है, जिन्होंने किसी राजा के प्रिय अमात्य आदि को दीक्षा दी है, या राजकुल की किसी महिला का सेवन किया है, और इसी तरह के अन्यान्य दोषों से धर्म को दूषित किया है, ऐसे (मुनियों) के लिए पारञ्चिक प्रायश्चित्त होता है।

अथवा– परिहार प्रायश्चित्त दो प्रकार का है– पारञ्चिक व अनवस्थाप्य। अनवस्थाप्य के भी दो भेद हैं– निजगण-अनवस्थाप्य और परगण-अनवस्थाप्य।

**निजगणानुपस्थापनप्रायश्चित्तं यस्मै दीयते, स ऋषिसमूहात् द्वात्रिंशद्दण्ड-परिमाणमन्तरं विधाय प्रतिक्रमणादिकं करोति, बालमुनीनपि स वन्दते, किन्तु न तस्मै कश्चित् प्रतिवन्दनां करोति, केवलं स गुरुणा सहालोचनां करोति, शेषजनान् प्रति मौनं दधाति, स्वपिच्छोपकरणं पराङ्मुखं कृत्वा स्थापयति, तथा जघन्यतया पञ्च पञ्चोपवासान्, उत्कृष्टतः षण्मासोपवासान् करोति, एवं स उपवासान् द्वादशवर्षपर्यन्तं करोति। अथवा, उपवास-आचाम्ल-एकाशन-निर्विकृति-तपःप्रभृतिभिः शरीररसरुधिरमांसादीन् शोषयति। परगणानुपस्थापन-प्रायश्चित्तं यस्मै दीयते, तं स्वगणाचार्यः परगणाचार्यं प्रति विसर्जयति, प्रजहाति, सोऽपि आचार्यस्तस्यालोचनमाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदाय आचार्यान्तरं प्रस्थापयति, एवं सप्तमं यावत् स प्रस्थितो भवति, स सप्तमोऽपि पुनः प्रथमाचार्यं प्रति प्रस्थापयति, स एव पूर्वोक्तप्रायश्चित्तं तस्मै ( कृतापराधाय ) ददाति।**

**अयं विशेषः- इदं पारञ्चिकप्रायश्चित्तमपि अवस्थाप्यप्रायश्चित्तवद् भवति, किन्तु एतस्याचरणं साधर्मिवर्जितक्षेत्रे करणीयं भवति। प्रायश्चित्तप्रदानप्रक्रिया एवं भवति-**

---

निजगण-अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त जिसको दिया जाता है, वह मुनियों के आश्रम से बत्तीस दण्ड के अन्तराल से (दूरी रखकर) बैठकर प्रतिक्रमण आदि की क्रिया करता है, बाल मुनियों की भी वन्दना करता है, किन्तु उसे कोई वन्दना नहीं करता, केवल वह गुरु के साथ सदा आलोचना करता है, अन्य जनों के प्रति मौन धारण करता है, अपनी पिच्छी-उपकरण को उलटी रखता है, तथा कम से कम पाँच-पाँच उपवास और अधिकाधिक छः मास के उपवास करता है, इस प्रकार वह बारह वर्षों तक उपवास करता है। अथवा- उपवास, आचाम्ल, एकाशन, निर्विकृति आदि तपों द्वारा शरीर के रस, रुधिर व मांस को शोषित करने वाला होता है। परगण-अनुपस्थापन प्रायश्चित्त जिसे दिया जाता है, उसे उसके गण के आचार्य दूसरे संघ के आचार्य के पास भेजते हैं, वे दूसरे संघ के आचार्य भी उसकी आलोचना सुन कर प्रायश्चित्त दिये बिना ही अन्य आचार्य के पास भेजते हैं, इसी प्रकार सात संघों के पास उसे भेजा जाता है, वहाँ सातवें आचार्य भी उसे प्रथम आचार्य के पास भेजते हैं, तब वे प्रथम आचार्य (उस अपराधी को) उपर्युक्त प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं।

यहाँ यह विशेष बात समझनी चाहिए -यह पारञ्चिक प्रायश्चित्त भी अवस्थाप्य प्रायश्चित्त के जैसा होता है, किन्तु इसे साधर्मी पुरुषों से रहित क्षेत्र में आचरण करना होता है। इस प्रायश्चित्त को देने की प्रक्रिया इस प्रकार है-

**प्रथममाचार्यः चतुर्वर्णश्रमणसंघं संभूय तमाहूय– 'एष महापातकी समय-बाह्यः, अतो न वन्दनीयः' इति घोषयित्वा, प्रायश्चित्तं दत्वा तस्माद् देशात् तं निर्घाटयन्ति।**

**उक्तं च आचारसारे** *(6/62-64)*–

*स्वधर्मरहिते क्षेत्रे प्रायश्चित्ते पुरोदिते।*
*चारः पारञ्चिकं जैनधर्मात्यन्तरतेर्मतम्।।*

*संघोर्वीश-विरोधान्तःपुर-स्त्रीगमनादिषु।*
*दोषेष्ववन्द्यः पाप्येष पातकीति बहिःकृतः।।*

*चतुर्विधेन संघेन देशान्निष्कासितोऽप्यदः।*

**इदानीं मूलप्रायश्चित्तं विशदीकुर्मः। पुनर्दीक्षाप्रापणं मूलप्रायश्चित्तम्। अस्यैवापरं नाम उपस्थापनं श्रद्धानं वा वर्तते। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-294)*–

*पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिय जो खु भुंजमाणो दु।*
*मूलट्ठाणं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो।।*

---

सबसे पहले आचार्य चतुर्वर्ण श्रमणसंघ को एकत्रित कर बुलाते हैं, फिर उस (अपराधी मुनि) को बुला कर 'यह महापापी अपने मत से बाह्य है इसलिए वन्दनीय नहीं है' –ऐसी घोषणा करके, प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं और उस देश से निकाल देते हैं।

आचारसार (6/62-64) में कहा गया है–

''अपने धर्म से रहित (जहाँ लोग जैनधर्म से परिचित न हों) अन्य क्षेत्र में जाकर, पूर्वकथित प्रायश्चित्त करना पारंचिक होता है। संघ और राजा से विरोध एवं अन्तःपुर की स्त्रियों में गमन आदि दोषों के होने पर, 'यह पापी है, महापातकी है' इसलिए वह अवन्दनीय व बहिष्कृत हो जाता है, उसे चतुर्विध संघ के द्वारा देश से भी निकाल देना चाहिए।''

अब मूल प्रायश्चित्त को स्पष्ट कर रहे हैं। पुनः दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है। इसी का अन्य नाम उपस्थापन या श्रद्धान है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-294) में कहा भी गया है–

''उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार, उपकरण, वसतिका– इनका जो साधु ग्रहण करता है, वह मूलस्थान को प्राप्त होता है। वह बाल ही नहीं, बाल (अज्ञानी) श्रमण है।''

**अन्यच्च, अनगारधर्मामृते** *(7/57)* **प्रोक्तम्–**

*गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद् दीक्षाग्रहणं पुनः।*
*तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि।।*

**सम्प्रति विनयतपसः स्वरूपमुच्यते। विनयतपसो महत्त्वं शास्त्रेषु बहुशो निरूपितमस्ति। यथा भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-131-133)* **प्रोक्तम्–**

*विणओ मोक्खद्दारं विणआदो संजमो तवो णाणं।*
*विणयेणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य।।*

*आयारजीवकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा।*
*अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हादकरणं च।।*

*कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो।*
*तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।।*

---

और भी, अनगारधर्मामृत (7/57) में कहा गया है–

"जिसने अपना धर्म छोड़कर मिथ्यात्व को अंगीकार कर लिया है, उसे पुनः दीक्षा देने को श्रद्धान प्रायश्चित्त कहते हैं। इसको उपस्थापन भी कहते हैं।"

अब विनय तप का स्वरूप बता रहे हैं। विनय तप के महत्त्व को शास्त्र में अनेक प्रकार से बताया गया है। उदाहरणार्थ– भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-131-133) में कहा गया है–

"विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय से आचार्य व समस्त संघ को अपने वश में किया जाता है।"

"आचार के क्रम तथा कल्प गुणों का प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्य का अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने व दूसरों को प्रसन्न करना –ये विनय के गुण हैं।"

"कीर्ति, मित्रता, मान का विनाश, गुरुजनों का बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों की अनुमोदना –ये विनय में गुण हैं।"

**विनयस्य पञ्च भेदा भवन्ति। एतन्निरूपणं पूर्वाचार्यैः इत्थं कृतमस्ति। यथा मूलाचारे** *(गाथा-364)* **प्रोक्तम्–**

*दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।*
*पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ।।*

**अस्य पञ्चानां भेदानां नामनिर्देशपूर्वकं निरूपणं क्रियते। यथा दर्शनविनयस्य स्वरूपं भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-45-46)* **प्रोक्तम्–**

*अरहंतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य।*
*आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि।।*

*भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स।*
*आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण।।*

**दर्शनविनयस्वरूपमुक्तम्। ज्ञानविनयस्वरूपं यथा वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-322)* **भणितम्–**

---

विनय के पाँच भेद हैं। इनका निरूपण प्राचीन आचार्यों द्वारा इस प्रकार किया गया है। जैसे मूलाचार (गाथा-364) में कहा गया है–

"दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय और औपचारिकविनय –यह पाँच प्रकार का विनय पंचम गति का नायक कहा गया है।"

इस विनय तप के पाँच भेदों का नाम-निर्देश पूर्वक निरूपण कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, दर्शनविनय का स्वरूप भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-45-46) में इस प्रकार बताया गया है–

"अरहन्त, सिद्ध और उनके प्रतिबिम्बों में, श्रुत में, धर्म में साधु-वर्ग में, आचार्य में, उपाध्याय में, सुप्रवचन में और दर्शन में भी भक्ति, पूजा, वर्णजनन (यश का ख्यापन), अवर्णवाद का नाश तथा आसादना (आशातना) को दूर करना –यह संक्षेप से दर्शनविनय है।"

दर्शनविनय का स्वरूप बताया गया। ज्ञानविनय के स्वरूप को वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-322) में इस प्रकार बताया गया है–

*णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए।*
*जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ हु।।*

**अथवा मूलाचारे** *(गाथा-368)* **प्रोक्तम्–**

*णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि।*
*णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो।।*

**ज्ञानविनयस्य अष्टौ भेदाः भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-112)* **प्रोक्ताः–**

*काले विणये उवधाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।*
*वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो।।*

**एतेषां स्वरूपाणि विस्तरभयान्न लिख्यते।** ***चारित्रविनयस्य निरूपणं भगवती-आराधनाग्रन्थे*** (गाथा-114) ***कृतमस्ति–***

---

"ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि में, तथा ज्ञानवन्त पुरुष में भक्तिपूर्वक जो नित्य अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञानविनय है।"

अथवा मूलाचार (गाथा-368) में कहा गया है–

"ज्ञान शिक्षित करता है, ज्ञान गुणी बनाता है, ज्ञान दूसरे को उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय किया जाता है। इस प्रकार ये जो करता है, वह ज्ञान से विनयी होता है।"

ज्ञानविनय के भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-112) में आठ भेद बताये गये हैं–

"ज्ञान सम्बन्धी विनय के आठ प्रकार हैं– काल, विनय, उपधान, बहुमान, निह्नव, व्यञ्जनशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि।"

इनके स्वरूपों को यहाँ विस्तार के भय से नहीं लिखा जा रहा है। चारित्रविनय के स्वरूप का भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-114) में इस प्रकार बताया गया है–

*इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।*
*एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो।।*

**अन्यच्च, वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-323)* **भणितम्–**

*पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स।*
*जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो।।*

**तपोविनयस्य निरूपणं भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-118-119)* **विहितमस्ति–**

*उत्तरगुण-उज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सड्ढाए।*
*आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ।।*

*भत्ती तवोधिगंमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं।*
*एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स।।*

**अन्यच्च, वसुनन्दिश्रावकाचारे च** *(गाथा-324)* **भणितम्–**

---

"इन्द्रिय और कषाय रूप से आत्मा की परिणति न होना, गुप्तियाँ व समितियाँ –यह संक्षेप से 'चारित्रविनय' है– ऐसा जानें।"

और भी, वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-323) में कहा गया है–

"परम आगम में पाँच प्रकार का चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारण करनेवाले वर्णन किये गये हैं, उनके आदर-सत्कार को चारित्रविनय जानना चाहिए।"

तपोविनय का भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-118-119) में इस प्रकार निरूपण है–

"उत्तरगुण अर्थात् संयम में उद्यम, सम्यक् रीति से भूख-प्यास आदि को सहना, तप में अनुराग, पहले कहे गये छः आवश्यकों की न्यूनता न होना व आधिक्य न होना, जो तप में अधिक हैं उनमें और तप में भक्ति और जो अपने से तप में हीन हैं उनका अपरिभव (तिरस्कार न करना) –यह श्रुत के अनुसार आचरण करनेवाले साधु का तप विनय है।"

और भी, वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-324) में कहा गया है–

*बालो यं बुड्ढो यं संकप्पं वज्जिऊण तवसीणं।*
*जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि।।*

**उपचारविनयस्वरूपादिकं भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गा. 120-128)* **प्रतिपादितमित्थमस्ति-**

*काइयवाइयमाणसिओ त्ति तिविहो दु पंचमो विणओ।*
*सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव पारोक्खो।।*

*अब्भुट्ठाणं किदियम्मं णवंसणं अंजली य मुंडाणं।*
*पच्चुग्गच्छणमेत्तो पच्छिद अणुसाधणं चेव।।*

*णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं।*
*आसणदाणं उवगरणदाणओगासदाणं च।।*

---

"यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकार का संकल्प छोड़कर तपस्वी जनों का जो प्रणिपात यानी आदरपूर्वक वन्दन आदि किया जाता है, उसे तपविनय जानना चाहिए।"

उपचारविनय के स्वरूप आदि का प्रतिपादन भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-120-128) में इस प्रकार किया गया है-

"पाँचवाँ उपचार विनय तीन प्रकार का है- कायिक, वाचिक व मानसिक। ये तीनों प्रकार के विनय भी दो-दो प्रकार के हैं- प्रत्यक्षविनय और परोक्षविनय।"

"(प्रत्यक्षकायिक विनय के चार प्रकार हैं-) अभ्युत्थान, कृतिकर्म (अर्थात् वन्दना), शरीर को नम्र करना, दोनों हाथ जोड़ना, सिर नवाना, प्रत्युद्गमन (गुरु के बैठने या खड़े होने पर उनके सामने जाना), और जब गुरु जाएं तो उनसे दूर रहते हुए अपने हाथ-पैर को शान्त और शरीर को नम्र करके गमन करना और गुरु के साथ जाने पर उनके पीछे अपने शरीर प्रमाण भूमिभाग का अन्तराल देकर गमन करना।"

"नीचा स्थान, नीचा गमन, नीचा आसन, नीचे सोना, आसनदान, उपकरणदान और अवकाशदान (वसतिदान) -ये उपचार विनय के (सात) प्रकार हैं।"

*पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य।*
*पेसणकरणं संथारकरणमुवकरणपडिलिहणं।।*

*इच्चेवमानि विणओ उवयारो कीरदे सरीरेण।*
*एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्मि।।*

*पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च।*
*सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं।।*

*उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं।*
*एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो।।*

*पापविसोत्तिग परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।*
*णायव्वो संखेवेण एसो माणस्सिओ विणओ।।*

---

"गुरु आदि के शरीर के अनुकूल स्पर्शन, हाथ-पैर आदि दबाना, तीनों कालों के अनुरूप तथा बालपने आदि अवस्था के अनुरूप वैयावृत्त्य करना, गुरु आदि की आज्ञा का पालन करना, तृण आदि का संथरा (बिछावन) करना तथा उपकरणों की प्रतिलेखना करना।"

"इस प्रकार का (पूर्वोक्त) उपचारविनय सम्बन्धी आचरण साधुवर्ग में यथोचित रूप से किया जाता है, वह कायिकविनय है।"

"पूजापूर्वक (पूज्य भाव सहित) वचन, आदरणीय वचन, हितकारी भाषण, मितभाषण, मधुर भाषण, सूत्रानुसार वचन, अनिष्ठुर व अकर्कश वचन –ये वचनविनय हैं।"

"उपशान्त वचन, जो वचन गृहस्थों के योग्य नहीं हैं, कृषि आदि आरम्भ से शून्य वचन, दूसरों की अवज्ञा न करनेवाला वचन बोलना –यह यथायोग्य वाचिकविनय करणीय होता है।"

"पाप लाने वाले परिणामों का त्याग, जो गुरु को प्रिय व हितकर हो, उसी में परिणाम लगाना – इसे संक्षेप से मानसिकविनय जानें।"

*इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो।*
*विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए।।*

**किं च, भावप्राभृते** *(गाथा-104)* **अस्य महत्त्वं निरूपितमस्ति–**

*विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।*
*अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं ण पावंति।।*

**भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-130)* **च विशदीकृतमेतत्–**

*विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।*
*विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं।।*

**सम्प्रति वैयावृत्त्यतपसो निरूपणं विधीयते। कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्त्यम्। अथवा– गुणवतो व्याधिपरीषहादिदु:खोपनिपाते प्रासुकौषधिभक्तपानविविधधर्मोपकरणदानैः तत्प्रतीकार: सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्त्यम्।**

---

''इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, परोक्ष विनय भी वह है जो गुरु के अभाव में उनकी आज्ञा-निर्देश का आचरण करने में किया जाता है।''

और, भावप्राभृत (गाथा-104) में इसका महत्त्व इस प्रकार बताया गया है–

''(हे मुनि!) तू मन, वचन व काय रूप योग से पाँच प्रकार के विनय का पालन कर क्योंकि अविनयी व्यक्ति हितकारी (सुविहित, तीर्थंकर पद) तथा मुक्ति को नहीं पाते हैं।''

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-130) में उक्त भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

''विनय से रहित साधु की सारी शिक्षा निरर्थक है। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल सर्व कल्याण (की प्राप्ति) है।''

अब, वैयावृत्त्य तप का निरूपण कर रहे हैं। शरीर की चेष्टा द्वारा या अन्य द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्त्य तप होता है। अथवा– गुणी पुरुषों पर व्याधि, परीषह आदि दु:ख आने पर, उनका प्रासुक औषधि, आहार-पान एवं विविध धर्मोपकरणों के दान से प्रतीकार करना तथा सम्यक्त्व मार्ग में दृढ़ करना इत्यादि कार्य वैयावृत्त्य कहलाता है।

**अस्य स्वरूपादिविषये कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-459-460)* **स्पष्टीकृतम्–**

*जो उवयरदि जदीणं उवसग्गजराइखीणकायाणं।*
*पूयादिसु णिरवेक्खं वेज्जावच्चं तवो तस्स।।*

*जो वावरइ सरूवे समदमभावम्मि सुद्धउवजुत्तो।*
*लोयववहारविरदो वेयावच्चं परं तस्स।।*

**पात्रापेक्षया वैयावृत्त्यस्य दशभेदानां निर्देशो मूलाचारे** *(गाथा-390)* **इत्थं विहितः–**

*गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले।*
*साहुगणकुले संघे समणुण्णे य चापदि।।*

**वैयावृत्त्यरूपकार्याणां केषाञ्चित् निर्देशोऽपि भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-307-308)* **कृतः–**

---

इसके स्वरूप आदि के बारे में कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-459-460) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

"जो मुनि उपसर्ग से पीड़ित हो और बुढ़ापे आदि के कारण जिनका शरीर क्षीण हो गया है, जो अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की अपेक्षा न रखते हुए उन मुनियों का उपकार करता है, उसके वैयावृत्त्य तप होता है।"

"विशुद्ध उपयोग से युक्त हुआ जो मुनि शम, दम भाव स्वरूप अपने आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करता है और लोकव्यवहार से विरक्त रहता है, उसके (निश्चयनय से) उत्कृष्ट वैयावृत्त्य तप होता है।"

पात्र की अपेक्षा से वैयावृत्त्य के दस भेदों का भी निर्देश मूलाचार (गाथा-390) में इस प्रकार किया गया है– "गुणों से अधिक (आचार्य), उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, साधु, गण, कुल, संघ और मनोज्ञ मुनि –इन (दस पात्रों) पर आपत्ति के प्रसंग में वैयावृत्त्य करना चाहिए।"

वैयावृत्त्य रूप कुछ कार्यों का निर्देश भी भगवती-आराधना (गाथा-307-308) में इस प्रकार किया गया है–

*सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे।*
*आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ।।*

*अद्धाणतेणसावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे।*
*वेज्जावच्चं उत्तं संगहसारक्खणोवेदं।।*

**वैयावृत्त्यं श्रमणैर्गृहस्थैश्च अनुष्ठेयं भवति। यथा प्रवचनसारे** *(गाथा-3/53-54)* **निर्दिष्टम्-**

*वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।*
*लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।।*

*एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।*
*चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं।।*

---

"सोने का स्थान, बैठने का स्थान, और उपकरण -इनकी प्रतिलेखना करना, योग्य आहार व योग्य औषधि का दान करना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनि के शरीर का मल शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना -ये उपकार वैयावृत्त्य हैं।"

"जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हैं, उनके पैर आदि दबाना, जिन्हें चोरों ने सताया है, जंगली जानवरों, दुष्ट राजा, नदी में रोकने वाले, इनके द्वारा और मारी रोग से जो पीड़ित हैं, विद्या आदि से उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्ष में फंसे हैं, उन्हें सुभिक्ष देश में लाना, आप डरें नहीं -इत्यादि कह कर उन्हें धीरज बँधाना तथा उनका संरक्षण करना वैयावृत्त्य तप कहा जाता है।"

वैयावृत्त्य श्रमण व गृहस्थ (दोनों) द्वारा आचरणीय होता है। जैसा कि प्रवचनसार (गाथा-3/53-54) में कहा गया है-

"रोगपीड़ित, पूज्य आचार्य (दीक्षागुरु), वर्षों में छोटे और वर्षों में बड़े -ऐसे चार तरह के मुनियों की सेवा के लिए लौकिक जनों के साथ किया गया शुभ भावों से युक्त वचन-व्यवहार भी निषिद्ध नहीं किया गया है।"

"यह प्रशस्त शुभराग रूप आचार-प्रवृत्ति श्रमणों के गौण होती है, और श्रावकों को क्रमशः परम(निर्वाण) सौख्य का कारण होने से मुख्य है- ऐसा शास्त्रों में कहा गया है।"

**तत्त्वप्रदीपिकाटीकाकारेणात्र प्रतिपादितं यद् रागसंगत्वाद् इदं गौणं श्रमणानाम्, गृहस्थानां तु क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाद् मुख्यतया अनुष्ठेयम्।**

**वैयावृत्त्यस्य स्वाध्यायादपि विशिष्टफलं तथा तीर्थंकरनामकपुण्यप्रकृतिबन्धरूपफलं शास्त्रेषु निर्दिष्टमस्ति। यथा भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-330-331)* **निरूपितम्-**

*गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि।*
*तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं।।*

*एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य।*
*अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो।।*

**अन्यच्च, तत्रैव** *(गाथा-311-312)* **निरूपितम्-**

---

यही (आचार्य अमृतचन्द्रसूरिकृत) तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्रतिपादित किया गया है कि राग से युक्त होने के कारण यह (वैयावृत्त्य) श्रमणों के लिए गौण है किन्तु गृहस्थों के लिए क्रमशः परम निर्वाण के सौख्य में कारण होने से मुख्य (अनुष्ठान) है।

वैयावृत्त्य से स्वाध्याय की अपेक्षा भी (अधिक) विशिष्ट फल मिलता है और इसका फल तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध भी है –ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। जैसे, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-330-331) में बताया गया है-

''वैयावृत्त्य में तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणों के द्वारा उस तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म का बन्ध करता है जो तीनों लोकों मे हलचल पैदा करता है।

''वैयावृत्त्य में तत्पर साधु के बहुत-से महान् गुण होते हैं। जो केवल स्वाध्याय ही करता है, वह तो अपने ही प्रयोजन में लगा रहता है (किन्तु वैयावृत्त्य करनेवाला अपना और दूसरों का भी उपकार करता है)।''

और भी, वहीं (गाथा-311-312) में यह कहा गया है-

*गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।*
*संघाणं तव पूया अव्वोच्छित्ती समाधी य।।*

*आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य।*
*वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि।।*

**वैयावृत्त्य-अकरणे दोषाणामपि संकेत इत्थं तत्रैव** *(गाथा-309-310)* **विहितः–**

*अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण।*
*जदि ण करेदि समत्थो संतो होदि णिद्धम्मो।।*

*तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविराधणा अणायारो।*
*अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि।।*

---

"वैयावृत्त्य करने का पहला गुण (लाभ) है– गुणपरिणाम (अर्थात् साधु के गुणों में वासना होती है कि मैं भी ऐसा बनूँ)। इसके अतिरिक्त श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्र का लाभ, सन्धान (अपने में जो गुण छूट गये हैं, उनका पुनः आरोपण), तप, पूजा, धर्मतीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि –ये गुण होते हैं।"

"वैयावृत्त्य करने से तीर्थंकर की आज्ञा का पालन होता है, उससे आज्ञा-संयम होता है, संयम में सहायता होती है, निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है, विचिकित्सा (ग्लानि) दूर होती है, धर्म की प्रभावना होती है, और कार्य (उचित कर्तव्य) का निर्वाह भी होता है।"

वैयावृत्त्य के न करने पर होनेवाले दोषों का भी संकेत वहीं (गाथा-309-310) इस प्रकार किया गया है–

"अपने बल व शक्ति को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिनेन्द्र द्वारा कहे गये क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्त्य नहीं करता है तो वह धर्म से बहिष्कृत होता है।"

"वैयावृत्त्य न करने से तीर्थंकर की आज्ञा का भंग होता है। श्रुत और धर्म की विराधना होती है, आचार का लोप होता है, आत्मा, साधु वर्ग व प्रवचन (शास्त्र) का त्याग होता है (अर्थात् तप में उद्योग न करने से आत्मा का त्याग होता है, आपत्ति में उपकार न करने से साधुवर्ग का त्याग होता है और शास्त्रविहित आचरण न करने से आगम का त्याग होता है)।"

**स्वाध्यायतपसः स्वरूपमिदानीं निरूप्यते। स्वस्मै हितः 'अध्यायः' स्वाध्यायः। अथवा ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः। स्वाध्यायस्य श्रेयस्करत्वं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-462)* **प्रतिपादितम्-**

*पूजादिसु णिरवेक्खो जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए।*
*कम्ममलसोहणट्ठं सुयलाहो सुहयरो तस्स।।*

**अन्यच्च, अनगारधर्मामृते** *(7/92)* **च विशदीकृतम्-**

*अर्हद्ध्यानपरस्यार्हन् शं वो दिश्याद् सदाऽस्तु वः।*
*शान्तिरित्यादिरूपोऽपि स्वाध्यायः श्रेयसे मतः।।*

**स्वाध्यायस्य भेदा मूलाचारे** *(गाथा-393)* **निर्दिष्टाः-**

*परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।*
*थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ।।*

---

अब स्वाध्याय तप का स्वरूप बता रहे हैं। अपनी आत्मा का हित करनेवाला अध्ययन 'स्वाध्याय' है। अथवा- आलस्य त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय होता है। स्वाध्याय की श्रेयस्करता का प्रतिपादन कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-462) में इस प्रकार किया गया है-

"जो मुनि अपनी पूजा (प्रतिष्ठा) आदि से निरपेक्ष रहकर, केवल कर्म-मल की शुद्धि हेतु जिन शास्त्रों को भक्तिपूर्वक पढ़ता है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी होता है।"

और भी, अनगारधर्मामृत (7/92) में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है-

"जो साधु निरन्तर अर्हन्त भगवान् के ध्यान में लीन रहता है, उसके 'अर्हन्त भगवान् तुम्हारा कल्याण करें' या 'आपको शान्ति सर्वदा प्राप्त होती रहे' -इत्यादि वचन भी स्वाध्याय रूप होते हैं -यह जानें।"

स्वाध्याय के भेदों को मूलाचार (गाथा-393) में इस प्रकार बताया गया है-

"परिवर्तना- पढ़े हुए ग्रन्थ का पाठ, वाचन (व्याख्यान करना), पृच्छना- शास्त्रों के अर्थ को किसी दूसरे से पूछना, अनुप्रेक्षा- बारम्बार शास्त्र का मनन करना, धर्मकथा- शलाकापुरुषों के चारित्र को

**स्वाध्यायस्य महत्त्वं ख्यापितं भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-106-108)*–

*बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।*
*ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं।।*

*जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।*
*तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ।।*

*छट्ठट्ठमदसमदुबालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।*
*तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स।।*

**सम्यक्प्रकारेण कृतस्य स्वाध्यायस्य फलं द्विविधं भवति– प्रत्यक्षं परोक्षं चेति। तन्निरूपणं तिलोयपण्णत्तौ** *(1/36-42)* **इत्थं विहितम्–**

---

पढ़ना –ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय हैं, जिसे मुनि द्वारा देववन्दन व मंगलपाठ सहित किया जाना चाहिए।''

स्वाध्याय के महत्त्व का निरूपण भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-106-108) में इस प्रकार बताया गया है–

''सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट आभ्यन्तर व बाह्य भेद सहित बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान कोई तपश्चरण न तो है और न ही होगा।''

''सम्यग्ज्ञान से रहित कोई अज्ञानी जिस कर्म को लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है, उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त होकर अन्तर्मुहूर्त मात्र में क्षय कर लेता है।''

''अज्ञानी के दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है, उससे बहुत गुनी शुद्धि जीमते (भोजन करते) हुए ज्ञानी के हो जाती है।''

सम्यक् प्रकार से किये गये स्वाध्याय का फल दो प्रकार को होता है– प्रत्यक्ष व परोक्ष। इनका निरूपण तिलोयपण्णत्ति (1/36-42) में इस प्रकार किया गया है–

*सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होदि पच्चक्खा।*
*अण्णाणस्स विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती।।*

*देवमणुस्सादीहिं संततमब्भच्चणप्पयाराणि।*
*पडिसमयमसंखेज्जयगुणसेढिकम्मणिज्जरणं।।*

*इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्खपरंपरं च णादव्वं।*
*सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणपयारं।।*

*दोभेदं च परोक्खं अभुदयसोक्खाइं मोक्खसोक्खाइं।*
*सादादिविविहसुपरसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहिं।।*

*इंदपडिंददिगिंदयतेत्तीसामरसमाणपहुदिसुहं ।*
*राजाहिराजमहराजद्धमंडलियमंडलियाणं ।।*

*महमंडलियाणं अद्धचक्किचक्कहरतित्थयरसोक्खं।*
*अट्ठारसमेत्ताणं सामी सेणेण भत्तिजुत्ताणं।।*

*वररयणमउडधारी सेवयमाणाण वत्ति तह अट्ठं।*
*देंता हवेदि राजा जिदसत्तू समरसंघट्टे।।*

"(प्रत्यक्ष व परोक्ष –इन दो स्वाध्याय-भेदों में) प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकार का है– साक्षात् व परम्परा प्रत्यक्ष। अज्ञान का विनाश, ज्ञानरूपी सूर्य की उत्पत्ति, देव व मनुष्य आदि द्वारा निरन्तर की जानेवाली विविध प्रकार की अभ्यर्चना या पूजा, प्रत्येक समय में असंख्यात गुणश्रेणी रूप से होनेवाली कर्म-निर्जरा –इसे साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु जानें। और शिष्य व प्रतिशिष्य आदि द्वारा निरन्तर अनेक प्रकार से की जानेवाली जो पूजा है, उसे परम्परा प्रत्यक्ष हेतु जानें। परोक्ष हेतु भी दो प्रकार का है– एक अभ्युदय (लौकिक) सुख और दूसरा मोक्ष (लोकोत्तर) सुख। सातावेदनीय आदि विविध प्रकार के सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त होनेवाला इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र (लोकपाल), त्रायस्त्रिंश व सामानिक आदि देवों का सुख, तथा राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, अर्धचक्री (नारायण-प्रतिनारायण), चक्रवर्ती व तीर्थंकर –इनका अभ्युदय सुख होता है। जो भक्तियुक्त अठारह प्रकार की सेनाओं का स्वामी है, उत्कृष्ट रत्नों के मुकुट को धारण करनेवाला है, सेवकजनों को वृत्ति (भूमि आदि) तथा अर्थ (धन) प्रदान करनेवाला है और समर के संघर्ष में शत्रुओं को जीत चुका है, वह राजा होता है।"

**अन्यच्च, भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-103-105)* **स्वाध्यायस्य प्रयोजनानां निरूपणं विहितमस्ति–**

*सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य।*
*हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू।।*

*जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु।*
*तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए।।*

*आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा।*
*विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो।।*

**स्वाध्यायसम्बन्धिविशेषवर्णनं तु उत्तमतपोधर्मरूपेण ज्ञातव्यम्, व्युत्सर्गतपःस्वरूपं प्रायश्चित्ततपोभेद-व्युत्सर्गरूपेण निरूपितम्, तथा ध्यानतपःस्वरूपमपि उत्तमतपोधर्मरूपेण वर्णितम्, अतस्तत एव ज्ञातव्यम्।**

---

और भी, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-103-105) में स्वाध्याय के प्रयोजनों का निरूपण इस प्रकार प्राप्त होता है–

"विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचों इन्द्रियों के विषयों से संवृत (संवरयुक्त) तथा तीन गुप्तियों से युक्त एकाग्र मन वाला होता है।"

"जैसे-जैसे मुनि अतिशय अभिधेय (अर्थ) से भरे हुए तथा पहले कभी नहीं सुने गये श्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे वह नई-नई धर्मश्रद्धा से आह्लादित होता जाता है।"

"(इन गुणों से रत्नत्रय की वृद्धि होती है और इन दोषों से हानि होती है –इस प्रकार) वृद्धि और हानि के क्रम को जानने वाला जो मुनि श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयम में स्थित होकर शुद्धि को प्राप्त होता हुआ जीवन-पर्यन्त उसमें विहार करता है, वह निष्कम्प (निश्चल) ही है।"

स्वाध्याय से सम्बन्धित विशेष वर्णन को उत्तम तप रूप धर्म के रूप में जान सकते हैं। व्युत्सर्ग तप का स्वरूप भी प्रायश्चित्त तप के भेद 'व्युत्सर्ग' रूप से निरूपित किया गया है और ध्यान तप का स्वरूप भी उत्तम तप धर्म के रूप से निरूपित हुआ है, इसलिए वहीं से जानना चाहिए।

**एवं भो मनीषिन्! कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिर्बृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा, तदनुभावनीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्मपुद्गलानां द्रव्यनिर्जरा भवतीति विज्ञाय शुद्धस्वरूपे निश्चलचैतन्यपरिणतिः स्यादिति हेतवे प्रयतस्वेति दशमाधिकारस्यास्य तात्पर्यम्।**

**एवं निर्जरागुणदोषविचारणात्मिकां निर्जराभावनां भावयतो जनस्य कर्मनिर्जरायै वृत्तिर्भवति। ततश्च मोक्षप्राप्तिः सुकरा जायते। एवं** *'बंधपदेसग्गलणं'* **इति गाथामादिं कृत्वा** *'सा पुण दुविहा णेया'* **इत्यादिगाथां यावत् गाथाद्वयेन निर्जरानुप्रेक्षानामा दशमोऽधिकारोऽत्र समापद्यते।**

*[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागररचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'निर्जरानुप्रेक्षा-' नामको दशमोऽधिकारः सम्पन्नो जातः।]*

---

इस प्रकार, हे मनस्वी! बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग तपों से संवर्द्धित तथा कर्म-सामर्थ्य का उच्छेद करने में समर्थ शुद्धोपयोग ही भावनिर्जरा है और भावनिर्जरा के अनुसार नीरस होकर पूर्व में बंधे हुए कर्मों का एकदेश (आंशिक) रूप से खिर जाना द्रव्यनिर्जरा है -ऐसा जान कर शुद्धस्वरूप में निश्चल चैतन्य की परिणति हो -इस के लिए प्रयत्नशील रहो -यह इस दशम अधिकार का तात्पर्य है।

इस प्रकार, निर्जरा के गुण-दोष की विचारणा ही निर्जरा-भावना है, इसे भावित करते हुए व्यक्ति की कर्मनिर्जरा हेतु प्रवृत्ति होती है जिसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति सुकर हो जाती है। इस तरह, '**बंधपदेसग्गलणं**' इत्यादि (66वीं) गाथा से लेकर '**सा पुण दुविहा णेया**' इत्यादि (67वीं) गाथा तक, दो गाथाओं द्वारा निर्जरानुप्रेक्षा नामक दसवें अधिकार का यहाँ समापन हो जाता है।

*[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस सर्वोदया नामक टीका में 'निर्जरानुप्रेक्षा' नामक दसवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]*

## [ धम्माणुवेक्खा– एगादसो अहियारो ]

## ॥ धर्मानुप्रेक्षा– एकादशोऽधिकारः ॥

**अथेदानीं धर्मानुप्रेक्षानामक एकादशोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथमं तावदस्य पातनिका निरूप्यते। तत्र** *'एयारसदसभेदं धम्मं'* **इत्यादिगाथामारभ्य** *'णिच्छयणएण जीवो'* **इत्यादिकां गाथां यावत् पञ्चदश गाथा भवन्ति। तासां विस्तरतो निरूपणं प्रस्तूयते।** *'एयारसदसभेदं धम्मं'* **इत्यादिका प्रथमा गाथा, यस्यां प्रतिपादितमस्ति यद् धर्मो द्विविधः सागार-अनगारभेदात्, सम्यक्त्वपूर्वकयोः तयोश्च क्रमश एकादश दश च भेदा भवन्ति। ततश्च** *'दंसणवदसामाइय'* **इत्यादिका द्वितीया गाथा, यस्यां सागारधर्मस्य एकादशभेदा निर्दिष्टाः। तदनन्तरं** *'उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं'* **इत्यादिका तृतीया गाथा अनगारधर्मस्य दश भेदान् निर्दिशति। ततश्च** *'कोहुप्पत्तिस्स पुणो'* **इत्यादिका क्रोधोत्पत्तिकारणसद्भावेऽपि यो न क्रुद्ध्यति, तस्योत्तमः क्षमाधर्मो भवतीति प्रतिपादनपरा चतुर्थी गाथा। तदनन्तरं च** *'कुलरूवजादिबुद्धिसु'* **इत्यादिका पञ्चमी गाथा अष्टानां मदानामभावे उत्तममार्दवधर्मस्य सद्भावं निरूपयति।**

---

## [ धर्मानुप्रेक्षा– ग्यारहवाँ अधिकार ]

अब धर्मानुप्रेक्षा नामक ग्यारहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इस अधिकार की पातनिका का निरूपण किया जा रहा है। इस अधिकार में '**एयारसदसभेदं धम्मं**' इत्यादि गाथा से लेकर '**णिच्छयणएण जीवो**' इत्यादि गाथा तक पन्द्रह गाथाएँ हैं। इनका विस्तार से निरूपण प्रस्तुत कर रहे हैं। '**एयारसदसभेदं धम्मं**' इत्यादि प्रथम (68वीं) गाथा है जिसमें यह बताया गया है कि धर्म दो प्रकार का है– सागार व अनगार, ये दोनों सम्यक्त्वपूर्वक ही होते हैं और इनके क्रमशः ग्यारह व दस भेद होते हैं। इसके बाद, '**दंसणवदसामाइय**' इत्यादि दूसरी (69वीं) गाथा है, जिसमें सागार धर्म के ग्यारह भेदों का निर्देश प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर, '**उत्तमखममद्द-वज्जवसच्चसउच्चं**' इत्यादि तीसरी (70वीं) गाथा है जो अनगारधर्म के दस भेदों का निर्देश करती है। इसके बाद, '**कोहुप्पत्तिस्स पुणो**' इत्यादि चौथी (71वीं) गाथा है जो यह प्रतिपादित करती है कि क्रोध उत्पत्ति के कारणों के होने पर भी जो क्रोध नहीं करता, उसके उत्तम क्षमाधर्म होता है। इसके बाद, '**कुलरूवजादिबुद्धिसु**' इत्यादि पाँचवीं (72वीं) गाथा है जो आठ मदों के अभाव में उत्तम मार्दव धर्म के सद्भाव का निरूपण करती है।

**ततश्च** *'मोत्तूण कुडिलभावं'* **इत्यादिकायां षष्ठगाथायां कुटिलभावरहितस्य निर्मलहृदयेन कृतस्य श्रमणाचरणस्य उत्तमार्जवधर्मसंज्ञेति निरूपितम्। तदनन्तरं** *'परसंतावयकारणवयणं'* **इत्यादिका सप्तमी गाथा, यस्यां प्रतिपादितं यत्परसन्तापकारिवचन-प्रयोगमकुर्वतः श्रमणस्य स्वपरहितकारिवचनं यद् भवति, तस्योत्तमसत्यधर्मसंज्ञेति। तदनन्तरं** *'कंखाभावणिमित्तं किच्चा'* **इत्यादिका अष्टमी गाथा, यस्यां प्रतिपादितं यत्कांक्षाभावनिवृत्तस्य विरक्तस्य मुनेरुत्तमशौचधर्मो भवतीति। तदनन्तरं** *'वदसमिदिपालणाए'* **इत्यादिकायां नवमगाथायां प्रतिपादितमस्ति यद् व्रतसमितिपालने, मनोवाक्कायप्रवृत्तिरूपदण्डत्यागे, इन्द्रियजये च प्रवृत्तस्य मुनेः उत्तमसंयमधर्मो भवतीति। ततः परं** *'विसयकसायविणिग्गहभावं'* **इत्यादिका दशमी गाथा, यस्यां ध्यानस्वाध्यायाभ्यां विषयकषायनिग्रहं विधाय आत्मानं भावयतः श्रमणस्य उत्तमतपोधर्मो भवतीति वर्णितम्। तदनन्तरं** *'णिव्वेगतियं भावदि'* **इत्यादिका एकादशी गाथा, यस्यां परद्रव्यमोहरहितस्य संसारशरीरभोगेभ्यो निर्विण्णस्य मुनेरुत्तमत्यागधर्मो भवतीति निरूपितम्। ततःपरं** *'होदूण य णिस्संगो'* **इत्यादिका द्वादशी गाथा, यस्यां**

---

इसके पश्चात् **'मोत्तूण कुटिलभावं'** इत्यादि छठी (73वीं) गाथा है जिसमें बताया गया है कि कुटिलता से रहित एवं निर्मल हृदय से किये गये श्रमणोचित आचार की उत्तम आर्जवधर्म संज्ञा है। तदनन्तर, **'परसंतावयकारणवयणं'** इत्यादि सातवीं (74वीं) गाथा है जिसमें यह बताया गया है कि पर-सन्तापकारी वचन का प्रयोग न करने वाले श्रमण का जो स्वपरहितकारक वचन है, उसकी उत्तमसत्य धर्म संज्ञा होती है। इसके पश्चात्, **'कंखाभावणिमित्तं किच्चा'** इत्यादि आठवीं (75वीं) गाथा है जिसमें प्रतिपादित है कि कांक्षाभाव से रहित विरक्त मुनि के उत्तम शौच धर्म होता है। इसके बाद, **'वदसमिदिपालणाए'** इत्यादि नौवीं (76वीं) गाथा है जिसमें बताया गया है कि व्रत व समिति के पालन में, मन-वचन-शरीर की प्रवृत्ति रूप 'दण्ड' के त्याग में तथा इन्द्रियजय में प्रवृत्त रहने वाले मुनि के उत्तमसंयम धर्म होता है। इसके बाद, **'विसयकसायविणिग्गहभावं'** इत्यादि दसवीं (77वीं) गाथा है जो यह बताती है कि ध्यान व स्वाध्याय से विषय-कषाय का निग्रह करते हुए आत्म-भावना करने वाले श्रमण के उत्तम तप धर्म होता है। इसके पश्चात्, **'णिव्वेगतियं भावदि'** इत्यादि ग्यारहवीं (78वीं) गाथा है जिसमें यह निरूपित किया गया है कि पर-द्रव्यों में मोह से रहित तथा संसार, शरीर व भोगों के प्रति निर्वेद की भावना रखने वाले मुनि के उत्तम त्याग धर्म होता है। इसके अनन्तर, **'होदूण य णिस्संगो'** इत्यादि बारहवीं (79वीं) गाथा है जो यह

**सर्वविधपरिग्रहरहितस्य निगृहीतेष्टानिष्टविकल्पस्य श्रमणस्य समतापूर्वकप्रवर्तनरूप उत्तमाकिञ्चन्यधर्मः इति प्रतिपादितमस्ति। तदनन्तरं** *'सव्वंगं पेच्छन्तो'* **इत्यादिका त्रयोदशी गाथा, यस्यां प्रतिपादितमस्ति यत्स्त्रीणां सर्वाङ्गानि पश्यतोऽपि मुनेः रागादिभाव-विकाररहितस्य उत्तमब्रह्मचर्यधर्मो भवतीति। तत्पश्चात्** *'सावयधम्मं चत्ता'* **इत्यादिका चतुर्दशसंख्यका गाथा, मुनिधर्मपालनेन मोक्षो भवतीति प्रतिपादनपरा। अन्ते च** *'णिच्छयणएण जीवो'* **इत्यादिका पञ्चदशी गाथा प्रतिपादयति यदात्मा तु सागार-अनगारधर्मतो भिन्नः अतस्तस्य मध्यस्थभावेन नित्यं चिन्तनं कार्यमिति। इत्येवमेकादशाधिकारस्य पातनिका विज्ञेया।**

**अथेदानीं धर्मस्य प्रकारान् शास्त्रकारा निरूपयन्ति–**

**एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वगं भणिदं।**
**सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं।।६८।।**

***छाया–*** *एकादश-दशभेदो धर्मः सम्यक्त्वपूर्वको भणितः।*
*सागार-अनगारयोः उत्तमसुखसंप्रयुक्तैः।।*

---

बताती है कि सभी प्रकार के परिग्रह से रहित, इष्ट-अनिष्ट विकल्पों से रहित श्रमण की जो समतापूर्वक प्रवृत्ति है, वह उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है। इसके पश्चात्, **'सव्वंगं पेच्छन्तो'** इत्यादि तेरहवीं (80वीं) गाथा आती है जिसमें यह बताया गया है कि स्त्रियों (या पुरुषों) के सभी अङ्गों को देखते हुए भी जो मुनि रागादिभाव रूप विकार से रहित होता है, उसके उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म होता है। तदनन्तर, **'सावयधम्मं चत्ता'** इत्यादि चौदहवीं (81वीं) गाथा है जिसमें मुनि-धर्म के पालन से मोक्ष प्राप्त होने का प्रतिपादन किया गया है। अन्त में **'णिच्छयणएण जीवो'** इत्यादि पन्द्रहवीं (82वीं) गाथा है जो यह प्रतिपादित करती है कि आत्मा तो सागार व अनगार धर्म –इन दोनों से भिन्न है, इसलिए उसका मध्यस्थ भाव से नित्य चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार इस ग्यारहवें अधिकार की पातनिका जाननी चाहिए।

अब शास्त्रकार धर्म के भेदों का निरूपण करने जा रहे हैं–

**( 68 )**

**( गाथा-अर्थ– ) उत्तम सुख ( मोक्ष ) को प्राप्त हुए ( जिनेन्द्र भगवान् ) ने बताया है कि सागार ( श्रावकों ) व अनगार ( मुनियों ) का धर्म सम्यक्त्वपूर्वक होता है और उसके ( क्रमशः ) ग्यारह व दस भेद होते हैं।**

**( सर्वोदया टीका– )** *(उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं)* **उत्तमसुखमात्मीयपरमाह्लादरूपमार्हन्त्य-सहजोद्भूतम्, अथवा मोक्षरूपम्, तेन संप्रयुक्ताः अर्हन्तो जिनेन्द्राः सिद्धा वा, तैः,** *(भणिदं)* **भणितमुपदिष्टम्। अर्हतां सिद्धानां चोत्तमं परमोत्कृष्टं सुखं भवति। अशेषदुःखप्राप्तिनिबन्धन-मोहनीयप्रमुखादि-कर्महन्तृत्वात् अनन्तसुखादिसमन्विता अर्हन्तो भवन्ति। सिद्धास्तु उत्तमातीन्द्रिय-सुखरूपमोक्षस्थिता भवन्त्येव।**

**उक्तं च तत्त्वानुशासने** *(पद्य-242, 246)*–

*आत्मायत्तं निराबाधम्, अतीन्द्रियमनश्वरम्।*
*घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः।।*

*यदत्र चक्रिणां सौख्यं, यच्च स्वर्गे दिवौकसाम्।*
*कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम्।।*

**अन्यच्च, मूलाचारे** *(गाथा-1146)* **निरूपितम्–**

---

**( सर्वोदया टीका– ) ( उत्तमसुखसंप्रयुक्तैः )** अर्हन्त अवस्था के साथ सहजतया प्रादुर्भूत जो आत्मीय परमाह्लाद है, वही उत्तम सुख है, अथवा मोक्ष उत्तम सुख है, उससे युक्त अर्थात् अर्हन्त जिनेन्द्र देव या सिद्ध देव, उनके द्वारा (भणितं) कहे गये, उपदिष्ट। अर्हन्त व सिद्धों का सुख उत्तम यानी परम उत्कृष्ट होता है। समस्त दुःखों की प्राप्ति में प्रमुख कारण मोहनीय आदि कर्मों का हनन या नाश करने के कारण अर्हन्त देव अनन्त सुख आदि से युक्त होते हैं। सिद्ध तो उत्तम अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष को प्राप्त होते ही हैं।

तत्त्वानुशासन (पद्य-242 व 246) में कहा गया है–

"जो घाती कर्मों के क्षय से प्रादुर्भूत है, स्वात्माधीन है, निराबाध है, अतीन्द्रिय है और अविनश्वर है, उसे मोक्ष सुख कहते हैं।"

"जो सुख यहाँ चक्रवर्ती को प्राप्त है, और जो सुख स्वर्ग के देवों को प्राप्त है, वह परमात्माओं के सुख की एक कला (अंश) के बराबर भी नहीं ठहरता।"

और भी, मूलाचार (गाथा-1146) में भी कहा है–

*जं च कामसुहं लोए जं च दिव्वमहासुहं।*
*वीदरागसुहस्सेदे णंतभागंपि णग्घई।।*

**अत्र धर्मोपदेष्टारो जिनेन्द्रतीर्थंकरा 'उत्तमसुखसंप्रयुक्त'-पदेन अभिहिताः इति बोध्यम्।** *(सागारणगाराणं)* **सागारो गृहस्थः श्रावकः, अनगारश्च संयतो मुनिः, एतयोरुभयोः। अत्र श्रावकरूपेण देशविरतसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं बोध्यम्। अनगारपदेन महाव्रतिनः षष्ठादिगुणस्थान-वर्तिनोऽभिहिताः। तयोः धर्मोऽपि सागारधर्मः, अनगारधर्मः इति पृथक् पृथक् संज्ञां लभमानो द्विविधतां भजते। तद्धर्मरूपं चारित्रं कीदृशम्?**

**उच्यते–** *(सम्मत्तपुव्वयं)* **सम्यक्त्वपूर्वकं भवति, यतो हि सम्यक्त्वविरहितस्य धर्मसंज्ञा नोपयुज्यते। अत एवोक्तं ज्ञानार्णवे** *(6/54)*–

*चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम्।*
*तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतम्।।*

**भावप्राभृते च** *(गाथा-143)* **भणितम्–**

---

"जो भी लोक में प्राप्त विषय-सुख है, और जो स्वर्ग में प्राप्त होने वाला सुख है, वे सब वीतराग के सुख के अनन्तवें भाग की भी समानता नहीं कर सकते।"

यहाँ 'उत्तमसुखसंप्रयुक्त' पद से धर्मोपदेशक जिनेन्द्र तीर्थंकर अभिहित हैं- यह ज्ञातव्य है। **( सागारानगाराणाम् )** सागार यानी गृहस्थ श्रावक, अनगार यानी संयत, मुनि, इन दोनों का। यहाँ श्रावक रूप से देशविरत सम्यग्दृष्टि का ग्रहण होता है- यह जानें। अनगार पद से महाव्रती, छठे आदि गुणस्थान में रहने वाले अभिहित हैं। इन दोनों का धर्म भी सागार धर्म व अनगार धर्म –इन रूपों में अलग-अलग नामों से द्विविधता को प्राप्त है। वह धर्म रूप चारित्र कैसा है?

बता रहे हैं- **( सम्यक्त्वपूर्वकम् )** सम्यक्त्वपूर्वक होता है, क्योंकि सम्यक्त्वरहित की धर्म संज्ञा उपयुक्त नहीं होती। इसीलिए ज्ञानार्णव (6/54) में कहा गया है-

"साधुजन सम्यग्दर्शन को ज्ञान व चारित्र का बीज (कारण), यम व प्रशम का प्राण तथा तप व आगम का आश्रय मानते हैं।"

भावप्राभृत (गाथा-143) में भी कहा गया है-

*जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।*
*अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं।।*

**स द्विविधो धर्मो जिनेन्द्रैः कीदृशो भणितः?**

**उच्यते–** *(एयारसदसभेयं)* **एकादश-दशभेदः प्रतिपादितः। श्रावकाणामेकादशप्रतिमा-रूपेण, अनगाराणां च दशविधधर्मरूपेण तीर्थंकरैरुपदिश्यते –इतिभावः।**

**ननु श्रावकास्तु अविरतसम्यग्दृष्टयोऽपि भवन्ति, अतस्तेषां ग्रहणं निषिद्ध्य देशविरत-सम्यग्दृष्टीनामेव कथं कृतम्?**

**इति न शंकनीयम्, अव्रतिनामविरतसम्यग्दृष्टीनां काचिदपि प्रतिमा न भवति, ततश्च तेषामेकादशविधधर्मस्याभावः, व्रतिनामेव एकादशविधधर्मस्य संगतिः, अतस्तेषामेव ग्रहणं युक्तियुक्तं सिद्ध्यति। वस्तुतः श्रावकसंज्ञाऽपि व्रतिनां सागाराणामेव भवति, अविरत-सम्यग्दृष्टीनां तु उपचारमात्रेण श्रावकसंज्ञा, न परमार्थतः।**

---

"जिस प्रकार समस्त ताराओं में चन्द्रमा और समस्त मृग-समूह में सिंह प्रधान होता है, उसी प्रकार मुनि व श्रावक सम्बन्धी दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यग्दर्शन प्रधानता लिए हुए रहता है।"

जिनेन्द्र देव ने उस द्विविध धर्म को कैसा बताया है?

बता रहे हैं– **(एकादश-दशभेदः)** ग्यारह व दस भेदों वाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरों ने श्रावकों (सागार) के धर्म का ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में तथा अनगार (मुनियों) के धर्म का (उत्तमक्षमा आदि) दस धर्मों के रूप में उपदेश दिया है। ऐसा (गाथा का) भाव है।

**(शंका–)** श्रावक तो अविरत सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, इसलिए उनके ग्रहण का निषेध कर देशविरत सम्यग्दृष्टियों का ही ग्रहण यहाँ क्यों किया गया है?

**(उत्तर-)** ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टियों के कोई भी प्रतिमा नहीं होती, इसलिए उनके ग्यारह प्रकार के धर्मों का सद्भाव नहीं है, और व्रतियों के ही ग्यारह प्रकार के धर्मों का सद्भाव संगत होता है, इसलिए उन्हीं का ग्रहण युक्तियुक्त सिद्ध होता है। वस्तुतः श्रावक संज्ञा भी व्रती सागारों की ही है, अविरत सम्यग्दृष्टियों को तो उपचार से ही श्रावक कहा जाता है, परमार्थ रूप में नहीं।

**अत्र कश्चित् शंकते– प्रथमप्रतिमाधारी दार्शनिकःश्रावक एवाविरतसम्यग्दृष्टिरूपेण कथं न गृह्यते?**

**समाधानं चात्रेदं वर्तते यद् 'अविरत' –इतिसंज्ञा तस्य व्रतहीनत्वं प्रकटयति। किं च अविरतस्यापि सम्यग्दृष्टेर्यदि देशव्रतं स्वीक्रियते, तर्हि चतुर्थगुणस्थानस्याभावः स्यात्। अन्यच्च, अविरतसम्यग्दृष्टेरपि दार्शनिकश्रावकसंज्ञा स्यात्तर्हि देशव्रतस्य एकादशभेदा न भवन्ति, दशैव भेदाः स्युः। अतोऽविरतसम्यग्दृष्टिः सम्यग्दृष्टिसम्पन्नोऽपि दार्शनिकश्रावकसंज्ञां वोढुं नार्हति।**

**तथापि श्रीमद्समन्तभद्राचार्येण रत्नकरण्डश्रावकाचारे प्रतिपादितं धर्मस्वरूपम्–** *सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। (श्लोक-2)* **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि त्रयं समुदितमथवा प्रत्येकं प्रत्येकं धर्मसंज्ञा भवति –इति धर्मेश्वरा विदुः कथयन्ति। तेन कदाचित् सम्यग्दृष्टेरपि सम्यग्दर्शनरूपं धर्मं भवति।**

---

यहाँ कोई शंका करता है– प्रथमप्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक को ही अविरत सम्यग्दृष्टि रूप से ग्रहण क्यों नहीं कर लेते?

इसका समाधान इस प्रकार है कि 'अविरत' यह संज्ञा ही उसकी व्रतहीनता को प्रकट करती है। और, अविरत सम्यग्दृष्टि को भी देशव्रत होना माना जाय तो चतुर्थ गुणस्थान का ही अभाव हो जाएगा। दूसरी बात, अविरत सम्यग्दृष्टि की भी 'दार्शनिक श्रावक' यह संज्ञा कर दी जाय तो देशव्रत के ग्यारह भेद नहीं हो पाएंगें, अपितु दस ही भेद होंगें। इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है, किन्तु उसे 'दार्शनिक श्रावक' की संज्ञा धारण करने के योग्य नहीं माना जा सकता।

फिर भी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार (श्लोक-2) में धर्म का स्वरूप इस प्रकार से प्रतिपादित किया है– "सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।" अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र –इन तीनों का समुदाय अथवा प्रत्येक-प्रत्येक की धर्म संज्ञा होती है –ऐसा धर्मेश्वर कहते हैं। इसलिए कदाचित् सम्यग्दृष्टि को भी सम्यग्दर्शन रूप धर्म होता है।

**अत्रेदं ज्ञेयम्– सागारधर्मस्तु देशव्रतरूपेण सम्भवति, किन्तु श्रमणधर्मो महाव्रतरूपेणैव भवति, न देशव्रतरूपेण। अतएव श्रमणधर्मस्य अनगारधर्मसंज्ञा पृथक् विहिता, अन्यथा तयोरुभयधर्मयोरन्तरं विलुप्येत। एवं द्विविधधर्मस्य स्वरूपं विज्ञाय दृढसम्यक्त्वेन स्वभूमिकानुरूपमेव तत्पालनं कर्तव्यमिति शास्त्रकारस्याशयः। वस्तुतो मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकार-शुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। समता, मध्यस्थता, वीतरागता –इत्यादिकाः धर्मस्यैव पर्यायाः शास्त्रेषु स्वीकृताः सन्ति।**

**उक्तं च द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्रे** *(गाथा–357)–*

*समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।*
*तह चारित्तं धम्मो सहावआराहणा भणिया।।*

**एवं भोः श्रमण! उत्तमक्षमादिधर्मं पालयन् निर्विकारशुद्धचैतन्यस्थितिरूपधर्ममनुष्ठातुं प्रयतस्व –इति गाथायाः तात्पर्यम्।**

---

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है– सागार धर्म तो देशव्रत (आंशिक रूप से पालनीय) रूप में सम्भव है, किन्तु श्रमण धर्म महाव्रत रूप से ही होता है, देशव्रत रूप में नहीं। इसीलिए श्रमणधर्म की अनगारधर्म –यह पृथक् संज्ञा की गई है, अन्यथा इन दोनों धर्मों का अन्तर ही लुप्त हो जाए। इस प्रकार द्विविध धर्म के स्वरूप को जानकर सम्यक्त्व की दृढ़ता के साथ अपनी–अपनी भूमिका (श्रावक या मुनि) के अनुरूप ही उसका पालन कर्तव्य है –यह शास्त्रकार का आशय है। वस्तुत: मिथ्यात्व व रागादि में नित्य संसरण करने रूप भावसंसार से प्राणी को उठा कर जो निर्विकार शुद्ध चैतन्य में स्थापित कर दे, वह धर्म है। शास्त्रों में समता, मध्यस्थता, वीतरागता –इत्यादि उसी धर्म के पर्याय हैं। स्वीकृत किये गये हैं।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र (गाथा–357) में कहा भी है–

"समता, माध्यस्थ्य, शुद्ध भाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना –ये सभी एकार्थवाची हैं।"

इस तरह हे श्रमण! उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्मों का पालन करते हुए, निर्विकार शुद्ध चैतन्य में स्थिति रूप धर्म का अनुष्ठान करने हेतु प्रयत्नशील रहो –यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति सागारधर्मस्यैकादशनामानि शास्त्रकारा निर्दिशन्ति–

**दंसण-वद-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-रायभत्ते य।**
**बह्मारंभ-परिग्गह-अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदे य।।६९।।**

**छाया–** *दर्शन-व्रत-सामायिक-प्रोषध-सचित्त-रात्रिभुक्ति: च।*
*ब्रह्मारम्भपरिग्रह-अनुमतोद्दिष्टाः देशविरते च।।*

**( सर्वोदया टीका– ) सागारधर्म एकादशप्रतिमानुष्ठानरूपः। तन्नामानि क्रमशोऽत्र निरूपितानि। एतानि प्रतिमास्थानानि पञ्चमगुणस्थानवर्तिनः क्रमशदेशचारित्रमार्गोन्नतिसूचकानि सन्ति। अत एवोक्तं गाथायामस्याम्** *(देसविरदे य)* **देशविरते एकदेशविरतियुक्ते संयतासंयते वा गुणस्थाने इति। एताः प्रतिमाः क्रमिकभावशुद्धिवृद्धिसूचनपराः आचार्यवरसमन्तभद्रेण 'श्रावक-पद'–नाम्ना निर्दिष्टाः।**

**उक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(136 पद्ये)– 'श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि'* **इति।**

---

अब शास्त्रकार सागार धर्म के ग्यारह नामों का निरूपण करने जा रहे हैं–

( 69 )

**( गाथा-अर्थ– ) दर्शन प्रतिमा, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रिभोजन त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति-त्याग, और उद्दिष्ट त्याग –ये देशविरत श्रावक धर्म के ग्यारह भेद हैं।**

**( सर्वोदया टीका– )** ग्यारह प्रतिमाओं का अनुष्ठान (पालन) करना सागारधर्म है। इन प्रतिमाओं के नाम क्रमश: यहाँ कहे गये हैं। ये प्रतिमास्थान पाँचवें गुणस्थान में विद्यमान जीव के देशचारित्र-मार्ग में क्रमिक उन्नति के सूचक होते हैं। इसीलिए इसी गाथा में कहा गया है– **( देशविरते च )** देशविरत यानी एकदेशविरतिसम्पन्न या संयतासंयत गुणस्थान में, ये प्रतिमाएँ क्रमिक भावशुद्धि की सूचक होती हैं, जिन्हें आचार्य समन्तभद्र ने 'श्रावकपद' इस नाम से निर्दिष्ट किया है।

जैसा कि रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य-136) में कहा गया है– ''जिनेन्द्र देव ने ये ग्यारह श्रावकपद बताये हैं।''

**तन्नामानि च क्रमशोऽत्र निर्दिश्यन्ते–** *(दंसणवयसामाइय)* **दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा –इति तिस्रः प्रतिमाः।** *(पोसहसच्चित्तरायभत्ते य)* **प्रोषधप्रतिमा (प्रोषधोपवासप्रतिमा वा), गाथायामन्ते 'विरत' पदं, विरतिस्त्यागो वा, तस्य यथायोग्यं प्रतिमासु अन्वयः कर्तव्यः, अतः 'सच्चित्त' इत्यादिभिः पदैः सचित्तविरति– इत्याद्यर्थो ग्राह्यः। एवं (प्रोषधप्रतिमा,) सचित्त-विरतिप्रतिमा, रात्रिभुक्तिविरतिप्रतिमा चेति तिस्रः प्रतिमाः (एवं संहत्य षट् प्रतिमा वर्णिताः)।** *(बह्मारंभपरिग्गह)* **ब्रह्म ब्रह्मचर्यम्, तद्व्रतसम्पन्ना ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरम्भविरतिप्रतिमा, परिग्रहविरतिप्रतिमा च,** *(अणुमणमुद्दिट्ठ)* **अनुमतिविरतिप्रतिमा, उद्दिष्टविरतिप्रतिमा चेति एकादशप्रतिमा विज्ञेयाः। एताः प्रतिमाः श्रावकेण धार्यन्ते। श्रावकस्य सामान्यस्वरूपमपि अत्र प्रासङ्गिकरूपेण निरूप्यते। यथोक्तं सागारधर्मामृते** *(1/15)*–

*मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः।*
*दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।।*

---

उनके नामों को यहाँ क्रमशः कहा जा रहा है– **(दर्शन-व्रत-सामायिक)** दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, और सामायिक प्रतिमा –ये तीन प्रतिमाएँ हुईं। **(प्रोषधसचित्तरात्रिभुक्तिः च)** प्रोषध प्रतिमा (या प्रोषधोपवास प्रतिमा), गाथा के अन्त में 'विरत' पद है, विरति कहें या त्याग (एक ही अर्थ है), उसका प्रतिमाओं में यथायोग्य अन्वय कर्तव्य है, इसलिए 'सचित्त' इत्यादि पदों से सचित्तविरति आदि अर्थ ग्रहण किया गया है। इस प्रकार, (प्रोषधप्रतिमा,) सचित्तविरतिप्रतिमा, रात्रिभुक्तिविरति प्रतिमा –ये तीन प्रतिमाएँ हैं (यहाँ तक छः प्रतिमाएँ वर्णित हुईं)। **(ब्रह्म-आरम्भ-परिग्रह)** –ब्रह्म का अर्थ है– ब्रह्मचर्य, उस व्रत से युक्त ब्रह्मचर्यप्रतिमा, तथा आरम्भविरतिप्रतिमा एवं परिग्रहविरतिप्रतिमा। **(अनुमत-उद्दिष्टाः)** अनुमतिविरतिप्रतिमा और उद्दिष्टविरतिप्रतिमा –इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं को जानें। इन प्रतिमाओं को श्रावक धारण करता है। श्रावक के सामान्य स्वरूप का निरूपण करना यहाँ प्रासङ्गिक है। जैसे कि सागारधर्मामृत (1/15) में कहा गया है–

"जो मूलगुण और उत्तरगुण में निष्ठा रखता है, अर्हन्त आदि पाँच गुरुओं के चरणों को ही अपना शरण मानता है, दान व पूजा जिसके प्रधान कार्य हैं, और जो ज्ञान रूपी अमृत को पीने का इच्छुक है, वह श्रावक होता है।"

**अन्यच्च, सागारधर्ममनुष्ठातुं को योग्योऽधिकारी इति विषये च तत्रैव** *(1/11)* **परामृष्टम्–**

*न्यायोपात्तधनो यजन्गुणगुरून् सद्‌गीस्त्रिवर्गं भजन्,*
*अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।*
*युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,*
*शृण्वन्धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्।।*

**सम्प्रति एकादशप्रतिमासु प्रत्येकस्य स्वरूपं लिख्यते। तत्र प्रथमा दार्शनिकश्रावकप्रतिमा। दार्शनिकश्रावकस्य स्वरूपं श्रीसमन्तभद्राचार्यवैरित्थं निरूपितं रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य-137)*–

*सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।*
*पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः।।*

---

और भी, सागार धर्म को पालने का योग्य अधिकारी कौन होता है– इस विषय में भी वहीं (1/11) कहा गया है–

"न्यायपूर्वक धन कमाने वाला, गुणों के आधार पर महान् गुरुओं को पूजने वाला व आदर देने वाला, प्रशस्त वाणी बोलने वाला, एक दूसरे का उपकारक होते हुए अर्थात् एक दूसरे को हानि नहीं पहुँचाते हुए धर्म, अर्थ व काम इन तीन का सेवन करने वाला, धर्म-अर्थ-काम सेवन के योग्य पत्नी, गाँव-नगर व मकान वाला, लज्जाशील, उपयुक्त आहार व विहार वाला, यत्नपूर्वक (संयमपूर्वक) गमनागमन करने वाला, सदाचारी पुरुषों की संगति में रहने वाला, विचारशील, दूसरे के उपकार को मानने वाला, जितेन्द्रिय, धर्म की विधि को प्रतिदिन सुनने वाला, दयालु व पापभीरु व्यक्ति ही गृहस्थ (सागार) धर्म का पालन करने में समर्थ होता है।"

अब, ग्यारह प्रतिमाओं में प्रत्येक का स्वरूप लिख रहे हैं। इनमें प्रथम है– दार्शनिक श्रावक प्रतिमा। दार्शनिक श्रावक के स्वरूप को रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य-137) में आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रकार निरूपित किया है–

"जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, संसार, शरीर व भोगों से विरक्त है, पाँच परमेष्ठियों की चरणों को शरण मानता है तथा आठ मूलगुणों का धारक है, वह दार्शनिक श्रावक है।"

**लाटीसंहितायां** *(1/6)* **च विशदीकृतमेतत्–**

*अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः।*
*नरो दार्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः।।*

**वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा–205)* **च निरूपि ्तम्–**

*पंचुंबरसहियाइं परिहरेइ इय जो सत्त विसणाइं।*
*सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ।।*

**तथैव कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा–328–329)* **चेत्थं स्फुटीकृतम्–**

*बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं।*
*जो ण य सेवदि णियदं सो दंसणसावओ होदि।।*

*जो दिढचित्तो कीरदि एवं पि वयं णियाण–परिहीणो।*
*वेरग्गभावियमणो सो वि य दंसणगुणो होदि।।*

---

लाटी संहिता (1/6) में भी इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"आठ मूल गुणों से युक्त, और द्यूत आदि व्यसनों से दूर रहने वाला व्यक्ति यदि सम्यग्दर्शन से युक्त हो तो वह दार्शनिक (प्रतिमाधारी) श्रावक होता है।"

वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा–205) में भी बताया गया है–

"सम्यग्दर्शन से विशुद्ध बुद्धि वाला जीव, जो पाँच उदुम्बर फलों सहित सातों व्यसनों का त्याग करता है, प्रथमप्रतिमा का धारक दर्शन–श्रावक कहा जाता है।"

इसी तरह, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा–328–329) में भी इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"बहुत से त्रस जीवों से युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओं के सेवन का जो नियम से त्याग करता है, वह दार्शनिक श्रावक है।"

"वैराग्य से जिसका मन आर्द्र (युक्त) है, ऐसा जो श्रावक अपने चित्त को दृढ़ करके तथा निदान को छोड़ कर व्रतों का पालन करता है, वही दार्शनिक श्रावक है।"

**रयणसारे** *(गाथा-8)* **च दार्शनिकश्रावकस्य सप्तसप्ततिगुणाः संकेतिताः–**

*उहयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचारभत्तिविग्घं वा।*
*एदे सत्ततरिया दंसणसावयगुणा भणिया।।*

**दार्शनिकः श्रावकोऽपि रात्रौ चतुर्विधाहारत्यागी अभक्ष्यामर्यादितभोजनस्य त्यागी, शुद्धमर्यादिताहारभुक् च भवति, तथैव कायवस्त्रादिशुद्धियुक्ताष्टान्तरायाहारनियमपालको भवति।**

**अत्रेदं ज्ञेयम्– दार्शनिकः श्रावकोऽपि द्वितीयव्रतप्रतिमाधारक इव द्वादश व्रतानि पालयति, मात्रजिनेन्द्रदर्शनस्य प्रतिज्ञां दधत एव न तस्य दार्शनिकसंज्ञा, किन्तु व्रतप्रतिमाधारकात्तस्य इयदेवान्तरं यद् दार्शनिकः श्रावको व्रतानां सातिचारपालनं करोति, व्रतप्रतिमाधारी तु निरतिचारम्।**

**द्वितीयव्रतप्रतिमाधारकस्य स्वरूपं रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य-138)* **प्रोक्तम्–**

---

रयणसार (गाथा-8) में भी दार्शनिक श्रावक के सतहत्तर (77) गुणों का संकेत किया गया है–

"दोनों गुण (आठ मूल गुण व बारह उत्तरगुण), सात व्यसन, सात भय, पच्चीस मल दोष से रहित, वैराग्ययुक्त, पाँच अतीचारों से रहित, विघ्नरहित और भक्तियुक्त –ये सतहत्तर (77) गुण सम्यग्दृष्टि श्रावक के कहे गये हैं।"

दार्शनिक श्रावक भी रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्यागी, अभक्ष्य-अमर्यादित भोजन का त्यागी एवं शुद्धमर्यादित भोजन करनेवाला होता है तथा वह कायवस्त्रादि शुद्धियुक्त आठ अन्तरायों के आहारनियमों का पालन करनेवाला होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है– दार्शनिक श्रावक भी द्वितीय व्रतप्रतिमा के धारक की तरह ही बारह व्रतों का पालन करता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मात्र जिनेन्द्र-दर्शन की प्रतिज्ञा का धारक होने से उसकी दार्शनिक संज्ञा है, अपितु व्रतप्रतिमाधारक से उसमें इतना ही अन्तर है कि दार्शनिक श्रावक व्रतों का अतीचारसहित पालन करता है, किन्तु व्रतप्रतिमाधारक निरतिचार पालन करता है।

द्वितीय व्रतप्रतिमा के धारक का स्वरूप रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य-138) में इस प्रकार बताया गया है–

*निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।*
*धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः।।*

**तृतीयां सामायिकप्रतिमां दधतः स्वरूपं रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य-139)* **निर्दिष्टम्–**

*चतुरावर्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।*
*सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी।।*

**वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-276-278)* **च विशदीकृतम्–**

*काउस्सग्गम्हि ठिओ लाहालाहं च सत्तुमित्तं च।*
*संजोयविप्पजोयं तिण-कंचण चंदणं वासिं।।*

*जो पस्सइ समभावं मणम्मि धरिऊण पंचणवयारं।*
*वरअट्ठपाडिहेरेहिं संजुयं जिणसरूवं च।।*

*सिद्धिसरूवं झायइ अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं।*
*खणमेक्कमविचलंगो उत्तमसामाइयं तस्स।।*

"जो अतीचाररहित पाँचों अणुव्रतों व सातों शीलव्रतों का निःशल्य (माया, मिथ्यात्व व निदान से रहित) होकर पालन करता है, वह व्रतियों में व्रत प्रतिमा का धारक श्रावक माना गया है।"

तीसरी सामयिक प्रतिमा के धारक का स्वरूप रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य-139) में इस प्रकार बताया गया है– "सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक वह है जो चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त करता है, चार बार प्रणाम करता है, कायोत्सर्ग से स्थित व अपरिग्रही होकर एवं दो बार बैठ कर नमस्कार करता है और तीनों योगों से शुद्ध होकर तीनों सन्ध्याओं में वन्दना करता है।"

वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-276-278) में इसे स्पष्ट किया गया है–

"जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ को, शत्रु-मित्र को, इष्टवियोग-अनिष्ट-संयोग को, तृण-कांचन को और चन्दन व कुठार को समभाव से देखता है, और मन में पाँच नमस्कार मन्त्र को धारण कर उत्तम अष्टम प्रातिहार्यों से संयुक्त अर्हन्त 'जिन' के स्वरूप का और सिद्ध भगवान् के स्वरूप का ध्यान करता है, अथवा संवेग-सहित अविचल-अंग होकर एक क्षण भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होती है।"

**अत्रारेका– सामायिकशिक्षाव्रताद् सामायिकप्रतिमायाः किमन्तरम्? समाधीयते– सामायिकशिक्षाव्रते सामायिकं शीलव्रतरूपेणैव भवति, सामायिकप्रतिमायान्तु तद् व्रतरूपं भवति। किञ्च, शिक्षाव्रते प्रतिदिनं सामायिकमेकवारं द्विवारं त्रिवारं वा करोति, सातिचारं च सामायिकानुष्ठानं तस्य भवति, किन्तु सामायिकप्रतिमायां नित्यं त्रिवारं निरतिचारतया सामायिकं तेनानुष्ठीयते –इति।**

**प्रोषधोपवासप्रतिमास्वरूपं रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य–140, 109)* **भणितम्–**

*पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।*
*प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः।।*

*चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।*
*स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति।।*

---

यहाँ यह शंका उठती है– सामायिक शिक्षाव्रत से सामायिक प्रतिमा में क्या अन्तर है? समाधान इसका इस प्रकार है– सामायिक शिक्षाव्रत में सामायिक एक शीलव्रत रूप में ही की जाती है, किन्तु सामायिक प्रतिमा में वह व्रत रूप में पाली जाती है। और, शिक्षाव्रत में प्रतिदिन सामायिक एक, दो या तीन बार की जाती है, और सामायिक का अनुष्ठान अतिचारसहित भी होता है, किन्तु सामायिक प्रतिमा में नित्य (नियम से), तीन बार, निरतिचार रूप से सामायिक का अनुष्ठान किया जाता है।

प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य–140, 109) में इस प्रकार बताया गया है–

"हर महीने चारों ही (दो अष्टमी व दो चतुर्दशी) दिनों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हुए प्रोषध के नियम का पालन करता हुआ जो एकाग्रता के साथ रहता है, वह प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी श्रावक होता है।"

"चार प्रकार के आहारों का त्याग करना उपवास होता है। एक बार भोजन प्रोषध होता है और उपवास के बाद पारणा के दिन एकाशन का आचरण करना –यह प्रोषधोपवास कहलाता है।"

**प्रोषधोपवासस्य च जघन्यमध्यमोत्तमेतिभेदत्रयं वर्तते। तत्रोत्तमप्रोषधोपवासस्वरूपं वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-281-289)* **स्पष्टीकृतम्-**

*सत्तमितेरसि दिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि।*
*भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थ वि काऊण मुहसुद्धिं।।*

*पक्खालिऊण वयणं करचरणे णियमिऊण तत्थेव।*
*पच्छा जिणिंदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता।।*

*गुरुपुरओ किदियम्मं वंदणपुव्वं कमेण काऊण।*
*गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा।।*

*वायणकहाणुपेहण-सिक्खावणचिंतणोवओगेहिं।*
*णेऊण दिवससेसं अवराण्हियवंदणं किच्चा।।*

*रयणिसमयम्हि ठिच्चा काउस्सग्गेण णिययसत्तीए।*
*पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं।।*

---

प्रोषधोपवास के जघन्य, मध्यम व उत्तम -ये तीन भेद होते हैं। इनमें उत्तम प्रोषधोपवास का स्वरूप वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-281-289) में इस तरह स्पष्ट किया गया है-

"सप्तमी व त्रयोदशी के दिन, अतिथियों द्वारा भोजन ग्रहण कर लेने के बाद, स्वयं भोज्य वस्तु का आहार लेकर और वहीं पर मुख-शुद्धि कर, मुख व हाथ-पैरों को धोकर, वहाँ पर ही उपवास-सम्बन्धी नियम करे, उसके बाद जिनेन्द्र-भवन जाकर, जिनभगवान् को नमस्कार करे, फिर गुरु के सामने वन्दनापूर्वक कृतिकर्म करे, गुरु की साक्षी से विधिपूर्वक चतुर्विध आहार के त्याग रूप उपवास को ग्रहण करे, फिर शास्त्र-वाचन, धर्मकथा का श्रवण व वाचन, अनुप्रेक्षा-चिन्तन, पठन-पाठन आदि के उपयोग द्वारा दिन व्यतीत करे, तथा अपराह्न की वन्दना करे, रात्रि में यथाशक्ति कायोत्सर्ग में स्थित हो भूमि का प्रतिलेखन (संशोधन) करे, फिर अपने शरीर-प्रमाण बिस्तर लगाये।

*दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण जिणालए णियघरे वा।*
*अहवा सयलं रत्तिं काउस्सग्गेण णेऊण।।*

*पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता।*
*तह दव्वभावपुज्जं जिणसुयसाहूण काऊण।।*

*उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण।*
*पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व।।*

*गंतूण णिययगेहं अतिहिविभागं च तत्थ काऊण।*
*जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहि उत्तमं होइ।।*

**मध्यमप्रोषधोपवासविधिरपि तत्र** *(गाथा-290-291)* **निरूपितः-**

*जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।*
*णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता वज्जए सेसं।।*

*मुणिऊण गुरूवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं।*
*जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं।।*

और रात में कुछ समय तक जिनालय या अपने घर में शयन करे, अथवा सारी रात कायोत्सर्ग में बिताकर प्रातःकाल उठकर वन्दनादि विधि से 'जिन' भगवान् को नमस्कार करे तथा देव, शास्त्र व गुरु का द्रव्य व भावपूजन करके, पूर्वोक्त विधान से उसी प्रकार सारा दिन व सारी रात बिताकर पारणा के दिन (अर्थात् नवमी या पूर्णमासी के दिन) पुनः पूर्ववत् पूजन करे और घर जाकर वहाँ अतिथि को आहारदान देकर जो भोजन करे, उसके निश्चय से उत्तम प्रोषध विधि होती है।''

मध्यम प्रोषधोपवास की विधि के बारे में भी वहीं (गाथा-290-291) बताया गया है-''जिस प्रकार का उत्कृष्ट प्रोषध विधान बताया गया है, उसी प्रकार का ही मध्यम प्रोषध का विधान जानना चाहिए। मात्र इसमें विशेषता यह होती है कि जल को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग होता है। जरूरी कार्य को सम्पन्न कर, सावद्यरहित अपने घरेलू आरम्भ को यदि करना चाहे तो उसे भी किया जा सकता है, बाकी सारी विधियाँ पूर्व (उत्तम प्रोषध) की तरह जाननी चाहिए।''

**जघन्यप्रोषधोपवासस्वरूपं च तत्र** *(गाथा-292)* **भणितमास्ते–**

*आयंबिल णिव्वयडी एयट्ठाणं च एयभत्तं वा।*
*जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं।।*

**तथैव सागारधर्मामृते** *(5/35)* **प्रत्यपादि–**

*उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः।*
*आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः।।*

**प्रोषधोपवासप्रतिमाप्युत्तममध्यमजघन्यभेदेन त्रिविधा भवति। उत्तमप्रोषधोपवासस्वरूपं पूर्वमुक्तम्, मध्यमं च विना प्रोषधेन एकोपवासस्वरूपं, जघन्यं च दिनत्रये अखण्डैकाशनम्, पर्वदिनेषु तु निर्विकृति आहारस्वरूपमिति विज्ञेयं श्री गुरूपदेशात्। प्रोषधोपवासशीलव्रतमपि सामायिक-शीलव्रतमिव सातिचारं भवति, प्रोषधोपवासप्रतिमायां तु निरतिचारमिति तत्रान्तरं विज्ञेयम्।**

---

जघन्य प्रोषधोपवास का स्वरूप भी वहीं (गाथा-292) इस प्रकार बताया गया है–

"जो अष्टमी आदि पर्वों के दिनों में आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, अथवा एकभक्त का पालन करता है, उसे जघन्य प्रोषध विधान जानना चाहिए।"

इसी तरह सागारधर्मामृत (5/35) में प्रतिपादित किया गया है–

"जो उपवास करने में अक्षम हैं, उन्हें अनुपवास करना चाहिए। और जो अनुपवास भी करने में असमर्थ हैं, उन्हें आचाम्ल (आयम्बिल), तथा निर्विकृति आदि आहार करना चाहिए, क्योंकि शक्ति के अनुरूप ही जो तप किया जाता है, वही कल्याणकारी होता है।"

प्रोषधोपवास प्रतिमा भी उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार की होती है। उत्तम प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप पूर्व में कह चुके हैं। और मध्यम प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप बिना प्रोषध (एकासन) के मात्र एक उपवास करना है। तथा जघन्य प्रोषधोपवास का स्वरूप तीनों दिन अखण्ड (निरन्तर) एकाशन करना किन्तु पर्व के दिन निर्विकृति (नीरस) आहार करना है। प्रोषधोपवास शीलव्रत भी सामायिक शीलव्रत की तरह सातिचार होता है, जबकि प्रोषधोपवास प्रतिमा में प्रोषधव्रत का पालन निरतिचार होता है –यह दोनों का अन्तर समझें।

**उपवासस्य प्रयोजनं च पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(पद्य-151)* **लिखितम्–**

*सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।*
*पक्षार्धयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः।।*

**उपवासदिवसे किं करणीयमकरणीयं वेति विषये कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-378)* **निर्देशो विहितः–**

*उपवासं कुव्वंतो आरंभं जो करेदि मोहादो।*
*सो णियदेहं सोसदि ण झाडए कम्मलेसं पि।।*

**व्रतविधानसंग्रहे उद्धृतं पद्यमेकमपि प्रोक्ततथ्यं विशदीकरोति–**

*कषायविषयारम्भत्यागो यत्र विधीयते।*
*उपवासः स विज्ञेयः, शेषं तु लङ्घनं विदुः।।*

---

उपवास का प्रयोजन भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (पद्य-151) में इस प्रकार बताया गया है–

"प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक रूप संस्कार को स्थिर करने के लिए दोनों पक्षों के अर्द्धभाग (अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी) के दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिए।"

उपवास वाले दिन में क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए –इस विषय में भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-378) में इस प्रकार निर्देश किया गया है–

"जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भ (सांसारिक काम-काज) करता है, वह मात्र अपने शरीर को सुखा रहा होता है, उसके लेशमात्र भी कर्म-निर्जरा नहीं होती।"

व्रतविधानसंग्रह में एक (निम्नलिखित) पद्य उद्धृत है जिसमें उपर्युक्त तथ्य को ही स्पष्ट किया गया है –

"कषाय, विषय और आरम्भ का जहाँ संकल्पपूर्वक त्याग किया जाता है, उसे ही उपवास जानना चाहिए, बाकी (भोजन के त्याग मात्र) को तो लंघन मात्र समझना चाहिए।"

**इदानीं क्रमप्राप्तं सचित्तत्यागप्रतिमास्वरूपं निरूप्यते। वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-295)* **तस्य स्वरूपमित्थमभिहितं वर्तते–**

*जं वज्जिज्जइ हरियं तुय-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं।*
*अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं।।*

**तथैव सागारधर्मामृते** *(7/8-10)* **विशदीकृतमेतद्–**

*हरिताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्।*
*जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः।।*

*पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद् योऽतिऋतीयते।*
*हरितान्याश्रितानन्तनिगोतानि स भोक्ष्यते।।*

---

अब क्रमप्राप्त सचित्तत्याग प्रतिमा का स्वरूप बता रहे हैं। इसका स्वरूप वसुनन्दि-श्रावकाचार (गाथा-295) में इस प्रकार बताया गया है–

''जहाँ पर हरित त्वक् (छाल), पत्र, प्रवाल, कंद, फल, बीज और अप्रासुक जल का त्याग किया जाता है, वह सचित्त-निवृत्ति वाला पाँचवाँ प्रतिमास्थान होता है।''

इसी तरह सागारधर्मामृत (7/8-10) में स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

''पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का निर्वाह करते हुए जो दयामूर्ति श्रावक अप्रासुक, जैसे हरित अंकुर, हरित बीज, जल से बने नमक आदि को नहीं खाता, उसे शास्त्रकारों ने सचित्तविरत श्रावक कहा है।''

''जो श्रावक प्रयोजनवश हरित वनस्पति को पैर से छूने में भी अति घृणा करता है, जिसमें अत्यन्त निगोद नामक (साधारण शरीर वनस्पतिकायिक) जीवों का वास है, उस हरित वनस्पति को क्या वह खाएगा? (अर्थात् नहीं खाएगा।)''

*अहो जिनोक्तिनिर्णीतिः अहो अक्षजितिस्सताम्।*
*नालक्ष्यजन्त्वपि हरित् प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत्।।*

**यद्यपि भोगोपभोगपरिमाणव्रतेऽपि सचित्तत्यागो विधीयते, किन्तु तत्र स त्यागः सातिचारोऽपि सम्भवति, अस्यां प्रतिमायान्तु सचित्तत्यागो निरतिचारतया विधेयो भवतीति तयोरन्तरं विज्ञेयम्।**

**उक्तं च लाटीसंहितायाम्** *(6/16, 1/104)*–

*इतः पूर्वं कदाचिद् वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत्।*
*इतः परं स नाश्नुयात्, सचित्तं तज्जलाद्यपि।।*

*विवेकस्यावकाशोऽस्ति देशतो विरतावपि।*
*आदेयं प्रासुकं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम्।।*

---

"उन सज्जन श्रावकों का भगवान् के वचनों पर निश्चय (श्रद्धान) आश्चर्यकारक होता है, उनकी इन्द्रिय-जय भी आश्चर्यकारक होती है, क्योंकि जिस वनस्पति के जन्तु प्रत्यक्ष से नहीं देखे जाते, उन्हें ये प्राण जाने की स्थिति में भी भक्षण नहीं करते।"

यद्यपि भोगोपभोगपरिमाण व्रत में भी सचित्त द्रव्यों का त्याग किया जाता है, किन्तु वहाँ वह त्याग अतिचारसहित भी हो सकता है, और इस प्रतिमा में किया जाने वाला सचित्तत्याग तो निरतिचार रूप से ही पालन किया जाता है– यह दोनों का अन्तर समझना चाहिए।

इसी दृष्टि से लाटीसंहिता (6/16, 1/104) में कहा गया है–

"इस (पाँचवीं प्रतिमा) से पहले (चौथी प्रतिमा) तक जो कभी-कभी सचित्त पदार्थों का भी भक्षण कर लेता था, परन्तु अब वह कभी भी सचित्त पदार्थों का भक्षण नहीं करता, यहाँ तक कि वह कच्चा जल भी नहीं पीता है।"

"एकदेश (आंशिक) त्याग करने में भी विवेक या विचार की आवश्यकता होती है, अतः प्रासुक (अचित्त) पदार्थों का ही ग्रहण करना चाहिए, और उससे विपरीत (अर्थात् सचित्त) का त्याग करना चाहिए।"

**प्रासुककरणविषये विधिरपि शास्त्रेषु वर्णितः। यथा कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-379)* **टीकाकारेण समुद्धृतायां गाथायां प्रोक्तम्–**

*तत्तं पक्कं सुक्कं अंबिललवणेहिं मीसियं दव्वं।*
*जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं पासुयं भणियं।।*

**तथा मूलाचारे** *(गाथा-827)* **च प्रोक्तम्–**

*फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।*
*णच्चा अणेसणीयं ण वि य पडिच्छंति ते धीरा।।*

**सम्प्रति रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमायाः (दिवामैथुनत्यागप्रतिमाया वा) निरूपणं प्रस्तूयते। रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य-142)* **च निरूपितमस्ति–**

*अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।*
*स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः।।*

---

प्रासुक करने की विधि का भी निरूपण शास्त्रों में वर्णित है। उदाहरणार्थ, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-379) में टीकाकार द्वारा उद्धृत गाथा में कहा गया है–

''जो द्रव्य तप्त (तपाया हुआ) हो, पका हो, सूखा हो, आम्ल रस व लवण से मिश्रित हो, जो (चक्की, छुरी आदि) यंत्रों से छिन्न-भिन्न किया गया हो, वह सब 'प्रासुक' है।''

इसी तरह, मूलाचार (गाथा-827) में बताया गया है–

''अग्नि से नहीं पकाये फल, कन्द, मूल तथा बीज एवं अन्य भी कच्चे पदार्थ को जो खाने योग्य नहीं होते, ऐसा जान कर वे धीर मुनि उनको स्वीकार नहीं करते हैं।''

अब, रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा (या दिवामैथुनत्याग प्रतिमा) का निरूपण किया जा रहा है। रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य-142) में निरूपित किया गया है–

''जो श्रावक जीवों पर दया भाव रखते हुए रात्रि में अन्न, पान, खाद्य व लेह्य पदार्थों को नहीं खाता है, वह रात्रिभोजन-विरति प्रतिमा का धारक होता है।''

**यद्यपि मूलगुणेषु रात्रिभुक्तित्यागो निरूपितः, किन्तु स सातिचारमनुष्ठेयोऽपि सम्भवति, अस्यां प्रतिमायान्तु तस्य त्यागो निरतिचारतयैव कर्तव्य इति तयोरन्तरं विज्ञेयम्।**

**ननु च इयं प्रतिमाधरा नवकोट्या रात्रिभुक्तित्यागपरा भवन्ति। यदि रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा-धारिणी काऽपि स्त्री स्वदारसंतोषरूपब्रह्मचर्याणुव्रतधारिणी स्यात्, तस्याः सन्तानोत्पत्तिरपि सम्भवेत्, तर्हि सा निजशिशुं रात्रौ दुग्धपानं कारयिष्यति किं न वा।**

**परिहारमाह– रात्रिभुक्तिप्रतिमाधारिणी नारी यद्यपि स्वदारसंतोषव्रतवती भवति तथापि तस्याः सन्तानोत्पत्तिरपि संभवति सा च निजसंतान-संरक्षणार्थं स्तनपानं कारयति, किंतु तं विना अन्यशिशूनां सा न कारयति इति गुरूपदेशात् ग्रहणीयं भवति।**

**रात्रिभुक्तित्यागस्थाने दिवामैथुनत्यागप्रतिमा च निदर्शिता दृश्यते। यथा वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-296)* **प्रतिपादितं दृश्यते–**

---

यद्यपि मूलगुणों में रात्रिभोजनत्याग का निरूपण प्राप्त होता है, किन्तु उसका अनुष्ठान अतीचारसहित भी हो सकता है, इस रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा में तो उसका त्याग निरतिचार रूप से ही करना होता है– इस प्रकार इन दोनों का अन्तर जानना चाहिए।

**( शंका– )** इस प्रतिमा को धारण करनेवाले नवकोटी ( मन-वचन-काय, कृतकारित अनुमोदना और तीनों के संयुक्त रूप 3 भंग) से रात्रिभुक्ति के त्यागी होते हैं। रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारिणी कोई स्त्री स्वदारसंतोषव्रत रूप ब्रह्मचर्याणुव्रतधारणी हो, तो भी उसके सन्तानोत्पत्ति संभव है, तो वह अपने शिशु को रात्री में दुग्धपान करा सकती है या नहीं?

**समाधान** करते हैं– रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारिणी स्त्री यद्यपि स्वदारसंतोषव्रत युक्त होती है तो भी उसके संतानोत्पत्ति संभव होती है और वह अपनी सन्तान की रक्षा के लिए उसे स्तनपान कराती है किन्तु उसके बिना अन्य शिशुओं को वह नहीं कराती है। ऐसा गुरुपदेश से (ग्रहण करना चाहिए) गृहणीय होता है।

रात्रिभुक्तित्याग के स्थान में दिवामैथुनत्याग प्रतिमा का निरूपण भी उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-296) में प्रतिपादित किया गया प्राप्त होता है–

*मणवयणकायकयकारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा।*
*दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो।।*

**इदानीं ब्रह्मचर्यप्रतिमास्वरूपं निरूप्यते। तस्य स्वरूपं वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-297)* **इत्थं निरूपितमस्ति–**

*पुव्वत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो।*
*इत्थिकहाइणिवित्तो सत्तमगुणबंभयारी सो।।*

**तथैव रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य-143)* **च विशदीकृतम्–**

*मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं।*
*पश्यन्नङ्गमनङ्गाद् विरमति यो ब्रह्मचारी सः।।*

**(शंका–) तत्त्वार्थसूत्रे** *(7/28)* **ब्रह्मचर्याणुव्रतस्यातिचाराः इत्थं वर्णिताः–** *"परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः"।*

---

"जो श्रावक मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना –इन नौ प्रकारों से दिन में मैथुन का त्याग करता है, वह प्रतिमा रूप गुणों में छठा है (अर्थात् छठी प्रतिमा का धारक है)।"

अब, ब्रह्मचर्यप्रतिमा के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं। वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-297) में इसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है–

"जो पूर्वोक्त नौ प्रकार के मैथुन का सर्वदा (दिन और रात में) त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदि से भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवीं प्रतिमा का धारक ब्रह्मचारीश्रावक होता है।"

इसीतरह, रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य-143) में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"जो श्रावक शरीर को मल से उत्पन्न, मल की उत्पत्ति का स्थान, मलस्रावी, दुर्गन्धमय व घृणाजनक देखता हुआ मैथुन क्रिया से विरत हो जाता है, वह ब्रह्मचर्यप्रतिमाधारी है।"

**(शंका–)** तत्त्वार्थसूत्र (7/28) में ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार इस प्रकार से कहे गये हैं– "परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः।"

**तत्र परविवाहातिचार उक्तः कश्चित् ब्रह्मचर्यप्रतिमाधारकः श्रावकः तत्प्रतिमाधारिणी श्राविका वा भवेत्, तस्य तस्या वा अविवाहितसन्तानं यद्यस्ति, तदा स ( श्रावकः ) यद्वा सा ( श्राविका ) तत्सन्तानस्य यथासमयं विवाहादिकं करोति न वेति।**

**( समाधानम्– ) यदि विवाहादिकं नैव कुर्यात् तर्हि सन्तानस्य उच्छृंखलता सम्भवति, लोकनिन्दाऽपि स्यात्, अतो विवाहकरणमेवोचितम्। अथवा– परविवाहकरणमित्यस्य परकीय-सन्तानविवाहकरणार्थो ग्राह्यः; न च स्वसन्तानविवाहकरणमिति। कामं स्वसन्तानविवाहकरणार्थो गृह्यते, तथापि तत्रातिचार एव, न त्वनाचारः। स्वसन्तानविवाहानन्तरं प्रायश्चित्तद्वारा व्रतशुद्धिः सम्भवति, किन्तु परकीयसन्तानविवाहस्तु तैर्न कार्यते कदाचिदपि –इति गुरूपदेशात् विज्ञातं भवतीति तदेव ग्रहणीयम्।**

**सम्प्रति आरम्भत्यागप्रतिमा वर्ण्यते। तस्य स्वरूपं रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य–144)* **प्रतिपादयति–**

---

उसमें ब्रह्मचर्याणुव्रत का परविवाह नामक अतिचार कहा गया है। किंतु यदि कोई भी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक या श्राविका की अविवाहित सन्तान है तो वह क्या उसकी समयानुसार विवाहादि करते हैं या नहीं करते हैं?

**( समाधान– )** यदि विवाह नहीं करते तो वह (सन्तान) उच्छृंखल हो जाएगी और लोकनिंदा भी होगी तो विवाह करना ही उचित होगा। अथवा परविवाह का अर्थ दूसरे की संतान का विवाह –यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए, अपनी संतान का विवाह –यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। फिर भी यदि अतिचार अर्थ ही ग्रहण करते हो तो वह अतिचार ही है, न कि अनाचार है। अपनी सन्तान के विवाह के बाद प्रायश्चित्त के द्वारा व्रत की शुद्धि सम्भव होती है किंतु दूसरों की संतान का विवाह आदि तो वे ( श्रावक या श्राविका) कदापि नहीं कराते –यह गुरूपदेश से जाना जाता है, उसे ही ग्रहण करना चाहिए।

अब, आरम्भत्यागप्रतिमा का निरूपण कर रहे हैं। उसका स्वरूप रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य-144) में इस प्रकार किया गया है–

*सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखाद् आरम्भतो व्युपारमति।*
*प्राणातिपातहेतोः योऽसावारम्भविनिवृत्तः।।*

**तथैव, वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-298)* **शब्दान्तरेण प्रतिमैषा निरूपिता–**

*जं किंचि गिहारम्भं बहु थोगं वा सया विवज्जेइ।*
*आरंभणियत्तमई सो अट्ठमु सावओ भणिओ।।*

**अस्यामष्टमप्रतिमायां षड्जीवनिकायप्राणिपीडाहिंसादिको यः कश्चिदपि व्यापारो भवति, तस्मात्सर्वात् विनिवृत्तिर्भवति।**

**( शंका– ) आरम्भत्यागप्रतिमाधरः श्रावकः श्राविका वा देवपूजानिमित्तं स्नानं, पूजनं, द्रव्यशोधनं दीपधूपादिपूजनं करोति किं वा न करोति, तथैव स्वयं निजभोजनादिपचनं करोति किं वा न करोति? अथवा सत्पात्रादिभ्य आहारादि ददाति किं वा न ददाति?**

---

"जो श्रावक प्राणि-पीड़ा के कारणभूत नौकरी, खेती एवं व्यापार आदि आरम्भ-कार्यों से विशेषतः निवृत्त रहता है, वह आरम्भत्याग प्रतिमा का धारक होता है।"

इसी तरह, वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-298) में अन्य शब्दों से इस प्रतिमा का निरूपण किया गया है–

"जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृहसम्बन्धी आरम्भ होता है, उसका जो सदा के लिए त्याग कर देता है, वह आरम्भ से निवृत्त मति वाला आरम्भत्यागी आठवीं (प्रतिमाधारी) श्रावक होता है।"

इस आठवीं प्रतिमा में छः जीवनिकाय के प्राणियों की पीड़ा या हिंसा आदि का जो कोई भी व्यापार होता है, उस सब से निवृत्ति हो जाती है।

**( शंका– )** आरम्भत्याग प्रतिमाधारी श्रावक-श्राविका देवपूजा के निमित्त स्नान करना, पूजा के द्रव्य को धोना, दीपधूप आदि पूजन करता है या नहीं, उसी प्रकार स्वयं अपने लिए भोजनादि पकाता है या नहीं, अथवा सत्पात्र को आहारादि देता है या नहीं देता है?

**( परिहारमाह– ) आरंभत्यागप्रतिमाधरो जिनपूजादिनिमित्तं प्रासुकस्वल्पजलेन स्नानं च करोति, द्रव्यशोधनं तथा दीपधूपादिपूजां च करोति, स्वोदरपूर्तिनिमित्तं सावधानतया रसवती-पाकं च करोति, यथावसरं सत्पात्रेभ्य आहारादि च ददाति यदि सोऽसमर्थः स्यात् तर्हि भजनीयम् –अर्थात् स करोति, न वा करोति इत्यर्थः। तात्पर्यमिदं यत्तस्मै यदि द्रव्यादि कश्चिद् ददाति तर्हि करोति, न ददाति तर्हि न करोति। यदि द्रव्यत्यागी स्यात्, तर्हि भावपूजनादि च करोति।**

**इदानीं परिग्रहत्यागप्रतिमा निरूप्यते। वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-299)* **तस्य स्वरूपमित्थं निरूपितम्–**

*मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं।*
*तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो।।*

**लाटीसंहितायां च** *(6/39, 41-42)* **भणितम्–**

*नवमं प्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रमे।*
*यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम्।।*

---

**( समाधान देते हैं– )** आरम्भत्याग प्रतिमाधारी जिनपूजादि के निमित्त प्रासुक थोड़े जल से स्नान करता है, द्रव्य धोना तथा दीप-धूपादि पूजा भी करता है और अपने उदरपूर्ति के निमित्त सावधानवृत्ति से रसोई पकाता है। यथावसर सत्पात्र को आहारादि देता है यदि असमर्थ हो तो भजनीय है– कर भी सकता है या नहीं भी कर सकता है। तात्पर्य यह है कि यदि उसे कोई भी द्रव्यादि देता है तो करता है, नहीं देता तो नहीं करता, और यदि द्रव्यत्यागी है तो भावपूजा आदि करता है।

अब परिग्रहत्यागप्रतिमा का निरूपण कर रहे हैं। वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-299) में इसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है– "जो श्रावक वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर, शेष सारे परिग्रहों का त्याग कर देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा (ममत्व) नहीं रखता है, उसे परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी नवम श्रावक जानना चाहिए।"

लाटीसंहिता (6/39, 41-42) में भी कहा गया है–

"व्रती श्रावक की नौवीं प्रतिमा का नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है। इस नौवीं प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक सोना (चांदी) आदि समस्त द्रव्यमात्र का त्याग कर देता है।"

*अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेश्मादि स्वीकृतम्।*
*धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषणीयताम्।।*

*स्यात्पुरस्तादितो यावत् स्वामित्वं सद्मयोषिताम्।*
*तत्सर्वं सर्वतस्त्याज्यं निःशल्यं जीवनावधि।।*

**अत्रेदं विज्ञेयं यत्परिग्रहप्रमाणव्रते परिग्रहयोग्यवस्तूनां परिमाणमेव क्रियते, न तु सर्वथा त्यागः, परिग्रहत्यागप्रतिमायान्तु धर्मबाधकपरिग्रहस्य समूलत्यागो भवति।**

**उक्तं च लाटीसंहितायाम्** *(6/40)*–

*इतः पूर्वं सुवर्णादिसंख्यामात्रापकर्षणः।*
*इतः प्रभृति वित्तस्य मूलादुन्मूलनं व्रतम्।।*

---

"(इस प्रतिमा का धारक) श्रावक मात्र अपने शरीर के लिए वस्त्र, घर आदि आवश्यक पदार्थों को स्वीकार करता है अथवा धर्मसाधन के लिए जिन-जिन पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें ग्रहण करता है। इसके सिवा बाकी समस्त पदार्थों का त्याग कर देता है।"

"वह पहले (अब तक) घर और स्त्री आदि का स्वामी गिना जाता था, (इस नवीं प्रतिमा में) अब वह उनका जीवनपर्यन्त पूर्णतया त्याग कर देता है और सब प्रकार से शल्यरहित हो जाता है।"

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि परिग्रहपरिमाण व्रत में परिग्रह-योग्य द्रव्यों का परिमाण (मर्यादाकरण) ही किया जाता है, सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, किन्तु परिग्रहत्याग प्रतिमा में धर्म-साधना में बाधक परिग्रह का समूल त्याग किया जाता है।

लाटीसंहिता (6/40) में इसका निरूपण भी इस प्रकार हुआ है–

"इस (प्रतिमा) से पहले सुवर्ण आदि के परिमाण में ही कमी की जाती थी, अब (इस नवम प्रतिमा) से धन के सर्वथा उन्मूलन (त्याग) का व्रत ग्रहण किया जाता है।"

**इदानीं दशमप्रतिमाया अनुमतित्यागप्रतिमायाः स्वरूपं प्रस्तूयते। रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य-146)* **तत्स्वरूपमित्थं वर्णितम्–**

*अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।*
*नास्ति खलु यस्य समधीः, अनुमतिविरतः स मन्तव्यः।।*

**अन्यच्च, सागारधर्मामृते** *(7/31-34)* **विशदीकृतं स्वरूपं वरीवर्ति–**

*चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं कुर्यात् मध्याह्नवन्दनात्।*
*ऊर्ध्वमामन्त्रितः सोऽद्याद् गृहे स्वस्य परस्य वा।।*

*यथाप्राप्तमदन् देहसिद्ध्यर्थं खलु भोजनम्।*
*देहश्च धर्मसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते।।*

*सा मे कथं स्यादुद्दिष्टं सावद्याविष्टमश्नतः।*
*कर्हि भैक्षामृतं भोक्ष्ये इति चेच्छेज्जितेन्द्रियः।।*

---

अब दसवीं प्रतिमा अनुमतित्यागप्रतिमा का स्वरूप बता रहे हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार (146 पद्य) में उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है– ''जिसकी निश्चय से (कृषि आदि) आरम्भ में या परिग्रह में अथवा दुनियादारी के कामों में अनुमति (सलाह, परामर्श आदि) नहीं होती, उस समभावी श्रावक को अनुमतित्यागप्रतिमाधारी मानना चाहिए।''

और भी, सागारधर्मामृत (7/31-34) में इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

''वह (अनुमतिविरत श्रावक) चैत्यालय में रहकर स्वाध्याय करे, और मध्याह्न काल की वन्दना के पश्चात् बुलाने पर अपने घर में या किसी दूसरे (धार्मिक) के घर भोजन करे।''

''वह शरीर की स्थिति के लिए जो कुछ भी प्राप्त हो, वह भोजन करे, क्योंकि मुमुक्षु धर्म की सिद्धि हेतु (ही) देह की अपेक्षा रखते हैं।''

''(वह यह सोचे कि) उद्दिष्ट व सदोष भोजन खा कर मेरी धर्मसिद्धि कैसे हो सकती है? वह यह चाहे कि मैं जितेन्द्रिय होकर भिक्षा से प्राप्त अमृत को कब ग्रहण करूँगा।''

*पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात्।*
*आपृच्छेत् गुरून् बन्धून् पुत्रादींश्च यथोचितम्।।*

**इदानी एकादशं उद्दिष्टत्याग प्रतिमास्वरूपं कथयति– रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य–147)* **चास्याः स्वरूपमित्थं प्रतिपादितं वर्तते–**

*गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।*
*भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ।।*

**एतत्प्रतिमाधारिणो द्वौ भेदौ स्तः– क्षुल्लक ऐलकश्चेति। उक्तं च वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा–301)–*

*एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।*
*वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ।।*

---

"(ज्ञानाचार आदि) पाँच आचारों के पालन में वह तत्पर रहे, और घर से निकलने की इच्छा होने पर गुरुजन, बन्धु–बान्धव और पुत्र आदि से (यथायोग्य) पूछे (आज्ञा, अनुमति ले)।"

यहाँ ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा के स्वरूप को कहते हैं– रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य–147) में इस प्रतिमा के स्वरूप को इस प्रकार बताया गया है–

"जो घर से मुनियों के आश्रम या गुरु के समीप जाकर व्रतों को ग्रहण करे और भिक्षा से जीवन यापन करते हुए, तपश्चर्या में रत रहे और खण्ड वस्त्रों –कौपीन व चादर या मात्र कौपीन को धारण करे, वह उत्कृष्ट श्रावक (उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी) होता है।"

इस प्रतिमा–धारक के भी दो भेद हैं– क्षुल्लक और ऐलक। वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा–301) में कहा गया है–

"ग्यारहवें प्रतिमास्थान में स्थित उत्कृष्ट श्रावक के दो भेद हैं– प्रथम है एक वस्त्र का धारक और दूसरा कौपीन मात्र का धारक।"

**तत्रोद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारिणः क्षुल्लकस्य स्वरूपं वर्ण्यते– स श्वेत रक्तो वा कोपीन तथैव ऊर्ध्ववस्त्र धटी यज्ञोपवीत-पिच्छ-कमण्डलुधारकश्च भवति, भिक्षया पात्रे आहारं करोति। कर्तनविधिना वपनेन वा केशानुत्तारयति, अथवा केशलुञ्चनं करोति। स प्रतिदिनमेकभुक्तिमेव कुरुते। पर्वदिनेषूपवासं च करोति।**

**उक्तं च वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-302-303)*–

*धम्मिल्लाणं चयणं करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो।*
*ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा।।*

*भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो।*
*उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु।।*

**क्षुल्लकस्य च द्वौ प्रकारौ भवतः– अनेकगृहभोजी एकगृहभोजी च। अनेकगृहभोजिनः क्षुल्लकस्य स्वरूपं वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-304-308)* **वर्णितम्–**

---

इनमें उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारक क्षुल्लक का स्वरूप बता रहे हैं– वह श्वेत अथवा लाल कौपीन पहनता है और ऊर्ध्ववस्त्र धटी (लँगोटी) तथा यज्ञोपवीत, पिच्छी, कमण्डलु भी रखता है और भिक्षा से पात्र में भोजन करता है। कैंची से या मुण्डन क्रिया से केशों को उतारता है, अथवा केशलोंच करता है। वह प्रतिदिन एक बार ही भोजन करता है और पर्व दिनों में उपवास रखता है।

वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-302-303) में बताया गया है–

"प्रथम (उत्कृष्ट श्रावक-क्षुल्लक) धम्मिल्लों का चयन (हजामत) कैंची से या उस्तरे से कराता है, और प्रयत्नशील (सावधान) होकर पीछी आदि उपकरण से स्थान आदि का प्रतिलेखन (संशोधन) करता है।"

"वह (एलक) पाणिपात्र या (क्षुल्लक) (थाली आदि) भाजन में एक बार बैठकर भोजन करता है, किन्तु (चारों) पर्वों में चतुर्विध आहार का त्यागकर नियमतः उपवास करता है।"

क्षुल्लक के भी दो भेद होते हैं– अनेकगृहभोजी और एकगृहभोजी। अनेक घरों से भोजन लेने वाले क्षुल्लक के स्वरूप को वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-304-308) में इस प्रकार बताया गया है–

*पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा।*
*भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव।।*

*सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ।*
*अण्णम्मि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं वा।।*

*जइ अद्धवहे कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह।।*
*भोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्णं भुंजए सेसं।*

*अह ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं।*
*पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिलं।।*

*जं किं पि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण।*
*पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि।।*

---

"वह पात्र को प्रक्षालन करके चर्या के लिए श्रावक के घर में प्रवेश करता है और आँगन में ठहर कर 'धर्मलाभ' कह कर स्वयं ही भिक्षा माँगता है।"

"भिक्षा न मिलने पर, अदीनमुख हो वहाँ से शीघ्र निकल कर दूसरे घर में जाता है और मौन रखते हुए अपने शरीर को दिखलाता है।"

"यदि मार्ग के मध्य ही कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घर से प्राप्त अपनी भिक्षा को खाकर, शेष (अर्थात् जितना पेट खाली रहे, तत्प्रमाण) उस श्रावक के अन्न को खाए।"

"यदि कोई भोजन के लिए न कहे तो अपने पेट भरने के प्रमाण भिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर, किसी एक घर में जाकर प्रासुक जल माँगे।"

"जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे शोध कर भोजन करे और यत्नपूर्वक अपने पात्र का प्रक्षालन कर गुरु के पास आए।"

**अनेकगृहभोजी क्षुल्लकः सत्पात्रेभ्यो दानमपि करोति। उक्तं च लाटीसंहितायां** *(6/67-68)*–

*तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम्।*
*क्षणं चातिथिभागाय सम्प्रेक्ष्याध्वं च भोजयेत्।।*

*दैवात्पात्रं समासाद्य दद्याद्दानं गृहस्थवत्।*
*तच्छेषं यत्स्वयं भुंक्ते नो चेत्कुर्यादुपोषितम्।।*

**एकगृहभोजिनः क्षुल्लकस्य चर्यादिनिरूपणं वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-309-310)* **वर्णितम्**–

*जइ एवं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि चरियाए।*
*पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं ता कुज्जा।।*

---

अनेकगृहभोजी क्षुल्लक सत्पात्रों को दान भी करता है। लाटीसंहिता (6/67-68) में कहा गया है –

''वह (क्षुल्लक) किसी भी एक घर में जहाँ उसे प्रासुक जल दिखाई देता है, वहीं वह ठहर जाता है और थोड़ी देर तक किसी अतिथि (मुनि) की आहार दान हेतु प्रतीक्षा करता है, और बाद में आहार स्वयं ग्रहण करता है।''

''दैवयोग से उसे सत्पात्र मिल जाय तो वह उसे गृहस्थ की तरह दान देता है और शेष भोजन का आहार करता है, और कुछ शेष न बचे तो उस दिन वह उपवास करता है।''

एकगृहभोजी क्षुल्लक की चर्या आदि का निरूपण वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-309-310) में इस प्रकार किया गया है–

''यदि उसे ऐसा (उक्त प्रकार से गोचरी) करना न रुचे तो वह मुनियों के गोचरी कर जाने के पश्चात् चर्या के लिए प्रवेश करे (किसी एक श्रावक के घर में प्रवेश करे), और वहाँ भिक्षा न मिले तो प्रवृत्ति-नियमन करे (फिर किसी अन्य के घर में न जाकर उपवास करना चाहिए)।''

*गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा।*
*गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण।।*

**स्वपात्रस्य प्रक्षालनं च तेन स्वयं विधीयते। उक्तं च सागारधर्मामृते** *(7/44)*–

*आकांक्षन् संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु।*
*स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान्।।*

**यथासमयं स जिनपूजादिकमपि विदधाति। समर्थितं चैतत् लाटीसंहितायाम्** *(6/69)*–

*किञ्च गन्धादिद्रव्याणाम् उपलब्धौ सधर्मिभिः।*
*अर्हद्‌बिम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदात्मना।।*

**क्षुल्लकाय नवधाभक्तिपूर्वकमाहारो दातव्यः। केवलं पादप्रक्षालनं विधातव्यम्। तस्य पादोदकं शिरोधार्यं न करणीयम्, अपितु पूजास्थानीय-अर्घमात्रं तस्मै प्रदातव्यम्। कश्चित् क्षुल्लक एकादशसूत्राणां यज्ञोपवीतं दधाति। यदि पादगमने समर्थो न भवति, तर्हि वाहनेऽपि उपविशति।**

---

''बाद में गुरु के पास जाकर विधिपूर्वक चतुर्विध (आहार के त्याग रूप) प्रत्याख्यान ग्रहण करे और प्रयत्नपूर्वक समस्त दोषों की आलोचना करे।''

अपने पात्र का प्रक्षालन भी वह स्वयं करता है। सागारधर्मामृत (7/44) में कहा भी है–

''संयम (प्राणिरक्षा) की अभिलाषा रखने वाला प्रथम उत्कृष्ट श्रावक गर्वरहित होकर भिक्षा के पात्र को धोने आदि में स्वयं प्रवृत्ति करे, अन्यथा उसे महान् असंयम होता है।''

यथासमय वह जिनपूजा आदि भी करता है। लाटीसंहिता (6/69) में इसका समर्थक वाक्य प्राप्त होता है–

''यदि उस क्षुल्लक को किसी साधर्मी पुरुष से गन्ध आदि द्रव्य (पूजा-सामग्री) मिल जाय तो प्रसन्नचित्त हो भगवान् अर्हन्त देव की और साधुओं की पूजा कर लेनी चाहिए।''

क्षुल्लक को नवधा भक्तिपूर्वक आहार देना चाहिए। केवल पादप्रक्षालन करना चाहिए। उसके पादोदक को शिरोधार्य न करें, अपितु पूजा के रूप में अर्घ्यमात्र उसे अर्पित करना चाहिए। कोई-कोई क्षुल्लक ग्यारह सूत्र वाली यज्ञोपवीत पहनते हैं। यदि पैदल चलने में समर्थ नहीं हैं तो वाहन में भी बैठते हैं।

**एलक एकादशप्रतिमाधारी एव क्षुल्लकापेक्षया द्वितीयो भेदः। अचेलकशब्दात् प्राकृते एलकशब्दस्यापि निष्पत्तिः। चेलकशब्दः वस्त्रपर्यायः। नास्ति चेलको यस्य सोऽचेलको निर्ग्रन्थो नग्नदिगम्बरो भवति। किन्तु अत्र नञ्शब्द ईषदर्थवाचकः अतः ईषद् चेलको यस्य इति विग्रहे अचेलकशब्दः अल्पवस्त्रधारी –इत्यर्थं प्रकटयति।** *'कगचजतदपयवां प्रायो लुक्'* **इति हैमप्राकृत-व्याकरणसूत्रेण** *(1/77)* **'अचेलक' इत्यत्र चकारलोपे ( अ+एलक ), स्वरसन्धौ 'एलक' इति निष्पद्यते। ( प्राकृते ऐकारस्य स्थाने हैमप्राकृतव्याकरणसूत्रेण** *(हैम. 1/148)* **एकारो भवति। अतः कुत्रापि ऐकारो नोपलभ्यते। )**

**ऐलकस्वरूपं प्रकाशयितुं शास्त्रीयोद्धरणानि प्रस्तूयन्तेऽत्र। यथा वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-311)* **प्रोक्तम्–**

*एमेव होइ विदिओ णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण।*
*लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि।।*

---

ऐलक ग्यारहप्रतिमाधारी ही होता है, क्षुल्लक की अपेक्षा से वह (उस प्रतिमा का) दूसरा भेद है। अचेलक शब्द से प्राकृत में 'एलक' शब्द की भी निष्पत्ति होती है। चेलक शब्द वस्त्र का पर्याय है। अचेलक का अर्थ है– जिसके चेलक (वस्त्र) न हो, अर्थात् निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर। किन्तु यहाँ 'अ' (नञ्) का अर्थ 'थोड़ा' है (निषेध अर्थ नहीं है), इसलिए अचेलक शब्द 'अल्पवस्त्र का धारक' यह अर्थ प्रकट करता है। प्राकृत में 'कगचजतदपयवां प्रायो लुक्' इस हेमचन्द्र-रचित प्राकृत व्याकरण (1/77) के सूत्र से 'अचेलक' के 'च' का लोप हो गया (अ+एलक), स्वर सन्धि होकर 'एलक' बना है। (प्राकृत में 'ऐत एत्' इस हेमचन्द्रकृत प्राकृतव्याकरण के सूत्र (1/148) से 'ऐ' को 'ए' हो जाता है। अतः कहीं भी ऐ स्वर उपलब्ध नहीं होता।)

ऐलक के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए यहाँ शास्त्रीय उद्धरण दिये जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-311) में कहा गया है–

"प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक) के समान ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) होता है। मात्र यह विशेषता उसमें होती है कि उसे नियमतः केशलोंच करना चाहिए, पीछी रखनी चाहिए और पाणिपात्र में खाना चाहिए।"

**तथैव लाटीसंहितायां** *(6/55-62)* **विस्तरेण निरूपितम्–**

*उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा, क्षुल्लकश्चैलकस्तथा।*
*एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात्।।*

*तत्रैलकः स गृह्णाति, वस्त्रं कौपीनमात्रकम्।*
*लोचं श्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम्।।*

*पुस्तकाद्युपधिश्चैव सर्वसाधारणं यथा।*
*सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयाद् ईषत्सावद्यकारणम्।।*

*कौपीनोपधिमात्रत्वात् विना वाचंयमिक्रिया।*
*विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम्।।*

*तिष्ठेच्चैत्यालये संघे'वने वा मुनिसन्निधौ।*
*निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु।।*

---

इसी तरह लाटीसंहिता (6/55-62) में विस्तार से निरूपित किया गया है–

''उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार के होते हैं– क्षुल्लक व ऐलक। वे दोनों ग्यारहप्रतिमा के धारक होते हैं और इन दोनों के कर्मनिर्जरा उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती है (अर्थात् क्षुल्लक की तुलना में ऐलक के कर्मनिर्जरा अधिक होती है)।''

''इनमें जो ऐलक होता है, वह मात्र कौपीन (लंगोटी) वस्त्र का ग्रहण करता है, दाढ़ी-मूँछ व केशों का लोंच करता है और पीछी व कमण्डलु भी रखता है।''

''इसके अतिरिक्त, वह पुस्तकों एवं सर्वोपयोगी धर्मोपकरणों को भी रखता है। वह जो भी पदार्थ थोड़ी-सी भी हिंसा के कारण होते हों, उन्हें लेशमात्र भी नहीं रखता है।''

''वह एक कौपीन मात्र परिग्रह रखता है, इसके सिवा सारी क्रियाएँ मुनियों के समान होती हैं। वह ऐलक मुनियों के समान ही अतिकठिन व्रतों का भी पालन करता है।''

''वह या तो किसी चैत्यालय में रहता है या मुनियों के संघ में या किसी मुनिराज के समीप वन में या किसी शून्य मठ आदि में या किसी अन्य किसी भी निर्दोष व शुद्ध स्थान में रहता है।''

*पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मविधावनात्।*
*ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत् पुरे।।*

*ईर्यासमितिसंसुद्धः पर्यटेद् गृहसंख्यया।*
*द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात्।।*

*दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम्।*
*तपो द्वादशधा कुर्यात् प्रायश्चित्तादि वाचरेत्।।*

**शेषस्तस्याचरणविधिः क्षुल्लकवद् भवति। एवं देशव्रतस्य एकादशभेदाः वर्णिताः। अत्रेदं विज्ञेयं यद् द्वितीयादिप्रतिमासु पूर्वप्रथमादिप्रतिमोचितगुणानां सद्भावः समपेक्ष्यते। उक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(पद्य-136)*–

*श्रावकपदानि देवैः, एकादश देशितानि येषु खलु।*
*स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः।।*

"वह पूर्वोक्त क्रम के अनुसार समस्त क्रियाएँ करता है तथा दोपहर होने से पूर्व ही, सावधानतया आहार हेतु नगर में जाता है।"

"आहार को जाते हुए भी वह ईर्यापथ शुद्धि से गमन करता है तथा घरों की संख्या का नियम लेकर भी जाता है। वहाँ पर भी वह पात्रों (बर्तनों) की जगह अपने हाथों से ही आहार लेता है।"

"वह बिना किसी छल-कपट के मोक्ष के साधन मूलधर्म का उपदेश देता है, बारह प्रकार के तपों का पालन करता है तथा व्रत में किसी प्रकार का दोष लग जाए तो प्रायश्चित्त ग्रहण करता है।"

ऐलक की बाकी चर्या क्षुल्लक की तरह ही होती है। इस प्रकार, देशव्रत के ग्यारह भेदों का निरूपण किया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि द्वितीय आदि प्रतिमाओं में पूर्व की प्रथम आदि प्रतिमा में पालनयोग्य उचित गुणों का अस्तित्व भी अपेक्षित रहता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य-136) में कहा भी गया है–

"तीर्थंकर देव ने श्रावकों के ग्यारह पदों (प्रतिमाओं) का निरूपण किया है, जिनमें निश्चय ही अपनी-अपनी प्रतिमा के गुण, पिछली प्रतिमा के समस्त गुणों के साथ समृद्ध होते हुए स्थिर रहते हैं।"

**एवं भो भव्य सम्यग्दृष्टिश्रावक! वस्तुतो यो जनः शारीरिकमानसादिशक्तिसम्पन्नस्तस्मै तु मुनिवराः मुनिधर्मोपदेशं ददति, यस्तन्मुनिधर्माचरणेऽसमर्थः, तस्मै एव श्रावकधर्मोपदेशः क्रियते, तस्य श्रावकधर्मस्यैकादश भेदा अत्र निर्दिष्टाः। तान् सर्वान् सम्यक्तया परिज्ञाय यथाशक्ति तदाचरणं विधत्स्व। क्षणमपि तत्र प्रमादो न विधेयः। मुनिधर्मस्य महता लाभेन वञ्चितस्त्वम्, यदि श्रावकधर्मादपि च्युतः स्यास्तर्हि उभयलाभेन वञ्चितो भविष्यसि, तस्माद् यथाशक्ति उपर्युक्तासु श्रावकप्रतिमासु क्रमश उन्नत्यै प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः श्रमणधर्मस्य नामानि निर्दिशन्ति–**

**उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव।**
**तवचागमकिंचण्हं बह्मा-इदि दसविहं होदि।।७०।।**

***छाया–*** *उत्तमक्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौचं च संयमः चैव।*
*तपस्त्याग आकिञ्चन्यं ब्रह्म –इति दशविधो भवति।।*

---

इस प्रकार हे भव्य सम्यग्दृष्टि श्रावक! वस्तुतः जो व्यक्ति शारीरिक व मानसिक आदि शक्ति से सम्पन्न हो, उसको तो मुनिराज मुनि-धर्म का ही उपदेश करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति मुनि-धर्म के आचरण में समर्थ नहीं हो तो उसे ही श्रावक धर्म का उपदेश किया जाता है, उसी को लक्ष्य कर श्रावक धर्मों के ग्यारह भेदों का निरूपण यहाँ किया गया है। उन सभी को अच्छी तरह समझ कर, यथाशक्ति उनका आचरण करो। क्षणमात्र भी इसमें प्रमाद नहीं करना है। मुनिधर्म के महान् लाभ से तो तुम वंचित हो गए हो, यदि श्रावक धर्म से भी तुम च्युत हो जाओगे तो दोनों के लाभ से हाथ धो बैठोगे। इसलिए यथाशक्ति उपर्युक्त श्रावक-प्रतिमाओं में क्रमशः उन्नति प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील रहो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार श्रमण-धर्म के नामों का निर्देश करने जा रहे हैं–

**( 70 )**

**( गाथा-अर्थ– ) उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य –ये ( मुनि-धर्म के ) दस भेद होते हैं।**

**( सर्वोदया टीका– )** *(उत्तम)* **क्षमा-मार्दवादिदशविधधर्मेषु प्रत्येकं सम्बद्ध्यते उत्तमेतिविशेषण-रूपेण। अतः उत्तमक्षमा, उत्तममार्दवम्, उत्तमार्जवम् इत्यादिरूपेणार्थो विधेयः। उत्तमेतिविशेषणस्य किम्प्रयोजनम्?**

**उच्यते। दृष्टप्रयोजनख्यातिपूजादिपरिवर्जनं यथा स्यात्तदर्थमुत्तमेतिविशेषणं प्रदत्तम्। अयम्भावः– यदा ख्याति-पूजा-स्वमहत्त्वख्यापनादिकं लौकिकं दृष्टं प्रयोजनमुद्दिश्य कश्चिद् धर्म आचर्यते, तदा स मोक्षहेतुर्न भवति, उत्तमेतिविशेषणेन दृष्टप्रयोजनमनुद्दिश्य क्रियमाणस्यैव क्षमादिधर्मस्य ग्रहणं भवतीति।**

*(खममद्दवज्जवसच्चसउच्चं)* **उत्तमक्षमा, उत्तममार्दवम्, उत्तमार्जवम्, उत्तमसत्यम्, उत्तमशौचम् इति च।** *(संजमं चेव)* **तथा उत्तमसंयमोऽपि धर्मः।** *(तव-चागमकिंचण्हं)* **उत्तमतपः, उत्तमत्यागः, उत्तमाकिञ्चन्यं च,** *(बह्मा)* **उत्तमब्रह्मचर्यं च, एवं प्रकारेण** *(इदि दसविहं होदि)* **श्रमणधर्मो दशविधो भवतीति ज्ञेयम्। एतान् दश धर्मानाचरन् श्रमणोऽपि धर्मसंज्ञयाऽभिधातुं योग्यः।**

---

**( सर्वोदया टीका– ) ( उत्तम )** क्षमा, मार्दव आदि दस प्रकार के धर्मों में प्रत्येक का 'उत्तम' इस विशेषण के साथ सम्बन्ध है। इसलिए उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव –इत्यादि रूप में ( गाथा का) अर्थ किया जाना चाहिए। **( शंका– )** 'उत्तम' इस विशेषण का प्रयोजन क्या है?

**समाधान** कर रहे हैं– ख्याति, पूजा आदि जो दृष्ट प्रयोजन हैं, उनका परिहार हो –इस प्रयोजन हेतु 'उत्तम' यह विशेषण दिया जा रहा है। तात्पर्य यह है– जब ख्याति, पूजा, अपनी महत्ता का प्रचार आदि लौकिक दृष्ट प्रयोजन का उद्देश्य लेकर किसी धर्म का आचरण किया जाता है तो वह धर्म मोक्ष का हेतु नहीं हो पाता, ( धर्म के साथ) 'उत्तम' इस विशेषण के लगाने पर क्षमा आदि उसी धर्म का ग्रहण होगा जो दृष्ट प्रयोजन के उद्देश्य से नहीं किया गया हो।

**( क्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौचम् )** उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य और उत्तम शौच। **( संयमः चैव )** और उत्तम संयम धर्म भी, **( तपस्त्याग-आकिञ्चन्यम् )** उत्तम तप, उत्तम त्याग और उत्तम आकिञ्चन्य, **( ब्रह्म )** उत्तम ब्रह्म यानी ब्रह्मचर्य। इस प्रकार से **( इति दशविधो भवति )** धर्म के दस भेद होते हैं –यह जानें। इन दस धर्मों का आचरण करने वाला श्रमण भी 'धर्म' इस संज्ञा से अभिहित होने योग्य है।

**उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-392)*–

*जो रयणत्तयजुत्तो खमादिभावेहिं परिणदो णिच्चं।*
*सव्वत्थ वि मज्झत्थो सो साहू भण्णदे धम्मो।।*

**प्रवचनसारेऽपि** *(1/8)* **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः समर्थितम्–**

*परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं।*
*तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो।।*

**अतस्तस्यैव आचरितधर्मस्य महत्त्वं सार्थकत्वं च भवतः, येन तदाचरणकर्ता तेन तेन विवक्षितधर्मपर्यायेन परिणतः स्यात्। निश्चयेन तु आत्मरतो वीतराग आत्मैव धर्मः। उक्तं च भावप्राभृते** *(गाथा-83)*–

*अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।*
*संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।*

---

कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा-392) में (इसी दृष्टि से) कहा गया है–

"जो रत्नत्रय से युक्त है, सदा उत्तम क्षमा आदि भावों से सम्पन्न होता है और सब में मध्यस्थ भाव रखता है, वही साधु है और वही 'धर्म' है।"

प्रवचनसार (1/8) में भी श्रीकुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने इसका समर्थन करते हुए कहा है–

"द्रव्य जिस काल में जिस रूप परिणमन करता है, उस समय वह उसी रूप हो जाता है –ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। इसलिए धर्मरूप परिणत आत्मा 'धर्म' हो जाता है –ऐसा समझना चाहिए।"

इसलिए आचरण किये गये उसी धर्म की महत्ता व सार्थकता होती है जिससे उसका आचरण करने वाला उस-उस विवक्षित धर्म के पर्याय से परिणत हो जाय। निश्चयनय से तो आत्म-रत वीतराग आत्मा ही 'धर्म' है। भावप्राभृत (गाथा-83) में कहा भी गया है–

"रागादि समस्त दोषों से रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूप में लीन होता है, वह संसार-समुद्र से पार होने का कारण 'धर्म' है –ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।"

**श्रमणः, श्रामण्यं चेत्येतयोः स्वरूपं कीदृशं भवतीति विषये श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः प्रवचनसारे** *(3/40-42)* **प्रकटितो विचारोऽत्र मनस्विभिर्मननीयः–**

*पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेदियसंवुडो जिदकसाओ।*
*दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो।।*

*समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पंससणिंदसमो।*
*समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।*

*दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।*
*एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं।।*

**एवं सम्यग् विज्ञाततत्त्व! भोः भव्य मनीषिन्! आचार्यकुन्दकुन्ददेवैः प्रवचनसारे** *(3/1)* **स्पष्टमुद्घोषितम्–** *'पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं'*।

---

श्रमण और श्रामण्य –इन दोनों का स्वरूप कैसा होता है –इस विषय में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य स्वामी जी ने प्रवचनसार (3/40-42) में जो निम्नलिखित विचार प्रकट किया है, वह मनस्वी पुरुषों द्वारा मननीय है–

"जो पाँच समितियों व तीन गुप्तियों से युक्त है, पाँच इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है, कषायजयी है, और सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से पूर्ण है –ऐसा श्रमण ही संयत कहा जाता है।"

"जो शत्रु व बान्धव, सुख व दुःख, प्रशंसा व निन्दा, पत्थर का ढेला व सुवर्ण और जीवन व मरण –इनमें समभाव रखता है वही श्रमण है।"

"जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र –इन तीनों में एक साथ उद्यत रहता है एवं एकाग्रता में स्थित है, उसी का श्रामण्य (मुनिधर्म) पूर्णता को प्राप्त होता है –ऐसा माना गया है।"

इस प्रकार, तत्त्वों के सम्यग्ज्ञानी हे भव्य! मनीषी! आचार्यकुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार (3/1) में स्पष्ट उद्घोष किया है कि "यदि दुःखों से छुटकारा चाहते हो तो 'श्रामण्य' (मुनि-धर्म) को स्वीकार करो।"

**एतामुक्तिमनुसृत्य सर्वदुःखहानार्थं श्रमणधर्माचरणमेव श्रेयस्करं भवतीति मनसि श्रद्धातव्यम्, अनुष्ठेयं च। अतो निजात्मेतरबाह्यपदार्थ-सम्बन्धिनः सर्वान् संकल्प-विकल्पान् विमुच्य दशविधं श्रमणधर्ममेव सर्वथा समाश्रयेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति दशधर्मेषु प्रथमं क्रमप्राप्तं क्षमाधर्मं शास्त्रकारा विशदयन्ति–**

**कोहुप्पत्तिस्स पुणो, बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।**
**ण कुणदि किंचि वि कोहं, तस्स खमा होदि धम्मो त्ति।।७१।।**

***छाया–*** *क्रोधोत्पत्तेः पुनः बहिरङ्गं यदि भवेत् साक्षात्।*
*न करोति किञ्चिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्म इति।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(पुणो)* **तथा च, दशधर्माणां नामनिर्देशो विहितः, तदनन्तरमित्यर्थः।** *(कोहुप्पत्तिस्स जदि सक्खादं बहिरंगं हवेदि)* **क्रोधस्य उत्पत्तेः साक्षात् बाह्यकारणं भवेत्, तथापि। यानि द्रव्याणि, याश्च परिस्थितयः, याश्च क्रियाः, ये च जनाः क्रोधमुत्पादयितुं साक्षात् कारणत्वं वहन्ति, तेषां मध्ये कस्यचिदन्यतमस्य सद्भावः स्यादपि –इतिभावः।**

---

इस उक्ति का अनुसरण कर समस्त दुःखों के नाश हेतु श्रमण धर्म का आचरण ही श्रेयस्कर है – ऐसा मन में श्रद्धान करना चाहिए और उसी का आचरण करना चाहिए। इसलिए अपनी आत्मा से भिन्न बाह्य पदार्थों से सम्बन्धित समस्त संकल्प-विकल्पों का त्याग कर दस प्रकार के श्रमण-धर्म का ही आश्रय करो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब दश (श्रमण) धर्मों में प्रथम क्रम में निर्दिष्ट क्षमा धर्म को शास्त्रकार स्पष्ट करने जा रहे हैं–

( 71 )

**( गाथा-अर्थ– ) और, क्रोध की उत्पत्ति का यद्यपि ( कोई ) साक्षात् कारण विद्यमान हो, तो भी जो ( व्यक्ति ) कुछ भी क्रोध ( परिणाम ) नहीं करता, उसके ( उत्तम ) क्षमा धर्म होता है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( पुनः )** और, (पहले) दस धर्मों के नामों का निर्देश किया गया, उसके बाद –यह तात्पर्य है। **( क्रोधोत्पत्तेः यदि साक्षात् बहिरङ्गं भवेत् )** क्रोध की उत्पत्ति में साक्षात् बाह्य कारण हो, तो भी। जो द्रव्य, जो परिस्थितियाँ, जो क्रियाएँ और जो भी व्यक्ति क्रोध उत्पन्न करने में साक्षात् कारण बन रहा हो, उन कारणों में से कोई एक भी कारण विद्यमान हो, तब भी –यह तात्पर्य है।

*(किंचि वि कोहं ण कुणदि)* **अल्पमपि क्रोधं न विदधाति, न च क्रोधभावेन परिणतो भवति, न च तं प्रकटयति, तस्य लेशमात्रक्रोधस्यापि न सद्भावो यदि स्यात्, तर्हि,** *(तस्स खमा धम्मो त्ति होदि)* **क्रोधभावेन अपरिणतस्य तस्य श्रमणस्य, 'उत्तमक्षमा' इति धर्मोऽनुष्ठितो भवति। यतः पूर्वगाथायामुत्तमेतिविशेषणं शास्त्रकारैः निर्दिष्टम्, ततोऽत्रापि तस्य संग्रहः करणीयो भवति।**

**अत्रायं विस्तरः। क्रोधः कषायरूपः। अभीष्टप्राप्तौ प्रतिरोधः स्यात्, यद्वा अनिष्टप्राप्तौ कश्चित्सहायः स्यात्, अनुकूलवेदना-अभावे, प्रतिकूलवेदना-सद्भावे च यत् किमपि हेतुतां भजेत्, तदा क्रोधपरिणामो जायते। सामान्यतो विषयभोगेच्छापूर्तौ यः कश्चिदपि प्रतिरोधको भवति, अथवा प्रतिकूलवेदनां समुत्पादयति, स क्रोधभाजनं भवति।**

**उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(16/12)*– 'संगात् कामस्ततः क्रोधः, तस्माद् हिंसा, तयाऽशुभम्।'

---

**( किञ्चिदपि क्रोधं न करोति )** थोड़ा भी क्रोध नहीं करता, जो न तो क्रोध रूप से परिणत होता है और न ही (बाहर) प्रकट करता है, उसके लेशमात्र क्रोध का भी सद्भाव न हो, तब **( तस्य क्षमाधर्म इति भवति )** क्रोध रूप से परिणत न होने वाले उस श्रमण द्वारा ही 'उत्तम क्षमा' धर्म आचरित होता है। चूँकि पूर्व गाथा में 'उत्तम' यह विशेषण शास्त्रकार द्वारा दिया गया है, अतः यहाँ भी उसका संग्रह (अध्याहार) करना होता है।

इसे विस्तार से समझाया जा रहा है। क्रोध एक कषाय है। जब अभीष्ट की प्राप्ति में कोई प्रतिरोधक हो, या अनिष्ट के आगमन में कोई सहायक हो, अनुकूल वेदना के न होने में एवं प्रतिकूल वेदना के होने में जो कोई भी हेतु बने, तब (उस पर) क्रोध परिणाम होता है। सामान्यतया (जब किसी व्यक्ति की) विषय-भोग सम्बन्धी इच्छा की पूर्ति में जो कोई भी प्रतिरोधक होता है या कोई उसे प्रतिकूल वेदना को उत्पन्न करता है, तो वह (प्रतिरोधक आदि) उसके कोप का पात्र बन जाता है।

ज्ञानार्णव (16/12) में कहा भी है– ''परिग्रह से विषय-वांछा उत्पन्न होती है, फिर उससे क्रोध, उस क्रोध से हिंसा, और उसके परिणाम-स्वरूप हिंसक प्रवृत्तियों का उदय होता है।''

**क्रोधः, क्रोधी –इत्यनयोर्दोषावहं स्वरूपं जैनाचार्यैर्बहुत्र संकेतितम्। उपासकाध्ययने** *(31/420)* **क्रोधस्याष्टौ अनुचरा निरूपिताः–**

*हिंसनं साहसं द्रोहः पौरोभाग्यार्थदूषणे।*
*ईर्ष्या वाग्दण्डपारुष्ये कोपजः स्याद् गणोऽष्टधा।।*

**यदा क्रोधः समुद्भवति, तदा हिंसादिसमस्तदोषा अपि सहैव प्रादुर्भवन्ति। यथा– भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1367)* **प्रोक्तम्–**

*हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण।*
*तो ते सव्वे हिंसालियादि दोसा भवे तस्स।।*

**किं च, तत्रैव** *(गाथा-1356-57)* **तस्य दुःखदायकत्वं निरूपितम्–**

---

क्रोध और क्रोधी व्यक्ति –इन दोनों के दोषबहुल स्वरूप को अनेक स्थानों पर जैनाचार्यों ने अभिव्यक्त किया है। उपासकाध्ययन (31/420) में क्रोध के आठ अनुचर इस रूप में बताये गये हैं–

"हिंसा, दुस्साहस, मित्र-द्रोह, दूसरों के दोष देखने की प्रवृत्ति, अर्थ दोष (अग्राह्य धन का ग्रहण और देय धन का न देना), ईर्ष्या, कठोर वचन बोलना और कठोर दण्ड देना –ये आठ क्रोध के अनुचरगण हैं।"

जब क्रोध उत्पन्न होता है, तब हिंसा आदि समस्त दोष भी साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ– भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1367) में कहा गया है–

"क्रोध के कारण व्यक्ति लोगों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, इसलिए उस (क्रोधी) में हिंसा, असत्य आदि सारे दोष होते हैं।"

और, वहीं (गाथा-1356-57) में उस (क्रोध) के दुःखदायक स्वरूप का निरूपण इस प्रकार हुआ है–

*जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति।*
*पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो।।*

*तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव।*
*अणस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज।।*

**एवं सर्वदोषाकरस्य दुर्गतिदायकस्य क्रोधस्य शमनं क्षमाभावेनैव सम्भवति। भिक्षामात्रोपजीविनः श्रमणस्य संयमसाधनभूतशरीरस्थितिप्रयोजनसिद्ध्यै विविधग्रामनगरादीन् अटतो दुष्टजनाक्रोश-प्रहसनावमाननाकष्टप्रदानशरीरव्यापादनादिकायां प्रतिकूलपरिस्थितौ सत्यामपि किञ्चिन्मात्रमपि रोषाभावः, समत्वपरिणामो वा 'क्षमा' धर्म एव भवति।**

**उक्तं च अनगारधर्मामृते** *(6/5)*–

*यः क्षाम्यति क्षमोऽप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागसः।*
*कृत्तागसं तमिच्छन्ति क्षान्तिपीयूषसंजुषः।।*

---

"जैसे कोई पुरुष रुष्ट होकर दूसरे का घात करने के लिए तपा लोहा उठाता है। ऐसा करने से दूसरा उससे जले या न जले, पहले तो वह स्वयं तो जलता ही है। उसी प्रकार, पिघले हुए लोहे की तरह क्रोध से पहले वह (क्रोधी) स्वयं जलता है, भले ही दूसरे को वह दुःखी कर पाए या न कर पाए।"

इस प्रकार से समस्त दोषों की खान तथा दुर्गति-दायक क्रोध का शमन क्षमाभाव से ही हो सकता है। भिक्षा मात्र से जीवन-यापन करने वाला श्रमण संयम के साधन शरीर को बनाये रखने के प्रयोजन की सिद्धि हेतु विविध ग्राम, नगर आदि में विहार करता है और तब उसके लिए कुछ प्रतिकूल परिस्थिति भी आती है, जैसे दुष्ट व्यक्ति बुरा-भला या डाँटते-फटकारते हैं, हँसी उड़ाते हैं, अवमानना करते हैं, कष्ट देते हैं, शारीरिक पीड़ा देते हैं आदि आदि, ऐसा होने पर भी श्रमण को थोड़ा भी रोष न होना या समत्व परिणाम बने रहना –यही क्षमा धर्म होता है।

अनगारधर्मामृत (6/5) में कहा भी गया है– "जो अपराधियों का तत्काल प्रतीकार करने में समर्थ होते हुए भी उन्हें क्षमा कर देता है, क्षमा रूपी अमृत का सम्यक् सेवन करने वाले साधु जन उस (क्षमाभाव) को पाप का नाशक कहते हैं।"

**आत्मस्वरूपविघातिनोऽस्य क्रोधस्य विजयः क्षमयैव सम्भवति। उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(19/72)– शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम्।*

**नियमसारे** *(गाथा-115)* **च** *'कोहं खमया जयदि'* **इति भणितमास्ते।**

**भावप्राभृते** *(गाथा-108)* **च क्षमाभावमाहात्म्यं निरूपितम्–**

*पावं खवइ असेसं खमाय परिमंडिओ य मुणिपवरो।*
*खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ।।*

**कुरलकाव्येऽपि** *(16/2, 10)* **क्षमास्वरूपं विशदीकृतम्–**

*तस्मै देहि क्षमादानं यस्ते कार्यविघातकः।*
*विस्मृतिः कार्यहानीनां यद्यहो स्यात् तदुत्तमा।।*

---

आत्मीय स्वरूप का घात करने वाले इस क्रोध पर क्षमा द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती है। ज्ञानार्णव (19/72) में कहा भी है–"शम (क्षमा) रूप जल से क्रोध रूपी अग्नि का निवारण करना चाहिए।"

नियमसार (गाथा-115) में भी 'क्रोध को क्षमा से जीते' यह कहा गया है।

भावप्राभृत (गाथा-108) में क्षमा भाव के माहात्म्य का निरूपण इस प्रकार किया गया है–

"क्षमा गुण से सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापों को नष्ट करता है तथा विद्याधर, देव और मनुष्यों द्वारा निरन्तर प्रशंसनीय हो जाता है।"

कुरल काव्य (16/2, 10) में भी इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"दूसरे लोग तुम्हें हानि पहुँचाएँ, उसके लिए तुम उन्हें क्षमा कर दो, और यदि तुम उसे भुला सको तो यह और भी अच्छा होगा।"

*महान्तः सन्ति सर्वेऽपि, क्षीणकायास्तपस्विनः।*
*क्षमावन्तमनुख्याताः किन्तु विश्वे हि तापसाः।।*

**क्षमाधर्म आत्मसिद्धेः कारणं साधनं वा भवतीति ज्ञानार्णवे** *(19/34)* **प्रतिपादितम्–**

*प्राणात्ययेऽपि सम्पन्ने प्रत्यनीकप्रतिक्रिया।*
*मता सद्भिः स्वसिद्ध्यर्थं क्षमैका स्वस्थचेतसाम्।।*

**किञ्च, तत्रैव** *(19/72)* **प्रोक्तम्–**

*क्रोधवह्नेः क्षमैकेयं प्रशान्तौ जलवाहिनी।*
*उद्दामसंयमारामवृत्तिर्वाऽत्यन्तनिर्भरा ।।*

**क्षमाभावपोषणाय का भावना, कीदृशश्च चिन्तनप्रकारः, कीदृशं वाऽनुप्रेक्षणं स्यादेतद्-विषयेऽपि शास्त्रकारैः परामर्शो दत्तः। यथा भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1415, 1417, 1420)* **परामृष्टम्–**

---

"वे सभी तपस्वी महान् हैं जिन्होंने अपने शरीर को क्षीण कर लिया है, किन्तु उन तपस्वियों का स्थान उन लोगों के बाद ही आता है जो क्षमावान् हैं।"

क्षमा धर्म आत्म-सिद्धि (शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति) में कारण या साधन होता है –ऐसा ज्ञानार्णव (19/34) में प्रतिपादित किया गया है–

"प्राणों के जाने की स्थिति में भी शान्तचित्त साधु पुरुषों की प्रतिक्रिया एक क्षमा ही होती है, जो आत्मसिद्धि का कारण है, इसीलिए वह क्षमा सत्पुरुषों को अभीष्ट होती है।"

और भी वहीं (19/72) कहा गया है–

"क्रोध रूपी आग को बुझाने के लिए यह क्षमा अनुपम नदी के समान है तथा वह उत्कृष्ट संयम रूप उद्यान की अतिशय दृढ़ 'वृत्ति' (काँटों आदि की बनी खेत की बाड़) है।"

क्षमाभाव को पुष्ट करना हो तो भावना कैसी की जाय, किस प्रकार चिन्तन-मनन हो या कैसी अनुप्रेक्षा हो –इस विषय में भी शास्त्रकारों ने परामर्श दिया है। उदाहरणार्थ– भगवती-आराधना (गाथा-1415, 1417, 1420) में यह परामर्श दिया गया है–

*जदिदा सवदि असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं।*
*अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति।।*

*सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो त्ति य खमेज्ज।*
*मारिज्जंतो वि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति।।*

*पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं।*
*को धारणीओ धणियस्स दिंतओ दुक्खिओ होज्ज।।*

**एतदेव शब्दान्तरेण ज्ञानार्णवे** *(19/16, 25, 28, 29, 31)* **प्रकटितम्–**

*आक्रुष्टोऽहं हतो नैव, हतो वा न द्विधाकृतः।*
*मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना।।*

---

"दूसरा व्यक्ति मुझ पर दोषारोपण कर रहा है, वह यदि मुझ में अविद्यमान दोषों को ही कह रहा है तो मेरा क्या बिगड़ा? बल्कि उस पर तो दया करनी चाहिए क्योंकि वह झूठ बोल कर बेचारा पाप बटोर रहा है –ऐसा विचार कर उसे क्षमा कर देना चाहिए।"

"इसने मुझे अपशब्द ही तो कहे हैं, मारा तो नहीं, मारा भी तो जान तो नहीं ली, जान भी ले रहा है तो भी सहन करने लायक बात है क्योंकि इसने मेरे धर्म को तो नष्ट नहीं किया –इस प्रकार चिन्तन करते हुए क्षमा भाव धारण करना चाहिए।"

"(यह जो मेरे प्रति अपराध कर रहा है, वह तो मेरे पूर्व जन्म कृत अपराध का ही फल है, जिसे मैं भोग रहा हूँ क्योंकि) जिसे पूर्व में (कर्ज लेकर) जितना द्रव्य मैंने स्वयं भोगा है, उतना ही धन, उस ऋण का अवधि-काल आने पर देते (वापस लौटाते) हुए कौन कर्जदार दुःखी होगा?"

इसी भाव को अन्य शब्दों से ज्ञानार्णव (19/16, 25, 28, 29, 31) में इस प्रकार कहा गया है–

"(कोई अपशब्द आदि कहे तो क्षमाभावी मुनि को इस प्रकार सोचना चाहिए–) मेरे लिए इसने अपशब्द ही तो कहे हैं, मारा तो नहीं, (मारने ही लग जाए तो सोचे कि) इसने मारा ही तो हैं, मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये। (वध ही कोई करने आ जाय तो सोचे कि) इसने मेरे शरीर का ही तो घात किया है, किन्तु इस मेरे भाई ने धर्म का नाश तो नहीं किया।"

*यदि वाक्कंटकैर्विद्धो नावलम्बे क्षमामहम्।*
*ममाप्याक्रोशकादस्मात् को विशेषस्तदा भवेत्।।*

*यदि प्रशममर्यादां भित्त्वा रुष्यामि शत्रवे।*
*उपयोगः कदाऽस्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः।।*

*अयत्नेनापि सैवेयं संजाता कर्मनिर्जरा।*
*चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्स्यर्यातना।।*

*न चेदयं मां दुरितैः प्रकम्पयेद्, अहं यतेयं प्रशमाय नाधिकम्।*
*अतोऽतिलाभोऽयमिति प्रतर्कयन् विचाररूढा हि भवन्ति निश्चलाः।।*

**एवं क्रोधस्य दुष्प्रभावं क्षमायाश्च सुपरिणामं विज्ञाय, भो ज्ञानिन्! क्रोधादिविभावस्वभावं परित्यज्य क्षमारूपमात्मधर्मं शाश्वतसुखशान्तिप्रदायिनं समाश्रय, तमेव ध्याय, परिपालयेति च गाथायाः सारः।**

---

(किसी के द्वारा अपशब्द कहे जाने पर मुनि क्षमाभावपूर्वक सोचे-) यदि वाणी रूपी काँटों से बिंध कर मैं क्षमा भाव धारण नहीं करता हूँ और क्रोध करता हूँ तो मुझमें और इस अपशब्द कहने वाले में क्या अन्तर रहा? कुछ भी नहीं, मैं भी तो उसी की तरह हो जाऊँगा।

''मैं अपनी शान्ति (क्षमा) की मर्यादा को लाँघकर, इसे शत्रु समझकर क्रोध करता हूँ तो मेरे ज्ञानरूपी नेत्र की सार्थकता क्या है? इसने अनेक उपायों से निन्दा के साथ पीड़ा दी है वह तो मेरे कर्मनिर्जरा का ही कारण तो हुई है (अतः यह तो उपकारी है)।''

''यदि मुझे (यह अपराधी) दुर्व्यवहार से क्षुब्ध नहीं करता तो मैं शान्ति (क्षमा) के लिए अधिक प्रयत्न नहीं करता, इसलिए इससे तो मुझे अत्यधिक लाभ ही तो हुआ है- इत्यादि रूप से विचार करता हुआ साधु क्षमाभाव धारण करता है, ठीक ही है जो विचारशील व्यक्ति होते हैं, वे अपने कार्य में दृढ़ या निश्चल रहा करते हैं।''

इस प्रकार, क्रोध के दुष्प्रभाव को और क्षमा के सुपरिणाम को सम्यक्तया जान कर हे ज्ञानी! क्रोध आदि विभाव स्वभाव को त्याग कर क्षमा रूप आत्मधर्म का, जो शाश्वत सुख-शान्ति का दाता है, आश्रय लो, उसी का ध्यान करो, उसी का पालन करो -यह गाथा का सार है।

**सम्प्रति शास्त्रकाराः क्रमप्राप्तस्य मार्दवेतिद्वितीयधर्मस्य स्वरूपं विशदयन्ति–**

**कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।**
**जो ण वि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स।।७२।।**

***छाया***– *कुलरूपजातिबुद्धिषु तपःश्रुतशीलेषु गौरवं किञ्चित्।*
*यः नैव करोति श्रमणः, मार्दवधर्मः भवेत् तस्य।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(जो समणो)* **यः श्रमणः, श्राम्यति तपस्यति इति श्रमणः। तेषु ये सम्यक्त्वयुक्ताः, ते अत्र श्रमणपदेन ग्राह्याः। एतस्यैव मुनिः, अनगारः इत्यादिकाः पर्यायाः।**

**उक्तं च बृहन्नयचक्रे** *(गाथा–332)*–

*सम्मा विय मिच्छा विय तवोहणा समण तहय अणयारा।*
*होंति विराय सराया जदिरिसिमुणिणो य णायव्वा।।*

**श्रमणस्य साधोश्च स्वरूपं मूलाचारे** *(गाथा–1002, 512)* **संक्षेपेण प्रतिपादितं वरीवर्ति–**

---

अब शास्त्रकार क्रमप्राप्त 'मार्दव' नामक द्वितीय धर्म के स्वरूप को स्पष्ट कर रहे हैं–

**( 72 )**

**( गाथा-अर्थ– ) जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत ( ज्ञान ) व शील के विषय में किञ्चिन्मात्र भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( यः श्रमणः )** जो श्रमण, जो श्रम यानी तपस्या करता है, वह श्रमण होता है। उनमें जो सम्यक्त्व से युक्त हैं, उन श्रमणों का ग्रहण श्रमण शब्द से यहाँ किया गया है। इसके ही पर्याय मुनि, अनगार इत्यादि हैं।

बृहत् नयचक्र (गाथा–332) में कहा गया है–

"श्रमण व अनगार सम्यक् व मिथ्या दोनों प्रकार के होते हैं। सम्यक् श्रमण वीतराग और मिथ्याश्रमण सरागी होते हैं। उनको ही यति, ऋषि, मुनि व अनगार कहा जाता है।"

श्रमण व साधु के स्वरूप को मूलाचार (गाथा–1002, 512) में इस प्रकार बताया गया है–

*णिस्संगो णिरारंभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य।*
*एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो।। (1002)*

*णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।*
*समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो।। (512)*

**धवलाग्रन्थे च** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 52)* **भणितम्–** *''पञ्चमहाव्रतधरा: त्रिगुप्तिगुप्ता: अष्टादशशील-सहस्रधरा: चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधव:''* **इति।**

*(कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु तव-सुद-सीलेसु गारवं)* **कुलम्, रूपम्, जाति:, बुद्धि:, तप:, श्रुतम्, शीलं चेत्येतेषु सप्तसु गर्वमभिमानं वा,** *(किंचि णवि कुणदि)* **किञ्चिदपि नैव करोति, लेशमात्रमपि उच्चनीचभावात्मकं गर्वं मदं वा न बिभर्ति,** *(तस्स मद्दवधम्मं हवे)* **तस्य सर्वविधगर्वरहितस्यैव श्रमणस्य उत्तममार्दवधर्मो भवतीति गाथार्थ:।**

---

''जो निस्संग, निरारम्भ, भिक्षाचर्या में शुद्धभाव, एकाकी, ध्यानलीन और सर्वगुणों से युक्त हो, वही श्रमण होता है।''

''साधु निर्वाण के साधक योगों में सदा स्वयं को लगाते हैं, सभी जीवों में समताभाव रखते हैं, इसलिए वे साधु कहलाते हैं।''

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 52) में भी कहा है– ''पाँच महाव्रतों को जो धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणों का पालन करते हैं, वे साधु होते हैं।''

**( कुल-रूप-जाति-बुद्धिषु तप:-श्रुत-शीलेषु गौरवम् )** कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, ज्ञान व शील –इन सात को लेकर गर्व या अभिमान, **( किञ्चिदपि नैव करोति )** थोड़ा भी नहीं करता, लेश भर भी उच्च या नीच समझने के भाव स्वरूप गर्व या मद को धारण नहीं करता, **( तस्य मार्दवधर्मो भवेत् )** समस्त प्रकार के गर्व से रहित उस श्रमण के ही उत्तम मार्दव धर्म (सम्पन्न) होता है –यह गाथा का अर्थ हुआ।

**सम्प्रति विस्तरेणार्थो विव्रियते। मृदोर्भावो मार्दवम्। ज्ञानादिभिरुत्कृष्टतां भजमानस्यापि गर्वाभावो मार्दवं प्रकटयति। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-395)*–

*उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।*
*अप्पाणं जो हीलदि मद्दवरयणं भवे तस्स।।*

**मार्दवधर्मस्य योऽनुष्ठाता भवति, स मानकषायं सर्वथा निगृह्णाति। यथा स कुलगर्वं न दधाति। कुलं पितृपक्षपरम्परारूपमुच्यते। कुलमदश्चाष्टमदेषु अन्यतमः। मम पिता, पितामहः, प्रपितामहः इत्यादिकाः सर्वश्रेष्ठा महापुरुषाः समर्जितयशसो निर्दोषचारित्रा वा, नान्यो मत्कुलदृष्ट्या मत्सदृशः, इत्यादिभावात्मकं कुलगर्वं कुलमदं वा शास्त्रकारा निन्दन्ति। मार्दवधर्मी स्वजीवने विविधव्यवहारे च कदाचिदपि स्वोच्चकुलप्रतिष्ठां मनसि निर्धार्य मदान्धो भूत्वा कस्यचित् तिरस्कारं न करोति, स्वप्रतिष्ठां न च प्रदर्शयति, अपि तु स्वं तृणमिव मन्यते।**

---

अब विस्तार से अर्थ बता रहे हैं। मृदुता का होना –यही मार्दव का अर्थ है। ज्ञान आदि से उत्कृष्ट होते हुए भी गर्व का न होना –यही मार्दव का सूचक है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-395) में कहा गया है –

उत्तम ज्ञान का धारक तथा उत्तम तपश्चर्या करने में समर्थ होने पर भी जो स्वयं की अवहेलना – अनादर भाव करता है, अर्थात् मद नहीं करता, यह उसके मार्दव रूपी रत्न का सद्भाव (कहा जाता) है।

मार्दव धर्म का जो आचरण करता है, वह मान कषाय पर सर्वथा निग्रह करता है, उदाहरणार्थ– वह कुल से सम्बन्धित गर्व नहीं करता। पिता आदि की परम्परा 'कुल' होता है। कुल से सम्बन्धित मद आठ (त्याज्य) मदों में से एक है। मेरे पिता, दादा, पड़दादा इत्यादि सर्वश्रेष्ठ महापुरुष थे, उन्होंने यश अर्जित किया था, अथवा उनका निर्दोष चारित्र था, कुल की दृष्टि से मेरे जैसा कोई दूसरा नहीं है –इत्यादि भाव रखने की शास्त्रकार कुल-गर्व या कुल-मद के रूप में (मानते हुए) निन्दा करते हैं। मार्दव धर्म वाला व्यक्ति अपने जीवन में कभी अपने उच्च कुल या उसकी प्रतिष्ठा को मन में रख कर मदान्ध नहीं होता और कभी किसी का तिरस्कार नहीं करता, वह अपनी प्रतिष्ठा को कभी प्रदर्शित नहीं करता है, अपितु स्वयं को तृणवत् मानता है।

**उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षागन्थे** *(गाथा-313)*–

*जो ण य कुणदि गव्वं पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु।*
*उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं।।*

**अपरं रूपसम्बन्धिगर्वमपि न करोति मार्दवधर्मी। रूपं शरीरसौन्दर्यादिकम् तत्सम्बन्धिमदो रूपमदोऽपि अष्टमदेषु अन्यतमः। मम रूपाग्रे कामदेवोऽपि दासत्वं करोति –इतिरूपमदः। तमपि मार्दवगुणोपेतो न करोति। ततः परं जातिगौरवम्। जातिर्नाम मातृपक्षीयवंशः, तत्सम्बन्धि गौरवं मदमभिमानं वा मार्दवधर्मी न कदाचित् किञ्चिदपि करोति। जातिमदोऽपि अष्टमदेष्वन्यतमो गर्हणीयश्च। यथा– मम माता यशस्विनी, विशिष्टशीलादिगुणवती, तत्सन्तानरूपेणाहमपि सर्वतः श्रेष्ठत्वं वहामि, मातुलोऽपि श्रेष्ठतम आसीत्, तत सदृशः कोऽपि न भूतले विद्यते –इत्यादिविचारणं जातिमदं सूचयति। ततः परं बुद्धिगौरवं मार्दवधर्मिणः कृते त्याज्यं भवति।**

---

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-313) में कहा गया है–

"वह (सम्यग्दृष्टि) पुत्र, स्त्री आदि समस्त पदार्थों में गर्व नहीं करता, अपितु उपशम भाव को भाता है और स्वयं को तृणवत् समझता है।"

दूसरा रूपसम्बन्धी गर्व है, उसे भी मार्दवधर्मी नहीं करता। रूप का अर्थ है शारीरिक सौन्दर्य आदि, उस पर होने वाला रूपमद भी आठ मदों में से एक है। मेरे रूप के आगे कामदेव भी दासता करता है– यह (चिन्तन) रूपमद है। उसे भी मार्दवगुणी व्यक्ति नहीं करता। इसके बाद जाति-गर्व का कथन है। जाति का अर्थ है– मातृ-पक्षीय वंश, उससे सम्बन्धित गौरव, मद या अभिमान भी मार्दवधर्मी कभी और कुछ भी नहीं करता। जातिमद भी आठ मदों में से एक है और त्याज्य माना गया है। उदाहरणार्थ– मेरी माता यश वाली, विशिष्ट शील आदि गुणों वाली है, उसके सन्तान रूप में सभी तरह से मेरी श्रेष्ठता है, मेरे मामा भी श्रेष्ठतम हुए, उनके समान पृथ्वी पर कोई भी नहीं है –इत्यादि विचार जातिमद का सूचक है। इसके बाद, बुद्धिगौरव का कथन है, जो मार्दवधर्मी के लिए त्याज्य होता है।

**तदनन्तरं बुद्धिमदो गाथायामत्र निर्दिष्टः। बुद्धिर्नाम विचार-निपुणता, चातुर्यं वा। तत्सम्बन्धिमदो यथा– मत्सदृशो न कश्चिद् बुद्धिमानस्ति, इतिविचारः। मार्दवधारी बुद्धिमदेन सर्वथा रहितो भवति। एवमेव, तपोमदो निर्दिष्टः। अयमपि अष्टमदेषु परिगणितः। अहं सिंहनिष्क्रीडित-विमानपंक्ति-सर्वतोभद्र-प्रभृति-तपश्चरणं कृतवान्, मम जीवनं तपःपूर्णम्, अन्ये श्रमणाः कठोरतपआचरणे न मत्सादृश्यं वोढुं समर्थाः –इत्यादिविचाराः तपोमदसूचकाः। ततश्च श्रुतमदस्य निर्देशः। अहं सर्वशास्त्रज्ञः, ममाग्रे सर्वे पण्डितम्मन्याः तुच्छतां वहन्ति –इत्यादिचिन्तनं श्रुतमदरूपमेव। श्रुतमदोऽपि सर्वथा त्याज्यः परिहर्तव्यो वा मार्दवधर्ममनुसरता श्रमणेन। तथैव क्रमे सर्वान्ते शीलमदो निर्दिष्टः। गुणव्रत-शिक्षाव्रतद्वयं शीलमुच्यते। यद्वा ब्रह्मचर्यव्रतमपि शीलमुच्यते। मम शीलं सर्वोत्कृष्टम्, अस्मिन् न मे कश्चित् समानतां वोढुं समर्थः –इत्यादिचिन्तनं शीलमदरूपमेव। एतस्यापि परिवर्जनं मार्दवधर्ममाचरता श्रमणेन करणीयं भवति।**

**रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-25)* **मदानामष्टानां निर्देश इत्थं प्राप्यते–**

---

उसके बाद इस गाथा में बुद्धिमद का निर्देश है। बुद्धि का अर्थ है– वैचारिक निपुणता या चतुरता। उससे सम्बन्धी मद है– 'मेरे जैसा कोई बुद्धिमान् नहीं' –ऐसा विचार। मार्दवधर्म का धारक बुद्धि-मद से सर्वथा रहित होता है। इसी तरह, तप-मद का भी निर्देश यहाँ किया गया है। यह मद भी आठ मदों में परिगणित है। मैं सिंहनिष्क्रीडित, विमानपंक्ति, सर्वतोभद्र आदि तपश्चरण कर चुका हूँ, मेरा जीवन (ही) तपोमय है, अन्य श्रमण मेरे जैसा कठोर तप करने में समर्थ नहीं है– इत्यादि विचार तपोमद के सूचक हैं। इसके बाद श्रुतमद का निर्देश है। मैं समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हूँ, जो भी अपने को पंडित समझते हैं, वे सभी मेरे सामने तुच्छ हैं –इत्यादि चिन्तन श्रुतमद रूप ही है। श्रुतमद भी मार्दवधर्मी श्रमण के लिए सर्वथा त्याज्य होता है। इसी क्रम में, सब के अन्त में शीलमद का निर्देश किया गया है। गुणव्रत व शिक्षाव्रत –इन दोनों को शील कहा जाता है। अथवा ब्रह्मचर्यव्रत को भी शील कहा जाता है। मेरा शील सर्वोत्कृष्ट है, इसमें मेरी समानता कोई भी नहीं कर सकता –इत्यादि चिन्तन शीलमद रूप ही है। इस मद का त्याग भी मार्दव धर्म का आचरण करने वाले श्रमण के लिए करणीय होता है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-25) में आठ मदों के नामों का निर्देश इस प्रकार किया गया है–

*ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।*
*अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः।।*

**तत्रैव** *(पद्य-26)* **मददोषस्यापि संकेतः कृतः–**

*स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।*
*सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना।।*

**मार्दवधर्मस्य महत्त्वमुपयोगित्वं च राजवार्तिके** *(9/6/27)* **संकेतितम्–** *"मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति, साधवोऽपि साधुमामन्यन्ते, ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां पात्रीभवति, ततः स्वर्गापवर्गफलावाप्तिः। मलिने मनसि व्रतशीलादि नावतिष्ठन्ते। साधवश्चैनं परित्यजन्ति। तन्मूलाः सर्वा विपदः।"*

**कथं जीवानां मदोऽनुचितः, का च वस्तुस्थितिः, कथं मार्दवधर्म आश्रयणीयो मन्यते, प्रतिष्ठां वा बिभर्ति –इतिविषये शास्त्रकाराः अभिप्रयन्ति बहुधा।**

---

"ज्ञान, पूजा (प्रतिष्ठा), कुल, जाति, बल, ऋद्धि (ऐश्वर्य), तप, वपु (शरीर की सुन्दरता) –इन आठों का आश्रय करके किये गये गर्व को मदहीन (गणधरादि) देवों ने मद कहा है।"

वहीं (पद्य-26) मद सम्बन्धी दोष का भी संकेत इस प्रकार किया गया है–

"(आठ) मदों से गर्वित होकर जो अन्य धार्मिकों को तिरस्कृत करता है, वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है, क्योंकि धार्मिकों के बिना तो धर्म ही नहीं होता।"

मार्दव धर्म की महत्ता व उपयोगिता का संकेत राजवार्तिक (9/6/27) में इस प्रकार किया गया है– "मार्दव गुण वाले व्यक्ति पर गुरुजनों का अनुग्रह होता है, साधुजन भी उसे सत्पुरुष (साधु) मानते हैं, गुरुओं के अनुग्रह से उसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है और उससे स्वर्गमोक्षादि सुख मिलता है। मलिन मन में तो व्रत शीलादि नहीं ठहरते और साधुजन उस व्यक्ति को छोड़ देते हैं। वह (मान, अहंकार) ही समस्त विपत्तियों का मूल है।"

जीवों के लिए मद किस प्रकार अनुचित है, वास्तविकता क्या है और मार्दव धर्म किस प्रकार से आश्रययोग्य माना जाता है, उसकी प्रतिष्ठा क्यों है– इस विषय में शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से अपने अभिप्राय प्रकट किये हैं।

**यथा भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1422-1425)* **प्रतिपादितम्-**

*को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स।*
*उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते।।*

*अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को महं माणो।*
*को विब्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते।।*

*जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो।*
*सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण।*

*इह च परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो।*
*इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा।।*

**तथैव, अनगारधर्मामृते** *(6/9-12)* **मानकषायस्य गर्ह्यता विशदीकृताः-**

---

जैसे, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1422-1425) में कहा गया है-

"इस (ज्ञान, कुल आदि) में मैं ऊँचा भी होऊँ, तो उसका गर्व भी कैसा? क्योंकि अनेक बार मैं इनसे नीचा भी हो चुका हूँ। उच्चता या नीचता -ये दोनों नित्य नहीं हैं।"

"इस लोक में ज्ञान आदि की दृष्टि से बहुत-से मेरी अपेक्षा अधिक (श्रेष्ठ) हैं, फिर इनका मुझे अभिमान कैसा? पूर्व जन्मों में भी यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ, तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य कैसा?"

"जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोष का त्याग करता है, वह मानी (मान करने योग्य) होता है। गुणरहित मान से कोई मानी नहीं होता।"

"इस लोक और परलोक में मान बहुत दोषकारी है। ऐसा जान कर अपने मान का निग्रह करना चाहिए।"

इसी तरह, अनगारधर्मामृत (6/9-12) में मान कषाय की गर्हणीयता (निन्दा) को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

*हृत्सिन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभिः ,*
*किर्मीरः क्रियतां चिराय सुकृतां म्लानिस्तु पुंमानिनाम्।*
*मानस्यात्मभुवाऽपि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसम्भावनम्,*
*तद्ध्येयेऽपि विधेश्चरेयमिति धिग्मानं पुमुत्प्लाविनम्।।*

*गर्वप्रत्यग्नगकवलिते विश्वदीपे विवेक-*
*त्वष्टर्युच्चैः स्फुरितदुरितं दोषमन्देहवृन्दैः।*
*तत्रोद्वृत्ते तमसि हतदृग् जन्तुराप्तेषु भूयः,*
*भूयोऽभ्याजत्स्वपि सजति ही स्वैरमुन्मार्ग एव।।*

*जगद्-वैचित्र्येऽस्मिन् विलसति विधौ काममनिशम्,*
*स्वतन्त्रो न क्वास्मीत्यभिनिविशतेऽहंकृतितमः।*
*कुधीर्येनादत्ते किमपि तदघं यद्रसवशात्,*
*चिरं भुंक्ते नीचैर्गतिजमपमानज्वरभरम्।।*

"कुल, जाति आदि का निर्माण तो भाग्य रूपी शिल्पी करता है, इनके उत्कर्ष को लेकर भाग्यहीनों का हृदय-समुद्र हर्षरूपी लहरों के कारण भले ही नाना रूप धारण करे, किन्तु इससे स्वयं को पुरुष मानने वालों के (मन में) 'मैं अमुक विषय में उत्कृष्ट हूँ' इस तरह की भावना सम्भव होती है। परन्तु (वास्तविकता तो यह है कि) अपने पुत्र द्वारा भी मान की हानि देखी जाती है। अतः उस ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए जहाँ भाग्य का प्रवेश नहीं है। इसलिए उस मान को धिक्कार है जो व्यक्ति को माहात्म्य से भ्रष्ट करता है।"

"बड़ा खेद है कि जगत् को प्रकाशित करने वाले विवेक रूपी सूर्य को अहंकार रूपी अस्ताचल द्वारा ग्रस लिया जाता है और राक्षसों के कारण मोहान्धकार फैल जाता है जिसमें (चोरी, व्यभिचार आदि) पापकर्म बढ़ जाते हैं, ऐसी स्थिति में दृष्टिहीन होकर प्राणी, बारम्बार गुरुओं द्वारा रोके जाने पर भी स्वच्छन्दतया उन्मार्ग में ही प्रवृत्त होता है।"

"स्थावर-जंगम रूप इस जगत् के भेद-प्रपंच में भाग्यवश मैं किस पदार्थ को प्राप्त नहीं कर सकता -इस प्रकार का अहंकार रूपी अन्धकार कुबुद्धि व्यक्ति के अभिप्राय में समा जाता है। इसके कारण वह ऐसे अनिर्वचनीय पापकर्म का बन्ध करता है जिसके उदय के अधीन होकर चिरकाल तक नीच गति में होने वाले अपमान रूपी ज्वर के वेग को भोगता है।"

*भद्रं मार्दववज्राय येन निर्लूनपक्षतिः।*
*पुनः करोति मानाद्रिः, नोत्थानाय मनोरथम्।।*

**मानकषायस्य दोषाः भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1369, 1371-72)* **निरूपिताः-**

*कुलरूवाणाबलसुदलाभस्सरयत्थमदितवादीहिं।*
*अप्पाणमुण्णमंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं।।*

*माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि।*
*पावदि माणी णयदं इह परलोए य अवमाणं।।*

*सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा।*
*माणेण चेव मेधुणहिंसालियचोज्जमाचरदि।।*

**निर्मानतायाः मार्दवस्य च प्रशंसाऽपि तथैव** *(गाथा-1373-74)* **निरूपिता दृश्यते-**

---

"उस मार्दव रूपी वज्र का कल्याण हो, जिसके द्वारा पंखों (शक्ति विशेष) के मूल से छिन्न हो जाने पर मान रूपी पर्वत पुनः उठने का मनोरथ पूरा नहीं कर पाता।"

मान कषाय के दोषों का निरूपण भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1369, 1371-1372) में इस प्रकार किया गया है-

"कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातों में स्वयं को बड़ा मानने वाला, उनका अहंकार करने वाला नीच गोत्र नामक कर्म का बन्ध करता है।"

"मानी से सभी द्वेष करते हैं। वह कलह, भय व दुःख का पात्र बन जाता है तथा इस लोक व परलोक में नियम से अपमान का पात्र होता है।"

"पहले जो (क्षमा के प्रसंग में) क्रोध के दोष कहे गये हैं, वे सभी दोष मान कषाय के भी जानना। मान से मनुष्य हिंसा, असत्य, चोरी व मैथुन में भी प्रवृत्त होता है।"

मानरहित तथा मार्दव धर्म की प्रशंसा भी वहीं (गाथा-1373-1374) कही गई दृष्टिगोचर होती हैं -

*सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए।*
*णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि।।*

*ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि।*
*इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं।।*

**एवं भो मानमात्सर्यादिविभावभावरहितस्वभावसम्पन्न भव्य! मानो नात्मीयस्वभावः, स तु कषायरूपेण तवात्मनः शत्रुरेव, तद्विजयाय मार्दवधर्माश्रयणं तव कृते श्रेयस्करम्, अतः तमेवाश्रयेति गाथायाः सारः।**

**अथेदानीमुत्तमार्जवधर्मस्य तृतीयश्रमणधर्मस्य स्वरूपं शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति–**

**मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो।**
**अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण।।७३।।**

***छाया–*** *मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरति यः श्रमणः।*
*आर्जवधर्मः तृतीयः तस्य तु संभवति नियमेन।।*

"मानरहित व्यक्ति जगत् में स्वजन और परजन –सभी का प्रिय होता है। वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है और अन्य भी अपने कार्यों को सिद्ध करता है।"

"मार्दवयुक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानि के भय से मनुष्य मान करे। विनय से इस जन्म में और जन्मान्तर में समस्त कल्याण प्राप्त होते हैं।"

इस प्रकार, मान, मात्सर्य आदि वैभाविक भावों से रहित स्वभाव से सम्पन्न हे भव्य! मान आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह तो कषाय रूप है और आत्मा का शत्रु ही है, उस पर विजय प्राप्त करने के लिए मार्दव धर्म का आश्रयण ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है, अतः उसी का तुम आश्रय लो –यह गाथा का सार है।

अब तीसरे श्रमण–धर्म आर्जव (धर्म) के स्वरूप को शास्त्रकार प्रतिपादन कर रहे हैं–

**( 73 )**

**( गाथा-अर्थ– ) जो श्रमण कुटिल भाव को त्याग कर निर्मल हृदय से ( धर्म का ) आचरण करता है, उसके तो नियमतः तीसरा आर्जव धर्म होता है।**

**( सर्वोदया टीका– )** *(जो समणो)* **यः श्रमणः, मुनिरनगारो वा,** *(कुडिलभावं मोत्तूण)* **कुटिलभावं मुक्त्वा, परित्यज्य, कयाचिदपि कुटिलतया रहितः इत्यर्थः। वस्तुतो यः कुटिलतां दधाति, स तु श्रमणपदवाच्योऽपि न भवितुमर्हति।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1341)–*

*घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।*
*बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स।।*

**तथा** *(णिम्मलहिदएण चरदि)* **निर्मलहृदयो भूत्वा धर्माचरणं करोति, मूलोत्तरगुणपालनं करोति, अथवा निजचैतन्यपिण्डाखण्डात्मानं ध्यायति।** *(तस्स दु णियमेण तइयो अज्जवधम्मं संभवदि)* **तस्य कुटिलभावरहितस्य निर्मलहृदयस्य श्रमणस्य इत्यर्थः। नियमेन अवश्यमेव, तृतीय आर्जवधर्मः संभवति। कुटिलस्य मलिनहृदयस्य श्रमणस्य तु आर्जवधर्मसाधना नैव सम्पद्यते –इति तात्पर्यम्।**

---

**( सर्वोदया टीका– ) ( यः श्रमणः )** जो श्रमण या मुनि या अनगार है, और वह **( कुटिलभावं मुक्त्वा )** कुटिल भाव छोड़कर, त्याग कर, अर्थात् किसी भी प्रकार की कुटिलता से रहित होकर। वस्तुतः जो कुटिलता को धारण करता है, वह तो श्रमण भी कहलाने लायक नहीं होता।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1341) में कहा गया है–

"जिस प्रकार घोड़े की लीद भीतर से खुरदरी व मलिन होती है, उसी तरह जो साधु अन्दर से मलिन होता है, वह तो उस बगुले के समान (अन्तरङ्ग में शिकार खोजने के भाव से युक्त) क्रिया वाला है, उसकी बाह्य (दिखावटी धार्मिक) क्रियाएँ क्या (भला या हित) करेंगी?

और, **( निर्मलहृदयेन चरति )** निर्मल हृदय होकर धर्माचरण करता है, मूलगुणों व उत्तरगुणों का पालन करता है, अथवा निज चैतन्यपिण्ड, अखण्ड आत्मा का ध्यान करता है, **( तस्य तु नियमेन तृतीय आर्जवधर्मः संभवति )** उसी को यानी कुटिल भाव से रहित, निर्मल हृदयवाले श्रमण के नियम से अर्थात् अवश्य ही, तीसरा आर्जव धर्म संभव होता है। कुटिल व मलिन हृदयवाले श्रमण की तो आर्जव धर्म सम्बन्धी साधना सम्पन्न ही नहीं होती –यह तात्पर्य है।

**अत्रायं विस्तरः। कुटिलभावः, माया, निकृतिः इति पर्यायाः –इति सर्वार्थसिद्धौ** *(6/16)* **निर्दिष्टम्। कुटिलताबाहुल्येन पूर्णो मायाचारी एव परप्रवञ्चनाप्रवणो भवति। मायाचारी स्वकीयमन्तरङ्गाभिप्रायं प्रच्छादयति।** *'मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्'* **इत्युक्तिस्तादृशानां कृते एव सार्थक्यं वहति। एषा स्वान्तरङ्गस्वरूपप्रच्छादनप्रवणा माया पञ्चविधा भण्यते – निकृतिः, उपधिः, सातिप्रयोगः, प्रणिधिः, प्रतिकुञ्चनं चेति।**

**एतेषु अतिसंधानकुशला धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वञ्चना या भवति, सा निकृतिः। सद्भावं प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे या प्रवृत्तिः, सा 'उपधिः'। अर्थेषु विसंवादः, स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरणम्, दूषणं प्रशंसा वा 'सातिप्रयोगः'। प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमानम्, संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिसंज्ञिका माया। आलोचनं कुर्वतो दोष –विनिगूहनं प्रतिकुञ्चनमाया। मायाशल्यस्यापि निर्देशः शास्त्रेषु दृश्यते। संक्षेपेण बहिरङ्गबकवेषेण लोकरञ्जन-प्रवृत्तिर्मायाशल्यम्।**

---

अब इसे विस्तार से समझा रहे हैं। कुटिल भाव, माया, निकृति –ये परस्पर पर्याय हैं–ऐसा सर्वार्थसिद्धि (6/16) में निर्देश किया गया है। कुटिलता की अधिकता से भरा मायाचारी दूसरों को ठगने में तत्पर रहता है। मायाचारी अपने आन्तरिक अभिप्राय को छिपाता है। 'मन में कुछ, वाणी में कुछ और कर्म में कुछ और' यह उक्ति उसी जैसे लोगों के लिए सार्थक सिद्ध होती है। अपने भीतरी स्वरूप को छिपाने में कुशल यह माया इन पाँच प्रकारों वाली कही जाती है– निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुञ्चन।

इनमें धन के विषय में या किसी कार्य के विषय में अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति को ठगने की क्रिया जो होती है, वह 'निकृति' है। अच्छे परिणाम को छिपाकर (उस दिशा में न जाकर), धर्म के बहाने से चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति –यह 'उपधि' है। धन के बारे में असत्य बोलना, किसी की धरोहर को हरण कर लेना, दूषण लगाना या प्रशंसा करना –यह 'सातिप्रयोग' (माया) है। हीनाधिक कीमत की समान वस्तुओं को आपस में मिलावट करना, तोल व माप के साधन कम-ज्यादा रखकर लेन-देन करना, सच्चे व झूठे पदार्थ को आपस में मिलाना –यह सब 'प्रणिधि' नामक माया है। आलोचना करते समय अपने दोषों को छिपाना –यह 'प्रतिकुञ्चन' माया है। माया का शल्य रूप में भी निर्देश शास्त्रों में मिलता है। संक्षेप में कहें तो बाह्य बगुला जैसा वेष धारण कर लोगों को खुश (अनुकूल) करने की प्रवृत्ति मायाशल्य है।

**उक्तं च बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य** *(गाथा-42)* **टीकायाम्–** *"रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपं, द्वेषात् परवधबन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं च, मदीयापध्यानं कोऽपि न जानातीति मत्त्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्न-सदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाणः सन्नयं जीवो बहिरङ्गबकवेषेण यल्लोकरञ्जनां करोति तन्मायाशल्यं भण्यते"।* **एवं प्रकारान्तरेण योगस्य अवक्रता 'आर्जवम्' इति स्वीक्रियते।**

**उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-396)–*

*जो चिंतइ ण वंकं, ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं।*
*ण य गोवदि णियदोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स।।*

**उपर्युक्तोत्तमार्जवधर्मपुष्ट्यर्थं विशेषभावनाश्च भवन्ति, ताः भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1426-30)* **निरूपिताः–**

*अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति।*
*मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो।।*

---

बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-42) की टीका में कहा गया है– "राग से परस्त्री आदि की वांछा रूप और द्वेष से दूसरे को मारने, बाँधने, छेदने आदि की वांछा रूप मेरे अपध्यान को कोई भी नहीं जानता है– ऐसा मानकर निजशुद्धात्मभावना से उत्पन्न सदानन्द (नित्य आनन्द) लक्षण वाले सुखामृतरस रूप निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि नहीं करता हुआ, यह जीव बाहर में बगुले जैसा वेश धारण कर लोगों का रञ्जन करता है, (उसकी) वह (चेष्टा) मायाशल्य कहलाती है।" इस प्रकार, अन्य प्रकार से कहें तो योग (मन-वचन-शरीर की चेष्टा) की अवक्रता को आर्जव रूप में स्वीकृत किया गया है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-396) में कहा गया है–

"जो मुनि वक्र (कुटिल) विचार नहीं करता, वक्र (कुटिल) कार्य भी नहीं करता और जो वक्र (कुटिल) बात नहीं बोलता, साथ ही अपने दोष को छिपाता भी नहीं, उसी के आर्जव धर्म होता है।"

उपर्युक्त उत्तम आर्जव धर्म की पुष्टि हेतु विशेष भावनाएँ होती हैं, जिनका निरूपण भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1426-30) में इस प्रकार किया गया है–

"अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तर में लोगों को ज्ञात हो ही जाती है। तब फिर मायाचार करने से क्या लाभ हुआ? (इस प्रकार चिन्तन से माया को दूर करना चाहिए।)"

*परिभागम्मि असंते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स।*
*चंदग्गहो व्व दोसो खणेण सो पायडो होदि।।*

*जणपायडो वि दोसो दोसो त्ति ण घेप्पए सभागस्स।*
*जह समल त्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं।।*

*डंभसएहिं बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स।*
*हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो।।*

*इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया।*
*इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवदि माया।।*

**किञ्च, मायाशल्येन युक्तः कश्चिद् भवेत्स तु व्रती अपि न सम्भवति,** *'निःशल्यो व्रती'* **इति तत्त्वार्थसूत्रे** *(7/18)* **भणितत्वात्। मायाचारी तिर्यग्गतिं प्राप्नोतीति** *'माया तैर्यग्योनस्य'* **इति च तत्त्वार्थसूत्रे** *(6/16)* **प्रोक्तत्वात्।**

---

"भाग्य प्रतिकूल हो तो हजारों छल-प्रपञ्च से छिपाया हुआ भी दोष, चन्द्रमा के ग्रहण (में प्रकट कालिमा) की तरह क्षणमात्र में प्रकट हो जाता है।"

"और, भाग्यशाली का लोक में प्रकट भी दोष दोष नहीं माना जाता। जैसे, तालाब का पानी मैला हो तो तब भी लोग उसे मैला नहीं मानते।"

"अच्छी तरह सैकड़ों छल-कपट करने पर भी पुण्यहीन के हाथ में पुण्यशाली का धन नहीं आता।"

"माया इस लोक और परलोक में बहुत से दोष लाती है -ऐसा जानकर माया का त्याग करना चाहिए।"

और, माया शल्य से युक्त यदि कोई व्यक्ति हो तो वह व्रती भी नहीं हो सकता, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र (7/18) में 'व्रती निःशल्य (ही) होता है' -ऐसा कहा गया है। मायाचारी तिर्यञ्च गति को प्राप्त करता है, क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्र (6/16) में कहा गया है कि 'माया तिर्यञ्च आयु के आस्रव का कारण है।'

**मायाकषायस्य मायाचारिणश्च कुत्सितस्वरूपं भगवती-आराधनायां** *(गाथा-1376-1381)* **विशदीकृतं तन्मननीयं सर्वैः–**

*जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं।*
*मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तवसमिद्धो वि।।*

*होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स।*
*होदि अचिरेण सत्तू णीयाण वि णियडिदोसेण।।*

*पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधे वि।*
*सच्चाणि सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि।।*

*मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी।*
*णासदि मायादोसा विसजुददुद्धं व सामण्णं।।*

---

माया कषाय और मायाचारी –इनके कुत्सित स्वरूप का भगवती-आराधना (गाथा-1376-81) में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है, जिस पर सभी को मनन करना चाहिए–

''जैसे एक करोड़ का स्वामी होने पर भी यदि शरीर में कोई कील, काँटा घुसा हो तो शारीरिक सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार तप से समृद्ध होने पर भी यदि अन्तर में माया रूपी शल्य घुसा है तो मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता।''

''माया दोष से मनुष्य सभी के द्वेष का पात्र बनता है, उसका कोई विश्वास भी नहीं करता, सुजन भी उसका अपमान करते हैं, वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवों के लिए शत्रु बन जाता है।''

''स्वयं द्वारा थोड़ा-सा भी अपराध होने पर, मायाचारी महान् दोष का भागी बनता है। एक बार का भी मायाचार हजारों सत्यों को नष्ट कर देता है।''

''मायाचार से मित्रता नष्ट होती है और उससे इस लोक सम्बन्धी कार्यों का विनाश होता है। मायादोष से विषमिश्रित दूध की तरह मुनि-धर्म नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मित्रता और कार्य का नाश तथा मुनि-धर्म की हानि –ये माया के दोष हैं।''

*माया करेदि णीचागोदं इत्थी णवुंसयं तिरियं।*
*मायादोसेण य भवसएसु डभिज्जदे बहुसो।।*

*कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा।*
*कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति।।*

**एवं मायाचारस्य दोषान् विज्ञाय, दुर्गतिपरिहाराय सद्गतिप्राप्तये च सर्वप्रयत्नेन मायात्यागं विधाय उत्तमार्जवधर्मस्य सेवने प्रयतस्वेति गाथायाः सारः।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः क्रमप्राप्तस्य चतुर्थस्य उत्तमसत्यधर्मस्य निरूपणं चिकीर्षन्ति–**

**परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।**
**जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं।। ७४।।**

***छाया–*** *परसन्तापककारणवचनं मुक्त्वा स्वपरहितवचनम्।*
*यो वदति भिक्षुः, तुरीयः तस्य तु धर्मो भवेत् सत्यम्।।*

---

"माया से नीच गोत्रकर्म का तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद व तिर्यञ्च गतिनामकर्म का बन्ध होता है। माया से उत्पन्न दोष से व्यक्ति सैकड़ों जन्मों में बहुत बार ठगा जाता है।"

"जहाँ मायाचार है, वहाँ क्रोध, मान व लोभ (के दोष) भी रहते हैं। क्रोध, मान व लोभ से उत्पन्न होने वाले सभी दोष मायाचारी में होते हैं।"

इस प्रकार, मायाचार के दोषों को जानकर, दुर्गति से बचने के लिए तथा सद्गति की प्राप्ति के लिए, सभी तरह का यत्न करते हुए माया का त्याग करो और उत्तम आर्जव धर्म के आचरण में प्रयत्नशील रहो – यह गाथा का सार है।

अब शास्त्रकार क्रम से कथनीय चौथे (श्रमण धर्म) उत्तम सत्य धर्म का निरूपण करना चाह रहे हैं –

( 74 )

**( गाथा-अर्थ– ) जो भिक्षु ( श्रमण ) दूसरों को सन्ताप देने वाले वचनों ( के प्रयोग ) को छोड़कर, स्व-परहितकारी वचन बोलता है, उसके तो चतुर्थ ( उत्तम ) सत्य धर्म होता है।**

**( सर्वोदया टीका– )** *(जो भिक्खु)* **यो भिक्षुः, श्रमणो वा। भिक्षया निरवद्यया यश्चरति स भिक्षुः। भिक्षुशब्दः श्रमणसामान्यस्य वाचकः, यतो हि स भिक्षाचर्याव्रतं सम्यक्तया पालयति।**

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा–821, 939)–*

*पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति।*
*पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण।।*

*जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते।*
*अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया।।*

**किन्तु श्रमणो भिक्षुरेव, न स भिक्षुकोऽस्ति, अर्थात् न स दीनतां प्रकटयति अपितु नवधाभक्तिपूर्वकमाहारं गृह्णाति। उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा–819–820)–*

*ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति।*
*मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता।।*

---

**( सर्वोदया टीका– ) ( यो भिक्षुः )** जो भिक्षु या श्रमण। जो निर्दोष भिक्षाचर्या से रहता है, वह भिक्षु होता है। भिक्षु शब्द सामान्य श्रमण का वाचक है, क्योंकि श्रमण सम्यक् रूप से भिक्षाचर्या सम्बन्धी व्रत का पालन करता है।

मूलाचार (गाथा–821, 939) में कहा भी गया है–

''मुनि न स्वयं भोजन पकाते हैं और न ही दूसरे से पकवाते हैं, ये पकाने के आरम्भ से निवृत्त होते हैं और भिक्षा मात्र से सन्तुष्ट रहते हैं।''

''आगम में मूल योग भिक्षाचर्या ही कही गई है और इससे अतिरिक्त दूसरे योगों को वे लोग करते हैं जो विज्ञान (चारित्र) से हीन होते हैं।''

किन्तु श्रमण भिक्षु ही है, वह भिक्षुक नहीं होता, क्योंकि वह दीनता प्रकट नहीं करता, अपितु नवधा भक्तिपूर्वक आहार ग्रहण करता है। मूलाचार (गाथा–819–820) में कहा गया है–

''वे भोजन के लिए किसी की स्तुति नहीं करते और कुछ याचना भी नहीं करते। वे (तो) मौनव्रतपूर्वक बिना कुछ बोले भिक्षाचर्या करते हैं।''

*देहि त्ति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वोत्तुं।*
*अवि णीदि अलाभेणं ण य मोणं भंजदे धीरा।।*

**एतादृशो भिक्षुः**, *(परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण)* **परसन्तापककारणवचनं मुक्त्वा, यानि वचनानि परान् सन्तापयन्ति तानि कारणभूतानि वचनानि त्यक्त्वा –इत्यर्थः। तादृशानि वचनानि गर्हितानि सावद्यानि च भवन्ति। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-824-826)*–

*कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च।*
*जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण।।*

*जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च।*
*अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं।।*

*परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ।*
*उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण।।*

---

"वे 'दे दो' –इस प्रकार से दीनता के कलुषित वचन नहीं बोलना चाहते हैं, आहार न मिले तो वापस आ जाते हैं, किन्तु वे धीर मुनि मौन व्रत का भंग नहीं करते।"

ऐसा भिक्षु **( परसंतापककारणवचनं मुक्त्वा )** परसन्ताप में कारण होने वाले वचनों का त्याग कर, अर्थात् जो भी वचन दूसरों को सन्ताप पहुँचाएँ, उन कारणभूत वचनों को छोड़ कर। वैसे वचन गर्हित (निन्दनीय) होते हैं और सावद्य (दोषयुक्त) भी। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-824-826) में कहा भी है –

"कर्कश वचन, निष्ठुर वचन, दूसरों के दोषों को प्रकट करने वाले वचन, हास्य वचन और जो कुछ भी व्यर्थ बोलना –ये सब संक्षेप में गर्हित वचन कहे जाते हैं।"

"जिस वचन से प्राणों का घात आदि दोष हों, वह सावद्य वचन है। जैसे– बिना विचारे, चोर को चोर कहना –इत्यादि।"

"कठोर वचन, कड़वा वचन, जिस वचन से वैर, कलह व भय पैदा हों ऐसे वचन, अत्यन्त त्रास देनेवाले वचन, तिरस्कारसूचक वचन –ये संक्षेप में अप्रिय वचन हैं।"

**अत्रेदमवधेयं यत् परहितकारिवचनं व्यवहारे श्रवणकटु प्रतीतमपि अनवद्यमेव। अत एवोक्तं भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-359)*–

*पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स।*
*कडुगं व ओसहं तं महुरविवागं हवइ तस्स।।*

**वचनव्यवहारे वृथालापो दुर्वचनप्रयोगश्च परिवर्जनीयौ भणितौ कुरलकाव्येऽपि–**

*उचितं बुध चेद् भाति कुर्याः कर्कशभाषणम्।*
*परं नैव वृथालापं, यतोऽस्माद् वै तदुत्तमम्।।*

*एकमेव पदं वाण्यामस्ति चेन्मर्मघातकम्।*
*विनष्टास्तर्हि विज्ञेया उपकाराः पुराकृताः।।*

---

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि भले ही व्यवहार में कटु वचन प्रतीत हो, किन्तु यदि वह परहितकारी है तो वह निर्दोष ही है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-359) में इसी दृष्टि से कहा गया है–

"भले ही हृदय को अनिष्ट प्रतीत हों, किन्तु यदि वे वचन हितकारी हों तो उन्हें अपने गण में स्थित मुनि को लक्ष्य कर बोलना चाहिए, क्योंकि वे वचन कड़वी औषधि की तरह उसके लिए मधुर फल के दायक होते हैं।"

वचन-व्यवहार में व्यर्थ आलाप तथा दुर्वचन के प्रयोग को कुरल काव्य में भी वर्जनीय कहा गया है –

"यदि समझदार को समझ में आए तो मुख से कठोर शब्द कह ले, क्योंकि ऐसा करना निरर्थक (व्यर्थ प्रलाप) भाषण से कहीं अच्छा है।"

"यदि तुम्हारे एक शब्द से भी किसी को कष्ट पहुँचता है तो तुम अपनी सब भलाई नष्ट हुई समझो।"

*दग्धमङ्गं पुनः साधु जायते कालपाकतः।*
*कालपाकमपि प्राप्य न पुरोहति वाक्-क्षतम्।।*

*विद्याविनयसंपन्नः शालीनो गुणवान् नरः।*
*प्रमादादपि दुर्वाक्यं न ब्रूते हि कदाचन।।*

*(सपरहिदवयणं वददि)* **स्वपरहितकारि वचनं वदति, भाषते,** *(तस्स दु तुरियो सच्चं धम्मो हवे)* **तस्य स्वपरहितकारिवचनभाषणकर्तुः श्रमणस्य चतुर्थः उत्तमसत्यधर्मो भवेत्। यद् वचनं स्वपरपीडाकारि भवति, तदसत्यमेव भवति।**

**उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(9/3)*–

*असत्यमपि तत्सत्यं यत्सच्चाशंसकं वचः।*
*सावद्यं यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि निन्दितम्।।*

**उपासकाध्ययने** *(28/377)* **च समर्थितम्**–

---

"आग का जला हुआ तो समय पाकर अच्छा हो जाता है, किन्तु वाणी का घाव सदा हरा बना रहता है।"

"विद्या व विनय से सम्पन्न, भद्र और गुणी व्यक्ति भूलकर भी मुख से कभी दुर्वचन नहीं बोलता।"

(स्वपरहितवचनं वदति) स्व व पर का हित करने वाला वचन बोलता है, **( तस्य तु तुरीयो सत्यं धर्मो भवेत् )** स्वपरहितकारी वचन बोलने वाले उस श्रमण के चौथा उत्तम सत्य धर्म होता है। जो वचन स्वपरपीड़ाकारक होता है, वह असत्य ही होता है।

ज्ञानार्णव (9/3) में कहा भी गया है–

"जो वचन जीवों का इष्ट या हित करने वाला हो, वह असत्य हो तो भी सत्य है। और जो वचन पापसहित हिंसा रूप कार्य को पुष्ट करता हो, वह सत्य हो तो भी असत्य और निन्दनीय है।"

उपासकाध्ययन (28/377) में भी इसी का समर्थन इस प्रकार किया गया है–

*तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये।*
*जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः।।*

**असत्यभाषणनिन्दायां शास्त्रेषु बहूनि वचनानि सन्ति, अत्र कानिचिदेव प्रस्तूयन्ते। यथा– भगवती–आराधनाग्रन्थे** *(गाथा–840–843)* **प्रोक्तम्–**

*मादाए वि वेसो पुरिसो अलिएण होइ एक्केण।*
*किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिएण सत्तु व्व।।*

*अलियं स किंपि भणियं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं।*
*अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो।।*

*अप्पच्चओ अकित्ती भंभारदिकलहवेरभयसोगा।*
*वधबंधभेय धणणासा वि य मोसम्मि सण्णिहिदा।।*

---

"ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए जिससे दूसरों पर विपत्ति आती हो या अपने ऊपर दुर्निवार संकट आता हो।"

असत्य भाषण की निन्दा में शास्त्रों में बहुत से वचन हैं, यहाँ कुछ वचन प्रस्तुत किए जा रहे हैं। जैसे, भगवती–आराधना ग्रन्थ (गाथा–840–843) में कहा गया है–

"एक असत्य वचन से व्यक्ति अपनी माता का भी विश्वास खो देता है। तो फिर असत्य बोलने से व्यक्ति अन्य जनों को शत्रु जैसा क्यों नहीं प्रतीत होगा?"

"एक बार भी बोला गया झूठ बहुत बार बोले गये सत्य वचनों (के प्रभाव) का घात कर देता है। लोग उसके सत्य कथन को भी झूठ मानने लगते हैं। झूठ बोलने वाला व्यक्ति स्वयं भी अति सशंकित (भीत) रहता है।"

"असत्य भाषण में अविश्वास, अपयश, संक्लेश, अरति, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बन्ध, कुटुम्ब में फूट, धन का नाश इत्यादि दोष पाये जाते हैं।"

*पापस्सासवदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा।*
*हिदएण अपावो वि हु मोसेण गदो वसू णिरयं।।*

**सत्यभाषणस्य प्रशंसायां भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-832-833)* **प्रत्यपादि आचार्यैः–**

*ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ।*
*सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि।।*

*सच्चेण देवदावो णवंति पुरिसस्स ठंति य वसम्मि।*
*सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेंति रक्खं च।।*

**तथैव, कुरलकाव्ये विशदीकृतम्–**

*न वक्तव्यं न वक्तव्यं मृषावाक्यं कदाचन।*
*सत्यमेव परो धर्मः, किं परैर्धर्मसाधनैः।।*

---

"जिनेन्द्र देव असत्य को पापास्रव का कारण कहते हैं। राजा वसु हृदय से पापी नहीं था, फिर भी झूठ बोलने से वह नरक में गया।"

सत्यभाषण की प्रशंसा में भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-832-833) में आचार्य (शिवार्य) ने कहा है–

"सत्यवादी मनुष्य को आग नहीं जला पाती, पानी उसे डुबा नहीं पाता। जिसके पास सत्य का बल है, उसे तीव्र वेग वाली नदी भी नहीं बहाती।"

"सत्य के कारण देवता नमस्कार करते हैं। सत्य से देवता भी पुरुष के वशीभूत हो जाते हैं। सत्य (के प्रभाव) से पिशाच से पकड़ा हुआ भी व्यक्ति छूट जाता है और सत्यवक्ता की रक्षा देव भी करते हैं।"

इसी तरह कुरल काव्य में भी स्पष्ट किया गया है–

"कभी असत्य न बोलें, न बोलें। सत्य ही परम धर्म है, अन्य धर्म-साधनों की कोई आवश्यकता नहीं है।"

*स्नेहपूर्णा दयादृष्टिः हार्दिकी या च वाक्सुधा।*
*एतयोरेव मध्ये तु धर्मो वसति सर्वदा।।*

*भूषणे द्वे मनुष्यस्य नम्रताप्रियभाषणे।*
*अन्यद्धि भूषणं शिष्टैः नादृतं सभ्यसंसदि।।*

**उपर्युक्तसत्यधर्मः सत्याणुव्रत-सत्यमहाव्रत-भाषासमिति-वचनगुप्तिप्रभृतिधर्मानुष्ठानेषु क्रमेण संपुष्टो भवति। सत्यव्रतस्य येऽतिचाराः, तेऽपि प्रयत्नेन त्याज्या भवन्ति। सत्यव्रतस्थैर्यार्थं या भावनाः, ता अपि भावनीयाः, विस्तारभयात् न तन्निरूपणं विधीयते।**

**एवं परपीडाकारक-सावद्यवचनानां स्वरूपं तद्दोषांश्च सम्यक् विज्ञाय हे भव्य! उत्तमसत्यधर्मस्याश्रयणं विधेहि –इति गाथायाः सारः।**

**अधुना शास्त्रकारा उत्तमशौचधर्मस्य क्रमे पञ्चमस्य श्रमणधर्मस्य स्वरूपं निर्दिशन्ति–**

---

"हृदय से निकली हुई मधुर वाणी और ममतामयी स्निग्ध दृष्टि में ही धर्म का निवास-स्थान है।"

"नम्रता और प्रिय भाषण, बस ये ही मनुष्य के आभूषण हैं। शिष्टजनों ने सभ्य समाज में किसी अन्य आभूषण को आदर (महत्त्व) नहीं दिया है।"

सत्य अणुव्रत, सत्य महाव्रत, भाषासमिति, वचनगुप्ति आदि धर्मानुष्ठानों में उपर्युक्त सत्य धर्म क्रमशः संपुष्ट होता है। सत्यव्रत के जो अतिचार हैं, वे भी प्रयत्नपूर्वक वर्जनीय हैं। सत्य व्रत की स्थिरता हेतु जो भावनाएँ हैं, वे भी भावनायोग्य हैं, विस्तार-भय से उनका निरूपण नहीं किया जा रहा है।

इस प्रकार, परपीड़ाकारक, सावद्य वचनों के स्वरूप और उनके दोषों को अच्छी तरह जानकर हे भव्य! उत्तम सत्य धर्म का आश्रय ग्रहण करो –यह गाथा का सार है।

अब शास्त्रकार उत्तम शौच धर्म का –जो क्रम में पाँचवाँ श्रमण धर्म है– स्वरूप बता रहे हैं–

**कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।**
**जो वट्टदि परममुणी, तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं।। ७५ ।।**

**छाया–** *कांक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः।*
*यो वर्तते परममुनिः, तस्य तु धर्मः भवेत् शौचम्।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(जो परममुणी)* **यः परममुनिः, परम उत्कृष्टः, श्रेष्ठगुणोपेतो मुनिष्वपि –इत्यर्थः। श्रामण्यपूर्णतां प्राप्त इति वा। को मुनिषु श्रेष्ठो भवतीति विषये रयणसारे** *(गाथा-93)* **प्रोक्तम्–**

*तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणासहावजुदो।*
*अणवरयं धम्मकहापसंगओ होदि मुणिराओ।।*

**तथैव प्रवचनसारे** *(3/14)* **भणितम्–**

*चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।*
*पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो।।*

---

**( 75 )**

**( गाथा-अर्थ– ) जो श्रेष्ठ मुनि कांक्षा भाव से निवृत्ति करके वैराग्य भावना से सम्पन्न होकर व्यवहार करता है, उसके तो ( उत्तम ) शौच धर्म होता है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( यः परममुनिः )** जो मुनियों में भी परम यानी उत्कृष्ट या श्रेष्ठ गुणों से युक्त है–यह अर्थ है। या श्रामण्य की पूर्णता को प्राप्त हो चुका हो। मुनियों में श्रेष्ठ कौन होता है –इस विषय में रयणसार (गाथा-93) में कहा गया है–

"तत्त्व-सम्बन्धी विचार करने वाले, मोक्ष-मार्ग की आराधना के स्वभाव वाले और निरन्तर धर्म-कथाओं के परिचायक –ऐसे मुनिराज होते हैं।"

इसी तरह प्रवचनसार (3/14) में भी कहा गया है–

"जो मुनि सम्यग्दर्शन आदि सहित ज्ञानस्वरूप आत्मा में निरन्तर प्रवृत्त (लीन) रहता है, वह (अट्ठाईस) मूलगुणों में सावधान होकर उद्यमी रहने वाला परिपूर्ण श्रामण्य का धारक होता है।"

**अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानधारिणामपि मुनिसंज्ञाऽस्ति, किन्त्वत्र सामान्येन साधुसामान्य-वाचकोऽत्र गृह्यते।**

*(कंखाभावणिवित्तिं किच्चा)* **कांक्षाभावात् निवृत्तिं कृत्वा, निराकांक्षः सन् इत्यर्थः। निराकांक्षस्य निःकांक्षितस्य वा स्वरूपं रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-12)* **प्रोक्तम्–**

*कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।*
*पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता।।*

**सम्यक्त्वभावविपरीता कांक्षा त्रिविधा भवतीति मूलाचारे** *(गाथा-249-251)* **विशदीकृतम्–**

*तिविहा य होइ कंखा इह परलोए तथा कुधम्मे य।*
*तिविहं पि जो ण कुज्जा दंसणसुद्धीमुवगदो सो।।*

---

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान के धारकों की भी मुनि संज्ञा (मानी गई ) है, किंतु सामान्यतः साधु-सामान्य का वाचक 'मुनि' शब्द ही यहाँ गृहीत है।

**( कांक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा )** कांक्षा भाव से निवृत्ति करके अर्थात् निराकांक्ष (आकांक्षारहित) होकर। निराकांक्ष या निष्कांक्षित व्यक्ति के स्वरूप को रत्नकरण्ड-श्रावकाचार (श्लोक-12) में इस प्रकार बताया गया है–

"इन्द्रियादि विषय-सुख कर्मों के अधीन हैं, अन्त-सहित (विनश्वर) हैं, नाना दुःखों से मिश्रित व बाधायुक्त हैं एवं पाप के कारण हैं, (अतः) उनमें जो अरुचिपूर्ण श्रद्धा (अनासक्ति) है, वह निष्कांक्षित गुण है।"

सम्यक्त्व भाव से विपरीत यह कांक्षा तीन प्रकार की होती है –ऐसा मूलाचार (गाथा-249-251) में स्पष्ट किया गया है–

"इस लोक में, परलोक में तथा कुधर्म में आकांक्षा (अभिलाषा) होने से यह कांक्षा तीन प्रकार की होती है। जो इन तीन प्रकार की आकांक्षा को नहीं करता, वह दर्शन-शुद्धि को प्राप्त हुआ है।"

*बलदेवचक्कवट्टीसेट्ठीरायत्तणादिअहिलासो ।*
*इहपरलोगे देवत्तपत्थणा दंसणाभिघादी सो।।*

*रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीणमण्णतित्थीणं ।*
*धम्मह्मि य अहिलासो कुधम्मकंखा हवदि एसा।।*

**उपर्युक्तरीत्या यो जनः कांक्षाभावं न करोति, स एव निष्कांक्षितसम्यग्दृष्टिः परममुनिरस्ति। उक्तं च समयसारे** *(गाथा-230)*–

*जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह य सव्वधम्मेसु।*
*सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।*

**अथवा, कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-416)* **भणितमास्ते–**

*जो सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं।*
*मोक्खं समीहमाणो णिक्खंखा जायदे तस्स।।*

---

"इस लोक में बलदेव, चक्रवर्ती, सेठ, राजा आदि होने की अभिलाषा जिसके होती है, और परलोक में देवपने की चाह होती है, वह सम्यग्दर्शन का घाती है।"

"रक्तपट, चरक, तापसी और परिव्राजक आदि के तथा अन्य सम्प्रदाय वालों के धर्म में जो अभिलाषा है, वह कुधर्म-आकांक्षा है।"

उपर्युक्त रीति से जो व्यक्ति कांक्षाभाव नहीं रखता, वही निष्कांक्षित सम्यग्दृष्टि परममुनि है। समयसार (गाथा-230) में कहा भी गया है–

"जो आत्मा कर्मों के फल की तथा समस्त धर्मों की कांक्षा नहीं करता, उसे निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।"

अथवा, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-416) में कहा गया है–

"दुर्धर तप द्वारा मोक्ष की इच्छा करता हुआ जो प्राणी स्वर्ग-सुख के लिए धर्म का आचरण नहीं करता, उसके निष्कांक्षित गुण होता है।"

**निष्कांक्षितत्वं व्यवहारदृशा निश्चयदृशा च द्विविधं प्रोक्तम्। तत्र इहलोकपरलोकाशारूप-भोगाकांक्षानिदानस्य त्यागेन, केवलज्ञानादि-अनन्तगुणाभिव्यक्तिरूपमोक्षार्थं दानपूजातपश्चरणादिकरणं निष्कांक्षागुणः, निष्कांक्षितत्वं वा इति व्यवहारदृशा बोद्धव्य ्। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिष्कांक्षागुणस्य सहकारित्वेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगत्यागेन निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्न-पारमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसे चित्तसन्तोषः, स एव निष्कांक्षागुणः, निष्कांक्षितत्वं वेति।**

*(वेरग्गभावणाजुत्तो)* **विगतो रागो यस्य स विरागः। अथवा विरञ्जनं विरागः। चारित्रमोहोदयाभावे तस्योपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद् वा रूपादिविषयेभ्यो या विरक्तिः, सैव विरागः। तस्य भावः कर्म वा वैराग्यम्, तत्सम्बन्धिनी या भावना, तया युक्तः, अर्थात् संसार-शरीर-भोगेषु यो विरक्तिभावः, तत्सहितः। अयं च विरक्तिभावः कया रीत्या भवति? उच्यते– जगत्कायस्वभावचिन्तनेन विरक्तिभावो जायते।**

---

निष्कांक्षित को व्यवहार व निश्चय दृष्टि से दो प्रकार का कहा गया है। इनमें लौकिक व पारलौकिक तृष्णा रूपी भोगाकांक्षा निदान के त्याग द्वारा, केवलज्ञानादि अनन्तगुणों की अभिव्यक्ति रूप मोक्ष के लिए दान, पूजा, तप आदि का जो आचरण होता है, वह निष्कांक्षा गुण है या निष्कांक्षितपना है। उसी को व्यवहार दृष्टि से निष्कांक्षित समझना चाहिए। निश्चय दृष्टि से तो उसी व्यवहार निष्कांक्षित गुण के सहकारी (निमित्त) रूप से दृष्ट, श्रुत व अनुभूत पञ्चेन्द्रिय-भोगों का त्याग कर निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक निजात्मजनित सुखामृत के रस में चित्त का संतोष होना –यही निष्कांक्षा गुण या निष्कांक्षितपना है।

**( वैराग्यभावनायुक्तः )** जिसका राग नष्ट हो गया है, वह 'विराग' है। या विरक्त होना ही विराग है। चारित्रमोह के उदय न होने पर, उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशम के कारण, रूप आदि विषयों से विरक्ति होना –यही विराग है। उसका भाव या कर्म वैराग्य है, उससे सम्बन्धित जो भावना, उससे युक्त, अर्थात् संसार, शरीर व भोगों के प्रति जो विरक्ति का भाव होता है, उससे युक्त होकर। यह विरक्ति भाव किस उपाय से होता है? बता रहे हैं– संसार व शरीर इनके स्वभाव का चिन्तन करने से विरक्ति भाव पैदा होता है।

**उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे** *(7/12)– 'जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्'* **इति।**

**अयम्भावः– जगत्स्वभावस्य कायस्वभावस्य च भावनया संवेगः वैराग्यं च जायेते। यथा– जगत्स्वभावस्तावद् आदिमदनादिमत्परिणामद्रव्यसमुदायरूपः तालवृक्षसंस्थानः, अनादिनिधनश्च। अत्र जीवाः चतसृषु गतिषु नानाविधं दुःखं समनुभवन्तः परिभ्रमन्ति। जीवनं च जलबुद्बुदोपमम्, विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसम्पदः इत्येवमादिः। कायस्वभावस्य अनित्यता, दुःखहेतुत्वं निस्सारता अशुचित्वमित्येवमादि चिन्तनम्। एवं भावनया संवेगो जायते। ततश्च आरम्भपरिग्रहदोषदर्शनाद् विरतिः, धर्मे च बहुमानः, धार्मिकेषु च धर्मश्रवणे धार्मिकदर्शने च मनसः प्रसादः। उत्तरोत्तरगुण-प्रतिपत्तौ च श्रद्धा तथा शरीरभोगोपभोगसंसारनिर्वेदलक्षणं वैराग्यं च भवतः।**

*(वट्टदि)* **वर्तते, आचरति, श्रामण्यमनुपालयति वा,** *(तस्स दु सोच्चं धम्मो हवे)* **तस्य निराकांक्षस्य विरक्तस्य परममुनेः इत्यर्थः, उत्तमशौचधर्मो भवेत्।**

---

तत्त्वार्थ सूत्र (7/12) में कहा भी गया है–"संवेग और वैराग्य के लिए संसार और शरीर के स्वभाव का विचार (चिन्तन) करना चाहिए।"

तात्पर्य यह है– जगत् के स्वभाव की तथा शरीर के स्वभाव की भावना करने से संवेग व वैराग्य उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ– जगत् का यह स्वभाव है कि वह आदिमान् व अनादि परिणाम वाले द्रव्यों का एक समुदित रूप है, ताल वृक्ष के आकार वाले इसकी रचना अनादिनिधन है। इसमें जीव चारों गतियों में नाना प्रकार के दुःख का अनुभव करते हुए भ्रमण करते रहते हैं। जीवन जल के बुलबुले के समान है, बिजली व मेघ आदि के विकार की तरह भोग-संपत्तियाँ क्षण-भंगुर हैं, इत्यादि। शरीर के स्वभाव का चिन्तन जैसे– यह अनित्य है, दुःख का कारण है, सारहीन है और अपवित्र है, इत्यादि। इस प्रकार की भावना से संवेग उत्पन्न होता है। इस तरह आरम्भ व परिग्रह में दोष देखने से धर्म में, धार्मिकों में, धर्म-श्रवण में और धार्मिकों के दर्शन में आदर भाव और मनःसन्तोष आदि होते हैं, आगे-आगे गुणों की प्राप्ति में श्रद्धा होती है और शरीर, भोगोपभोग व संसार से निर्वेद रूप वैराग्य उत्पन्न होता है।

**( वर्तते )** बर्तता है, आचरण करता है या श्रामण्य की अनुपालना करता है, **( तस्य तु शौचं धर्मो भवेत् )** उसके अर्थात् निराकांक्ष व विरक्त परम मुनि के, उत्तम शौच धर्म होता है।

**अत्रेदं ज्ञेयम्। क्वचिदागमे शौचधर्मानन्तरं सत्यधर्मस्य निर्देशः, अत्र तु प्रथमं सत्यधर्मः, तदनन्तरं शौचधर्मो निर्दिष्टः। तत्र विरोधो नोद्भावनीयः, यतो हि यत्र क्रोधमानमायालोभेति-कषायचतुष्टयस्य प्रमुखता समभीष्टा, तत्र कषायजयं विना सत्योपलब्धिर्न सम्भवतीति दृष्ट्या सत्यधर्मात् प्राक् शौचधर्मस्य निर्देशो विहितः।**

**यथा तत्त्वार्थसूत्रे** *(9/6)* **आचार्योमास्वामिवर्यैः सम्यक् सूत्रितम्–** *उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौच-सत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।*

**किन्तु यत्र सत्याङ्गीकारेण विना लोभस्य विनाशो न सङ्गच्छते –इति दृष्टिः प्रसरति, तदा सत्यधर्मानन्तरं शौचधर्मस्य यो विहितो निर्देशः, स समुचितः सिद्ध्यति। वस्तुतः** *'अर्पितानर्पितसिद्धेः'* **इति तत्त्वार्थसूत्रे** *(5/32)* **इतिसूत्रितं यत्, तदनुसृत्य प्रयोजनवशात् धर्मविशेषस्य प्राधान्यं गौणत्वं वा स्वीकर्तुं शक्यते, अतो न कश्चिद् विरोधः शंकनीयः।**

---

यहाँ यह ज्ञातव्य है– कहीं-कहीं आगम में शौच धर्म के बाद सत्य धर्म का निर्देश किया गया है। किन्तु यहाँ (इस ग्रन्थ में) पहले सत्य धर्म और उसके बाद शौच धर्म का निर्देश किया गया है। इसमें किसी विरोध की सम्भावना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जहाँ क्रोध, मान, माया व लोभ– इन चार कषायों की प्रमुखता हो, वहाँ कषाय-जय के बिना सत्य धर्म की प्राप्ति सम्भव नहीं है– इस (वैचारिक) दृष्टि के अनुसार सत्य धर्म से पहले शौच धर्म का निर्देश किया गया है।

जैसे कि तत्त्वार्थसूत्र (9/6) में आचार्य उमास्वामी जी ने सम्यक्तया यह सूत्र रचा है–''उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्य– ये (दस) धर्म हैं।''

किन्तु जहाँ यह दृष्टि रही है कि सत्य को अंगीकार किये बिना लोभ का नाश संगत नहीं होता, तब सत्य धर्म के बाद में शौच धर्म का निर्देश जो किया गया है, वह उचित ठहरता है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र (5/32) में 'अर्पितानर्पितसिद्धेः' यह सूत्र निहित ही है, जिसके अनुसार प्रयोजनानुसार किसी धर्म-विशेष को प्रधानता या गौणता दी जा सकती है, इसलिए (उक्त सूत्र के आलोक में) यहाँ किसी विरोध की शंका नहीं करनी चाहिए।

**शौचं च शुचेर्भावः। शुचिश्च लोभात् प्रकृष्टतया निवृत्तिः। युक्तस्थले धनव्यये अप्रवृत्तिः लोभः, यद्वा बाह्यार्थेषु ममेदंबुद्धिर्लोभः। यद्वा धनादितीव्राकांक्षा लोभः कथ्यते। गर्हा, कांक्षा, गृद्धिः –इत्यादिका लोभस्यैव पर्यायाः। तारतम्यमपेक्ष्य अस्य चत्वारो भेदाः –कृमिरागसदृशः, कज्जलसदृशः, कर्दमसदृशः, हरिद्रारागसदृशश्च। अस्य विषयभेदानुसारेणापि चत्वारो भेदाः प्रोक्ताः। यथा– जीवनलोभः, आरोग्यलोभः, इन्द्रियलोभः, उपभोगलोभश्चेति। एतेषु प्रत्येकं द्विधा भिद्यते– स्वपरविषयत्वात्। यथा स्वजीवनलोभः, परजीवनलोभश्चेत्येवमादिः।**

**लोभनिवृत्तिरूपशौचधर्मस्य स्वरूपं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-397)* **विशदीकृतम्–**

*समसंतोसजलेण जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं।*
*भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं।।*

**पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(1/94)* **च प्रोक्तम्–**

---

शुचि का भाव ही शौच है। शुचि है–लोभ से प्रकृष्ट रूप में निवृत्ति। उपयुक्त अवसर पर धन व्यय में प्रवृत्त न होना –यह लोभ है, या बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है' –यह बुद्धि होना या धन आदि की तीव्र आकांक्षा–इसे लोभ कहते हैं। गर्हा, कांक्षा, गृद्धि इत्यादि शब्द लोभ के ही पर्याय हैं। तरतमता की अपेक्षा से इस (लोभ) के चार भेद हैं– (1) किरमिच के रंग के समान, (2) काजल के समान (3) कीचड़ के समान और (4) हल्दी के रंग के समान। विषय–भेद के अनुसार भी इसके चार भेद कहे गए हैं। जैसे– जीवनलोभ, आरोग्यलोभ, इन्द्रियलोभ और उपभोगलोभ। इनमें भी प्रत्येक के स्वविषयक और परविषयक –ये दो–दो भेद किए गए हैं। जैसे– निज जीवन का लोभ, अन्य के जीवन का लोभ इत्यादि।

लोभ–निवृत्ति रूप शौच धर्म के स्वरूप को कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा–397) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

"जो समभाव और सन्तोष रूपी जल से तृष्णा व लोभ रूपी मल के समूह को धोता है, तथा भोजन की गृद्धि नहीं रखता, उसके निर्मल शौच धर्म होता है।"

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रन्थ (1/94) में भी कहा गया है–

*यत् परदारार्थादिषु जन्तुषु निःस्पृहमहिंसकं चेतः।*
*दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्, तदेव शौचं परं नान्यत्।।*

**शौच-त्यागधर्मयोरन्तरं वर्तते। त्यागस्तु सन्निहितस्यैव दानम्। अथवा संयतेभ्यो योग्यज्ञानादिदानं त्याग उच्यते। लोभस्तु सन्निहिते असन्निहिते च सम्भवति। यत्रासन्निहितेऽपि परिग्रहे कर्मोदयवशाद् गृद्धिर्जायते, तत्र तन्निवृत्तिः शौचधर्मेण सम्भवति, न तु त्यागेन। अतः शौचधर्मस्य त्यागधर्मात् पृथक् निर्देशः।**

**एवमेव शौच-आकिञ्चन्ययोरपि अन्तरं ज्ञातव्यम्। आकिञ्चन्ये निर्ममत्वस्य प्राधान्यमिष्यते, तत्प्रयोजनं स्वशरीरादिषु संस्काराद्यपोहनं भवति। शौचे तु प्रकृष्टलोभनिवृत्तेः प्राधान्यमिष्टम्।**

**शौचधर्मपोषणार्थं विशेषभावना अपि शास्त्रे प्रोक्ताः। यथा भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1431-1433)* **ताः निर्दिष्टाः-**

---

"जहाँ अन्य की स्त्री या परधन आदि विषयों में मन निःस्पृह हो और वह प्राणियों के प्रति अहिंसक हो, इसे ही दुर्भेद्य आन्तरिक मल को दूर करने वाला (उत्तम) शौच धर्म कहते हैं, और इससे पृथक् कोई दूसरा शौच धर्म नहीं है।"

शौच व त्याग -इन दोनों (धर्मों) में अन्तर है। सन्निहित (विद्यमान) पदार्थ का ही दान-यह तो त्याग है। या संयमी आत्माओं को योग्य ज्ञान आदि का जो दान किया जाता है, उसे त्याग कहा जाता है। किन्तु लोभ विद्यमान व अविद्यमान- (दोनों) में हो सकता है। जहाँ अविद्यमान परिग्रह भी कर्मोदय-वश लोभ हो जाता है, वहाँ उससे निवृत्ति शौच धर्म से सम्भव होती है, त्याग से नहीं। इसलिए शौच धर्म का त्याग धर्म से पृथक् निर्देश किया गया है।

इसी प्रकार, शौच व आकिञ्चन्य -इन (दोनों धर्मों) में भी अन्तर जानना चाहिए। आकिञ्चन्य में निर्ममत्व की प्रधानता अभीष्ट है, उसका प्रयोजन अपने शरीर आदि के संस्कार आदि की अभिलाषा को दूर करना होता है। किन्तु शौच धर्म में लोभ की प्रकृष्ट निवृत्ति की प्रधानता अभीष्ट है।

शौच धर्म के पोषण हेतु विशेष भावनाओं का भी शास्त्र में कथन किया गया है। जैसे- भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1431-1433) में उनका निर्देश इस प्रकार किया गया है-

*लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स।*
*अकए वि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स।।*

*सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे।*
*अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजडेसु।।*

*इह य परत्तए लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो।*
*इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो।।*

**तथा च ज्ञानार्णवे** *(19/69, 71)* **च प्रतिपादितं दृश्यते–**

*शाकेनापीच्छया जातु न भर्तुमुदरं क्षमाः।*
*लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम्।।*

*स्वामिगुरुबन्धुवृद्धान् अबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्।*
*व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते।।*

---

"लोभ करने पर भी पुण्यहीन व्यक्ति के पास धन नहीं होता और लोभ न करने पर भी पुण्यशाली के पास धन होता है। (अर्थात् लोभ करने से धन की प्राप्ति होगी ही –ऐसा नियत नहीं है, इस कारण लोभ त्याज्य है।)"

"जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब मैंने अनन्त बार प्राप्त किये। उन ग्रहण किये गये और फिर छोड़े गए पदार्थों में मेरे लिए आश्चर्य की क्या बात है?"

"लोभ इस भव और परभव में बहुत से दोष पैदा करता है। ऐसा जानकर लोभ पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।"

इसी तरह ज्ञानार्णव (19/69, 71) में भी प्रतिपादित किया गया दृष्टिगोचर होता है–

"जो लोग यद्यपि अपनी इच्छा के अनुसार शाक (सब्जी आदि) से भी अपना पेट भरने में समर्थ नहीं हैं, वे भी लोभ-वश चक्रवर्ती की लक्ष्मी की चाह किया करते हैं।"

"लोभ से पीड़ित व्यक्ति निर्दय होकर स्वामी, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक, दुर्बल व दरिद्र आदि प्राणियों का घात करते हुए धन का ग्रहण (अर्जन) करता है।"

*ये केचित् सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः।*
*प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम्।।*

**शौचधर्मस्य मूलं शुचित्वं च द्विधा भण्यते– लौकिकः, लोकोत्तरश्च। तत्रात्मनः प्रक्षालितकर्ममलकलङ्कस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरशुचित्वम्। तत्साधनं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयम्। तद्वन्तश्च ये साधवः, तदधिष्ठानभूतानि निर्वाणभूम्यादीनि तत्प्राप्त्युपायत्वात् शुचिव्यपदेशमर्हन्ति। लौकिकं शुचित्वं च भस्म-सलिल-मृत्तिकादिभेदभिन्नम्।**

**एवं सर्वविधलोभनिवृत्तिरूपं शुचित्वं सम्यक् विज्ञाय हे भव्य मनीषिन्! उत्तमशौचधर्मं नित्यं भावयेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति शास्त्रकारा उत्तमसंयमधर्मस्य सम्यक् स्वरूपं निर्दिशन्ति–**

---

"आगम में नरक के कारणभूत जितने भी दोष कहे गए हैं, वे सब विवेकरहित स्थिति में प्राणियों के लोभ के कारण ही उत्पन्न होते हैं।"

शौच धर्म के मूल इस शुचित्व के दो भेद बताए जाते हैं– लौकिक व लोकोत्तर। इनमें कर्म-मलरूपी कलङ्क से स्वच्छ (रहित) हो चुकी आत्मा का अपनी आत्मस्वरूप में अवस्थित होना–यह लोकोत्तरशुचित्व है। उसके साधन हैं– सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय। उनसे युक्त जो साधु हैं, और उनके अधिष्ठान (निवास) रह चुके निर्वाण क्षेत्र आदि भी 'शुचि' कहे जाते हैं क्योंकि वे उक्त शुचिता को प्राप्त करने में उपायभूत हैं। लौकिक शुचि पदार्थ भस्म, जल, मिट्टी आदि अनेक प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार, सभी प्रकार के लोभ से निवृत्ति रूप शुचिता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके हे भव्य मनीषी! उत्तम शौच धर्म की नित्य भावना करो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार उत्तम संयम धर्म का सम्यक् निरूपण कर रहे हैं–

**वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण।**
**परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा।। ७६।।**

**छाया**– *व्रतसमितिपालनया दण्डत्यागेन इन्द्रियजयेन।*
*परिणमतः पुनः संयमधर्मो भवेत् नियमात्।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(पुणो)* **पुनः, शौचधर्मो निरूपितः, तस्मिन्नेव क्रमे, तदनन्तरमिति भावः।** *(दंडच्चाएण)* **दण्डत्यागेन, दण्डश्च मनोवाक्कायप्रवृत्तिरूपस्त्रिविधः। मनःप्रभृतिप्रवृत्तयो दण्डस्य हिंसादिसावद्यकार्यस्य हेतुभूताः, अतः तास्वपि 'दण्ड'-पदव्यपदेशार्हता वर्तते। तत्र दण्डत्रये रागद्वेषमोहविकल्पात्मको मानसो दण्डस्त्रिविधो भवति। अनृतोपघातपैशून्यपरुषाभिशंसन-परितापहिंसनभेदाद् वाचिकदण्डोऽपि सप्तविधः। तथैव प्रणिवध-चौर्य-मैथुन-परिग्रह-आरम्भ-ताडन-उग्रवेशविकल्पात् कायिकदण्डस्य सप्त भेदाः।**

---

( 76 )

**( गाथा-अर्थ– ) और, ( मन, वचन व काय की प्रवृत्ति रूप ) दण्ड के त्याग में, इंद्रियों पर जय प्राप्त करने तथा व्रत व समितियों के पालन में प्रवृत्त रहने वाले ( मुनि ) के नियमतः ( उत्तम ) संयम धर्म होता है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( पुनः )** और, अर्थात् शौच धर्म का कथन हुआ, उसी क्रम में, उसके बाद –यह भाव है। **( दण्डत्यागेन )** दण्ड का त्याग कर, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को 'दण्ड' कहते हैं, वह तीन प्रकार का है। मन आदि की प्रवृत्तियाँ हिंसा आदि सावद्य (सदोष) कार्य रूप दण्ड की हेतु होती हैं, इसलिए उन (प्रवृत्तियों) में भी 'दण्ड' पद वाच्य होने की योग्यता है (अर्थात् दण्ड पद से वे भी कही जाती हैं)। इन तीनों दण्डों में जो राग-द्वेष-मोह रूप जो विकल्प है, वह त्रिविध मानस दण्ड है। (इसी तरह) (1) झूठ बोलना (2) बोलकर किसी के ज्ञान का घात करना, (3) चुगली करना (4) कठोर वचन बोलना (5) अपनी प्रशंसा करना (6) संताप पैदा करने वाला वचन कहना (7) हिंसक वचन बोलना – इस तरह वाचिक दण्ड भी सात प्रकार का है। इसी तरह प्राणियों का वध करना, चोरी करना, मैथुन करना, परिग्रह रखना, आरम्भ करना, ताड़न करना और उग्रवेश (भयानक रूप) धारण करना –ये कायिकदण्ड के सात भेद हैं।

**इति सर्वविधदण्डानां परिहारेण, तथा च** *(इंदियजएण)* **इन्द्रियजयेन। अहमिन्द्रवत् स्वस्वविषयेषु प्रवर्तन्ते –इत्यतः कारणात् स्पर्शनादीनि इन्द्रियसंज्ञां लभन्ते। तेषामिन्द्रियाणां जय आवश्यकः, यतो हि तान्येव विवेकरत्नमपहृत्य दुर्गतिरूप-विनाशमार्गमुद्घाटयन्ति।**

**ज्ञानार्णवे** *(20/26)* **च प्रोक्तम्–**

*हृषीकतस्करानीकं चित्तदुर्गान्तराश्रितम्।*
*पुंसां विवेकमाणिक्यं हरत्येवानिवारितम्।।*

**तथा च तत्रैव** *(20/35, 36)* **विशदीकृतम्–**

*मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः,*
*नद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।*
*भृङ्गा गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगताः श्रोतुकामाः कुरङ्गाः,*
*कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः।।*

---

इन सब प्रकार के दण्डों का परिहार कर, तथा **( इन्द्रियजयेन )** इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके। चूँकि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में अहमिन्द्र की तरह प्रवृत्त होती हैं –इस कारण से स्पर्शनादि को इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त है। उन इन्द्रियों पर विजय पाना आवश्यक है, क्योंकि वे ही व्यक्ति के विवेकरूप रत्न का अपहरण कर उसके लिए दुर्गतिरूप विनाश का मार्ग खोल देती हैं।

ज्ञानार्णव (20/26) में कहा भी गया है– ''चित्त रूप दुर्ग के भीतर आश्रय लेने वाली इन्द्रिय रूपी चोरों की सेना प्राणियों के विवेक रूपी रत्न का बेरोक-टोक अपहरण कर लिया करती हैं।''

इसी तरह वहीं (20/35, 36) इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

''मछलियाँ (एक) रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर मृत्यु को प्राप्त होती हैं, हाथी अपने (एक) स्पर्श इन्द्रिय से बद्ध होकर 'वारिबन्ध' (हाथियों को बांधने के षड्यन्त्र) में फँस जाते हैं, पतंगा अपनी (एक) नेत्र रूपी इन्द्रिय के दोष से अग्निसात् (भस्मीभूत) हो जाता है, भ्रमर गन्ध की उत्कट इच्छा के कारण विनाश को प्राप्त होता है, तथा गीत सुनने में अनुरक्त होकर हिरण भी काल रूप सर्प के द्वारा दष्ट हो (काटे) जाते हैं। फिर भी प्राणियों को इन इन्द्रिय-विषयों में अनुराग है (यह विस्मय की बात है)।''

*एकैककरणपरवशमपि मृत्युं याति जन्तुजातमिदम्।*
*सकलाक्षविषयलोल: कथमिह कुशली जनोऽन्य: स्यात्।।*

**कुरलकाव्ये च** *(35/3)* **इन्द्रियजयाय प्रेरणा दत्ता–**

*निग्रहं कुरु पञ्चानाम् इन्द्रियाणां विकारिणाम्।*
*प्रियेषु त्यज संमोहं त्यागस्यायं शुभक्रम:।।*

**पञ्चेन्द्रियैष्वपि रसना-स्पर्शनयोर्विशेषरूपेण दुष्परिणामदायकत्वं दुर्जयत्वं च शास्त्रकारा: स्वीकुर्वन्ति। उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-990-991)*–

*जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे।*
*पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणिं।।*

*चदुरंगुला च जिब्भा असुहा चदुरंगुलो उवत्थो वि।*
*अट्ठंगुलदोसेण दु जीवो दुक्खं खु पप्पोदि।।*

---

"(उक्त प्रकार से) यह प्राणि-समूह एक-एक इन्द्रिय के अधीन होकर ही मरण को प्राप्त होता है। फिर जो अन्य प्राणी यहाँ समस्त (पाँचों) इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाएँ तो उनकी कुशलता कैसे रह सकती है?"

कुरल काव्य (35/3) में भी इन्द्रिय-जय की प्रेरणा इस प्रकार दी गई है– "अपनी पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करो और जो प्रिय पदार्थ हैं उनके प्रति मोह को छोड़ दो, यही त्याग का शुभ क्रम (तरीका) है।"

इन पाँच इन्द्रियों में भी रसना व स्पर्श –दो इन्द्रियाँ विशेष रूप से दुष्परिणाम देने वाली हैं और इन्हें जीतना भी कठिन है –ऐसा शास्त्रकारों का मानना है। मूलाचार (गाथा-990-991) में कहा गया है–

"इस अनादि संसार में इस जीव ने जिह्वा व उपस्थ इन्द्रिय के कारण अनन्त बार दु:ख पाया है। इसलिए अब इन दोनों पर विजय प्राप्त करो।"

"चार अंगुल प्रमाण तो यह अशुभ जीभ इन्द्रिय और चार ही अंगुल प्रमाण अशुभ यह उपस्थ इन्द्रिय –इन आठ अंगुलों के दोष से ही यह जीवन दु:ख प्राप्त करता रहता है।"

**कुरलकाव्येऽपि** *(13/7)* **परामर्शः प्रदत्तः–**

*अन्येषां विजयो माऽस्तु संयतां रसनां कुरु।*
*असंयता यतो जिह्वा बह्वपायैरधिष्ठिता।।*

**इन्द्रियजयविषये भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1831-1832)* **महत्त्वपूर्णपरामर्श उट्टङ्कितः–**

*इंदियदुद्दंतस्सा णिघ्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं।*
*उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया।।*

*अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति।*
*विज्जामंतोसधहीणेण व आसीविसा सप्पा।।*

**अथवा, चारित्रप्राभृते** *(गाथा-29)* **श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यवरैर्भणितम्–**

*अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य।*
*ण करेइ रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ।।*

---

कुरल काव्य (13/7) में भी इस विषय में परामर्श दिया गया है– "और किसी (इन्द्रिय) को चाहे तुम मत रोको, परन्तु अपनी जीभ पर अवश्य लगाम लगाओ, क्योंकि बेलगाम जीभ बहुत दुःख देती है।"

इन्द्रिय-जय के बारे में भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1831-1832) में भी महत्त्वपूर्ण परामर्श रेखांकित किया गया है–

"जैसे कुमार्ग पर चलने वाले दुष्ट घोड़ों को कठोर लगाम के द्वारा वश में किया जाता है, वैसे ही दमप्रधान ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय रूपी दुर्दान्त घोड़ों को वश में किया जाता है।"

"जैसे जिसके पास विद्या, मंत्र और औषध नहीं है, वह सर्पों को वश में नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिसका मन चंचल है, वह इन्द्रिय रूपी सर्पों को वश में नहीं कर सकता।"

अथवा, चारित्रप्राभृत (गाथा-29) में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है–

"पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत अमनोज्ञ पदार्थों में तथा सजीव-अजीव रूप मनोज्ञ पदार्थों में राग व द्वेष न करने से ही पाँच इन्द्रियों का संवर होता है।"

**तथा च, तत्त्वानुशासने** *(श्लोक-79)* **मनोजयोपायश्च निदर्शितः–**

*संचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।*
*जयत्येव मनः साधुः, इन्द्रियार्थपराङ्मुखः।।*

**एवमादिकारेण इन्द्रियजयेन, तथा च** *(वदसमिदिपालणाए)* **व्रत-समितिपालनया। व्रतानां समितीनां च पालनं कृत्वा –इत्यर्थः। व्रतानां स्वरूपादिकं प्रागुक्तम्। समितीनां स्वरूपं प्रस्तूयते–**

**प्राणिपीड़ापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः –इति व्यवहारदृशा स्वरूपम्। निश्चयदृशा तु स्वरूपे सम्यक्परिणतिः समितिः, यद्वा अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मिणमात्मानं प्रति या समीचीना इतिः परिणतिः सा समितिः, अथवा निजपरमात्मतत्त्वनिरतसहजपरमबोधादिपरमधर्माणां संहतिः समितिः, अथवा अनन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीन-तच्चिन्तन-तन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समितिः।**

---

और तत्त्वानुशासन (श्लोक-79) में भी मनोजय का उपाय इस प्रकार बताया गया है–

''जो साधु भली प्रकार से अनुप्रेक्षाओं का सदा चिन्तन करता रहता है, स्वाध्याय में उद्यमी रहता है और इन्द्रिय-विषयों से प्राय: विमुख रहता है, वह अवश्य ही मन को जीतता है।''

इस तरह इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके, और **( व्रत-समिति-पालनया )** अर्थात् व्रतों व समितियों का पालन करके। व्रतों का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। समितियों का स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है –

प्राणि-पीड़ा के परिहार हेतु अच्छी तरह से गमन 'समिति' है –यह व्यवहार दृष्टि से समिति का स्वरूप है। निश्चय दृष्टि से तो निजस्वरूप में सम्यक्त्व परिणति करना समिति है या अभेद-अनुपचार रत्नत्रय मार्ग से परमधर्मी ऐसे निज आत्मा के प्रति जो समीचीन 'इति' (गति) अर्थात् परिणति है, वह समिति है, या निज परमतत्त्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक परमधर्मों की संहति (मिलन, युगपत् स्थिति) है, वह समिति है। अथवा अनन्त ज्ञानादिस्वभाव वाले निज आत्मा में सम्यक्तया अर्थात् समस्त राग आदि विभावों के त्याग द्वारा लीन होना, उसका चिन्तन करना, उसमें तन्मय होना आदि रूप से जो अयन, गमन या परिणमन है, वह समिति है।

**तस्याः समितेः पञ्च भेदाः– ईर्यासमितिः, भाषासमितिः, एषणासमितिः, आदाननिक्षेपण-समितिः, प्रतिष्ठापनसमितिश्च। तत्र प्रथममीर्यासमितिर्निरूप्यते।**

**तस्याः सामान्यस्वरूपं मूलाचारे** *(गाथा-11)* **निरूपितम्–**

*फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण।*
*जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं।।*

**तथा च, तत्रैव** *(गाथा-302-303)* **विशदीकृतमेतत्–**

*मग्गुज्जोवुवओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।*
*सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि।।*

*इरियावहपडिवण्णेणवलोगंतेण होदि गंतव्वं।*
*पुरदो जुगप्पमाणं सयापमत्तेण संतेण।।*

---

उस समिति के पाँच भेद हैं– ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण- समिति और प्रतिष्ठापनसमिति। इनमें प्रथम ईर्यासमिति का निरूपण कर रहे हैं।

उसका सामान्य स्वरूप मूलाचार (गाथा-11) में इस प्रकार बताया गया है–

''प्रयोजन वश चार हाथ आगे की जमीन को देखने वाले साधु द्वारा दिन (के उजाले) में प्रासुक मार्ग से जीवों का परिहार (उनका बचाव) करते हुए जो गमन किया जाता है, वह ईर्यासमिति (कहलाती) है।''

और वहीं (गाथा-302-303) में इसे स्पष्ट किया गया है–

''मार्ग में प्रकाश, उपयोग और अवलम्बन की शुद्धि से गमन करते हुए मुनि के (प्रायश्चित्त आदि) सूत्र के अनुसार आगम में ईर्या समिति कही गई है''

''ईर्यापथपूर्वक हमेशा प्रमादरहित होते हुए चार हाथ प्रमाण भूमि को सामने देखते हुए चलना चाहिए।''

**श्रीमद्भिरकलङ्काचार्यैस्तु राजवार्तिके** *(9/5/3)* **ईर्यासमितिस्वरूपं निरूपयद्भिः स्वल्पेष्वेव शब्देषु महानर्थः प्रकटीकृतः–** *"विदितजीवस्थानादिविधेः मुनेः धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितरि उदिते चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्ये उपजाते मनुष्यादिचरणपातोपहत-अवश्यायप्रायमार्गे, अनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य सङ्कुचितावयवस्य युगमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितदृष्टेः पृथिव्यादिआरम्भाभावात् ईर्यासमितिः इत्याख्यायते"।*

**तथा च तत्रैव** *(9/6/16)* **ईर्यापथशुद्धिस्वरूपं निरूपितम्–** *"ईर्यापथशुद्धिर्नानाविधजीवस्थान-योन्याश्रय-अवबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञान-आदित्य-स्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलम्बितसम्भ्रान्तविस्मित-लीलाविकारदिगन्तर-अवलोकनादिदोषविरहितगमना"।*

**ईर्यासमितिः श्रमणेन कया रीत्या पालनीयेति विषये किञ्चिद् ज्ञातव्यविशेषं निरूप्यते– स्वावासदेशात् बहिर्निर्गन्तुमिच्छता श्रमणेन शीतलादुष्णाद् वा देशात् शरीरप्रमार्जनं कार्यम्, तथा विशताऽपि।**

---

श्रीमान् आचार्य अकलङ्कदेव ने राजवार्तिक (9/5/3) में ईर्यासमिति का स्वरूप बताते हुए थोड़े-से शब्दों में महान् अर्थ इस प्रकार प्रकट किया है– "जीवस्थान आदि जीव-भेदों को जानने वाले और धर्माचरण हेतु प्रयत्नशील मुनि द्वारा, जब सूर्योदय हो जाय, आँख इन्द्रिय अपने विषय को देखने में समर्थ हो जाय और मनुष्यों के आवागमन प्रारम्भ होने से मार्ग में धुंध छँट जाय, तब अनन्यमन (सावधान) होकर, शरीर-संकोच करते हुए धीरे-धीरे चार हाथ जमीन आगे देखकर चलना ताकि पृथिवी आदि (जीवों) का आरम्भ नहीं हो, इसे ईर्यासमिति कहा जाता है।"

और, वहीं (9/6/16) ईर्यापथशुद्धि का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है– "अनेक प्रकार के जीवस्थान, जीवयोनि, जीवाश्रय आदि के विशिष्ट ज्ञान के साथ प्रयत्नपूर्वक जन्तु-पीड़ा का बचाव किया जाता है, जिसमें ज्ञान से, सूर्यप्रकाश व इन्द्रियप्रकाश (की सहायता) से अच्छी तरह गमन किया जाता है तथा जो शीघ्र, विलम्बित, सम्भ्रान्त, विस्मित, लीला-विकार और अन्य दिशाओं की ओर निहारना आदि गमनसम्बन्धी दोषों से रहित गति वाली है (वह ईर्यापथशुद्धि है)।"

ईर्यासमिति का श्रमण किस प्रकार पालन करे –इस विषय में कुछ विशेष ज्ञातव्य है जिसे यहाँ बताया जा रहा है– यदि श्रमण अपने रहने के स्थान से बाहर जाना चाहता है, वह स्थान शीतल हो या गर्म हो, शरीर का प्रमार्जन करके उसे जाना चाहिए। इसी प्रकार प्रवेश करते हुए भी प्रमार्जन करना चाहिए।

**एतत्प्रयोजनं च शीतोष्णजन्तूनामाबाधापरिहार:। अथवा श्वेतरक्तगुणासु भूमिषु अन्यस्या: निष्क्रमेण अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदेशादध: कार्यम्। अन्यथा विरुद्धयोनिसंक्रमेण पृथिवीकायिकानां तद्भूमिभागोत्पन्नानां त्रसाणां च बाधा स्यात्। तथा जलं प्रविशता सचित्ताचित्तरजसो: पदादिषु लग्नयो: निरास: कार्य:। यावच्च पादौ शुष्यत:, तावन्न गच्छेत्, जलान्तिके एव तिष्ठेत्।**

**महतीनां नदीनां समुत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवन्दनो यावत्परकूलप्राप्ति: तावन्मया सर्वं शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तम् इति गृहीतप्रत्याख्यान:, समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत्, तदतिचारव्यपोहार्थम्। एवमिव महत: कान्तारस्य प्रवेशनिष्क्रमणयोरपि कार्यम्।**

**अन्यच्च, मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो भवेत् यदि निरन्तरसुसमाहितफलादिकं वाग्रतो भवेत्, यद्वा मार्गान्तरं प्रविशेत्, यद्वा भिन्नवर्णां भूमिं प्रविशेत्, तदा तद्वर्णभूभाग एव अङ्गप्रमार्जनं**

---

इस प्रमार्जन का प्रयोजन यह होता है ताकि शीतकाय व उष्णकाय के जीवों को बाधा न हो। अथवा, सफेद, लाल या काले गुण वाली भूमियों में किसी एक तरह की भूमि से निकलकर दूसरी भूमि में प्रवेश करना हो तो कमर से नीचे प्रमार्जन करना चाहिए, अन्यथा विरुद्ध योनि के संक्रम से पृथिवीकायिक जीवों को और उस भूमि में उत्पन्न हुए त्रसों को बाधा (पीड़ा) होती है। इसी प्रकार, जल में प्रवेश करते समय, पैर आदि में लगी सचित्त या अचित्त धूल को हटा देना चाहिए। जब तक पैर न सूखें, तब तक जल से निकल कर जल के पास ही ठहरना चाहिए, वहाँ से जाना नहीं चाहिए।

यदि बड़ी नदी को पार करना हो तो इस ओर सिद्धों की वन्दना करें और 'जब तक मैं नदी के पार न पहुँचूँ, तब तक के लिए मेरे लिए शरीर, भोजन व उपकरण इन सभी का त्याग है' इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करे और चित्त को समाहित करके नौका आदि में चढ़े। तथा दूसरे तट पर पहुँच कर कायोत्सर्ग करे इसलिए, ताकि नदी पार करने में लगे दोष की शुद्धि हो। इसी प्रकार किसी महान् वन में प्रवेश करने और वहाँ से निकलने पर करना चाहिए।

और, मृदु पीछी से शरीर की प्रतिलेखना करके गमन करे, यदि मार्ग में आगे निरन्तर इधर-उधर फलादि पड़े हों या मार्ग बदलना हो या भिन्न वर्ण वाली भूमि में प्रवेश करना हो तो उस वर्ण वाले भूभाग में

**कार्यम्। मन्दालोके गमनादिकम्, पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनम्, अन्यमनस्कतया असावधानतया वा गमनादिकम् –इत्यादिकाः ईर्यासमितेरतिचारा भवन्ति।**

**अथ भाषासमितिर्निरूप्यते। स्वपरहित-मित-असंदिग्धवचनाभिधानं भाषासमितिः। हितं चात्र मोक्षपदप्रापणप्रधानफलम्। मितं चानर्थकप्रलपनरहितम्। स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं च असंदिग्धम्। विस्तरेण स्वरूपं चास्याः– मिथ्याभिधान-असूया-प्रियसंभेद-अल्पसार-शङ्कित-सम्भ्रान्त-कषायपरिहासयुक्त-असभ्य-निष्ठुर-धर्मविरोधि-देश-कालविरोधि-अतिसंस्तवादिवाग्दोषरहितं वाक्शुद्धियुक्तं वा वचनं भाषासमितिः।**

**ज्ञानार्णवे** *(18/8)* **च प्रोक्तम्–**

*धूर्तकामुकक्रव्यादचौरचार्वाकसेविता ।*
*शंकासंकेतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभिः।।*

---

ही अपनी पीछी से अपने शरीर को साफ करना चाहिए। मन्द प्रकाश में गमन आदि करना, जहाँ पाँव रखना हो उस जगह को नेत्र से अच्छी तरह न देखना, अन्य कार्य में मन लगाना या असावधानी के साथ गमनादि करना –ये ईर्यासमिति के अतिचार हैं।

अब, भाषासमिति का निरूपण कर रहे हैं। स्वपरहितकारी, मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषासमिति होती है। यहाँ हित से तात्पर्य है– मोक्ष पद तक पहुँचाना –यह मुख्य फल जिसका हो– ऐसा वचन। मित यानी निरर्थक बकवास से रहित वचन। जिसका अर्थ स्पष्ट हो और जिसके अक्षर का उच्चारण भी स्पष्ट हो– वह असंदिग्ध वचन होता है। इसका विस्तार से स्वरूप इस प्रकार है– मिथ्याभाषण, और जो असूया प्रेरित हो, प्रिय व्यक्तियों में फूट डालने वाला हो, जिसमें सार की बात कम हो, शंकायुक्त हो, संभ्रान्त ( भ्रम-उत्पादक ) हो, कषाय व हास्य से युक्त हो, असभ्यता प्रकट करता हो, निष्ठुर हो, धर्मविरोधी हो, देश व काल से विरोधी हो, या दूसरे की अत्यधिक चापलूसी जिसमें की गई हो – इन वाणी-दोषों से रहित या वाक्शुद्धियुक्त वचनों का बोलना भाषासमिति होती है।

ज्ञानार्णव ( 18/8 ) में भी कहा गया है– ''धूर्त ( मायावी ), कामी, मांसभक्षी, चोर, नास्तिक बुद्धि वाले चार्वाक आदि द्वारा बोली जाने वाली भाषा तथा सन्देह उपजाने वाली एवं पापयुक्त भाषा बुद्धिमानों को त्यागनी चाहिए।''

**भाषासमितौ वाक्शुद्धिप्रधानता समपेक्षिता वर्तते। वाक्शुद्धेश्च लक्षणं मूलाचारे** *(गाथा-855-856, 859-863)* **निरूपितमस्ति–**

*भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं।*
*पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा।।*

*अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइं सुणमाणा।*
*अत्थंति मूयभूया ण ते करेंति हु लोइयकहाओ।।*

*विकहाविसोत्तियाणं खणमवि हिदएण ते ण चिंतंति।*
*धम्मे लद्धमदीआ विकहा तिविहेण वज्जंति।।*

*कुक्कुयकंदप्पाइय हासं उल्लावणं च खेडं च।*
*मददप्पहत्थवणिं ण करेंति मुणी ण कारेंति।।*

---

भाषासमिति में वाक्शुद्धि की प्रधानता अपेक्षित होती है। वाक्शुद्धि का लक्षण मूलाचार (गाथा-855-856, 859-863) में इस प्रकार निरूपित किया गया है–

"वे सत्यपुरुष (मुनि) विनयरहित कठोर भाषा का तथा धर्मविरुद्ध वचनों का त्याग करते हैं और अन्य भी जो वाक्य विरोधजनक हों, उन्हें भी वे नहीं बोलते।"

"वे नेत्रों से सब योग्य-अयोग्य घटना होते देखते हैं और कानों से सब तरह के शब्द सुनते हैं, परन्तु वे तो गूँगे के समान बने रहते हैं, लौकिक कथा तो करते ही नहीं।"

"विकथा (स्त्रीकथा आदि) और मिथ्याशास्त्र –इनका तो वे मुनि मन से भी चिन्तन नहीं करते। धर्म में स्थिर बुद्धि वाले वे मुनि मन, वचन व शरीर से विकथा का त्याग करते हैं।"

"हृदय, कंठ से अप्रकट शब्द करना, कामोत्पादक हास्यमिश्रित वचन, हास्य वचन, चतुराई भरे मीठे वचन, दूसरे को ठगने वाले वचन, मद या गर्व के कारण हाथ से ताड़ना करना– इनका प्रयोग वे न तो स्वयं करते हैं और न ही कराते हैं।"

*ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी।*
*णियमेसु दढव्वदिणो पारत्तविमग्गया समणा।।*

*जिणवयणभासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं।*
*समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कधं करेंति।।*

*सत्ताधिय सप्पुरिसा मग्गं मण्णंति वीदरागाणं।*
*अणयार भावणाए भावेंति य णिच्चमप्पाणं।।*

**इदं वचनं मत्कृते उपयुक्तं न वेति अविचार्य भाषणम्, वस्तुस्वरूपज्ञानाभावेऽपि तद्विषये वचनम्, केनचित् नैव पृष्टोऽपि यदि ब्रूयात् –इत्यादिका भाषासमितेरतिचारा बोध्याः। सम्प्रति एषणासमितिर्निरूप्यते। उद्गमादिषट्चत्वारिंशद्दोषान् परिवर्ज्य, असातोदय-जातबुभुक्षाप्रतीकाराय शीतोष्णसरसविरसस्निग्धरूक्षादिषु समताभावेन, नवकोटीशुद्धमर्थात् मनोवचनकाय-कृतकारितानुमतिशुद्धं यत् पिण्डग्रहणं विधीयते, तस्य श्रमणस्य एषणासमितिः भवति।**

---

"वे निर्विकार, उद्धत चेष्टा से रहित, विचारयुक्त, समुद्र के समान निश्चल, गम्भीर, छः आवश्यक आदि नियमों से दृढ़ प्रतिज्ञा वाले और परलोक के लिए उद्यम वाले होते हैं।"

"वीतराग के आगम द्वारा कथित अर्थ वाली, पथ्यकारी, हितकारी, धर्मानुकूल, आगमानुकूल उपचार(विनय) से युक्त एवं परलोक के लिए हितकारी –ऐसी कथाएँ वे करते हैं।"

"वे शक्तिशाली साधु वीतराग देवों के बताये मार्ग को स्वीकार करते हैं और अनगार भावना के द्वारा नित्य ही आत्मा की भावना करते रहते हैं।"

यह वचन बोलना मेरे लिए उपयुक्त होगा कि नहीं –इसका विचार नहीं करते हुए बोलना, वस्तुस्थिति या वास्तविक ज्ञान के न होने पर भी उस विषय में बोलना, किसी के द्वारा पूछे बिना भी बोलना –इत्यादि भाषासमिति के अतिचार जानने चाहिए। अब एषणा समिति का निरूपण किया जा रहा है। जिस श्रमण द्वारा उद्गम आदि छियालीस दोषों का त्याग कर, असातावेदनीय कर्म से उत्पन्न भूख के प्रतीकार हेतु शीत-उष्ण, सरस-नीरस व स्निग्ध-रूक्ष आदि (द्रव्यों) में समता भाव रखते हुए, नव कोटी से शुद्ध अर्थात् मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमति से शुद्ध जो आहार ग्रहण किया जाता है, उस श्रमण के एषणा समिति होती है।

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-13)*–

*छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी।*
*सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणासमिदी।।*

**उद्गमादिभिक्षादोषाणां विषये विस्तरेण मूलाचारे ( षष्ठाधिकारे ) तथा अन्यग्रन्थेषु द्रष्टव्यम्।**

**एषणासमितिपालनतत्परः श्रमणः जठराग्निदाहोपशान्त्यै औषधिमिव अन्नादि भिक्षाचर्यया गृह्णाति, न तु तत्र रसास्वाद-अभिलाषस्तस्य भवति। किंच, यथा कोऽपि शाकटिकः ( शकटवाहको वा ) बहुमूल्यद्रव्यपूर्णं शकटं नगरान्तरं नेतुमिच्छति, तदा स मार्गे शकटाक्षप्रक्षणाय यथोचितमात्रं स्निग्धतैलादिकमक्षचक्रके पातयति, येन निर्बाधतयाऽनवरोधतया वा शकटं स्वाभीष्टस्थानं प्राप्नोति, तथैव श्रमणः रत्नत्रयपरिपूर्णशरीरशकटं समाधिनगरं प्रापयितुं, तच्छरीरपोषणाय यथोचितमात्रमाहारं गृह्णाति –इति राजवार्तिके** *(9/5/6, 9/6/16)* **विशदीकृतम्।**

---

मूलाचार (गाथा-13) में कहा भी गया है–

''छियालीस दोषों से रहित शुद्ध, सकारण, नवकोटी से विशुद्ध और शीत आदि में समान भाव से भोजन करना –यह सम्पूर्णतया निर्दोष एषणा समिति है।''

उद्गम आदि दोषों के बारे में विस्तार से जानने के लिए मूलाचार (छठे अधिकार) तथा अन्य ग्रन्थों को देखना चाहिए।

एषणा समिति के पालन में तत्पर श्रमण पेट की आग को बुझाने के लिए औषधि की तरह अन्न आदि को भिक्षाचर्या द्वारा ग्रहण करता है, रस-आस्वादन की अभिलाषा उस श्रमण की (भोजन में) नहीं रहती। दूसरी बात, जैसे कोई गाड़ीवान्, अपनी बहुमूल्य पदार्थों से भरी हुई गाड़ी (बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी) को लेकर अन्य नगर को जाना चाहता है, तो वह मार्ग में गाड़ी की धुरी (चक्कों के मध्य भाग) को चिकना करने की दृष्टि से यथोचित मात्रा में गाड़ी के चक्के में चिकना तेल आदि डालता है, ताकि किसी बाधा या रुकावट के बिना वह गाड़ी अपने अभीष्ट स्थान तक पहुँच जाए, उसी तरह, श्रमण भी अपने रत्नत्रय से पूर्ण शरीर रूपी गाड़ी को समाधिरूपी नगर तक पहुँचाने के उद्देश्य से, उस शरीर के पोषण हेतु यथोचित मात्रा में आहार ग्रहण करता है –यह राजवार्तिक (9/5/6, 9/6/16) में स्पष्ट किया गया है।

**तस्य भिक्षाचर्या गोचारसंज्ञां दधाति। गौरिव चारः गोचारः। यथा सालङ्कारयुवतिभि-रुपनीयमानघासो गौर्न तदङ्गगतसौन्दर्यनिरीक्षणपरा भूत्वा तृणमेवात्ति, तथैव भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनरूपवेषसौन्दर्यादिअवलोकननिरुत्सक एव, रूक्ष-स्निग्ध-सरसनीरसादि-द्रव्यविशेषं चानवेक्षमाण एव यथाप्राप्तं संयमसाधनशरीरं मोक्षयात्रायां सहायकं भवेदित्येतावत्प्रयोज-मात्रसिद्ध्यर्थमाहारं गृह्णाति –इति च राजवार्तिके** *(9/6/16)* **निरूपितं वर्तते।**

**उद्गमादिदोषयुक्ताहारग्रहणम्, तदाहारस्य मनसा, वचसा कायेन च प्रशंसनम्, तादृशैः प्रशंसकैः सह वासः, तद्दोषयुक्ताहारप्रशंसने अन्यजनप्रवर्तनं चेत्यादिका एषणासमितेरतिचाराः सन्ति। श्रमण एतानतीचारान् वर्जयति।**

**सम्प्रति आदाननिक्षेपणसमितिस्वरूपं प्रस्तूयते। धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमृज्य प्रवर्तनम् –आदाननिक्षेपणसमितिः।**

---

उस (श्रमण) की भिक्षाचर्या का 'गोचार' (या गोचरी) नाम है। गौ की तरह चर्या करना –यह गोचार (गोचरी) है। जैसे– कोई गाय गहनों से सजी हुई किसी सुन्दर युवती के द्वारा दी जा रही घास को खाते समय घास को ही देखती है, घास देने वाली के अंग-सौन्दर्य आदि को नहीं, इसी तरह भिक्षु भी भिक्षा देनेवाले व्यक्ति के रूप, वेष व सजावट आदि को देखने की उत्सुकता नहीं रखता, और आहार रूखा है या स्निग्ध है, सरस है या नीरस –इत्यादि पर उसकी दृष्टि नहीं रहती, और ऐसा करते हुए ही, उसे जैसा भी आहार प्राप्त होता है, उस आहार को इस एकमात्र प्रयोजन के लिए ग्रहण करता है कि संयम में साधनभूत शरीर मोक्षयात्रा में सहायक बना रहे –यह राजवार्तिक (9/6/16) में प्रतिपादित किया गया है।

उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार का ग्रहण, उस आहार की मन-वचन-शरीर से प्रशंसा करना, उन प्रशंसकों के साथ रहना, उस दोषयुक्त आहार की प्रशंसा में दूसरे को प्रवृत्त (प्रेरित) करना –ये सब (क्रियाएँ) एषणा समिति के अतिचार होते हैं। श्रमण इन अतिचारों का त्याग करता है।

अब आदाननिक्षेपण समिति का स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है। जो धर्म-अविरोधी हों और दूसरों के लिए उपरोधक नहीं हों, और जो ज्ञान व संयम के साधक हों –ऐसे उपकरणों को देखकर और शोध (प्रमार्जित) कर रखना या उठाना –आदाननिक्षेपण समिति है।

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-14)*–

*णाणुवहि संजमुवहिं सउच्चुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।*
*पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा।।*

**अन्यच्च, तत्रैव** *(गाथा-319-320)* **विशदीकृतम्**–

*आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो।*
*दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू।।*

*सहसाणाभोइयदुप्पमज्जिद अप्पच्चुवेक्खणा दोसा।*
*परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवा।।*

**अत्रेदं विज्ञेयम्– व्यापारान्तरं प्रत्युद्गतमनसा सहसा शीघ्रमेव वस्तुन आदानादिकं 'सहसा'-दोषः। अनालोकनम्, स्वस्थचित्तवृत्त्या अवलोकनं नैव विधाय वस्तुन आदानादिकम्, अथवा द्रव्यं द्रव्यस्थानं वाऽनवलोक्य तदादानादिकं यत्तद् अनाभोगितदोषयुक्तम्।**

---

मूलाचार (गाथा-14) में कहा भी गया है–

''ज्ञान का उपकरण, संयम का उपकरण, शौच का उपकरण अथवा अन्य भी उपकरण हो, उन्हें प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना –यह आदाननिक्षेपण समिति है।''

और, वहीं (गाथा-319-320) इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

''संयमलब्धि से सहित वह भिक्षु ग्रहण करते और रखते समय वस्तु को और उसके स्थान को आँख से देख-भालकर पुनः पिच्छी से परिमार्जित करे।''

''सहसा, अनाभोगित, दुष्प्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षित दोषों को छोड़ते हुए मुनि के आदाननिक्षेपण समिति होती है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है– अन्य किसी काम में मन लगा हुआ हो, तब सहसा, शीघ्र ही किसी वस्तु को उठाना (व रखना) आदि –यह 'सहसा' –दोष है। स्वस्थ चित्त के साथ अवलोकन न करके किसी वस्तु को रखना आदि, अथवा (कमण्डलु आदि) द्रव्य को या उसके स्थान को बिना देखे-भाले ही उठाना आदि –यह अनाभोगित दोषयुक्त क्रिया है।

**पिच्छिकयाऽपि असम्यक्तया, यथा तथा वा दुष्प्रमार्जनं दुष्प्रमार्जितदोषयुक्तम्। किञ्चित्संस्थाप्य पुनः कालान्तरेण ( अनियतसमये व्यतीते ) तत्प्रतिलेखनं यत्तद् अप्रत्यवेक्षितदोषयुक्तं भवतीति। आदातव्यस्य स्थाप्यस्य वा अनालोचनम्, किमत्र जन्तवः सन्ति, न सन्ति वेति दुष्प्रमार्जनम् —इत्यादिकाः आदाननिक्षेपण-समितेरतीचाराः सन्ति।**

**सम्प्रति प्रतिष्ठापनसमितिं निरूपयामः। स्थावराणां जङ्गमानां च अविरोधेन निर्जन्तुके वा स्थाने अङ्गमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनम् —प्रतिष्ठापनासमितिः। अस्या एवापरं नाम उत्सर्गसमितिः।**

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-15)*—

*एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे।*
*उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी।।*

---

पिच्छिका से ठीक ठीक परिमार्जन न करके जैसे-तैसे कर देना —यह दुष्प्रमार्जित दोषयुक्त क्रिया है। कुछेक वस्तु को कहीं पर रखकर, पुनः कभी बाद में (अनियत काल व्यतीत होने पर) उनका अवलोकन-प्रतिलेखन (सार-संभाल) —यह अप्रत्यवेक्षितदोषयुक्त क्रिया है। जो वस्तु लेनी है या रखनी है, उसे लेते या रखते समय, इसमें जीव हैं या नहीं —इसका ध्यान नहीं करना तथा अच्छी तरह जमीन या वस्तु को स्वच्छ न करना —इत्यादि आदाननिक्षेपण समिति के अतिचार होते हैं।

अब प्रतिष्ठापना समिति का निरूपण कर रहे हैं। स्थावर या जङ्गम जीवों की विराधना न करते हुए या निर्जन्तुक स्थान में शरीर-मल (मल-मूत्र आदि) का विसर्जन करना और शरीर का रखना- यह प्रतिष्ठापन समिति है। इसी का दूसरा नाम उत्सर्ग समिति है।

मूलाचार (गाथा-15) में कहा गया है-

''एकान्त, जीव-जन्तु रहित, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोधरहित स्थान में मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है।''

**अन्यच्च, तत्रैव** *(गाथा-321-325)* **विशदीकृतमेतत्–**

*वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुप्परोधवित्थिण्णे।*
*अवगदजंतुविवित्ते उच्चारादी विसज्जेज्जो।।*

*उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयादियं दव्वं।*
*अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो।।*

*रादो तु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे।*
*आसंकविसुद्धीए अवहत्थगफासणं कुज्जा।।*

*जदि तं हवे असुद्ध विदियं तदियं अणुण्णए साहू।*
*लहुए अणिच्छयारे ण देज्ज साधम्मिए गुरुए।।*

*परिठवणासमिदी वि य तेणेव कमेण वण्णिदा होदि।*
*वोसरणिज्जं दव्वं तु थंडिले वोसरंतस्स।।*

---

और, इसी तथ्य को वहीं (गाथा-321-325) आगे स्पष्ट किया गया है–

''दावानल से, हल से या अग्नि आदि से जले हुए बंजर स्थान, विरोधरहित (हिंसा की सम्भावना से रहित), विस्तीर्ण, जन्तुहीन और निर्जन स्थान में मलमूत्र आदि का विसर्जन करें।''

''मल, मूत्र, कफ, नाक का मल आदि वस्तु को अचित्त भूमि-प्रदेश में देख-शोधकर विसर्जित करे।''

''रात में बुद्धिमान् मुनि के द्वारा देखकर बताये गए स्थान में परिमार्जन करके जीवों की आशंका दूर करने हेतु बाएँ हाथ से स्पर्श (ग्रहण) करे, पुन: मल-मूत्रादि का विसर्जन करे।''

''यदि वह स्थान अशुद्ध है तो साधु किसी दूसरे या तीसरे स्थान की अनुमति देवें। यदि जल्दी में किसी की इच्छा के बिना अशुद्ध स्थान में मुनि को मलादि त्याग करना पड़ जाए तो उस धर्मात्मा मुनि को (आचार्य) बड़ा प्रायश्चित्त नहीं देवे।''

''त्याग करने योग्य मलादि को अचित्त स्थान में त्याग करते हुए मुनि के उसी क्रम से (अर्थात् पाँचवीं) प्रतिष्ठापन समिति कही जाती है।''

**प्रतिष्ठापनसमितिपालनतत्परः श्रमणो नखरोमसिङ्घाणक-निष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्त्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जन्तूपरोधमन्तरेण प्रयतते। काय-भूम्योरशोधनम् मलसंपातदेशस्य सम्यक्तया अनवलोकनम् -इत्यादिकाः प्रतिष्ठापना-समितेरतीचाराः।**

**इत्यादिप्रकारेण** *(परिणममाणस्स)* **व्रतसमितिपालनदण्डत्याग-इन्द्रियजयादिषु परिणतस्य उपयोगयुक्तस्य श्रमणस्य,** *(णियमा)* **नियमतः, स्वतः निस्सन्देहेन वा,** *(संजमधम्मो हवे)* **संयमधर्मः, उत्तमसंयमधर्मोऽनुष्ठितो भवति -इति।**

**उपर्युक्तसंयमधर्मस्वरूपानुसारमेव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-399)* **भणितमास्ते-**

*जो जीवरक्खणपरो गमणागमणादि-सव्वकज्जेसु।*
*तणछेदं पि ण इच्छदि संजमधम्मो हवे तस्स।।*

प्रतिष्ठापन समिति की पालना में तत्पर श्रमण देश व काल को जानकर (अर्थात् तदनुरूप) नख, रोम, नाक का मल, थूक, वीर्य, मल, मूत्र या देह के परित्याग में जन्तुओं को कोई पीड़ा न हो -इसका ध्यान रखते हुए यत्नशील रहता है। शरीर व भूमि-प्रदेश का शोधन न करना, मलमूत्रादिक जहाँ क्षेपण करना हो, उस स्थान का सही तरह देख-भाल नहीं करना -इत्यादि प्रतिष्ठापना समिति के अतिचार हैं।

इत्यादि (उपर्युक्त) प्रकार से **( परिणमतः )** व्रत व समितियों के पालन, दण्ड (हिंसा) के त्याग एवं इन्द्रियों पर विजय में परिणत होने वाले अर्थात् उपयोगयुक्त श्रमण के **( नियमात् )** नियम से, स्वतः या निस्सन्देह रूप से, **( संयमधर्मः भवेत् )** संयम धर्म यानी उत्तम संयमधर्म आचरित होता है।

उपर्युक्त संयम धर्म के (वर्णित) स्वरूप के अनुरूप ही स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-399) में कहा गया है-

"जीवों की रक्षा में तत्पर जो मुनि गमन-आगमन आदि सभी कार्यों में तृण तक का भी छेद नहीं करना चाहता, उस मुनि के संयम धर्म होता है।"

**अत्रायं विशेषः– संयमो द्विविधः– उपेक्षासंयमः, अपहृतसंयमश्च। एतयोरेव क्रमेण सरागचारित्रम्, वीतरागचारित्रं चेति नामानौ वर्तेते। तत्रोपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलुप्रभृति-उपकरणानि भवन्ति, ते एकान्ततो निःस्पृहाः, अतो बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः। किञ्च, अपहृतसंयमस्यैव इन्द्रियसंयमः, प्राणिसंयमश्चेति द्वौ भेदौ। एकेन्द्रियादिप्राणिपीड़ापरिहारः प्राणिसंयमः, तथा शब्दादिषु इन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्गः इन्द्रियसंयमः।**

**प्राकृतपञ्चसंग्रहे** *(1/128)* **संयमस्वरूपं साररूपेण निरूपितम्–**

*सगवण्णजीवहिंसा अट्ठावीसिंदियस्स दोसा य।*
*तेहिंतो जो विरओ भावो सो संजमो भणिओ।।*

**संयमपालने विशेषभावनाऽपि उपयोगिनी, यथा– संयम-महत्त्वस्य असंयमदुष्परिणामस्य चानुचिन्तनं संयमभावं द्रढयति, पोषयति वा।**

---

यहाँ कुछ विशेष बताया जा रहा है– संयम के दो भेद हैं– उपेक्षासंयम और अपहृत संयम। इन्हीं के क्रमशः सरागचारित्र व वीतरागचारित्र –ये दो नाम हैं। इनमें जो उपेक्षासंयम वाले हैं, उनके पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरण नहीं होते, वे तो एकान्त रूप से निःस्पृह होते हैं, इसलिए बाह्य उपकरणों से मुक्त होते हैं। और, अपहृतसंयम के ही दो भेद हैं– इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम। एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की पीड़ा का परिहार (त्याग) प्राणिसंयम है और शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में राग का न होना –यह इन्द्रियसंयम है।

प्राकृत पञ्चसंग्रह (1/128) में संयम के स्वरूप को साररूप में इस प्रकार बताया गया है– ''सत्तावन प्रकार के जीवों की हिंसा और अट्ठाईस प्रकार के इन्द्रिय-विषय से सम्बन्धित दोष –इन सबसे विरति भाव का होना संयम कहलाता है।'' *[पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर, मन के विषय – ये सब कुल मिलाकर इन्द्रियविषयों के अट्ठाईस दोष-विषय हैं। इसी तरह स्थावर जीवों के 14 भेद, त्रसों के 5 भेद, कुल मिलाकर 19 भेद, इनमें प्रत्येक के तीन भेद– पर्याप्त, निवृत्त्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त –होने से 57 जीव-भेद होते हैं।]*

संयम के पालन में विशेष भावना भी उपयोगिनी होती है, जैसे संयम के महत्त्व का या असंयम के दुष्परिणाम का अनुचिन्तन करने से संयम भाव में दृढ़ता आती है या उसका पोषण होता है।

**पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(1/97)* **च भावनैषा निरूपिता–**

*मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयः,*
*तेष्वेवाप्तवचःश्रुतिः स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।*
*प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते,*
*स्वर्मोक्षैकफलप्रदे, स च कथं न श्लाघ्यते संयमः।।*

**एवं संयमस्य महनीयतामुपादेयतां च विज्ञाय, असंयमस्य च गर्हणीयतां च समवबोध्य हे विरक्त मनीषिन्! संयमधर्मसाधनाय निरन्तरं प्रयतस्वेति गाथासारः।**

**सम्प्रति उत्तमतपोधर्मस्य स्वरूपं शास्त्रकारा निर्दिशन्ति–**

**विसयकसायविणिग्गहभावं कादूण झाणसज्झाए।**
**जो भावदि अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।। ७७।।**

***छाया–*** *विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानस्वाध्यायाभ्याम्।*
*यो भावयति आत्मानं तस्य तपो भवति नियमेन।।*

---

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (1/97) में यह भावना निरूपित भी हुई है– "इस संसारी प्राणी को मनुष्यत्व, उत्तम जाति आदि, जिनवाणी-श्रवण, लम्बी आयु, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान –ये सब उत्तरोत्तर अधिकाधिक दुर्लभ हैं। ये सब भी, यदि संयम न हो तो स्वर्ग या मोक्ष रूप अद्वितीय फल को नहीं दे सकते, इसलिए संयम को कैसे प्रशंसनीय नहीं कहा जाए?"

इस प्रकार, संयम की महनीयता व उपादेयता को तथा असंयम की निन्दनीयता को अच्छी तरह से समझ कर हे विरक्त मनीषी! संयम धर्म की साधना के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहो –यह गाथा का सार है।

अब शास्त्रकार उत्तम तप धर्म के स्वरूप का निरूपण करने जा रहे हैं–

**( 77 )**

**( गाथा-अर्थ– ) जो मुनि ध्यान व स्वाध्याय के द्वारा विषय व कषाय के निग्रह का भाव ( परिणाम ) करके आत्मा की भावना ( चिन्तन ) करता है, उस मुनि के नियम से ( उत्तम ) तप धर्म होता है।**

**( सर्वोदया टीका– )** *(जो)* **यः श्रमणः,** *(झाणसज्झाए)* **ध्यानेन स्वाध्यायेन च। ध्याने त्वात्मीयपरिणामानां स्थिरता, भावनानुप्रेक्षात्मकस्वाध्यायस्तु तदपेक्षया चित्तचलतां वहति –इति ध्यानस्वाध्याययोरन्तरम्।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड–5, भाग–4, सू. 26 गाथा–12)–*

*जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।*
*तं होइ भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता।।*

**स्थूलरूपेण, यद्वा सांसारिकप्रवृत्ति-अपेक्षया तु स्वाध्यायस्यापि ध्यानरूपत्वं स्वीकर्तुं शक्यते, अत एवोक्तं रयणसारे** *(गाथा–90)– 'अज्झयणमेव झाणं'* **इति।**

**अत्र ध्यानपदेन प्रकरणवशात् प्रशस्तध्यानयोर्धर्मध्यान-शुक्लध्यानयोः ग्रहणम्, न तु आर्तरौद्रेतिदुर्ध्यानयोः। एतयोर्द्वयोर्मध्ये साम्प्रतकाले शुक्लध्यानस्याभावेऽपि धर्मध्यानस्य सद्भावः स्वीकृत एव।**

---

**( सर्वोदया टीका– ) ( यः )** जो श्रमण, **( ध्यानस्वाध्यायाभ्याम् )** ध्यान से और स्वाध्याय से। ध्यान में तो आत्मीय परिणामों की स्थिरता होती है, किन्तु भावना–अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय में उसकी अपेक्षा से चित्त–चंचलता रहती है –यह ध्यान व स्वाध्याय में अन्तर है।

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड–5, भाग–4, सू. 26. गाथा–12) में कहा गया है–

''जो परिणामों की स्थिरता होती है, उसका नाम ध्यान है, और जो चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होना है –वह या तो भावना है या अनुप्रेक्षा है या चिन्ता है।''

स्थूल रूप से, अथवा सांसारिक प्रवृत्ति की अपेक्षा से स्वाध्याय को भी ध्यान रूप में स्वीकार किया जा सकता है, इसी दृष्टि से रयणसार (गाथा–90) में 'अध्ययन ही ध्यान है' –ऐसा कहा गया है।

यहाँ जो (धर्माचरण का) प्रकरण है, इसलिए ध्यान पद से धर्मध्यान व शुक्लध्यान –इन दो प्रशस्त ध्यानों का ही ग्रहण होता है, आर्त व रौद्र– इन दुर्ध्यानों का ग्रहण नहीं होता। इन दोनों (प्रशस्त) ध्यानों में वर्तमान में शुक्ल ध्यान का अभाव है, फिर भी धर्मध्यान का सद्भाव तो माना ही गया है।

**उक्तं च तत्त्वानुशासने** *(श्लोक-83)*–

*अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।*
*धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग् विवर्तिनाम्।।*

**तथा च मोक्षप्राभृते** *(गाथा-76-77)* **च समर्थितमेतत्**–

*भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।*
*तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।*

*अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं।*
*लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति।।*

**एतस्य धर्मध्यानस्य लक्षणानि भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1704)* **निर्दिष्टानि**–

*धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवुवदेसा।*
*उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे।।*

---

तत्त्वानुशासन (श्लोक-83) में कहा भी गया है–

"इस (पंचम) काल में जिनेन्द्र देव शुक्ल ध्यान होने का निषेध करते हैं, परन्तु दोनों श्रेणियों (उपशम व क्षपक) से पूर्ववर्तियों के धर्मध्यान होना तो बताया ही है।"

इसी तरह, मोक्षप्राभृत (गाथा-76-77) में भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है–

"भरत क्षेत्र में, दुःषम (नामक पंचम) काल में मुनियों के धर्मध्यान होता है तथा वह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित साधु के होता है –ऐसा जो नहीं मानता, वह अज्ञानी है।"

"आज भी रत्नत्रय से शुद्धता को प्राप्त हुए व्यक्ति आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद तथा लौकान्तिक देवों के पद को प्राप्त करते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।"

इस धर्मध्यान के स्वरूप को भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1704) में इस प्रकार बताया गया है– "आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागम में स्वाभाविक रुचि –ये धर्मध्यान के लक्षण हैं।"

**धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26 गाथा-54-55)* **च धर्मध्यानस्य बाह्यचिन्हानि निरूपितानि–**

*आगमउवदेसाणा णिसग्गदो जं जिणप्पणीयाणं।*
*भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तल्लिंगं।।*

*जिणसाहु-गुणकित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णा।*
*सुदसीलसंजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा।।*

**तथैव आदिपुराणे** *(21/159-161)* **च धर्मध्यानस्य बाह्यचिन्हानां संकेतो विहितोऽस्ति–**

*प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेगः शुभयोगता।*
*सुश्रुतत्वं समाधानम् आज्ञाधिगमजा रुचिः।।*

*भवन्त्येतानि लिङ्गानि धर्मस्यान्तर्गतानि वै।*
*सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधाः शुभभावनाः।।*

---

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26 गाथा-54-55) में भी धर्मध्यान के बाह्य चिह्न इस प्रकार बताए गए हैं–

"आगम, उपदेश और जिनाज्ञा के अनुसार, निसर्गतः जो जिनेन्द्र द्वारा कहे गए पदार्थों पर श्रद्धान होता है, वह धर्मध्यान का लिङ्ग (चिह्न) है।"

"जिनेन्द्र और साधु के गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय, दानसम्पन्नता, श्रुत-शील-संयम में रत होना –ये सारी बातें धर्मध्यान में होती हैं।"

इसी प्रकार आदिपुराण (21/159-161) में भी धर्मध्यान के बाह्य चिह्नों का संकेत इस प्रकार किया गया है–

"प्रसन्नचित्त रहना, धर्म से प्रेम करना, शुभ योग रखना, उत्तम शास्त्रों का अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना, और आज्ञा (शास्त्र-वचन) तथा स्वकीय ज्ञान से एक प्रकार की विशेष रुचि (प्रीति या श्रद्धा) उत्पन्न होना –ये धर्मध्यान के बाह्य चिह्न होते हैं, और अनुप्रेक्षाएँ तथा पूर्वोक्त अनेक प्रकार की शुभ भावनाएँ उसके अन्तरङ्ग चिह्न हैं।"

*बाह्यं च लिङ्गमङ्गानां संनिवेशः पुरोहितः।*
*प्रसन्नवक्त्रता सौम्या दृष्टिश्चेत्यादि लक्ष्यताम्।।*

**ध्यानसाधनायां सहयोगिनी महत्त्वपूर्णा सामग्री च शास्त्रकारैर्निरूपिता वर्तते। यथा तत्त्वानुशासने** *(श्लोक-75, 218)* **निरूपितम्–**

*संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।*
*मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनि।।*

*ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।*
*गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः।।*

**धर्मध्यानस्यानेके भेदाः सन्ति। आज्ञाविचयः, अपायविचयः, विपाकविचयः, संस्थानविचयश्चेति तस्य चत्वारो भेदाः तत्त्वार्थसूत्रे** *(9/36)* **प्रोक्ताः। तत्त्वानुशासने तस्य मुख्य-उपचारेति-भेदात् निश्चय-व्यवहारभेदात् वा द्विविधत्वम्, उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्येतिभेदात् त्रिविधत्वं च निरूपितम्।**

---

"पहले कहे हुए (पर्यङ्क आदि) आसनों का धारण करना, मुख की प्रसन्नता होना और दृष्टि का सौम्य होना आदि को भी धर्मध्यान के बाह्य चिह्न समझने चाहिए।"

ध्यान-साधना में सहयोगी महत्त्वपूर्ण सामग्री का कथन भी शास्त्रकारों ने किया है। जैसे, तत्त्वानुशासन (श्लोक-75 व 218) में कहा गया है-

"परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह-नियन्त्रण, व्रतों का धारण, मन व इन्द्रियों को जीतना – यह सब ध्यान की उत्पत्ति-निष्पत्ति में सहायक सामग्री है।"

"गुरु-उपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास, मन की स्थिरता –ये चार बातें ध्यान-सिद्धि में प्रमुख कारण हैं।"

धर्मध्यान के अनेक भेद हैं। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय- ये चार भेद इस (धर्मध्यान) के तत्त्वार्थसूत्र (9/36) में बताये गए हैं। तत्त्वानुशासन में मुख्य व उपचार, या निश्चय व व्यवहार इन भेदों से उसे दो प्रकार का, तथा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य – इन भेदों से तीन प्रकार का भी बताया गया है।

**क्वचित् शास्त्रे बाह्य-आध्यात्मिकेतिभेदात् द्विविधत्वं स्वीकृत्य आध्यात्मिक-धर्मध्यानस्य दश भेदाः स्वीकृताः। चारित्रसारे स्वसंवेद्यम्– आध्यात्मिकम् –इति निर्दिश्य दश भेदाः निर्दिष्टाः। यथा– अपायविचयः, उपायविचयः, जीवविचयः, अजीवविचयः, विपाकविचयः, विरागविचयः, भवविचयः, संस्थानविचयः, आज्ञाविचयः, हेतुविचयश्चेति।**

**बाह्यधर्मध्यानस्य च स्वरूपं हरिवंशपुराणे** *(56/36-38)* **भणितम्–**

*लक्षणं द्विविधं तस्य, बाह्याध्यात्मिकभेदतः।*
*सूत्रार्थमार्गणं शीलं गुणमालानुरागिता।।*

*जम्भाजृम्भाक्षुतोद्गार-प्राणापानादिमन्दता।*
*निभृताङ्गव्रतात्मत्वं तत्र बाह्यं प्रकीर्तितम्।।*

*दशधाध्यात्मिकं धर्म्यमपायविचयादिकम्।।*

**तत्रैव पुराणे** *(56/38-50)* **आभ्यन्तरधर्मध्यानस्य पूर्वोक्ता अपायविचयादिका दश भेदाश्च निर्दिष्टाः।**

---

किसी शास्त्र में बाह्य व आध्यात्मिक –ये दो भेद स्वीकृत कर, आध्यात्मिक धर्मध्यान के दस भेद बताये गए हैं। चारित्रसार में स्वसंवेद्य– आध्यात्मिक धर्मध्यान है– ऐसा कहकर दस भेद बताये गये हैं। जैसे– अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय व हेतुविचय।

बाह्य धर्मध्यान के स्वरूप को हरिवंशपुराण (56/36-38) में इस प्रकार बताया गया है–

''बाह्य व आभ्यन्तर के भेद से धर्मध्यान का लक्षण दो प्रकार का है। शास्त्र के अर्थ की खोज करना, शीलव्रत का पालन करना, गुणों के समूह में अनुराग रखना तथा अँगड़ाई, जँभाई, छींक, डकार और श्वासोच्छ्वास में मन्दता होना, शरीर को निश्चल रखना एवं आत्मा को व्रतों से युक्त करना –यह धर्मध्यान का बाह्य लक्षण है। आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) धर्मध्यान के अपायविचय आदि भेद हैं।''

वहीं इसी पुराण (56/38-50) में आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) धर्मध्यान के पूर्वोक्त अपायविचय आदि दस भेदों को निर्दिष्ट भी किया गया है।

**ज्ञानार्णवे** *(4/18, 30)* **च व्यवहारधर्मध्यानस्याधिकारिणः के सम्भवन्ति –इति स्पष्टीकृतम्–**

*दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धिः स्वप्नेऽपि जायते।*
*गृह्णतां दृष्टिवैकल्यात् वस्तुजातं यदृच्छया।।*

*ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते नैते मिथ्यादृशः परम्।*
*मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशयाः।।*

**धर्मध्यानस्य महनीयफलान्यपि धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26, गाथा 56-57)* **स्पष्टमित्थं निर्दिष्टानि–**

*होंति सुहासवसंवरणिज्जरामरसुहाइं विउलाइं।*
*झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स।।*

*णवकम्माणादाणं पोराणवि णिज्जरा सुहादाणं।*
*चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।*

---

ज्ञानार्णव (4/18, 30) में व्यवहार धर्मध्यान के अधिकारी कौन-कौन हो सकते हैं –इसे भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"मिथ्यादृष्टि जीव अपनी दृष्टि की विकलता के कारण वस्तुसमूह को अपनी मनमर्जी के मुताबिक ग्रहण करते हैं, उन्हें स्वप्न में भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो पाती।"

"ध्यान-सम्बन्धी सिद्धान्त में मात्र इन मिथ्यादृष्टियों को ध्यान का निषेध नहीं किया गया है, अपितु जो जैन मुनि चंचल चित्त वाले हैं और जिन भगवान की आज्ञा के प्रतिकूल (आचरण वाले) हैं, उनके भी ध्यान का निषेध किया गया है।"

धर्मध्यान के महनीय फलों का निर्देश भी धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सूत्र. 26, गाथा 56-57) में इस प्रकार किया गया है–

"उत्कृष्ट धर्मध्यान के शुभाशुभ, संवर, निर्जरा और देवताओं का सुख –ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं।"

"चारित्र भावना के बल से जो ध्यान में लीन होते हैं, उनके नये कर्मों का ग्रहण नहीं होता, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का आस्रव भी होता है।"

*जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।*
*झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जंति।।*

**निश्चयधर्मध्यानस्वरूपं तु निर्विकल्पकतया स्वात्मस्थितिरूपमेव। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-482)*–

*वज्जियसयलवियप्पो अप्पसरूवे मणं णिरुंधंतो।*
*जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं झाणं।।*

**तथैव, बृहद्द्रव्यसंग्रहे** *(गाथा-55-56)* **विशदीकृतम्**–

*जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।*
*लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं।।*

*मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।*
*अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।।*

---

"अथवा जैसे मेघ-पटल पवन से ताड़ित होकर क्षणमात्र में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही (धर्म) ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर कर्म-मेघ भी विलीन (तितर-बितर) हो जाते हैं।"

निर्विकल्पक होते हुए अपनी आत्मा में स्थित होना –यही निश्चयधर्मध्यान का स्वरूप है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-482) में कहा भी गया है–

"सकल विकल्पों को छोड़कर और आत्मस्वरूप में मन को रोककर, आनन्द सहित जो चिन्तन होता है, वही उत्तम ध्यान है।"

इसी तरह, बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-55-56) में इसे स्पष्ट किया गया है–

"ध्येय में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी भी पदार्थ का ध्यान करता हुआ साधु जब निःस्पृह वृत्ति होता है, उस समय उसका वह ध्यान निश्चय ध्यान होता है।"

"(हे भव्य जनो!) तुम कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, और कुछ भी मत विचारो (अर्थात् शरीर, वचन व मन की प्रवृत्ति को रोको), ताकि तुम्हारी आत्मा अपने आप में स्थिर होवे। और यह स्थिर होना ही परमध्यान है।"

**निश्चयधर्मध्यानं कैः कर्तुं शक्यते –इतिविषये ज्ञानार्णवे** *(6/4)* **प्रतिपादितम्–**

*रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षात् ध्यातुमिच्छति।*
*खपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुतशेखरम्।।*

**भावसंग्रहेऽपि** *(गाथा-382-388)* **उक्तम्–**

*जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।*
*सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो।।*

*कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि।*
*तम्हा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई।।*

*किं जं सो गिहवंतो बहिरंतरगंथपरमिओ णिच्चं।*
*बहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं।।*

---

निश्चय धर्मध्यान किनके द्वारा किया जा सकता है –इस विषय में ज्ञानार्णव (6/4) में बताया गया है –

''जो जीव साक्षात् रत्नत्रय को प्राप्त न होकर, ध्यान करना चाहता है, वह मूर्ख आकाश के फूलों से वन्ध्यापुत्र के लिए सेहरा बनाना चाहता है।''

भावसंग्रह (गाथा-382-388) में भी कहा है–

''जो ऐसा कहता है कि गृहस्थों को शुद्ध निरालम्ब व निश्चल (मुख्य) ध्यान होता है, वह मुनियों के आगम का ज्ञाता नहीं है।''

''दृष्टिवाद अंग में गुणस्थानों में जो ध्यान बताये गए हैं, उसके अनुसार (पाँचवें गुणस्थान वाले) देशविरतश्रावक के मुख्य धर्मध्यान नहीं होता।''

''क्योंकि वे सदैव बाह्याभ्यंतर परिग्रह से लिप्त हैं तथा उनके द्वारा आरम्भ भी अनेकविध होते हैं। तब वह शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है?''

*घरवावारा केई करणीया अत्थि ते ण ते सव्वे।*
*झाणट्ठियस्य पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स।।*

*अह ढिंकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।*
*सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि।।*

*झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स।*
*आलंवणरहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा।।*

*तम्हा सो सालंबं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।*
*पंच परमेट्ठिरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं।।*

**विशेषनिरूपणं तु मदीयकृतौ शुद्धोपयोगसंज्ञिकायां द्रष्टव्यम्।**

**एवं तपोधर्मसाधनायां ध्यानस्य तु महत्त्वं वर्तते एव, स्वाध्यायस्यापि उपयोगिता वर्तते – इत्यभिप्रेत्य उक्तम्–** *(सज्झाएण)*। **स्वाध्यायेन।**

---

"ध्यानस्थ मुद्रा में यदि वह बैठ जाए तो उसे वे सभी आरम्भ–व्यापार उस स्थिति में भी झलकते रहते हैं।"

"अब भी यदि कोई गृहस्थ शुद्ध ध्यान की बात करे तो उसका कथन मेढकी के टर्राने जैसे है, अथवा ढेकी (मूसली के धान्य कूटने) के परिश्रम जैसा निरर्थक है, उसी प्रकार निरावलंबी ध्यान की चेष्टा परिश्रम मात्र है।"

"चूँकि उस (गृहस्थ) का चित्त स्थिर नहीं रहता, इसलिए उसे सविकल्प रूप आलम्बन रहित अनेक ध्यानों की परम्परा सम्भव होती है और वही उसके पायी जाती है।"

"अत: आलम्बन सहित पंच–परमेष्ठी का अथवा उनके मंत्र–अक्षरों का नित्य ध्यान करना गृहस्थ के लिए इष्ट है। (यही उसकी उचित मर्यादा है।)"

विशेष रूप से जानने के लिए 'शुद्धोपयोग' नामक मेरी कृति को देखना चाहिए।

इस प्रकार, तप धर्म की साधना में ध्यान का महत्त्व तो है ही, स्वाध्याय की भी उपयोगिता है –इस अभिप्राय से कहा गया है– **(स्वाध्यायेन)** स्वाध्याय द्वारा।

**स्वाध्यायः स्वहितकारि अध्ययनादिकम्। स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः इति निर्युक्तिकारैः प्रतिपादितमपि। सर्वार्थसिद्धौ** *(9/20)* **च 'ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः' इति तत्स्वरूपं प्रकाशितम्। तत्त्वार्थसूत्रे** *(9/25)* **च तस्य पञ्च भेदा निर्दिष्टाः- वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नायः, धर्मोपदेशश्चेति।**

**मूलाचारे** *(गाथा-393)* **च निरूपितम्-**

*परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।*
*थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ।।*

**भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-106-108)* **च तस्य सर्वोत्तमतपोरूपत्वं प्रतिपादितम्-**

*बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।*
*ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवोकम्मं।।*

---

स्वाध्याय से तात्पर्य है निज-हितकारक अध्ययन आदि (कार्य)। निर्युक्तिकारों ने भी यह प्रतिपादित किया है कि जो अपने लिए हितकारी अध्ययन है, वह स्वाध्याय होता है। सर्वार्थसिद्धि [व राजवार्तिक] (9/20) में 'ज्ञान-भावना' में आलस्य का त्याग स्वाध्याय है -यह कहकर उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। तत्त्वार्थसूत्र (9/25) में इस (स्वाध्याय) के पाँच भेद इस प्रकार बताये गए हैं- वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेश।

मूलाचार (गाथा-393) में इसका निरूपण भी किया गया है-

"पढ़े हुए ग्रन्थ का पाठ करना, दूसरे से पूछना, अनुप्रेक्षा (बारम्बार शास्त्र का मनन), धर्मकथा (महापुरुषों के चरित पढ़ना), तथा देवस्तुति व मंगल -इस प्रकार स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-106-108) में इस स्वाध्याय को एक सर्वोत्तम तप के रूप में प्रतिपादित किया गया है-

"आभ्यन्तर व बाह्य इस प्रकार से सर्वज्ञदेव द्वारा उपदिष्ट बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान कोई अन्य तप न तो है और न होगा ही।"

*जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।*
*तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण।।*

*छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।*
*तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स।।*

**अस्य स्वाध्यायतपसः साधनायां द्रव्य-क्षेत्र-कालशुद्धिरवश्यं विधातव्येति शास्त्रकाराणां निर्देशः। यथा द्रव्यशुद्धिविषये धवलाग्रन्थे** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 54, पद्य-92-96)* **निर्देशः कृतः–**

*यमपटहरवश्रवणे रुधिरस्रावेऽङ्गतोऽतिचारे च।*
*दातृष्वशुद्धकायेषु भुक्तवति चापि नाध्येयम्।।*

*तिलपललपृथुकलाजापूपादिस्निग्धसुरभिगन्धेषु।*
*भक्तेषु भोजनेषु च दवाग्निधूमे च नाध्येयम्।।*

---

"सम्यग्ज्ञान से रहित जीव लाखों करोड़ों भवों में जितने कर्मों के क्षय करने में समर्थ होता है, ज्ञानी जीव तीन गुप्ति से गुप्त होकर उतने कर्मों का क्षय अन्तर्मुहूर्त काल में कर देता है।"

"एक, दो, तीन, चार या पाँच उपवास अथवा पक्षोपवास व मासोपवास करने वाले सम्यग्ज्ञानरहित जीव की अपेक्षा भोजन करने वाला (अर्थात् उपवास न करने वाला) स्वाध्यायतत्पर सम्यग्दृष्टि जीव परिणामों की अधिक विशुद्धि कर लेता है।"

इस स्वाध्याय तप की साधना में द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि व कालशुद्धि अवश्य करनी चाहिए –यह शास्त्रकारों का निर्देश है। जैसे, द्रव्यशुद्धि के विषय में धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-4, भाग-1, सू. 54, पद्य-92-96) का निर्देश किया गया है–

"यम पटह का शब्द (किसी की मृत्यु या फाँसी दिए जाने की सूचना) सुनने पर, अंग से रक्तस्राव होने पर, अतिचार के होने पर, दाताओं के अशुद्धकाय होते हुए भोजन कर लेने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।"

"तिलमोदक, चिवड़ा, लाई और मालपुआ आदि चिकने व सुगन्धित भोजन करने पर तथा दावानल का धुआँ होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।"

*योजनमण्डलमात्रे संन्यासविधौ महोपवासे च।*
*आवश्यकक्रियायां केशेषु च लुच्यमानेषु।।*

*सप्तदिनान्यध्ययनं प्रतिषिद्धं स्वर्गते श्रमणसूरौ।*
*योजनमात्रे दिवसत्रितयं त्वतिदूरतो दिवसम्।।*

*प्राणिनि च तीव्रदुःखात् म्रियमाणे स्फुरति चातिवेदनया।*
*एकनिवर्तनमात्रे तिर्यक्षु चरत्सु च न पाठ्यम्।।*

**तथैव तत्रैव धवलाग्रन्थे** *(पद्य-97-98, 101-102)* **क्षेत्रशुद्धिविषये निर्देशाः प्रदत्ताः सन्ति–**

*तावन्मात्रे स्थावरकायक्षयकर्मणि प्रवृत्ते च।*
*क्षेत्राशुद्धौ दूराद् दुर्गन्धे वाऽतिकुणपे वा।।*

*विगतार्थागमने वा स्वशरीरे शुद्धिवृत्तिविरहे वा।*
*नाध्येयः सिद्धान्तः शिवसुखफलमिच्छता व्रतिना।।*

"एक योजन के घेरे में संन्यासविधि, महोपवासविधि, आवश्यक क्रिया एवं केशलोंच होने पर तथा आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिनों तक अध्ययन करने का प्रतिषेध है। उक्त घटनाओं के एक योजन मात्र में होने पर तीन दिन तक तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक अध्ययन नहीं करना चाहिए।"

"प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निर्वतन (एक बीघा) मात्र में तिर्यंचों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।"

इसी प्रकार, धवला ग्रन्थ में वहीं (पद्य-97-98, 101-102) क्षेत्र शुद्धि को लेकर भी निम्नलिखित निर्देश दिए गए हैं–

"स्थावरकाय जीवों का वध किया जा रहा हो, उतने क्षेत्र में, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर, या अत्यन्त सड़ी गन्ध आने पर, अर्थ ठीक से समझ न आ रहा हो –ऐसी स्थिति में (अर्थात् मनःस्थिति इतनी प्रतिकूल हो जाए या वातावरण अशुद्धि के कारण मन की अस्थिरता होने से शास्त्र का हार्द समझ में नहीं बैठ पा रहा हो), या अपना शरीर शुद्धि-रहित हो तो मोक्षसुखार्थी व्रती पुरुष सिद्धान्त का अध्ययन न करे।"

*व्यन्तरभेरीताडनतत्पूजासंकटे कर्षणे वा।*
*संमृक्षणसंमार्ज्जनसमीपचाण्डालबालेसु ।।*

*अग्निजलरुधिरदीपे मांसास्थिप्रजनने तु जीवानाम्।*
*क्षेत्रविशुद्धिर्न स्यात्, यथोदितं सर्वभावज्ञैः।।*

**मूलाचारे** *(गाथा-270-286)* **द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-विनयेतिशुद्धयो निरूपिताः। तत्र समासेन द्रव्यक्षेत्र-भावशुद्धिविषये** *(गाथा-276)* **निरूपितं वर्तते-**

*रुहिरादिपूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं।*
*कोधादिसंकिलेसा भावविसोही पढणकाले।।*

**कालशुद्धिविषये च तत्र** *(मूलाचार गाथा-270-275)* **निरूपितमस्ति-**

*पादोसियवेरत्तियगोसग्गियकालमेव गेण्हित्ता।*
*उभये कालह्मि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो।।*

---

"व्यन्तरों द्वारा भेरी ताडन करने पर, उनकी पूजा का संकट आने पर, कर्षण (कृषि कार्य) होने पर, चाण्डाल बालकों के समीप में झाड़ा-बुहारी करने पर, अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर, तथा जीवों के मांस व हड्डियों के निकाले जाने पर क्षेत्र की अविशुद्धि होती है, जैसा कि सर्वज्ञों ने बताया है।"

मूलाचार (गाथा-270-286) में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, विनय -इन शुद्धियों का निरूपण मिलता है। वहाँ (गाथा-276) द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, व भावशुद्धि का संक्षेप से निरूपण इस प्रकार किया गया है- "रुधिर आदि का पीब शरीर में हो, क्षेत्र में सौ हाथ प्रमाण तक मांस आदि अपवित्र वस्तु हों -इनका वर्जन द्रव्य-क्षेत्रशुद्धि है और पठन-काल में संक्लेश का वर्जन भावशुद्धि है।"

कालशुद्धि के बारे में भी वहीं (मूलाचार गाथा-270-275) यह निरूपण किया गया है-

"प्रादोषिक, वैरात्रिक और गौसर्गिक काल को ही लेकर, दोनों कालों में पुनः स्वाध्याय करणीय होता है।" *[सूर्योदय के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर मध्याह्न काल के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वाह्न स्वाध्याय का काल है। यही गोसर्गिक काल है। मध्याह्न के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट पहले तक का प्रादोषिक (अपराह्णिक) काल स्वाध्याय का काल है। सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट पहले तक का काल। पूर्वरात्रिक प्रादोषिक काल होता है जो सूर्यास्त के 48 मिनट के बाद से*

*सज्झाये पट्ठवणे जंघच्छायं वियाण सत्तपयं।*
*पुव्वण्हे अवरण्हे तावदियं चेव णिट्ठवणे।।*

*आसाढे दुपदा छाया पुस्समासे चदुप्पदा।*
*वड्ढदे हीयदे चावि मासे मासे दुअंगुला।।*

*णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोहीए।*
*पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाए।।*

*दिसदाह उक्कपडणं विज्जु चडक्कासणिंदधणुगं च।*
*दुग्गंधसंज्झदुद्दिणचंदग्गहसूरराहु जुज्झं च।।*

*कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च।*
*इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा ।।*

---

*अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट पूर्व तक होता है। इसके अनन्तर, अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्योदय के अड़तालीस मिनट पहले तक का वैरात्रिक काल स्वाध्याय काल है। उक्त चारों संधिकालों में छयानवे मिनट तक का काल अस्वाध्याय-काल होता है।]*

"पूर्वाह्न में, स्वाध्याय प्रारम्भ काल में जंघाछाया सातपद प्रमाण समझो और अपराह्न में भी स्वाध्याय-समाप्ति में उतनी ही जानो।" *[अर्थात् सूर्य के उदय होने पर जब जंघा की छाया सात वितस्ति मात्र हो तब स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और अपराह्न में सूर्यास्त के काल में जब जंघाछाया सात वितस्ति मात्र रहती है, तब स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिए।]*

"आषाढ़ में दो पाद छाया और पौष मास में चार पाद छाया रहने पर स्वाध्याय समाप्त करें। मास-मास में वह दो-दो अंगुली बढ़ती और घटती है।"

"पूर्वाह्न, अपराह्न और प्रदोष काल के स्वाध्याय करने में दिशाओं के विभाग की शुद्धि के लिए नौ, सात और पाँच बार प्रमाण णमोकार मन्त्र पढ़ें।"

"दिशादाह, उल्कापात, विद्युत्पात, वज्र का भयंकर शब्द, इन्द्रधनुष, दुर्गन्ध उठना, सन्ध्या-समय, दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन), चन्द्रग्रहण, सूर्य व राहु का (ग्रहण) युद्ध (सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण), कलह आदि, तथा धूमकेतु, भूकम्प व मेघगर्जन तथा इसी प्रकार के और भी दोष हैं, जिनके होने पर स्वाध्याय वर्जित होता है।"

**तथैव, धवलाग्रन्थेऽपि** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 54, पद्य-105-108)* **स्वाध्यायकालविषये निर्देशः प्राप्यते–**

*तपसि द्वादशसंख्ये स्वाध्यायः श्रेष्ठ उच्यते सद्भिः।*
*अस्वाध्यायदिनानि ज्ञेयानि ततोऽत्र विद्वद्भिः।।*

*पर्वसु नन्दीश्वरवरमहिमादिवसेषु चोपरागेषु।*
*सूर्याचन्द्रमसोरपि नाध्येयं जानता व्रतिना।।*

*अष्टम्यामध्ययनं गुरुशिष्यद्वयवियोगमावहति।*
*कलहं तु पौर्णमास्यां करोति विघ्नं चतुर्दश्याम्।।*

*कृष्णचतुर्दश्यां यद्यधीयते साधवो ह्यमावस्यायाम्।*
*विद्योपवासविधयो विनाशवृत्तिं प्रयान्त्यशेषं सर्वे।।*

---

इसी तरह, स्वाध्याय तप में काल सम्बन्धी विचार भी करना चाहिए। धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 54, पद्य-105-108) में कहा गया है-

"सत्पुरुषों ने बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय को श्रेष्ठ कहा है। इसीलिए विद्वानों को स्वाध्याय न करने के दिनों को जानना चाहिए।"

"पर्व दिनों (अष्टमी और चतुर्दशी) में, नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिमा-दिनों (अर्थात् अष्टाह्निक पर्व) में और सूर्य-चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान् व्रती को अध्ययन नहीं करना चाहिए।"

"अष्टमी में किया गया अध्ययन गुरु व शिष्य दोनों का वियोग कराता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह कराता है और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न उत्पन्न करता है।"

"यदि साधु कृष्ण-चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवास विधि सब विनाश को प्राप्त होते हैं।

*मध्याह्ने जिनरूपं नाशयति करोति सन्ध्ययोर्व्याधिम्।*
*तुष्यन्तोऽप्यप्रियतां मध्यमरात्रौ समुपयान्ति।।*

*अतितीव्रदु:खितानां रुदतां संदर्शने समीपे च।*
*स्तनयित्नुविद्युदभ्रेष्वतिवृष्ट्या उल्कनिर्घाते।।*

**अस्वाध्यायकाले किं कर्तव्यमिति विषये भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-2046)* **च निर्देशो दृश्यते–**

*वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तध य धम्मथुदिं।*
*सुत्तत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो।।*

**स्वाध्याये द्रव्यादिशुद्धिमविचार्य कृते हानिरिति धवलाग्रन्थे** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 54, गाथा-115)* **च निर्दिष्टम्–**

---

"मध्याह्न काल में किया गया अध्ययन 'जिन' रूप को नष्ट करता है, दोनों संध्याकालों में किया गया अध्ययन व्याधि पैदा करता है, तथा मध्यम रात्रि में किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त होते हैं।"

"अतिशय तीव्र दु:ख से युक्त और रोते हुए प्राणियों को देखने या समीप में होने पर, मेघों की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।"

अस्वाध्याय-समय में क्या करना चाहिए –इस विषय में भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-2046) में भी (निम्नलिखित) निर्देश दृष्टिगोचर होता है–

"स्वाध्याय के पाँच भेदों में से वाचना, आम्नाय, पृच्छना और धर्मोपदेश को त्याग कर वह (श्रमण) अस्वाध्याय काल में भी एकाग्र मन से सूत्र के अर्थ का ही अनुचिन्तन करता है (अर्थात् सतत अनुप्रेक्षारूप स्वाध्याय में ही लीन रहता है)।"

स्वाध्याय में द्रव्यशुद्धि आदि का विचार न करने से हानि होती है –यह धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 54, गाथा-115) में बताया गया है–

*दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण।*
*असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च।।*

**स्वाध्यायस्य प्रतिष्ठापन-निष्ठापनविधिसम्बन्धिनोऽपि केचित् निर्देशाः धवलाग्रन्थे** *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 54, पद्य-103-104)* **प्रदत्ता–**

*क्षेत्रं संशोध्य पुनः, स्वहस्तपादौ विशोध्य शुद्धमनाः।*
*प्राशुकदेशावस्थो गृह्णीयात् वाचनां पश्चात्।।*

*युक्त्या समधीयानो वक्षणकक्षाद्यमस्पृशन् स्वाङ्गम्।*
*यत्नेनाधीत्य पुनः, यथाश्रुतं वाचनां मुञ्चेत्।।*

**केषां सद्ग्रन्थानामध्ययने द्रव्यादिशुद्धिरपेक्षिता, अनपेक्षिता वेति विषये मूलाचारे** *(गाथा-277-279)* **निर्देशो वर्तते–**

---

"सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ से किया गया द्रव्यादि का अतिक्रमण असमाधि अर्थात् सम्यक्त्वादि की विराधना, अस्वाध्याय अर्थात् शास्त्रादिकों का अलाभ, कलह, व्याधि और वियोग को कराता है।"

स्वाध्याय के प्रतिष्ठापन व निष्ठापन की विधि के विषय में भी कुछ निर्देश धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 54, पद्य-103-104) में दिये गए हैं–

"क्षेत्र की शुद्धि करने के बाद, अपने हाथ व पैरों को शुद्ध करके उसके बाद विशुद्ध मन होकर एवं प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना को ग्रहण करें।"

"बाजू और काँख आदि अपने अंग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करने के बाद में शास्त्रविधि से वाचना को छोड़ दे (सम्पन्न करे)।"

किन सद्ग्रन्थों के अध्ययन में द्रव्यादि शुद्धि अपेक्षित है, किनके लिए अपेक्षित नहीं है– इस विषय में मूलाचार (गाथा-277-279) में निर्देश इस प्रकार किया गया है–

*सुत्तं गणहरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकहिदं च।*
*सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्णदसपुव्वकहिदं च।।*

*तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरदइत्थिवग्गस्स।*
*एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए।।*

*आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।*
*पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ।।*

**स्वाध्यायतपसोऽनुष्ठानेन को लाभः, किं च महत्त्वम् –इतिविषये भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-103-105)* **प्रोक्तम्–**

*सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य।*
*हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू।।*

---

"गणधर देव द्वारा कथित, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिधारी द्वारा कथित, श्रुतकेवली द्वारा कथित और अभिन्नदसपूर्वी ऋषियों द्वारा कथित को 'सूत्र' कहा जाता है।"

"अस्वाध्याय काल में मुनिवर्ग और आर्यिकाओं द्वारा इन सूत्रग्रन्थों का पढ़ना उचित नहीं है। इनसे (अतिरिक्त या) भिन्न अन्य ग्रव्थों को अस्वाध्याय-काल में पढ़ा जा सकता है।"

"आराधना के कथन करने वाले ग्रन्थ, मरण के प्रतिपादक ग्रन्थ, संग्रह ग्रन्थ, स्तुति-ग्रन्थ, प्रत्याख्यान, आवश्यक क्रिया और धर्मकथा सम्बन्धी ग्रन्थ तथा और भी ऐसे ही ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में भी पढ़े जा सकते हैं।"

स्वाध्याय के अनुष्ठान से आखिर लाभ क्या है? इसका महत्त्व क्या है? इस बारे में भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-103-105) में (निम्नलिखित) कथन किया गया है–

"विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचों इन्द्रियों के विषयों से संवृत और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्रमना होता है।"

*जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु।*
*तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए।।*

*आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा।*
*विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो।।*

**प्रवचनसारेऽपि** *(1/86)* **आगमस्वाध्यायस्य महत्त्वमुररीकृतम्–**

*जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।*
*खीवदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समहिदव्वं।।*

**अन्यच्च, तत्रैव** *(3/32-36)* **भणितमास्ते–**

*एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।*
*णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।।*

---

"जैसे-जैसे साधु अतिशय अभिधेय से भरे ऐसे अश्रुतपूर्व श्रुत में अवगाहन करता है, वैसे वैसे वह नई-नई धर्मश्रद्धा से आल्हादित होता जाता है।"

"(रत्नत्रय की) वृद्धि और हानि के क्रम को जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयम में स्थित होकर शुद्धि को प्राप्त होता हुआ वह जीवन-पर्यन्त विहार करता है, वह निष्कम्प यानी निश्चल ही बना रहता है।"

प्रवचनसार (1/86) में भी आगम-स्वाध्याय का महत्त्व इस प्रकार स्वीकारा गया है-"प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जिनेन्द्र-प्रणीत शास्त्र से पदार्थों को जानने वाले पुरुष का मोह-समूह नियम से नष्ट हो जाता है, इसलिए शास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिए।"

और भी, वहीं (3/32-36) में कहा गया है-

"श्रमण तो एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता उसी के होती है जिसे पदार्थों का निश्चय होता है, और यह निश्चय आगम के माध्यम से होता है, इसलिए आगम (के ज्ञान) की चेष्टा करना ज्येष्ठ (श्रेष्ठ) मानी जाती है।"

*आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।*
*अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।*

*आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।*
*देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।।*

*सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।*
*जाणंति आगमेण हि, पेच्छित्ता तेवि ते समणा।।*

*आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।*
*णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो।।*

**अन्यच्च, धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, गाथा-47-51)* **स्वाध्यायफल-निरूपणमित्थं प्राप्यते–**

*भावियसिद्धांताणं दिणयरकरणिम्मलं हवइ णाणं।*
*सिसिरयरकरसरिच्छं हवइ चरित्तं सवसचित्तं।।*

---

"आगम से हीन मुनि न आत्मा को जानता है और न ही अन्य पदार्थों को। स्वपरपदार्थ को नहीं जानने वाला भिक्षु कर्मक्षय कैसे कर सकता है?"

"साधु तो आगम रूपी नेत्र के धारक होते हैं जबकि अन्य समस्त प्राणी इन्द्रिय रूपी नेत्रों से युक्त होते हैं। देव अवधिज्ञान रूपी नेत्र से युक्त होते हैं और सिद्ध भगवान तो (केवलज्ञान रूपी) सभी ओर से चक्षु के धारक होते हैं।"

"विविध गुण-पर्यायों से सहित जीवाजीवादि समस्त पदार्थ आगम से सिद्ध हैं। निश्चय से उन पदार्थों को वे श्रमण आगम के माध्यम से जानते हैं।"

"इस लोक में जिसे आगमज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता है, उसके संयम नहीं होता– ऐसा सिद्धान्त का कथन है। फिर जिसके संयम नहीं है, वह मुनि कैसे बन सकता है?"

और भी, धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, गाथा-47-51) में स्वाध्याय के फल का निरूपण इस प्रकार प्राप्त होता है– "जिन्होंने सिद्धान्त का उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है, ऐसे व्यक्तियों का ज्ञान सूर्य की किरणों के समान निर्मल होता है और जिसने अपने चित्त को स्वाधीन कर लिया है, उनका चरित्र चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल होता है।"

*मेरु व्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठमलं तिमूढउम्मुक्कं।*
*सम्मद्दंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा।।*

*तत्तो चेव सुहाइं सयलाइं देवमणुयखयराणं।*
*उम्मूलियट्ठकम्मं फुड सिद्धसुहं पि पवयणादो।।*

*जियमोहिंधणजलणो अण्णाणतमंधयारदिणयरओ।*
*कम्ममलकलुसपुसओ जिणवयणमिवोवही सुहओ।।*

*अण्णाणतिमिरहरणं सुभविय-हिययारविंदजोहणयं।*
*उज्जोइय सयलबहं सिद्धंतदिवायरं भजह।।*

**सूत्रप्राभृते च** *(गाथा-3)* **प्रोक्तम्–**

*सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।*
*सूई जहा ससुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि।।*

---

"प्रवचन के अभ्यास से मेरू की तरह निष्कम्प, आठ मलों से रहित एवं तीन मूढ़ता से रहित सम्यग्दर्शन होता है।"

"(आगम से ही) देव, मनुष्य और विद्याधरों के सुख प्राप्त होते हैं और आठ कर्मों के उन्मूलित (नष्ट) होने पर प्रवचन के अभ्यास से विशद सिद्धि सुख भी प्राप्त होता है।"

"जिनागम जीवों के मोह रूपी ईन्धन के लिए अग्नि (के समान), अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य (के समान), और द्रव्यकर्म व भावकर्म के मार्जन (सफाई) के लिए समुद्र (के समान) है।"

"(इसलिए) अज्ञानरूपी अन्धकार के विनाशक भव्य जीवों के हृदय को विकसित करने वाले और मोक्षपथ को प्रकाशित करने वाले सिद्धान्त (शास्त्रादि) को भजो।"

सूत्रप्राभृत (गाथा-3) में भी कहा गया है– "जो पुरुष सूत्र का ज्ञाता है, वह भव का नाश करता है। जैसे सूई डोरे से सहित हो तो नष्ट नहीं होती (खोती नहीं), और डोरे से रहित हो तो नष्ट हो जाती है (उसी प्रकार सूत्रज्ञ नष्ट नहीं होता, सूत्रहीन नष्ट हो जाता है।"

**दर्शनप्राभृते** *(गाथा-17)* **च समर्थितमेतत्–**

*जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।*
*जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।*

**रयणसारे** *(गाथा-161, 90)* **च समर्थितमेतत्–**

*पवयणसारब्भासं परमप्पज्झाणकारणं जाण।*
*कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणे हि मोक्खसुहं।।*

*अज्झयणमेव झाणं पंचिंदियणिग्गहं कसायं पि।*
*तत्तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जाहो।।*

**एवं पूर्वोक्तस्वरूपेण ध्यानेन स्वाध्यायेन च,** *(विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण)* **विषयकषायाणां निग्रहरूपं भावं परिणामं वा विधाय,** *(अप्पाणं भावइ)* **आत्मानं भावयति, ध्यायति वा,** *(तस्स)* **तस्य श्रमणस्य** *(णियमेण तवं होदि)* **नियमेन, अवश्यम्, उत्तमतपोधर्मोऽनुष्ठितो भवति।**

---

दर्शनप्राभृत (गाथा-17) में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है– "यह जिनवाणी रूपी औषधि इन्द्रिय-विषय से उत्पन्न सुख का विरेचन करने वाली तथा जन्म-मरण रूपी व्याधि को नष्ट करने वाली अमृत जैसी है और समस्त दु:खों का क्षय करने वाली है।"

रयणसार (गाथा-161, 90) में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है–

"प्रवचन (शास्त्रों) के सार का अभ्यास ही परमात्मा के ध्यान का कारण है –यह जानो। यह ध्यान ही कर्मों के क्षय का कारण है और कर्म-क्षय होने पर ही मोक्ष-सुख प्राप्त होता है।"

"अध्ययन ही ध्यान है, उसी से इन्द्रियों व कषायों का निग्रह होता है (अत:) इस पंचम काल में जिनागम का अभ्यास ही करें।"

इस तरह, पूर्वकथित स्वरूप वाले ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा, **( विषयकषायनिग्रहभावं कृत्वा )** विषय कषायों के निग्रह रूप भाव या परिणाम को करके, **( आत्मानं भावयति )** आत्मा की भावना करता है या ध्यान करता है, **( तस्य )** उस श्रमण के **( नियमेन तपो भवति )** नियमत: अवश्य ही, उत्तम तप धर्म अनुष्ठित होता है।

**एवमत्रोत्तमतपोधर्मो निरूपितः। अत्रायं विस्तरः– कर्म-क्षयार्थं तप्यते इति तपः। अथवा– कर्तव्याकर्तव्यविवेकसहितस्य अकर्तव्यपरिहारस्वरूपे चारित्रे उद्यम उपयोगो वा तपः।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-10)*–

*चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो आउंजणा य जो होई।*
*सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स।।*

**अथवा– आत्मानमात्मनि आत्मना संधत्ते –इत्यध्यात्मं तदेव तपः। अथवा– समस्त-बहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणं तपः। उक्तं च अनगारधर्मामृते** *(7/2)*–

*तपो मनोऽक्षकायानां तपनात् संनिरोधनात्।*
*निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम्।।*

---

इस प्रकार यहाँ उत्तम तप धर्म का निरूपण हुआ। इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार से कथनीय है– कर्म-क्षय हेतु तपा जाय, वह तप होता है। अथवा कर्तव्य-अकर्तव्य सम्बन्धी विवेक से युक्त व्यक्ति द्वारा अकर्तव्य-परिहार रूपी चारित्र हेतु जो उद्यम या उपयोग होता है, वह 'तप' है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-10) में कहा भी गया है–

"अकर्तव्य के त्याग रूप चारित्र में जो उद्योग व उपयोग होता है, उसे निश्चल रूप से करने वाले के उस उद्योग व उपयोग को ही जिनेन्द्र देव ने 'तप' कहा है।"

अथवा– आत्मा को आत्मा में आत्मा से धारण कर रखता है– (टिकाये रखता है, जोड़े रखता है), वह अध्यात्म है, और वह अध्यात्म ही 'तप' है। अथवा समस्त बाह्य द्रव्यों की इच्छा से निवृत्ति होना –यह तप है। अनगारधर्मामृत (7/2) में कहा भी गया है–

"तप शब्द का अर्थ है– मन, इन्द्रिय व शरीर को अच्छी तरह तपाना, उन पर निग्रह करना। इसलिए रत्नत्रय के आविर्भाव हेतु इष्ट-अनिष्ट इन्द्रिय-विषयों की आकांक्षा के निरोध का नाम ही 'तप' है।"

**यथाशक्ति मोक्षमार्गानुकूलकायक्लेशानुष्ठानं तपः इत्यपि लक्षणमाचार्यैः सर्वार्थसिद्धौ राजवार्तिके** *(6/24)* **च कृतमस्ति।**

**तस्य तपसो द्वौ भेदौ– बाह्यम्, आभ्यन्तरं च। तत्र प्रत्येकं षड्विधम्। बाह्यतपसो ये षड्भेदाः, ते सन्ति– अनशनम्, अवमौदर्यम्, वृत्तिपरिसंख्यानम्, रसपरित्यागः, विविक्तशय्यासनः कायक्लेशश्चेति। आभ्यन्तरतपसः षड्भेदाः– प्रायश्चित्तम्, विनयः, वैयावृत्त्यम्, स्वाध्यायः, व्युत्सर्गः, ध्यानं चेति।**

**उक्तानि सर्वाणि द्वादश तपांसि सम्यक्त्वपूर्वकमेव विहितानि सन्त्येव संवरनिर्जराहेतुत्वेन मोक्षसाधनानि भवन्ति, नान्यथा। मिथ्यात्वयुक्तं तपस्तु 'बालतपः' इति संज्ञां बिभर्ति। अतः सम्यक्तपःसाधना श्रेयस्करी।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा 1467-1468)*–

*तं णत्थि जं न लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स।*
*अग्गीव तणं जलिओ कम्मत्तणं डहदि य तवग्गी॥*

---

अपनी शक्ति अनुसार, मोक्षमार्ग के अनुकूल कायक्लेश का अनुष्ठान 'तप' है– ऐसा भी लक्षण आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक (6/24) में किया है।

उस तप के दो भेद हैं– बाह्य व आभ्यन्तर। इन दोनों में भी प्रत्येक के छः-छः भेद हैं। बाह्य तप के जो छः भेद हैं, वे इस प्रकार हैं– अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश। आभ्यन्तर तप के भी ये छः भेद हैं– प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यान।

उक्त सभी बारह तप सम्यक्त्वपूर्वक किये जाने पर ही संवर व निर्जरा के हेतु होते हुए मोक्ष के साधक होते हैं, अन्यथा नहीं। मिथ्यात्व युक्त तप की तो 'बाल तप' संज्ञा है। इसलिए 'सम्यक् तप' की साधना ही श्रेयस्कर है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 1467-1468) में कहा भी गया है– ''निर्दोष तप से जो प्राप्त न हो सके– ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। जैसे प्रज्वलित अग्नि तृण को जला डालती है, वैसे ही तप रूपी अग्नि कर्मरूपी तृण को जला डालती है।''

*सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं।*
*कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्सं॥*

**मोक्षप्राभृते** *(गाथा-60)* **चोपदिष्टम्–**

*धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।*
*णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि॥*

**तपश्चरणे स्वशक्तिनिगूहनं नैव विधेयम्, स्वपूर्णशक्त्यनुरूपं तपो विधेयमिति मूलाचारे** *(गाथा-669)* **परामृष्टम्–**

*बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं।*
*काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो॥*

**भगवती-आराधनाग्रन्थे च** *(गाथा-1448)* **समर्थितमेतत्–**

---

"सम्यक् प्रकार से किया गया और कर्मास्रव-रहित तप का फल वर्णन करने में वे भी समर्थ नहीं जिनकी सैकड़ों-हजारों जिह्वाएँ हैं।"

मोक्षप्राभृत (गाथा-60) में भी उपदेश यह प्राप्त होता है–

"जो तीर्थंकर (होने वाले ही) हैं, जो चार ज्ञानों से सम्पन्न भी हैं, जिन्हें मोक्ष होना निश्चित है, वे भी तप करते हैं, ऐसा जानकर ज्ञानसम्पन्न होने पर भी निश्चित रूप से तपश्चर्या करें।"

तपश्चर्या में अपनी शक्ति को छिपाना नहीं चाहिए, अपनी पूरी शक्ति के अनुरूप तप करना चाहिए –ऐसा मूलाचार (गाथा-669) में समझाया गया है–

"बल और आत्म-शक्ति का आश्रय लेकर, क्षेत्र, काल व शरीर-संहनन –इनके बल की अपेक्षा से कायोत्सर्ग के दोषों का त्याग करता हुआ कायोत्सर्ग करें।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1448) में भी इसका समर्थन करते हुए कहा गया है–

*अप्पा य वंचिओ तेण होइ विरियं च गूहियं भवदि।*
*सुहसीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणियं॥*

**सर्वविधं तपो व्रतिनामेव महाफलदायकं भवति, अव्रतिनां तु तन्निरर्थकमिव सिद्ध्यति। उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-942)*–

*सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।*
*होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स॥*

**एवं भो मोक्षार्थिन्! निःशेषकर्मक्षये एव मोक्षः, स च क्रमशस्तपसैव –इति दृष्ट्या तपःस्वरूपं विज्ञाय अनगूहितशक्तिर्भूत्वा नित्यं तपश्चरणे प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

"अपनी शक्ति के अनुरूप तप में जो प्रवृत्त नहीं होता, उसने अपनी आत्मा को ही ठगा है और अपनी शक्ति को छिपाया है– सुख-आसक्त होने से जीव को असातावेदनीय का, अनेक भवों में तीव्र दुःख देने वाला तीव्र पाप-बंध होता है।"

सभी प्रकार के तप व्रतधारियों को ही महनीय फल प्रदान करते हैं, अव्रती (गृहस्थों) के लिए तो वे निरर्थक जैसे सिद्ध होते हैं। मूलाचार (गाथा-942) में कहा भी गया है–

"अविरत सम्यग्दृष्टि का तप महान् उपकारी नहीं होता। वह तो उसके लिए हस्ति-स्नान की तरह या फिर छेद करने वाले बर्मे की तरह होता है।" *[हाथी नहाकर एक बार तो मलहीन होता है, किन्तु तुरन्त सूँड से नयी मिट्टी स्वयं पर डाल लेता है। इसी तरह लकड़ी में छेद करने वाला बरमा (सूआ) कचरा या लकड़ी का जितना चूरा बाहर फेंकता है, उतना ही और अन्य कचरे से युक्त हो जाता है, इसी तरह अविरत सम्यग्दृष्टि जितनी निर्जरा तप से करता है, उससे अधिक कर्मबन्ध कर लेता है।]*

इस तरह हे मोक्षार्थी! समस्त कर्मों का निर्मूल क्षय करने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है और वह तप से ही क्रमशः सम्भव है– ऐसा जानकर अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हुए नित्य ही तपश्चर्या में प्रयत्नशील रहो –यह गाथा का तात्पर्य है।

**सम्प्रति शास्त्रकारा उत्तमत्यागधर्मस्य स्वरूपं सम्यक् निर्दिशन्ति–**

**णिव्वेगतियं भावदि मोहं चइदूण सव्वदव्वेसु।**
**जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं॥ ७८॥**

***छाया–*** *निर्वेदत्रिकं भावयति मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु।*
*यः तस्य भवेत् त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः॥*

**( सर्वोदया टीका– )** *(जो)* **यो मुनिः श्रमणो वा,** *(सव्वदव्वेसु)* **सर्वद्रव्येषु, द्रव्याणि त्रिविधानि–चेतन–अचेतन–मिश्रभेदात्। यथा चेतनद्रव्याणि स्त्रीमित्रपुत्रदासदासीप्रभृतीनि। क्षेत्रवास्तुरजतस्वर्णधनधान्यभाण्डादीनि अचेतनद्रव्याणि। सालंकारवनिताः यद्वा ग्रामनगरादि-वाच्यानि मिश्रद्रव्याणि। एतेषु सर्वेषु द्रव्येषु,** *(मोहं चइदूण)* **मोहं त्यक्त्वा, अत्र मोहपदेन रागादिकानां ग्रहणं कार्यम्। सिद्धान्तग्रन्थेषु क्रोध–मान–माया–लोभ–हास्य–रति–अरति–शोक–भय–जुगुप्सा–स्त्रीवेद–पुंवेद–नपुंसकवेद–मिथ्यात्वेतिसमूहो मोहो भणितः। समासेन तु मोह–राग–द्वेषभेदात् त्रिभूमिको मोहः प्रोक्तः।**

---

अब शास्त्रकार उत्तम त्याग धर्म के सम्यक् स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं–

**( 78 )**

**( गाथा-अर्थ– ) जो ( मुनि ) समस्त द्रव्यों में मोह का त्याग करके ( संसार शरीर व भोगों के ) प्रति तीन प्रकार के निर्वेद की भावना करता है, उसके ( उत्तम ) त्याग धर्म होता है– ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( यः )** जो मुनि या श्रमण **( सर्वद्रव्येषु )** सभी द्रव्यों में। द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं– चेतन, अचेतन व मिश्र (चेतन–अचेतन)। जैसे– स्त्री, मित्र, पुत्र, नौकर, दासी आदि चेतन द्रव्य हैं। खेत, मकान, चाँदी–सोना, धन–धान्य, बर्तन आदि अचेतन द्रव्य हैं। अलंकारसहित व्यक्ति या ग्राम, नगर आदि संज्ञाओं से कहे जाने वाले स्थान–विशेष मिश्र द्रव्य हैं। इन सभी द्रव्यों में **( मोहं त्यक्त्वा )** मोह त्याग कर। यहाँ मोह पद से राग आदि अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। सिद्धान्तग्रन्थों में क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति–अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद व मिथ्यात्व –इन सभी को 'मोह' कहा गया है। संक्षेप में कहें तो मोह, राग व द्वेष –ये मोह के तीन प्रकार हैं।

**क्वचिच्च, मोहपदं ममत्वस्य रागस्य वा बोधकं भवति। स च रागश्चारित्रमोहनीयपरिणामः, शुभाशुभेतिरूपद्वयं बिभर्ति –इत्यादिकं पूर्वमेव** *(52 गाथाया व्याख्याने)* **विस्तरेण प्रतिपादितमस्ति। ममत्वार्थकं रागार्थकं वा मोहपदं मनसि निर्धार्य मोहस्य शुभाशुभरूपत्वं शास्त्रेषु निरूपितं दृश्यते। यथा– नियमसारग्रन्थस्य** *(गाथा-6)* **तात्पर्यवृत्तिटीकायां निर्दिष्टम्–** *''चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्तः, इतरोऽप्रशस्त एव।''* **तत्रैव नियमसारतात्पर्यवृत्तौ** *(गाथा-43)* **'निर्ममः' इत्यस्य** *'प्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात् निर्ममः'* **इत्येवं स्पष्टीकरणं कृतमस्ति। एवं मोहस्य ममत्वरूपोऽर्थोऽत्र गृह्यते चेत्, प्रशस्ताप्रशस्तेतिद्विप्रकारकोऽपि मोहो रागो वा परित्याज्यः, इति तात्पर्यमत्र विज्ञेयम्।**

*(णिव्वेगतियं भावदि)* **निर्वेदत्रिकं भावयति। शरीर-संसार-भोगेतिभेदेन निर्वेदस्य त्रयः प्रकाराः। अत्र संवेगनिर्वेदयोरन्तरं विज्ञेयम्। संवेगस्तु धर्मादिषु अनुरागसद्भावः, निर्वेदोऽभिलाषत्याग-रूपत्वात् निषेधरूपः। वस्तुतस्तयोर्विवक्षावशाद् भेदेऽपि फलितार्थतया तयोरभेद एव।**

---

कुछ स्थलों में, 'मोह' पद ममत्व या राग का बोधक भी (देखा गया) है। वह (ममत्व या राग) चारित्रमोहनीय का एक परिणाम है जो शुभ व अशुभ –इन दो प्रकार का होता है, इत्यादि कथन (इस सर्वोदया टीका में) पूर्व में (गाथा-52 के व्याख्यान में) विस्तार से प्रतिपादित किया जा चुका है। ममत्व या राग अर्थ वाले 'मोह' पद को दृष्टि में रखकर ही 'मोह' के शुभ-अशुभ भेद शास्त्रों में किये गये है। उदाहरणार्थ– नियमसार ग्रन्थ (गाथा-6) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है– ''चतुर्वर्ण श्रमण-संघ के प्रति वात्सल्य रूप 'मोह पद' (ममत्व) प्रशस्त है, अन्य (मोह) अप्रशस्त है।'' वहीं, नियमसार की (गाथा-6) तात्पर्यवृत्तिटीका में 'निर्मम' का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है– ''प्रशस्त-अप्रशस्त मोह, राग, द्वेष के अभाव होने से निर्मम'' (शुद्धात्मा है)। इस तरह 'मोह' का ममत्व या राग अर्थ यहाँ लिया जाए तो गाथा का तात्पर्य होगा– प्रशस्त या प्रशस्त –दोनों प्रकार का मोह या राग छोड़ने योग्य है, ऐस जानना चाहिए।

**( निर्वेदत्रिकं भावयति )** तीन प्रकार के निर्वेद की भावना करता है (अन्तर में उतारता है)। शरीर, संसार व भोग –इन तीन भेदों के कारण निर्वेद के तीन प्रकार हैं। यहाँ संवेग व निर्वेद का अन्तर जानने योग्य है। संवेग तो धर्म आदि में अनुराग का होना है, किन्तु निर्वेद अभिलाषाओं के त्याग रूप होने से निषेधात्मक स्वरूप वाला है। वस्तुतः इन दोनों में विवक्षा के कारण भेद होने पर भी फलितार्थ (तात्पर्य में) अभिन्नता ही है।

**उक्तं च पञ्चाध्यायीग्रन्थे** *(2/442-443)*–

*संवेगो विधिरूपः स्यात्, निर्वेदश्च निषेधनात्।*
*स्याद् विवक्षावशाद् द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः॥*

*त्यागः सर्वाभिलाषस्य, निर्वेदो लक्षणात्तथा।*
*स संवेगोऽथवा धर्मः, साभिलाषो न धर्मवान्॥*

**उपर्युक्तेषु त्रिषु निर्वेदेषु संसारदुःखभयाद् उद्विग्नस्य संसारनिर्वेदो भवति। निर्विण्णपुरुषः संसारप्रहाणाय नित्यं प्रयतते। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-73)*–

*इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊणं।*
*तं झायह ससरूवं संसरणं जेण णासेइ॥*

---

पंचाध्यायी ग्रन्थ (2/442-443) में कहा भी गया है–

"संवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है। विवक्षावश ही ये दो भेद हैं, वास्तव में इन दोनों में कोई भेद नहीं है।"

"सब प्रकार की अभिलाषाओं का त्याग निर्वेद है क्योंकि इसका यही लक्षण है। अथवा वह निर्वेद संवेग रूप धर्म को प्राप्त होता है, क्योंकि जो अभिलाषा सहित होता है, उसके संवेग धर्म नहीं हो सकता।"

उपर्युक्त तीनों निर्वेदों में, सांसारिक दुःखों के भय से उद्विग्न होने वाले के संसारनिर्वेद होता है। निर्वेदयुक्त व्यक्ति संसार से छूटने के लिए नित्य प्रयत्नशील रहता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-73) में कहा भी गया है–

"इस प्रकार (अनेक दुःखों की उत्पत्ति के कारण पाँच प्रकार के) संसार को जानकर, समस्त उपायों से मोह को त्याग कर, अपने निज (शुद्ध ज्ञानमय) स्वरूप का ध्यान करो जिससे संसार (में भ्रमण) का अन्त हो।"

**शरीरनिर्वेदः शरीरविषयकममत्वभावपरिहारः। तत्स्वरूपं च आत्मानुशासने** *(पद्य-195)* **प्रोक्तम्–**

*आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि, काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मान-*
*हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्युः, मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम्॥*

**यद्वा, समाधिशतके** *(श्लोक-15)* **प्रकटीकृतम्–**

*मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।*
*त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥*

**ज्ञानार्णवेऽपि** *(2/6/10-11)* **शरीरनिर्वेदस्वरूपमुदाहृतम्–**

*शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विसह्यते।*
*जन्मन्यस्मिंस्ततस्तद्धि निःशेषानर्थमन्दिरम्॥*

---

शरीर सम्बन्धी ममत्व भाव का परिहार करना–यही शरीरनिर्वेद है। उसका स्वरूप आत्मानुशासन (पद्य-195) में इस प्रकार कहा गया है–

"प्रारम्भ में शरीर उत्पन्न होता है, इसमें दुष्ट इन्द्रियाँ होती हैं, वे अपने-अपने विषयों को चाहती हैं, और वे विषय मानहानि, परिश्रम, भय, पाप व दुर्गति को देने वाले होते हैं। इस प्रकार से समस्त अनर्थों की परम्परा का मूल कारण यह शरीर ही तो है।"

अथवा, समाधिशतक (श्लोक-15) में इसे इस प्रकार प्रकट किया गया है–

"इस (जड़) शरीर में आत्मबुद्धि का होना ही संसार के दुःखों का कारण है। इसलिए (शरीर में आत्मत्व की जो मिथ्या कल्पना है) उसे छोड़कर बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकते हुए अन्तरङ्ग में (आत्मा में) ही प्रवेश करे।"

ज्ञानार्णव (2/6/10-11) में भी शरीर-निर्वेद का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है–

"(हे प्राणी!) तू इस शरीर को ग्रहण करके ही इस संसार में दुःख सह रहा है। इसलिए उसे ही तुम समस्त अनर्थों का घर समझो।"

*भवोद्भवानि दुःखानि यानि यान्यत्र देहिभिः।*
*सह्यन्ते तानि तान्युच्चैः, वपुरादाय केवलम्॥*

**भोगनिर्वेदश्च– भोगः परिहातव्यः इतिदृढभावनासंवलित आत्मीयपरिणामः। भोगाश्च गन्धमाल्यशिरःस्नानान्नपानादिपञ्चेन्द्रियविषयभोगरूपाः। परद्रव्यनिर्वेदयुक्तः सम्यग्ज्ञानी ज्ञाननिधेर्भोक्ता भवति। उक्तं च नियमसारे** *(गाथा–157)*–

*लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।*
*तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं॥*

*(तस्स चागो हवे)* **तस्य परद्रव्यमोहरहितस्य निर्वेदभावमापन्नस्य श्रमणस्य उत्तमत्यागधर्मो भवतीति ज्ञेयम्।** *(इदि जिणवरिंदेहिं भणिदं)* **इति उत्तमत्यागधर्मस्वरूपं यदत्र निर्दिष्टं तत् जिनवरेन्द्रैः भणितं कथितमुपदिष्टमित्यर्थः।**

---

"संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणी जिन–जिन दुःखों को यहाँ सहते हैं, उन महान् दुःखों को वे मात्र इस शरीर को ग्रहण करने के कारण ही सहा करते हैं।"

भोग त्याज्य हैं– इस दृढ़ भावना के साथ होने वाला जो आत्मीय परिणमन है –यही भोगनिर्वेद है। गन्ध, माला, शिरःस्नान, खाना–पीना इत्यादि पाँच इन्द्रियों के विषयों का भोग ही भोग है। पर–द्रव्यों के प्रति निर्वेद भाव से युक्त सम्यग्ज्ञानी अपनी ज्ञान–निधि का उपभोग करता रहता है। नियमसार (गाथा–157) में कहा गया है–

"जिस प्रकार कोई मनुष्य निधि को प्राप्त कर अपने स्वजनों के बीच, उसका फल भोगता है (आनन्द उठाता है), उसी प्रकार ज्ञानी ज्ञान रूपी निधि को प्राप्त कर, पर–पदार्थों को छोड़कर (उनसे अलग होकर) उसका अनुभव करता है।"

**(तस्य त्यागो भवेत्)** परकीय द्रव्य के प्रति मोह न रखने वाले निर्वेद भाव को प्राप्त हुए उस श्रमण के उत्तम त्याग धर्म होता है –यह जानें। **(इति जिनवरेन्द्रैः भणितम्)** –ऐसा जो उत्तम त्याग धर्म का स्वरूप यहाँ बताया गया है, वह जिनवरेन्द्रों द्वारा कहा गया, अर्थात् उपदिष्ट है।

**मिथ्यात्वरागादीन् जयतीति जिनः। ते च द्विविधाः– सकलजिनाः, देशजिनाश्च। एतयोरर्हन्तः, सिद्धाश्च सकलजिनाः। देशजिनास्तु असंयतसम्यग्दृष्टयः, देशसंयतश्रावकाः, सकलसंयमिनः, आचार्योपाध्यायादिपरमेष्ठिनः, किम्बहुना, सासादनसंज्ञकद्वितीयगुणस्थानादारभ्य क्षीणकषाय-संज्ञकद्वादशगुणस्थानपर्यन्तं विद्यमाना जीवा अपि भवन्ति। जिनवरास्तु सयोगकेवलिगुणस्थानवर्तिनः तीर्थंकरप्रकृत्युदयरहिताः सामान्यकेवलिप्रभृतयः केवलिनो भवन्ति। तीर्थंकराश्च समवसरणस्थिताः जिनवरेन्द्राः। अथवा गणधरा जिनवराः, तीर्थंकरपरमदेवास्तु जिनवरेन्द्राः। जिनवरेन्द्रैः भणितम्– इत्युक्त्या शास्त्रकाराः स्वकर्तृत्व-अहंकारहीनतां प्रकटयन्ति, तथा निजान्तरङ्गप्रकृष्टार्हद्भक्ति-भावप्रकटनेन स्वविनयं विज्ञापयन्ति।**

**अत्रायं विस्तरः– त्यागो नाम व्युत्सर्जनम्, यद्वा चेतनाचेतनपरिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः। संयतप्रायोग्याहारौषधिप्रभृतिदानं वा त्यागः। यद्वा निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहनिवृत्तिः त्यागः। मिथ्यात्व-रागादिकषाया आभ्यन्तरपरिग्रहरूपा ज्ञेयाः। परिग्रहश्च ममेदं वस्तु, अहमस्य स्वामी– इत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः। लोभकषायोदयात् विषयेषु सङ्गश्च परिग्रहः।**

मिथ्यात्व व राग आदि को जो जीतता है, वह 'जिन' होता है। वे जिन दो प्रकार के होते हैं– सकलजिन और देशजिन। इनमें अर्हन्त व सिद्ध तो 'सकलजिन' हैं, और देशजिन हैं– असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत श्रावक, सकलसंयमी, आचार्य, उपाध्याय आदि परमेष्ठी और अधिक क्या, सासादन नामक दूसरे गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक (के ग्यारह गुणस्थानों में) रहने वाले जीव भी हैं। सयोगकेवली गुणस्थान में विद्यमान सामान्यकेवली आदि केवली –जो तीर्थंकर प्रकृति के उदय से रहित हैं –वे जिनवर हैं। समवसरण में विराजमान तीर्थंकर देव जिनवरेन्द्र हैं। अथवा गणधर परमेष्ठी जिनवर हैं, और तीर्थंकर परमदेव जिनवरेन्द्र हैं। (उन) जिनवरेन्द्रों द्वारा कथित है –ऐसा कह कर शास्त्रकार अपने को कर्तृत्व के अहंकार से रहित प्रकट कर रहे हैं, और अपने आन्तरिक प्रकृष्ट अर्हद्-भक्ति भाव को प्रकट करते हुए विनय भाव प्रकट कर रहे हैं।

अब यहाँ विस्तार से कुछ कहना है– व्युत्सर्जन को या चेतन-अचेतन परिग्रह से निवृत्त होने को 'त्याग' कहते हैं। अथवा संयमी के योग्य आहार व औषधि आदि का दान त्याग है। या निज शुद्ध आत्मा का परिग्रह कर (शेष) बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहों से निवृत्त होना त्याग है। मिथ्यात्व, राग आदि को आभ्यन्तर परिग्रह रूप जानना चाहिए। कोई वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ –इस प्रकार आत्मा द्वारा आत्मीय मानने का अभिमान रूप जो संकल्प है, वह परिग्रह है। या लोभ कषाय के उदय से विषयों में संग (आसक्ति) ही परिग्रह है।

**स च त्यागो द्विविध:– बाह्योपधित्याग:, आभ्यन्तरोपधित्यागश्च। आभ्यन्तरोपधित्यागोऽपि द्विधा– यावज्जीवनं, नियतकालं च। तस्य त्यागस्य कृत-कारित-अनुमननै: वाक्कायमनोभिश्च क्रियमाणस्य नव भेदा अपि स्वीकृता:। उपधिपदं परिगृहीतपदार्थबोधकम्, उपेत्य रागक्रोधादयो धीयन्ते यस्मिन् इति उपधि: इतिनिर्युक्ते:। रागादिउत्पत्तिनिबन्धनो बाह्यपदार्थ उपधि:। यद्वा– यो भाव: परस्य निमित्तमुपधीयते इत्युपधि:, एतेनाभ्यन्तरोपधिग्रहणम्, रागादीनां परपदार्थनिमित्तक-उपधीयमानत्वात्। ज्ञानं तु नोपधि:, तस्य स्वत: प्रवर्तमानत्वात्, तस्य परपदार्थनिमित्तोत्पत्तिर्नास्तीतिभाव:। उपधित्यागविषये श्रमणायापवादमार्गोऽपि निर्दिष्ट: शास्त्रेषु। परमनैर्ग्रन्थ्यमेवोत्सर्गमार्ग:। किन्तु द्रव्यक्षेत्रकालभावादिविचारोऽपि प्रवृत्तौ अपेक्ष्यते।**

**उक्तं चानगारधर्मामृते** *(5/65)*–

*द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं, भावं वीर्यं समीक्ष्य च।*
*स्वास्थ्याय वर्ततां सर्व-विद्ध-शुद्धाशनै: सुधी:॥*

---

वह त्याग भी दो प्रकार का होता है– बाह्य उपधि-त्याग और आभ्यन्तर उपधि-त्याग। आभ्यन्तर उपधि-त्याग भी दो प्रकार का होता है– यावज्जीवन व नियतकालिक। उस त्याग के कृत-कारित-अनुमत –इन तीन रूपों में तथा मन-वचन-शरीर –इन तीन से किये जाने के कारण नौ भेद भी माने गए हैं। उपधि-यह शब्द परिग्रह रूप से गृहीत पदार्थ का बोधक है, क्योंकि आकर के जहाँ राग व क्रोध आदि पुष्ट होते हैं, उसका नाम उपधि है –ऐसी निर्युक्ति की जाती है। अर्थात् रागादि की उत्पत्ति में निमित्तभूत बाह्य पदार्थ उपधि होते हैं। अथवा–जो भाव (परिणाम) पर के निमित्त से पुष्ट होता है, वह उपधि है, इस निर्वचन से आभ्यन्तर उपधि का ग्रहण (बोध) हो जाता है, क्योंकि राग आदि पर पदार्थों के निमित्त से पुष्ट होते हैं। 'ज्ञान' गुण तो उपधि (में परिगणित) नहीं होता, क्योंकि वह स्वत: प्रवर्तमान होता है, उसकी उत्पत्ति पर-पदार्थों के निमित्त से नहीं होती। उपधि (परिग्रह) के त्याग के बारे में श्रमण के लिए अपवाद मार्ग का भी निर्देश शास्त्रों में प्राप्त होता है। परम निर्ग्रन्थ (अपरिग्रही) होना ही उत्सर्ग (सामान्य) मार्ग है। किन्तु इसमें प्रवृत्ति करते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव का भी विचार अपेक्षित होता है।

अनगारधर्मामृत (5/65) में कहा भी गया है– "विचारपूर्वक कार्य करने वाले साधु को द्रव्य, क्षेत्र, अपनी शारीरिक शक्ति, भाव (श्रद्धा, उत्साह आदि) तथा अपनी (संहनन आदि की) नैसर्गिक सामर्थ्य का अच्छी तरह विचार करके स्वास्थ्य के लिए सर्वाशन, विद्धाशन और शुद्धाशन के द्वारा भोजन

**एवं विचारणायां क्वचिदपवादमार्गोऽपि समाश्रीयते। अत्र विषये श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यवरैः प्रवचनसारे** *(3/22-23)* **निर्देशकसूत्रमारचितम्–**

*छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।*
*समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता॥*

*अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।*
*मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं॥*

**तैस्तु अप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिग्रहणाय कृत उपदेशः। यथा प्रवचनसारे** *(3/26)*–

*इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।*
*जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो॥*

---

ग्रहण करना चाहिए।'' *[एषणा समिति से शुद्ध भोजन सर्वाशन है। तेल-घी आदि से रहित एवं कांजी, शुद्ध तक्र आदि से युक्त भोजन विद्धाशन है। जो पककर जैसै तैयार हुआ, वैसा ही भोजन शुद्धाशन होता है।]*

इसी विचारणा में कभी अपवाद मार्ग भी स्वीकार करना होता है। इस बारे में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार (3/22-23) में निर्देशक सूत्र इस रूप में प्रस्तुत किया है–

''परिग्रह सेवन करने वाले मुनि द्वारा वस्तु के ग्रहण व त्याग करने में जिस परिग्रह से शुद्धोपयोग रूप संयम का घात नहीं होता, उस परिग्रह में मुनि काल व क्षेत्र का विचार कर प्रवृत्त हो (तो कोई हानि नहीं)।''

''(अपवादमार्गी) मुनि ऐसे परिग्रह को ग्रहण करे तो कोई दोष नहीं। जो परिग्रह बन्ध नहीं करता, असंयमी जनों द्वारा प्रार्थनीय है, ममता आदि दुर्भावों की उत्पत्ति से रहित होता है, वही ग्रहण योग्य है, किन्तु उससे विपरीत परिग्रह थोड़ा भी हो तो त्याज्य है।''

उन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार (3/26) में शरीर मात्र उपधि को अप्रतिषिद्ध (ग्राह्य) मानते हुए उसी के ग्रहण का उपदेश इस प्रकार दिया है–

''जो श्रमण है, वह इस लोक की कोई अपेक्षा नहीं रखता, वह परलोक की भी आकांक्षा से रहित होता है, वह कषायरहित एवं योग्य आहार-विहार करने वाला होता है।''

**भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-164)* **तु संयमसाधनोपकरणानां परिग्रहोऽनुमतः इत्युक्तम्–**

*संजमसाधनमेत्तं उवधिं मोत्तूण सेसवं उवधिं।*
*पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्तिं गवेसंतो॥*

**कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-401)* **च समर्थितमेतत्–**

*जो चयदि मिट्ठभोज्जं उवयरणं रायदोससंजणयं।*
*वसदिं ममत्तहेदुं चायगुणो सो हवे तस्स॥*

**प्रवचनसारे** *(3/20)* **परिणामविशुद्धिहेतोः बाह्यपरिग्रहत्याग आवश्यकः इत्युक्तम्–**

*ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।*
*अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ॥*

---

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-164) में संयम में साधक उपकरणों का परिग्रह अनुमति योग्य है– ऐसा कहा गया है–

''मुक्ति को खोजने वाला विशुद्ध लेश्या से युक्त साधु संयम के साधन मात्र परिग्रह को छोड़कर शेष परिग्रह को प्रकर्ष से, अर्थात् मन-वचन-काय से त्याग दे।''

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-401) में उक्त तथ्य का ही समर्थन करते हुए कहा गया है–

''जो मीठे भोजन को, राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले उपकरण को, तथा ममत्व भाव की उत्पत्ति में निमित्त होने वाली वसति (निवास) को छोड़ देता है, उस मुनि के त्याग धर्म होता है।''

प्रवचनसार (3/20) में भी यह कहा गया है कि परिणाम-विशुद्धि हेतु बाह्य परिग्रह का त्याग आवश्यक है–

''मुनि का त्याग यदि निरपेक्ष नहीं है तो उसके उपयोग-विशुद्धि नहीं हो सकती और जिसके उपयोग की विशुद्धता नहीं है, उसके कर्म-क्षय कैसे हो सकता है?''

**प्रवचनसारस्य** *(3/22)* **तत्त्वप्रदीपिकाटीकायामाचार्यामृतचन्द्रैः उपधिविषये उत्सर्ग-अपवादयोः संक्षेपेण निदर्शनं विहितम्–** *"आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात् सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः। अयं तु विशिष्टकालक्षेत्रवशात् कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः। यदा हि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परमुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवश-अवसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते, तदाऽपकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानः तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते। स तु तथा स्थीयमानो न खलु उपधित्वात् छेदः, प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव।"*

**किञ्च, पूर्वोक्तटीकायामेव अन्यत्र** *(3/20 प्रवचनसार)* **प्रतिपादितम्–** *"न खलु बहिरङ्गसंग-सद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगत-अशुद्धत्वस्य इव अशुद्धोपयोगरूप-अन्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधस्तत्सद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य केवलस्योपलम्भः"।*

---

प्रवचनसार (3/22) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र जी ने उपधि के विषय में उत्सर्ग व अपवाद –दोनों का संक्षेप से इस प्रकार निदर्शन कराया है– "उत्सर्ग मार्ग वह है जहाँ सभी परिग्रह निषिद्ध हैं, क्योंकि आत्मा के एक अपने भाव के सिवाय पर-द्रव्य रूप दूसरा पुद्गल भाव नहीं है, अतः उत्सर्ग मार्ग परिग्रह-रहित है, और यह विशेष रूप अपवाद मार्ग है, वह काल, क्षेत्र के कारण से किसी एक परिग्रह को ग्रहण करता है, इसलिए अपवाद भेद रूप है। (उदाहरण-स्वरूप) जिस समय कोई एक मुनि सभी परिग्रहछोड़कर परमवीतराग संयम को प्राप्त होना चाहता है, वही मुनि किसी काल-विशेष के कारण या क्षेत्रविशेष के कारण हीन शक्तिवाला होता है, तब वही वीतराग संयम दशा को धारण नहीं कर सकता, इसलिए सरागसंयम अवस्था को अंगीकार करता है और उस अवस्था के बाह्य साधन परिग्रह को ग्रहण करता है। उस परिग्रह को ग्रहण कर वर्तते हुए मुनि के उस परिग्रह से संयम का घात नहीं होता।"

और, वहीं उसी टीका में एक स्थान पर (3/20 प्रवचनसार) में यह प्रतिपादित किया गया है– "यदि मुनि के तिल-तुष मात्र भी बाह्य परिग्रह हो तो अन्तरङ्ग में शुद्धोपयोग रूप संयम का घात अवश्य होता है, उतने ही परिग्रह से अशुद्ध भाव अवश्यमेव होते हैं। जिस प्रकार चावल के ऊपर तुस (छिलके) के होने से चावल में अवश्य (आरक्तमल– ललाई लिए हुए मल जैसी) अशुद्धता रहती है, उसी तरह मुनि के भी किंचित् मात्र भी बाह्य परिग्रह के होने पर आभ्यन्तर में निश्चय से अशुद्ध भाव होते हैं। जिस मुनि के कुछ भी परिग्रह है, उसके शुद्धोपयोग नहीं होता और जिसके शुद्धोपयोग नहीं, वहाँ केवल ज्ञान-पद की प्राप्ति नहीं होती।"

**अत्रैव** *(3/20)* **तात्पर्यवृत्तिटीकायामपि पूर्वोक्ततथ्यं विशदीकृतम्–** *"यथा बहिरङ्गतुषसद्भावे सति तण्डुलस्य आभ्यन्तरशुद्धिं कर्तुं नायाति, तथा विद्यमानेऽविद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहे अभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपां चित्तशुद्धिं कर्तुं नायाति। यदि पुन: विशिष्टवैराग्यपूर्वकपरिग्रहत्यागो भवति, तदा चित्तशुद्धिर्भवत्येव, ख्यातिपूजालाभनिमित्तत्यागे तु न भवति।"*

**त्यागधर्मपालनाय विशेषभावना अपि भावनीया भवन्ति। यथा राजवार्तिके** *(9/6/27)* **उदाहृतम्–** *"उपधित्याग: पुरुषहित:। यतो यत: परिग्रहादपेत:, ततस्ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति। निरवद्ये मन:प्रणिधानं पुण्यविधानम्। परिग्रहाशा बलवती सर्वदोषप्रसवयोनि:। न तस्या उपधिभि: तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेरिह बडवाया:। अपि च क: पूरयति दु:पूरमाशागर्तम्। दिने दिने यत्रास्तमस्तमाधेयम् आधारत्वाय कल्पते। शरीरादिषु निर्ममत्व: परमनिवृतिमवाप्नोति। शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य सर्वकालमभिष्वङ्ग एव संसारे।"*

---

इसी स्थल पर (3/20 प्रवचनसार) की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी पूर्वोक्त तथ्य को स्पष्ट किया गया है– "जिस प्रकार बाह्य तुष (छिलके) के होने पर चावल की आन्तरिक शुद्धि करना शक्य नहीं होता (अर्थात् आन्तरिक शुद्धि नहीं की जा सकती है), इसी तरह बाह्यपरिग्रह हो या न हो, अभिलाषा यदि है तो निज शुद्धात्मा की अनुभूति रूपी चित्त-शुद्धि नहीं की जा सकती। और, यदि विशिष्ट वैराग्य के साथ परिग्रह का त्याग होता है तो चित्त-शुद्धि होगी ही। हाँ, ख्याति, पूजा का लाभ पाने के लक्ष्य से बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाए तो वह चित्त-शुद्धि नहीं होती।"

त्याग धर्म की पालना की दृष्टि से विशेष भावनाएँ भी भावनीय (बारम्बार चिन्तनीय, मननीय) होती हैं। जैसा कि, राजवार्तिक (9/6/27) में उदाहरणस्वरूप कहा गया है– "उपधि (परिग्रह) का त्याग करना व्यक्ति के लिए हितकारी है। जैसे-जैसे व्यक्ति परिग्रह से रहित होता है, वैसे-वैसे उसके खेद (की उत्पत्ति) के कारणों में कमी आती जाती है। खेदरहित मन में उपयोग की एकाग्रता और पुण्यसंचय की स्थिति बनती है। परिग्रह की आशा बड़ी बलवती होती है। वह समस्त दोषों की उत्पत्ति का स्थान है। जैसे पानी से समुद्र का बडवानल शान्त नहीं होता, वैसे ही परिग्रह से आशा-समुद्र की तृप्ति नहीं हो सकती। आशा के इस गड्ढे को भरना कठिन होता है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है, वह उसी में समाकर नये पदार्थों की प्राप्ति हेतु आधार बनता जाता है (अर्थात् कितना ही भरो, वह खाली जैसा ही रहता है)। शरीरादि से ममत्व-शून्य व्यक्ति (ही) परमसन्तोष को प्राप्त होता है। शरीर आदि में राग उत्पन्न करने वाले के तो हमेशा संसार-परिभ्रमण सुनिश्चित ही है।"

**तथा च कुरलकाव्ये *(35/1, 6)* च सम्यक् परामर्शो दत्तः–**

*मन्ये ज्ञानी प्रतिज्ञाय यत् किञ्चित् परिमुञ्चति।*
*तदुत्पन्नमहादुःखात् निजात्मा तेन रक्षितः॥*

*अहं ममेति संकल्पः, गर्वस्वार्थित्वसंभृतः।*
*जेताऽस्य याति तं लोकं स्वर्गादुपरिवर्तिनम्॥*

**एवं सर्वतोभावेन निजशुद्धात्मैव परिग्रहणीयः, तदन्यशेषबाह्यान्तरोपधित्याग उत्तमत्यागधर्मः तपोधनापेक्षया ज्ञेयः। गृहस्थानां तु संयतजनाय सत्पात्रभूताय धर्मसाधनभूतयोग्याहारौषधिज्ञानादिदानं नवधाभक्तिपूर्वकं तैर्यद् दीयते तत् त्यागो ज्ञेयः। यद्वा अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्तवीर्य-विरति-क्षायिकसम्यक्त्वादिगुणानां साधकाय मुनिजनाय निरास्रवं निरवद्यं वा प्रासुकसंज्ञकं ज्ञानदर्शन-चारित्ररूपं यद् दीयते, तस्य त्यागसंज्ञा विज्ञेया। एवं त्यागधर्म एष श्रावकाणां श्रमणानां च कृते हिताय भवति।**

---

इसी तरह कुरल काव्य (35/1, 6) में भी समीचीन परामर्श दिया गया है–

"मनुष्य ने जो वस्तु छोड़ दी है, उससे पैदा होने वाले दुःख से उसने स्वयं को मुक्त कर लिया है।" (35/1)

" 'मैं' और 'मेरे' के जो भाव हैं, वे घमण्ड और स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जो व्यक्ति उनका दमन कर लेता है, वह देवलोक से भी उच्च लोक को प्राप्त करता है।"

इस प्रकार, सभी प्रकार से निज शुद्धात्मा का तो परिग्रह करणीय है, बाकी उससे भिन्न बाह्य व आन्तरिक उपधियों का त्याग करना –यही तपस्वी जनों का उत्तम त्याग धर्म है –ऐसा जानें। सत्पात्र संयमी जन को उसके धर्म में साधक होने वाले योग्य आहार, औषधि व ज्ञान आदि का नवधा भक्तिपूर्वक जो दान किया जाता है, वह तो गृहस्थों के लिए करणीय त्याग धर्म है –यह जानें। अथवा-अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्तवीर्य-विरति-क्षायिक सम्यक्त्व आदि गुणों के जो साधक मुनिजन हैं, उन्हें प्रासुक यानी आस्रव-रहित या निर्दोष ज्ञान, चारित्र आदि का जो दान दिया जाता है, उसकी त्याग संज्ञा जाननी चाहिए। इस प्रकार यह त्याग धर्म श्रावक व श्रमण- दोनों के लिए हितकारी है।

**एवं भो भव्यजीव! स्वपरयोर्विवेकं प्राप्य परद्रव्येषु आसक्तिं ममतां च परित्यज। आसक्तिहेतुकाः चेतनाचेतनपदार्था अपि त्याज्याः, अन्यथा अविकल्पसमाधिर्दुर्लभ एव, अतः सर्वमुक्तं सम्यक् विचार्य मोहमूर्च्छां परित्यजेति गाथायाः सारः।**

**सम्प्रति शास्त्रकारा उत्तमाकिञ्चन्यधर्मस्वरूपं निर्दिशन्ति–**

**होदूण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।**
**णिद्दंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्स किंचण्हं॥ ७९॥**

**छाया–** *भूत्वा च निस्सङ्गः निजभावं निगृह्य सुखदुःखदम्।*
*निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते, अनगारः तस्य आकिञ्चन्यम्॥*

**( सर्वोदया टीका– )** *(अणयारो)* **अगारशब्दः गृहादिपरिग्रहसूचकः, स यस्य न भवति, सोऽनगारः, श्रमणो मुनिर्वा।** *(णिस्संगो होदूण य)* **निःसङ्गो भूत्वा च। निर्गतः सङ्गात् इति निःसङ्गः। सङ्गः परिग्रहः, तद्रहितो निस्सङ्गो भवति। अर्थात् आन्तरिकबाह्यसर्वविधपरिग्रहनिर्मुक्तः सन्।**

---

इस प्रकार, हे भव्य प्राणी! स्व व पर का विवेक प्राप्त कर, परकीय द्रव्यों में आसक्ति व ममत्व को छोड़ो। इनके प्रति आसक्ति में कारण होने वाले चेतन-अचेतन पदार्थों का त्याग करो, अन्यथा निर्विकल्प समाधि की स्थिति तक पहुँचना दुर्लभ ही होगा, इसलिए समस्त पूर्वकथन पर अच्छी तरह विचार कर, मोह-मूर्च्छा का त्याग करो –यह गाथा का सार है।

अब शास्त्रकार उत्तम आकिञ्चन्य धर्म के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं–

( 79 )

**( गाथा-अर्थ– ) जो अनगार ( मुनि ) निस्सङ्ग ( अपरिग्रही ) होकर सुख व दुःख को देने वाले अपने भावों ( परिणामों ) का निग्रह करते हुए निर्द्वन्द्वता ( समता ) के साथ प्रवर्तता है, उसके ( उत्तम ) आकिञ्चन्य धर्म होता है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( अनगारः )** अगार शब्द घर आदि परिग्रह का सूचक है, वह (परिग्रह) जिसके नहीं होता, वह अनगार या श्रमण या मुनि होता है। **( निस्सङ्गो भूत्वा च )** तथा निस्सङ्ग होकर। सङ्ग से निर्गत, वह निःसङ्ग है। सङ्ग यानी परिग्रह, उससे रहित निस्सङ्ग होता है, अर्थात् आन्तरिक व बाह्य सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त होकर।

**परिग्रहे सति धर्मसाधना न कर्तुं शक्या, यतो हि परिग्रही बहुविधदोषाक्रान्तत्वात् धर्माचरणात् प्रच्युत एव भवति। उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(16/12)*–

*संगात्कामस्ततः क्रोधः, तस्माद् हिंसा तयाऽशुभम्।*
*तेन श्वाभ्री गतिस्तस्याम्, दुःखं वाचामगोचरम्॥*

**किं च, तत्रैव** *(16/25)*–

*अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम, स्थिरत्वं वा सुराचलः।*
*न पुनः सङ्गसंकीर्णः, मुनिः स्यात् संवृतेन्द्रियः॥*

**भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1119)* **च स्पष्टीकृतमेतत्**–

*संगणिमित्तं मारेइ, अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं।*
*भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो॥*

---

परिग्रह होने पर धर्म-साधना की नहीं जा सकती, क्योंकि परिग्रही अनेक प्रकार के दोषों से युक्त होने से धर्म से च्युत (भ्रष्ट) होगा ही। ज्ञानार्णव (16/12) में कहा भी गया है–

"परिग्रह से विषय-भोग की इच्छा जागती है, उसके परिणामस्वरूप क्रोध, उससे हिंसा के भाव और उसके परिणामस्वरूप अशुभ कर्म का उपार्जन होकर नरक गति की प्राप्ति होती है, जहाँ पर अनिर्वचनीय दुःख भोगना पड़ता है।"

और भी, वहीं (16/25) यह भी बताया गया है–

"भले ही सूर्य अपने तेज को छोड़ दे, मेरु पर्वत अपनी स्थिरता को त्याग दे, किन्तु परिग्रह से युक्त मुनि कभी जितेन्द्रिय हो ही नहीं सकता।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1119) में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"परिग्रह के लिए जीव प्राणियों को मारता है, असत्य भाषण करता है, चोरी करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है, और मैथुन-सेवन भी करता है।"

**परिग्रहासक्तो जनस्तत्संरक्षणाय, तदर्जनाय च हिंसा-मृषावाद-चौर्य-प्रभृतिषु सर्वेषु सावद्यकार्येषु निस्सङ्कोचं समुद्यतते, दुर्ध्यानाविष्टो भवति, ततश्चाशुभोपयोगपरिणामबाहुल्यात् संयमात् प्रभ्रष्ट एव बोभवीति। अतः सर्वसङ्गत्यागी एव जीवो प्रशस्तध्यानधुरां वोढुं क्षमते –इत्यत्र न सन्देहलेशः।**

**उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(16/33)–*

*सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः, संवृताक्षः स्थिराशयः।*
*धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णिताम्॥*

**वस्तुतो निस्सङ्गस्य सुखं चक्रवर्तिसुखमपि अतिशेते। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1177)–*

*रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं।*
*णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि॥*

परिग्रह की आसक्ति वाला व्यक्ति उसकी रक्षा के लिए, उसके उपार्जन के लिए हिंसा, असत्यभाषण, चोरी आदि सभी (हिंसक) सदोष कार्यों में बेहिचक उद्यत हो जाता है, दुर्ध्यान में लीन होता है और परिणाम स्वरूप अशुभोपयोग परिणामों की अधिकता के कारण संयम से भ्रष्ट होता ही होता है। इसलिए सर्वविध परिग्रह का त्याग करने वाला ही जीव प्रशस्त ध्यान (धर्मध्यान) की धुरा को वहन करने में सक्षम हो पाता है –इसमें किसी संदेह का लेश नहीं है।

ज्ञानार्णव (16/32) में कहा भी गया है–

''जो धीर-वीर साधु सम्पूर्ण परिग्रह से ममत्व छोड़ चुका है, वही इन्द्रिय-निग्रही होता हुआ दृढ़ अभिप्राय के साथ वीर जिनेन्द्रदेव द्वारा बताये हुए ध्यान के भार को धारण या वहन कर पाता है।''

वस्तुतः निस्सङ्ग (अपरिग्रही) व्यक्ति का सुख तो चक्रवर्ती के सुख से भी अत्यधिक होता है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1177) में कहा गया है–

''चक्रवर्ती के सुख का फल राग है, तथा वह तृष्णा को बढ़ाता है और अत्यन्त गृद्धि-लम्पटता को पैदा करता है। उसमें तृप्ति नहीं है। अतः अपरिग्रही को परिग्रह का त्याग करने पर जो सुख होता है, उसके अनन्तवाँ भाग भी चक्रवर्ती का सुख नहीं होता।''

**किन्तु सम्यगवधेयमत्र यत्परिग्रहत्यागो भावरहितमुनीनां निरर्थकमेव। उक्तं च भावप्राभृते** *(गाथा-89)–*

*बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।*
*सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं॥*

**एवं परिग्रहस्य दोषान् विज्ञाय, भावश्रमणत्वं दधन् सर्वविधसङ्गमुक्तो भूत्वा** *(सुहदुहदं णियभावं णिग्गहित्तु य)* **सुखदुःखदं निजभावं निगृह्य च। निजात्मपरिणामा एव शुभाशुभाः स्वानुरूपकर्मबन्धमाध्यमेन सुखदुःखात्मकफलानुभवने हेतुतां वहन्ति।**

**उक्तं च प्रवचनसारे** *(2/89)–*

*सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु।*
*परिणामो ण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥*

---

किन्तु यहाँ अच्छी तरह समझने की बात यह है कि परिग्रह का त्याग भावरहित (द्रव्यलिङ्गी) मुनियों के लिए निरर्थक ही है। भावप्राभृत (गाथा-89) में कहा भी गया है–

"भावरहित मुनियों द्वारा किया गया बाह्य परिग्रह का त्याग, पर्वत, नदी, गुफा, खोह आदि में निवास करना तथा ज्ञान के लिए शास्त्रों का अध्ययन करना –यह सब व्यर्थ है।"

इस प्रकार, परिग्रह के दोषों को जानकर, भावश्रमणता को धारण करते हुए, सभी प्रकार के परिग्रह से मुक्त होकर **( सुखदुःखदं निजभावं निगृह्य च )** सुख व दुःख देने वाले अपने भावों (परिणामों) का निग्रह करके। (क्योंकि) अपने आत्मीय परिणाम ही शुभ या अशुभ रूप में अपने अनुरूप कर्म-बन्ध के माध्यम से सुख या दुःख रूप फल के अनुभव में हेतु बनते हैं।

प्रवचनसार (2/89) में कहा गया है–

"शुद्धात्मा से भिन्न पदार्थों में होने वाले शुभ परिणाम को पुण्य तथा अशुभ परिणाम को पाप कहा गया है। किन्तु पर पदार्थों से हटकर निज शुद्धात्म द्रव्य में होने वाला जो (स्वभाव) परिणाम है, उसे ही सिद्धान्त में दुःख के क्षय का कारण कहा गया है।"

**उक्ताः शुभाशुभभावाः कर्मबन्धकारकाः, किन्तु आत्मनः शुद्धो भावः कर्मक्षयकारणत्वेन मोक्षात्मकपरमसुखदायकः सिद्ध्यति।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 12, खण्ड-4, भाग-2, सूत्र 8-3)*– *"कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहिंतो जायदे, सुद्धपरिणामेहिंतो तेसिं दोण्णं पि णिम्मूलक्खओ।"*

**अतएव योगसारे योगीन्दुदेवकृते** *(14)* **भणितम्–**

*परिणामे बंधु जि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि।*
*इउ जाणेविणु जीव तुहुं तहभाव हु परियाणि॥*

**पञ्चास्तिकाये** *(गाथा-148)* **च भणितम्–** *'भावणिमित्तो बंधो, भावो रदिरागदोसमोहजुदो'* **इति। अत्र शास्त्रकारेण सुखदुःखप्रदनिजभावनिग्रहणं कृत्वा –इति यदुक्तम्, तेन शुभाशुभ-परिणामनिग्रहं विधाय शुद्धोपयोगप्राप्तिसंकेतो विहितः। ये भावा आत्मीयपरिणामा लौकिक-सुखदुःखप्रदाः, तेषां निग्रहं विधाय, स्वभावे स्थित्वेति तात्पर्यम्।**

---

उपर्युक्त शुभ व अशुभ भाव कर्म-बन्ध कराते हैं, किन्तु आत्मा का शुद्ध भाव कर्मक्षय में कारण होता हुआ मोक्षरूप परमसुख का दायक सिद्ध होता है।

धवला (पु. 12, खण्ड-4, भाग-2, सूत्र 8-3) में कहा गया है– "शुभ व अशुभ परिणामों से तो कर्मबन्ध होता है, और शुद्ध परिणामों से उन दोनों का निर्मूल क्षय होता है।"

इसी दृष्टि से आचार्य योगीन्दु देव कृत योगसार (14) में कहा गया है–

"परिणाम से ही जीव को बन्ध होना कहा गया है और परिणाम से ही मोक्ष होना भी। यह समझ कर हे जीव! तू निश्चय से उन भावों को जानो।"

पञ्चास्तिकाय (गाथा-148) में भी कहा गया है– "बन्ध भावों के निमित्त से होता है और वे भाव रति, राग-द्वेष व मोह से युक्त होते हैं।" यहाँ शास्त्रकार द्वारा 'सुख-दुःखदायक निज भावों का निग्रह कर' यह जो कहा गया है, उससे यह संकेत मिलता है कि शुभ व अशुभ- (दोनों प्रकार के) परिणामों का निग्रह करके शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है। जो भाव या आत्मीय परिणाम सांसारिक सुख व दुःख को प्रदान करने वाले हैं, उनका निग्रह करके यानी 'स्वभाव में स्थित होकर' यह कहने का तात्पर्य है।

**क्वचित्संस्करणे** *'सुहदुहदं'* **इत्यस्य स्थाने** *'सुदुहदं'* **इत्यपि पाठः प्राप्यते। तदा सुदुःखदं भावं निगृह्येत्यर्थः। ये भावाः कर्मबन्धकारकतया दुःखदायकाः, तान् निगृह्येतिभावः। परमार्थतया शुभभावाः पुण्यबन्धका अपि संसारभ्रमणरूपं दुःखमेव ददति –इति तत्र दृष्टिर्मन्तव्या।**

*(णिद्दंदेण दु वट्टदि)* **निर्द्वन्द्वो भूत्वा वर्तते, प्रवर्तते इत्यर्थः। निर्द्वन्द्व एव योगी निर्वाणसुखं प्राप्तुमर्हति। उक्तं च मोक्षप्राभृते** *(गाथा-12)*–

*जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारम्भो।*
*आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं॥*

**रागद्वेषेतिभावयुग्मं 'द्वन्द्व'-रूपेण सर्वान् संसारिजीवान् वशीकृत्य निबध्नात्येव। वीतरागो भवन्नेव जीवो द्वन्द्वबन्धनान्मुक्तो भवति, नान्यथा। अस्य द्वन्द्वस्य कर्मबन्धने यत्सामर्थ्यं, तद्विषये ज्ञानार्णवे** *(23/21, 23, 25)* **निरूपितमस्ति–**

---

कुछ संस्करणों में 'सुहदुहदं' इस पाठ की जगह 'सुदुहदं' यह भी पाठ प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में –इसका अर्थ होगा– सुदुःखदायक भाव का निग्रह करके। जो भाव कर्मबन्ध के कारक होने के कारण अच्छी तरह (अत्यन्त) दुःख के दायक हैं, उनका निग्रह करके –यह भाव है। यहाँ (शास्त्रकार की) यह दृष्टि समझनी चाहिए– शुभ भाव पुण्य के बन्धक होकर भी परमार्थ रूप में संसार-भ्रमण रूप दुःख को ही देते हैं।

**( निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते )** निर्द्वन्द्व होकर रहता है, अर्थात् प्रवृत्त होता है। निर्द्वन्द्व योगी ही निर्वाण-सुख को प्राप्त कर सकता है। मोक्षप्राभृत (गाथा-12) में कहा भी है–

''जो देह में भी निरपेक्ष है, ममत्व रहित है, आरम्भ रहित है, आत्म-स्वभाव में सुस्थित है– ऐसा निर्द्वन्द्व योगी निर्वाण को प्राप्त होता है।''

राग व द्वेष– इन दो भावों का युग्म (जोड़ा) द्वन्द्व रूप से समस्त संसारी जीवों को वशीभूत कर बन्धन में डालता ही है। वीतराग होकर ही जीव इस द्वन्द्व के बन्धन से मुक्त हो पाता है, अन्यथा नहीं। इस द्वन्द्व की कर्म-बन्धन में जो सामर्थ्य है, उस विषय में ज्ञानार्णव (23/21, 23, 25) में इस प्रकार बताया गया है –

*एतावनादिसम्भूतौ रागद्वेषौ महाग्रहौ।*
*अनन्तदु:खसन्तानप्रसूतेश्चाग्रिमाङ्कुरौ ॥*

*चिदचिद्-रूपिभावेषु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम्।*
*राग: स्याद् यदि वा द्वेष: क्व तदाध्यात्मनिश्चय:॥*

*यत्र राग: पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चय:।*
*उभावेतौ समालम्ब्य विक्रामत्यधिकं मन:॥*

**संसारे जीवस्येन्द्रियमाध्यमेन विषयसम्पर्के सति केचित् पदार्था अनुकूलवेदनीयाः, केचिच्च प्रतिकूलवेदनीयाः। एतावेव पदार्थौ क्रमेण इष्ट-अनिष्टरूपेण विभज्येते। इष्टेषु रागः, अनिष्टेषु इष्टप्रतिबन्धकेषु वा द्वेषः प्रादुर्भवति। संसारी जीवो रागद्वेषेतिद्वन्द्ववशीभूतः संसारे एव परिभ्रमति। मुमुक्षुस्तु रागादिशुभाशुभभावनिग्रहं कृत्त्वैव निर्द्वन्द्वो भवितुमर्हति, नान्यथा।**

---

''ये राग-द्वेष रूपी दो महाग्रह अनादि काल से चले आ रहे हैं, और अपरिमित दु:ख-परम्परा की उत्पत्ति के प्रधान अंकुर (स्रोत) हैं (मुख्य कारण हैं)।''

''सूक्ष्म या स्थूल, चेतन या अचेतन रूपी (मूर्त) पदार्थों के विषय में यदि क्षणभर के लिए भी राग या द्वेष होता है, तो फिर आत्म-स्वरूप का निश्चय कहाँ हो सकता है?''

''जहाँ-जहाँ राग पदार्पण करता है, वहाँ-वहाँ निश्चय ही द्वेष आकर उपस्थित हो ही जाता है। इन्हीं दोनों के आश्रय से मन अपना अतिशय पराक्रम दिखाता है।''

संसार में जीव का इन्द्रियों के माध्यम से विषयों के साथ सम्पर्क होता है तो कुछ पदार्थ अनुकूल रूप में प्रतीत या अनुभव में आते हैं और कुछ पदार्थ प्रतिकूल रूप में अनुभव में आते हैं। दोनों ही पदार्थ क्रमश: इष्ट या अनिष्ट रूप में विभक्त हो जाते हैं। इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट में या 'इष्ट में विघ्न पैदा करने वालों' में द्वेष प्रादुर्भूत होता है। संसारी जीव इन राग व द्वेष के वशीभूत होकर संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है। मोक्षार्थी तो राग आदि शुभ या अशुभ भावों का निग्रह करके ही निर्द्वन्द्व हो पाता है, अन्यथा नहीं।

**अतएव गाथायां** *'णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं'* **इति कथनानन्तरं** *'णिद्दंदेण दु वट्टदि'* **इत्युक्तम्। एवमेव** *'होदूण य णिस्संगो'* **इत्यपि पूर्वमुक्तम्, यतो हि इयं निर्द्वन्द्वता रागजेतृत्वं वा निस्सङ्गस्य सर्वपरिग्रहमुक्तस्यैव भवति।**

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-266)*–

*जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं।*
*ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो॥*

**किञ्च,** *'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः'* **इतिकोशकारोक्त्या निर्द्वन्द्वपदस्य द्वावर्थौ सम्भवतः– (1) कलहरहितः, (2) दाम्पत्यरहितः। कलहश्च क्रोधादिवशाद् असि-दण्ड-असभ्यवचनादिभिः परसन्तापजननरूपो भवति। शुभाशुभभावनिग्रहेण कलह-वादविवाद-विरोधादिभावात्मकप्रवृत्तिः स्वतो विलीयते। कलह-वादविवादादिषु प्रवृत्तिः श्रामण्यस्य विघातिन्येवेति लिङ्गप्राभृते** *(गाथा-6, 10, 13)* **विशदीकृतं पश्यामः–**

---

इसीलिए इस गाथा में 'सुख या दुःख के दायक निज भाव का निग्रह करके' इस कथन के बाद 'निर्द्वन्द्व होकर वर्तता है' यह कहा गया है। इसी तरह 'निःसंग होकर' यह भी पूर्व में कहा गया है, क्योंकि उक्त निर्द्वन्द्वता या रागजय की सामर्थ्य उसी को प्राप्त होती है, जो निस्सङ्ग व समस्त परिग्रह से मुक्त होता है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-266) में कहा गया है–

"जितने भी परिग्रह राग-द्वेष को पैदा करते हैं, उन परिग्रहों को छोड़ने वाला अपरिग्रही साधु राग व द्वेष को निश्चय से जीतता है।"

और, 'द्वन्द्व' शब्द के दो अर्थ हैं– कलह व युग्म (जोड़ा)– ऐसा कोशकार का कथन है, इसके अनुरूप निर्द्वन्द्व पद के दो अर्थ सम्भव हैं– (1) कलहरहित और (2) दाम्पत्यरहित। क्रोध आदि के कारण तलवार, दण्ड एवं असभ्य वचन आदि द्वारा अन्य को सन्ताप पैदा करना– इसे कलह कहते हैं। शुभ-अशुभ भावों के निग्रह से कलह, वाद-विवाद, विरोध आदि की प्रवृत्ति स्वतः विलीन (नष्ट) हो जाती है। इस कलह, वाद-विवाद आदि में प्रवृत्ति करना श्रमणत्व का विनाश करता है– ऐसा लिङ्गप्राभृत (गाथा-6, 10, 13) में विशद रूप से बताया गया है–

*कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।*
*वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥*

*चोराण मिच्छवाण य जुद्धविवादं च तिव्वकम्मेहिं।*
*जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं॥*

*धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं।*
*अवरूपरुई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो॥*

**रागद्वेषभावेन विवादप्रवृत्तिः, तथैव विवादेन रागद्वेषोत्पत्तिरपि भवतीत्युभयोः परस्परपोषकत्वं शास्त्रकारैः स्वीकृतम्।**

**उक्तं च प्रवचनसारस्य तात्पर्यवृत्तिटीकायाम्** *(3/24/ प्रक्षिप्त गाथा-13)–"स्वयं वस्तुस्वरूपं ज्ञातव्यम्, परं प्रति विवादो न कर्तव्यः। कस्मात्? विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति, ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति।"*

---

"जो (मुनि-लिङ्ग का धारक होकर भी) अत्यधिक अभिमान से गर्वित होता हुआ कलह व वाद-विवाद करता है, जुआ खेलता है, वह चूँकि मुनिवेश में ऐसा कुकृत्य करता है, इसलिए पापी है, और नरकगामी होता है।"

"जो मुनिलिङ्गी चोरों व असत्यभाषी लोगों के (द्वारा किये जाने वाले) युद्ध व विवाद को करता है, तथा तीव्र कर्मों (हिंसक कर्मों) से और यन्त्र यानी चौपड़ आदि से क्रीड़ा करता है, वह नरकवास को प्राप्त करता है।"

"जो आहार के निमित्त दौड़ता-फिरता है, कलह कर भोजन ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है, वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।"

राग या द्वेष भाव के कारण व्यक्ति विवाद में पड़ता है और विवाद करने से राग व द्वेष की उत्पत्ति होती है- इस प्रकार दोनों परस्पर पोषक हैं- ऐसा शास्त्रकारों ने माना है।

प्रवचनसार (3/24 प्रक्षिप्त गाथा-13) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है- "स्वयं वस्तु-स्वरूप जानने का यत्न करना चाहिए, दूसरे से विवाद नहीं करना चाहिए। क्यों? विवाद से राग व द्वेष उत्पन्न होते हैं, फलस्वरूप शुद्धात्म-भावना नष्ट होती है।"

**आचार्यामृतचन्द्रमते ज्ञातृत्व-कर्तृत्वभावयोः परमार्थतो भिन्नाधिष्ठानयोः परस्परसंयोगदृष्टिरेव द्वन्द्वम्। परमार्थनयेन ज्ञप्तिर्ज्ञानं वा आत्मनि तिष्ठति, कर्मत्वं च कर्मणि पौद्गलिके तिष्ठति, अतः सम्यग्ज्ञानिनः कृते एतयोर्द्वन्द्वं प्रतिषिद्धमेव, सम्यग्ज्ञानी मुनिस्तु निर्द्वन्द्वः अर्थात् ज्ञायकमात्ररूपेण एकाकी एव तिष्ठति, न तु कर्तृत्वभावं बिभर्ति।**

**उक्तं च समयसारकलशे** *(कलश-98, 115)*–

*कर्ता कर्मणि नास्ति, नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,*
*द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।*
*ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थितिः,*
*नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम्॥*

*भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।*
*ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव॥*

---

आचार्य अमृतचन्द्र की सम्मति में ज्ञातृत्व व कर्तृत्व- ये दोनों परमार्थ रूप से भिन्न-भिन्न अधिष्ठान में रहते हैं, किन्तु इनमें परस्पर संयुक्त की दृष्टि ही 'द्वन्द्व' है। परमार्थ नय से ज्ञप्ति या ज्ञान तो आत्मा में रहता है, और कर्म भाव तो पौद्गलिक कर्म में रहता है, इसलिए सम्यग्ज्ञानी के लिए इन दोनों का द्वन्द्व प्रतिषिद्ध ही है, अतः सम्यग्ज्ञानी मुनि तो निर्द्वन्द्व यानी ज्ञायक मात्र रूप में एकाकी ही रहता है, कभी वह कर्तृत्वभाव को धारण नहीं करता।

समयसारकलश (कलश-98 व 115) में कहा भी गया है-

"कर्ता तो कर्म में निश्चय से नहीं है और कर्म भी कर्ता में निश्चय से नहीं है। इस प्रकार दोनों के ही परस्पर द्वन्द्व का निषेध किया जाए, तब कर्ता-कर्म की क्या कोई स्थिति हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। इस प्रकार वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञाता तो सदा ज्ञान में ही है, और जो कर्म है, वह सदा कर्म में ही है। तो भी यह मोह (अज्ञान) नेपथ्य में क्यों नाच-कूद कर रहा है?"

"यह ज्ञानी भावास्रव के अभाव को प्राप्त हो गया है, इसलिए द्रव्यास्रव से तो स्वतः ही भिन्न (पृथक्) है, चूँकि ज्ञानी तो सदा ज्ञानमय ही (एक) भाव वाला है, इसलिए वह निरास्रव ही है, एक ज्ञायक ही है।"

**अथवा– निर्द्वन्द्वः एकाकी, नान्यसहाय इत्यर्थः। द्वितीये सहाये सति जनो द्वन्द्वभावमापद्यते, यथा– स्त्री पुरुषेण सह, पुरुषः स्त्रिया सह, यद्वा भर्ता पत्न्या सह, पत्नी च भर्त्रा सह द्वन्द्वभावेन प्रवर्तते। श्रमणस्तु भावेन एकाकितामेव बिभर्ति। स एकाकिभावापन्न एवात्र निर्द्वन्द्वपदेन बोध्यते। अस्या निर्द्वन्द्वतायाः पोषकं शास्त्रीयवचनमिह प्रासङ्गिकतया प्रस्तूयते।**

**यथा पद्मनन्दिपंचविंशतिकाग्रन्थे** *(23/4)* **निरूपितम्–**

*केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा,*
*प्रेमाङ्गेऽपि न मेऽस्ति संप्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवलः।*
*संयोगेन यदत्र कष्टमभवत् संसारचक्रे चिरम्,*
*निर्विण्णः खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते॥*

**एवम्भूतस्य** *(तस्स)* **तस्य निर्द्वन्द्वस्य श्रमणस्य,** *(आकिंचण्हं हवे)* **आकिञ्चन्यं भवेत्, उत्तमाकिञ्चन्यधर्मो भवतीत्यर्थः।**

---

अथवा– निर्द्वन्द्व यानी एकाकी अर्थात् अन्य दूसरे किसी सहायक से रहित। कोई दूसरा सहायक होने पर व्यक्ति 'द्वन्द्व' की स्थिति को प्राप्त करता है, जैसे स्त्री–पुरुष के साथ, पुरुष स्त्री के साथ, या पति पत्नी के साथ, पत्नी पति के साथ 'द्वन्द्व' रूप में प्रवर्तित होते हैं। किन्तु श्रमण भाव के धरातल पर एकाकीपना ही धारण किए रहता है। एकाकी भाव में स्थित ऐसे श्रमण को ही निर्द्वन्द्व रूप से यहाँ समझना चाहिए। इस निर्द्वन्द्वता के पोषक एक शास्त्रीय वचन को यहाँ प्रसङ्गवश प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैसे, पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (23/4) में कहा गया है–

"अब मुझे कोई मित्र मिले या शत्रु मिले, उससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं। (यहाँ तक कि) मुझे अपने इस शरीर के प्रति भी प्रेम नहीं है। मैं तो अभी एकाकी हूँ और सुखी हूँ। इस संसार–चक्र में चिरकाल तक भ्रमण करते हुए संयोगवश जो भी कष्ट प्राप्त हुए, उन सभी से मुझे विरक्ति हो गई है, इसलिए मुझे तो यह एकाकीपन ही अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हो रहा है।"

ऐसी स्थिति को प्राप्त (तस्य)उस निर्द्वन्द्व श्रमण के **( आकिञ्चन्यं भवेत् )** आकिञ्चन्य होता है, अर्थात् उत्तम आकिञ्चन्य धर्म होता है।

**अकिञ्चनता सकलग्रन्थत्याग एव। सर्वार्थसिद्धौ** *(9/6)* **तस्य स्वरूपं प्रकटितम्**– *"उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिः आकिञ्चन्यम्। नास्य किञ्चन अस्ति इत्यकिञ्चनः। तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्।"*

**शौचधर्मे प्रकृष्टलोभान्निवृत्तिरिष्यते, लोभाभावात् निःसङ्गतायामाकिञ्चन्यं प्रतिफलत्येव, अतः शौच-आकिञ्चन्ययोः तात्पर्ये साम्येऽपि तयोरन्तरमस्ति। यथा– शौचधर्मे लोभनिवृत्तिः प्रधानतया वक्ष्यते, आकिञ्चन्ये तु निर्ममत्वं प्रधानतयाऽभीष्टम्। स्वशरीरादिषु संस्कारादि-अभिलाष-दूरीकरणाय आकिञ्चन्यधर्मोपदेशः। शौचधर्मे तु प्रकृष्टलोभव्यपोहः। एवं द्वयोः पार्थक्यं संगच्छते। वस्तुत आकिञ्चन्यं त्रिलोकाधीशत्वमाविर्भावयति।**

**उक्तं च आत्मानुशासने** *(पद्य-110)*–

*अकिंचनोऽहमित्यास्स्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।*
*योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥*

---

अकिञ्चनता (और कुछ नहीं, वह तो) समस्त परिग्रह के त्याग की स्थिति ही है। सर्वार्थसिद्धि (9/6) में उसका स्वरूप इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है– "शरीरादि जो प्राप्त हैं, उनमें भी संस्कार का त्याग करने के लिए 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है। जिसका कुछ नहीं होता, वह अकिञ्चन होता है। अकिञ्चन का भाव या उसका कर्म ही आकिञ्चन्य है।"

शौचधर्म में प्रकृष्ट लोभ से निवृत्ति अपेक्षित होती है, लोभ के अभाव से निस्सङ्गता हो जाती है और आकिञ्चन्य प्रतिफलित होता है, इसलिए शौच व आकिञ्चन्य –इन दोनों के तात्पर्य में साम्य होने पर भी इन दोनों में अन्तर है। जैसे– शौच धर्म में लोभ की निवृत्ति की प्रधानता विवक्षित है, किन्तु आकिञ्चन्य में निर्ममत्व की प्रधानता अभीष्ट है। अपने शरीर आदि में संस्कार आदि की अभिलाषा नष्ट हो– इसलिए आकिञ्चन्य धर्म का उपदेश किया गया है। किन्तु शौच का उपदेश उत्कृष्ट लोभ के ही निराकरण हेतु किया गया है। इस प्रकार, दोनों का पार्थक्य संगत है। वस्तुतः अकिञ्चनता त्रैलोक्य के स्वामित्व को अभिव्यक्त करती है।

आत्मानुशासन (पद्य-110) में कहा भी गया है– "हे भव्य! स्वयं को अकिञ्चन भाव में रख। ऐसा होने पर तू त्रैलोक्य का स्वामी बन जाएगा। यह तुझे परमात्मा का रहस्य बता दिया है जो योगियों को ही अनुभव में आता है।"

**एवं भो भव्य! उत्तमाकिञ्चन्यधर्मस्वरूपं विज्ञाय, शुभाशुभभावनिग्रहण-दृष्ट्या निःसङ्गता-निर्द्वन्द्वतादिगुणान् संवर्द्धय, स्वशरीरेऽपि ममत्वभावं परित्यज, येन निजात्मस्वरूपे रतिः सुस्थिरा स्यादिति गाथायाः सारः।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः क्रमप्राप्तस्य उत्तमब्रह्मचर्यधर्मस्य स्वरूपं निर्दिशन्ति–**

**सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि रदिभावं।**
**सो बम्हचेरभावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरिदुं।। ८०।।**

***छाया–*** *सर्वाङ्गं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुञ्चदि रतिभावम्।*
*स ब्रह्मचर्यभावं शक्नोति खलु दुर्द्धरं धर्तुम्।।*

**( सर्वोदया टीका– ) योऽनगारः,** *(इत्थीणं सव्वंगं पेच्छंतो)* **स्त्रीणां सर्वाङ्गानि प्रेक्षमाणोऽपि,** *(तासु रदिभावं मुयदि)* **तद्दर्शनानन्तरं सहजप्रादुर्भूतमासक्तिभावं रागभावं त्यजति, सदैव रागादिनिर्मुक्तो भवति, निर्विकार एव तिष्ठतीत्यर्थः।**

---

इस प्रकार, हे भव्य! उत्तम आकिञ्चन्य धर्म के स्वरूप को जानकर, शुभ व अशुभ भावों के निग्रह की दृष्टि से निस्सङ्गता व निर्द्वन्द्वता आदि गुणों को समृद्ध करो और अपने शरीर में भी ममत्व भाव का त्याग करो ताकि निज आत्मा के स्वरूप में तुम्हारी रति सुस्थिर हो– यह गाथा का सार है।

अब शास्त्रकार क्रम में आ रहे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं–

( 80 )

**( गाथा-अर्थ– ) जो ( मुनि ) स्त्रियों के सब ( या किसी भी ) अंगों को देखता-निहारता हुआ ( भी ), उनमें रतिभाव ( या दुर्भाव ) छोड़ देता है, वही दुर्धर ( उत्तम ) ब्रह्मचर्य धर्म को धारण कर सकता है।**

**( सर्वोदया टीका– )** जो अनगार **( स्त्रीणां सर्वाङ्गं पश्यन् )** स्त्रियों के सब अङ्गों को देखता-निहारता हुआ भी, **( तासु रतिभावं मुञ्चति )** उनमें रतिभाव का त्याग करता है, अर्थात् उन्हें देखकर सहज उत्पन्न होने वाले आसक्ति भाव यानी राग भाव का त्याग करता है, सदैव रागादिरहित रहता हुआ निर्विकार ही बना रहता है।

**क्वचित्संस्करणे** *'मुयदि दुब्भावं'* **इति पाठः प्राप्यते। तत्र दुर्भावं रागादिभावं मुञ्चति, परित्यजतीत्यर्थः। सामान्यतया संसारी अज्ञानी जीवः स्त्रीणां नेत्र-मुख-कपोल-कटिप्रभृति-विविधाङ्गेषु मनोहरेषु कस्यचिदेकस्य एकाधिकानां वा निरीक्षणं करोति, निरन्तरं चिरकालं द्रष्टुमुद्यतते, मोहाविष्टो भूत्वा विवेकहीनोऽमर्यादिताचरणे प्रवर्तते। किम्बहुना, काष्ठनिर्मितायाः स्त्रीमूर्तेरपि दर्शनेन जनो मोहाविष्टो भवति।**

**उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(14/15-22)*–

*पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम्।*
*अपि वीक्ष्य वपुः स्त्रीणां मुह्यत्यङ्गी न संशयः।।*

*दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः।*
*प्रणिधत्ते जनः पश्चात् तत्कथागुणकीर्तने।।*

---

कुछ संस्करणों में ('मुयदि रदिभावं' के स्थान पर) 'मुयदि दुब्भावं' पाठ है, तब वहाँ अर्थ होगा– दुर्भाव यानी रागादि भाव छोड़ता है, उनका परित्याग करता है। सामान्यतया संसारी अज्ञानी जीव स्त्रियों के नेत्र, मुख, गाल, कमर आदि विविध मनोहर अङ्गों में से किसी एक या एक से अधिक अङ्गों को देखता है, तो लगातार बहुत देर तक देखने का यत्न करता है और मोहयुक्त होकर विवेक खोते हुए अमर्यादित आचरण करने लगता है। अधिक क्या, कोई यदि काठ की भी बनी हुई स्त्री-मूर्ति हो तो, उसे भी देखकर वह व्यक्ति मोहित हो जाता है।

ज्ञानार्णव (14/15-22) में कहा भी गया है–

"लेप्य कर्म (लिपाई आदि से) और पत्थर से निर्मित तथा लकड़ी से एवं चित्र आदि के रूप में निर्मित भी स्त्री-शरीर (हो तो उस) को देखकर प्राणी मोहित हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।"

"प्रथमतः स्त्री पर व्यक्ति की दृष्टि पड़ती है, बाद में उसके विषय में मन मोह को प्राप्त हो जाता है, उसके बाद मनुष्य उसकी वार्ता और गुणों के कीर्तन में उपयोग (मन) लगाता है।"

*ततः प्रेमानुबन्धः स्यादुभयोरपि निर्भरम्।*
*उत्कण्ठते ततश्चेतः, प्रेमकाष्ठाप्रतिष्ठितम्।।*

*दानदाक्षिण्यविश्वासैः, उभयोर्वर्धते स्मरः।*
*ततः शाखोपशाखाभिः, प्रीतिवल्ली विसर्पति।।*

*मनो मिलति चान्योन्यं निःशङ्कं संगलालसम्।*
*प्रणश्यति ततो लज्जा प्रेमप्रसरपीडिता।।*

*निःशङ्कीकुरुते नर्म, रहोजल्पावलम्बितम्।*
*वीक्षणादीन्धनोद्भूतः, कामार्चिः प्रविजृम्भते।।*

*बहिरन्तस्ततस्तेन दह्यमानोऽग्निना भृशम्।*
*अविचार्य जनः शीघ्रं ततः पापे प्रवर्तते।।*

*श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुन्नतम्।*
*इन्धनीकुरुते मूढः प्रविश्य वनितानले।।*

''फिर दोनों में प्रेम का सम्बन्ध बन जाता है, पश्चात् मन उस प्रेम की अन्तिम सीमा पर स्थित होकर उत्कण्ठा को प्राप्त करता है।''

''फिर, उन दोनों में दान (परस्पर लेनदेन), दाक्षिण्य (उदारता) व विश्वास के द्वारा काम-वासना बढ़ने लगती है, फिर प्रेम रूपी बेल की शाखा-प्रशाखाएँ फैलने लगती हैं।''

''दोनों के मन में एक-दूसरे से मिलने-जुलने की उत्सुकता होती है और फिर दोनों के मन मिल जाते हैं। (फिर) दोनों के प्रेम में वृद्धि होती है और लाज समाप्त हो जाती है।''

''(दोनों) प्राणी निर्भय होकर एकान्त में प्रेम-भाषण आदि के रूप में क्रीड़ारत हो जाते हैं। और दोनों के परस्पर दर्शन-स्पर्शन आदि रूपी ईन्धन से कामाग्नि बढ़ने लगती है।''

''अन्त में व्यक्ति उस कामाग्नि से बाहर व भीतर सन्तप्त होता हुआ विवेक खोकर शीघ्र ही पाप में प्रवृत्त हो जाता है।''

''इस प्रकार, मूर्ख मनुष्य स्त्री रूप अग्नि में प्रविष्ट होकर, अपना आगम-ज्ञान, सत्य, तप, शील, विज्ञान और उन्नत चारित्र को ईन्धन बना देता है (अर्थात् उन्हें भस्म कर देता है)।''

**अत एव सराग-नार्यङ्गदर्शनस्य दुष्परिणामं मनसि निधाय, तत्त्वार्थसूत्रे** *(7/7)* **ब्रह्मचर्याणुव्रतभावनासु तदीयमनोहराङ्गनिरीक्षणत्यागस्य निर्देशो विहितः। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1204)*-

*महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं।*
*पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंभस्स।।*

**स्त्रीरूपदर्शनं ब्रह्मचर्यविरोधिनो दशविध-अब्रह्मचरणस्य प्रथमो भेदः समाख्यातः। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-873-875)*-

*इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा।*
*संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव।।*

*सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासो।*
*इट्ठविसयसेवा वि य अब्बंभं दसविहं एदं।।*

---

इसीलिए नारी के अङ्ग के रागसहित दर्शन का जो दुष्परिणाम है, उसे ध्यान में रखकर, तत्त्वार्थसूत्र (7/7) में ब्रह्मचर्याणुव्रत की भावनाओं में 'स्त्रियों के मनोहर अङ्गों को देखने-निहारने के त्याग' का भी निर्देश किया गया है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1204) में कहा भी है-

"स्त्रियों की ओर देखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण, स्त्रियों से युक्त वसतिका (निवास), श्रृंगार सम्बन्धी चर्चा, और इन्द्रियों में मद व बल पैदा करने वाले रस का सेवन -इन सबसे विरत होना ब्रह्मचर्य-व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।"

नारी के रूप को देखना- यह दस प्रकार के (ब्रह्मचर्य विरोधी) अब्रह्माचरण का पहला भेद माना गया है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-873-875) में कहा गया है- "(1) स्त्री-सम्बन्धी पञ्चेन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा (अर्थात् उन्हें देखना, उनकी मधुर आवाज को सुनना, उन्हें स्पर्श करना आदि), (2) लिङ्ग सम्बन्धी विकार को बनाए रखना, उसे दूर न करना (3) इन्द्रिय-मद कारक आहार का सेवन (4) स्त्री-सम्बन्धी शय्या आदि का सेवन (5) स्त्रियों के अङ्गों का अवलोकन (6) स्त्रियों का सम्मान आदि करना, (7) स्त्रियों को वस्त्र, माला आदि से भूषित करना, (8) अतीत में की गई रति-क्रीड़ा का स्मरण, (9) भविष्यकाल संबन्धी रति-क्रीड़ा की अभिलाषा और (10) इष्ट विषयों का सेवन -ये दस प्रकार के अब्रह्म-सेवन हैं।"

*एवं विसग्गिभूदं अब्बंभं दसविहंपि णादव्वं।*
*आवादे मधुरमिव होदि विवागे य कडुयदरं।।*

**किञ्च, दशविधमैथुनस्य तदङ्गवीक्षणनामकः षष्ठो भेदो निरूपितो भवति। अब्रह्मसेवन-रूपमैथुनस्य दश भेदा अग्रे निरूपयिष्यन्ते।**

**एवं सिद्ध्यति यन्नारी-अङ्गवीक्षणमब्रह्मसेवनस्य प्रमुखं द्वारम्, अत्र प्रारम्भभूमिकायामेव यो मुनिर्ब्रह्मचर्यव्रतदृढतया निर्विकारतां धत्ते, तस्यैव ब्रह्मचर्यव्रतसाधनायामग्रेसरता सम्भवति। किञ्च, यः स्त्रीरूपदर्शनं प्रति अनासक्तः, तस्य तत्कथाश्रवणस्त्रीसंसर्गादिषु तु विरक्तिरवश्यम्भाविनीति दृष्ट्याऽत्र गाथायामब्रह्मसेवनसम्बन्धिनीनामन्यप्रवृत्तीनां त्यागोऽपि संकेतितः। स्त्रीशरीरादिप्रेक्षणे इव तस्य निर्विकारता शेषाब्रह्मप्रकारेष्वपि भवतीति तात्पर्यम्।**

**अत्रेदं बोध्यम्- यथा पुरुषस्य कृते स्त्रीशरीरप्रेक्षणं तत्संसर्गादिकं च प्रतिषिद्ध्यते, तथैव स्त्रीणां कृते पुरुषशरीरप्रेक्षणं तत्संसर्गादिकं च प्रतिषिद्धं विज्ञेयम्।**

---

"इस प्रकार विष व आग के समान अब्रह्म के भेद जानें। यह (अब्रह्म) प्रारम्भ में मधुर प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में अत्यन्त कटु होता है।"

दूसरी बात, दस प्रकार की मैथुन-प्रवृत्तियों में 'स्त्रियों के अङ्गों का निरीक्षण' यह छठवाँ भेद माना गया है। अब्रह्मसेवन रूप मैथुन के दस भेदों को आगे बताया जा रहा है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नारी के अङ्गों का निरीक्षण अब्रह्मसेवन का प्रमुख द्वार है, वहाँ प्रथम भूमिका में ही जो मुनि ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ता के साथ निर्विकारता बनाए रखता है, वही ब्रह्मचर्यव्रत की साधना में अग्रसर हो पाता है। और, जो स्त्री-रूप को देखने में भी अनासक्त है, उसकी कथा के श्रवण में तथा स्त्री-संसर्ग आदि में तो उसकी विरक्ति अवश्य होगी ही -इस दृष्टि से इस गाथा में अब्रह्म-सम्बन्धी अन्य प्रवृत्तियों के त्याग का भी संकेत कर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस श्रमण की स्त्रियों के शरीर आदि के देखने तक में जैसी निर्विकारता होती है, वैसी ही उसकी निर्विकारता अन्य अब्रह्म के भेदों में भी होगी ही।

यहाँ यह ज्ञातव्य है- जैसे पुरुष के लिए स्त्रियों के शरीर का निरीक्षण करना और उनका संसर्ग करना आदि निषिद्ध किया गया है, वैसे ही स्त्रियों के लिए भी पुरुषों के शरीर का निरीक्षण करना और उनका संसर्ग करना निषिद्ध है -यह जानें।

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-988)*-

*जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ।*
*तह सीलरक्खियाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा।।*

**मनोहरस्त्रीशरीरदर्शनेऽपि मुनेर्वैराग्यं समेधताम्- इतिदृष्ट्या शास्त्रेषु काश्चिद् भावनाः समुपदिष्टाः। तासु काश्चिदत्र समुदाह्रियन्ते। यथा ज्ञानार्णवे** *(12/3)* **प्रोक्तम्–**

*वज्रज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रैव केवलम्।*
*वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी॥*

**तथा, तत्रैव** *(13/24)* **प्रोक्तम्–**

*सर्वाशुचिमये काये दुर्गन्धामेध्यसंभृते।*
*रमन्ते रागिणः स्त्रीणां विरमन्ति तपस्विनः॥*

**अन्यच्च, तत्रैव** *(14/12-14)* **प्रोक्तम्–**

---

भगवती-आराधना (गाथा-988) में कहा भी गया है- ''जिस प्रकार शील की रक्षा करने वाले पुरुषों के लिए स्त्रियाँ निन्दित (त्याज्य) होती हैं, उसी तरह अपने शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निन्दित (त्याज्य) हैं।''

स्त्रियों के मनोहर अङ्गों का दर्शन करते हुए भी मुनि का वैराग्य भाव बढ़े –इस दृष्टि से शास्त्रों में कुछ भावनाएँ भी दी गई हैं। कुछ भावनाओं को यहाँ उदाहरण रूप में रखा जा रहा है। जैसे, ज्ञानार्णव (12/3) में कहा गया है– ''यह नारी वज्राग्नि की रेखा के समान अथवा सर्प की विषैली दाढ़ के समान मनुष्य को केवल सन्ताप व भय को ही प्रदान करती है।''

उसी प्रकार, वहीं (13/24) कहा गया है– ''समस्त अपवित्र वस्तुओं से निर्मित तथा दुर्गन्ध व घृणा के स्थानभूत मल-मूत्र आदि से परिपूर्ण स्त्रियों के शरीर में रागी जन ही अनुरक्त होते हैं, साधुजन तो उससे विरक्त रहते हैं।''

और भी, वहीं (14/12-14) कहा गया है–

*यासां संकल्पलेशोऽपि तनोति मदनज्वरम्।*
*प्रत्यासत्तिर्न किं तासां रुणद्धि चरणश्रियम्॥*

*यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावः कलंक्यते।*
*तस्याः किं न कथालापैः, भ्रूभङ्गैश्चारुविभ्रमैः॥*

*सुचिरं सुष्ठु निर्णीतं लब्धं वा वृद्धसंनिधौ।*
*लुप्यते स्त्रीमुखालोकाद् वृत्तरत्नं शरीरिणाम्॥*

**किञ्च, पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** *(12/6, 14)*–

*चेतोभ्रान्तिकरी नरस्य मदिरापीतिर्यथा स्त्री तथा,*
*तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि संभाव्यते।*
*तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकाम्,*
*कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान्॥*

---

"जिन स्त्रियों का संकल्प मात्र भी काम ज्वर को बढ़ाता है, तो फिर उनका सान्निध्य क्या चारित्र रूपी लक्ष्मी को नहीं रोकेगा? (अवश्य ही चारित्र को नष्ट करेगा)।"

"जिस स्त्री की संगति मात्र से भी मुनि-अवस्था कलंकित होती है, उसकी सुन्दर विलासपूर्ण भ्रकुटि-भंगिमा से जुड़ी कथावार्ता से क्या वह मुनि-दशा मलिन नहीं होगी? (अवश्य होगी।)"

"अतिशय दीर्घ काल से यह भली-भाँति निश्चित हो चुका है या बड़े-बूढ़ों के समीप में रहकर यह ज्ञात हो चुका है कि स्त्री के मुख को देखने से प्राणियों का चारित्र रूप रत्न नष्ट हो जाता है।"

और भी, पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (12/6 व 14) में कहा गया है-

"जिस प्रकार मद्यपान व्यक्ति में विभ्रम पैदा करता है, वैसे ही स्त्री व्यक्ति के चित्त में विभ्रम पैदा कर देती है, उस स्त्री का संग करने से मुनि के अल्प व्रत की भी सम्भावना कैसे रह सकती है? इसलिए संसार-पतन से भयभीत रहने वाले एवं तपश्चर्या की भूमिका में स्थित व्रती लोगों को चाहिए कि वे समस्त युवतियों से दूर रहने का अत्यधिक प्रयत्न करे।"

*अङ्गं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यवद्,*
*भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम्।*
*उच्छूनैर्बहुभिः शवैरतितरां कीर्णं श्मशानस्थलम्,*
*लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः॥*

**एवं स्त्रीशरीराङ्गदर्शने तद्दोष-तद्दुष्परिणामादिचिन्तनपरो मुनिः रागभावरहितो विकारहीनो वा यदा भवति, तदा** *(सो दुद्धरं बह्मचेरभावं धरिदुं सक्कदि)* **स एव दुर्धरं ब्रह्मचर्यभावं धर्तुं शक्नोति, अर्थात् तादृश एव मुनिः उत्तमब्रह्मचर्यधर्मस्य साधको भवितुं समर्थः।**

**अत्र ब्रह्मचर्यस्य दुर्द्धरेतिविशेषणमस्य दुष्करत्वं श्रेष्ठत्वं च प्रकटयति। कामभावनाया इयान् प्रबलो वेगः, यस्य प्रतीकारं कर्तुं सामान्यजनो न समर्थः। उक्तं चास्य कामवीरस्य सर्वव्यापि-प्रभावविषये ज्ञानार्णवे** *(11/19-21)*–

---

''यद्यपि स्त्रियों का सुन्दर शरीर यौवन व लावण्य से युक्त एवं आभूषणों से अलंकृत हो, तो भी वह मूढ़ व्यक्तियों के लिए ही आनन्ददायक होता है, सत्पुरुषों के लिए नहीं, ठीक उसी तरह जैसे बहुत से मोटे-मोटे मुर्दों भरे श्मशान-स्थल को प्राप्त कर काले कौओं का समूह तो प्रसन्न होता है, किन्तु राजहंसों का समूह नहीं।''

इस प्रकार, स्त्रियों के शरीर व अङ्ग के दर्शन करते समय, सम्बन्धित दोषों और उनके दुष्परिणामों का चिन्तन करता हुआ मुनि रागरहित या विकारहीन जब होता है, तभी **( स दुर्द्धरं ब्रह्मचर्यभावं धर्तुं शक्नोति )** वह दुर्धर ब्रह्मचर्य को धारण कर सकता है, अर्थात् वैसा ही मुनि उत्तम ब्रह्मचर्य का साधक हो सकता है।

यहाँ ब्रह्मचर्य का 'दुर्द्धर' विशेषण जो दिया है, वह उसकी दुष्करता व श्रेष्ठता को प्रकट करता है। (क्योंकि) कामभावना का इतना प्रबल वेग होता है कि जिसका प्रतीकार करना सामान्य जन के सामर्थ्य की बात नहीं होती। इस कामरूपी शूरवीर के सर्वव्यापी प्रभाव के बारे में ज्ञानार्णव (11/19-21) में कहा गया है –

*एकाक्यपि जयत्येष जीवलोकं चराचरम्।*
*मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याव्याहतक्रमः॥*

*पीडयत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम्।*
*प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले॥*

*कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम्।*
*स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं निःप्रतीकारमुत्तरम्॥*

**अन्यच्च, तत्रैव** *(11/5)* **प्रोक्तम्–**

*नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैः, न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः।*
*स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः॥*

**कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-404)* **च भणितम्–**

---

"निर्बाध पराक्रम का धारक यह कामदेव त्रस व स्थावर जीवों से परिपूर्ण जीवलोक को अपनी शक्ति के प्रभाव से अकेला ही खण्डित करके जीतता है।"

"वह कामदेव निर्भय होकर तीनों ही लोकों को पीड़ित करता है। यदि उसका सैकड़ों उपायों से प्रतीकार किया जाए तो भी इस पृथिवी पर उसे कोई रोकने वाला नहीं है।"

"कामदेव नामक महाविष कालकूट विष से भी ज्यादा भयंकर है, ऐसा मैं मानता हूँ। क्योंकि कालकूट विष का तो प्रतीकार (उपाय) है, किन्तु इस कामदेव नामक महाविष का कोई प्रतीकार नहीं है।"

और भी, वहीं (11/5) कहा गया है–

"जो मनुष्य दुर्बल, शीलरहित, दीन और इन्द्रियाधीन हैं, वे स्वप्न में भी इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकते।"

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-404) में भी कहा गया है–

*जो णवि जादि वियारं तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि।*
*सो चेव सूरसूरो रणसूरो णो हवे सूरो॥*

**कामवेदनाया दुर्द्धरत्वमस्य प्रबला दश वेगाः स्थापयन्ति। एभिर्वेगैः सर्पविषादपि उग्रतैर्जनो व्यामूढो विवेकशून्याश्चेष्टा विधत्ते।**

**उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(11/28-33)*–

*भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः सप्तैव देहिनः।*
*स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः॥*

**तद्यथा**–

*प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति।*
*स्युस्तृतीयेऽतिनिश्वासाः, चतुर्थे भजते ज्वरम्॥*

---

"जो तरुणियों के कटाक्षरूपी बाणों से बींधे जाने (देखे जाने) पर भी विकारग्रस्त नहीं होता, वही शूरों में शूर है, युद्ध में शूरता दिखाने वाला शूर नहीं होता।"

कामवेदना की दुर्द्धरता को इसके प्रबल दस वेग प्रतिष्ठापित करते हैं। सर्प के विष से भी अत्यधिक उग्र इन वेगों से व्यक्ति मोहग्रस्त होकर विवेकशून्य चेष्टाएँ करने लगता है।

ज्ञानार्णव (11/28-33) में इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है–

"सर्प के द्वारा डसे हुए प्राणी के सात ही वेग होते हैं। किन्तु काम रूपी सर्पराज द्वारा डसे गए प्राणियों के तो महाभयंकर दस वेग हुआ करते हैं।"

उदाहरणार्थ–

"पहले वेग में चिन्ता (स्त्रीविषयक विचारों का उठना) होती है। दूसरे वेग में देखने की इच्छा, तीसरे में दीर्घश्वासों का छोड़ना, चौथे में ज्वर का अनुभव।"

*पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भक्तं न रोचते।*
*सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे॥*

*नवमे प्राणसन्देहः, दशमे मुच्यतेऽसुभिः।*
*एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति॥*

*संकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमाः।*
*मोहज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम्॥*

*अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनाम्।*
*स्मरवीरः क्षणार्द्धेन विधत्ते मानखण्डनम्॥*

**उपर्युक्ताः प्रबलकामवेगा ब्रह्मचर्यव्रतस्य दुष्करत्वं दुर्द्धरत्वं च प्रख्यापयन्ति। ब्रह्मचर्यव्रतस्य दुर्द्धरत्वादेवास्य श्रेष्ठता त्रिलोकपूज्यता वा शास्त्रकारैर्बहुधा वर्णिता।**

---

''पाँचवें में शारीरिक दाह की स्थिति होती है। छठे में भोजन से अरुचि, सातवें में दीर्घ मूर्छा, आठवें में उन्मत्तता (पागल जैसी हरकत)।''

''नौवें में प्राणों का सन्देह (मरणोन्मुखता), और दसवें वेग में प्राणों से हीन हो जाता है। इन दस वेगों से पीड़ित होकर कामी जीव वस्तु-स्वरूप को नहीं देख पाता है।''

''लोक में मोहरूप ज्वर के प्रकोप से प्राणियों के संकल्प के अनुसार वे वेग तीव्र, मध्यम और मन्द भी होते हैं।''

''जो प्राणी मान रूपी ऊँचे पर्वत के शिखर पर स्थित हैं, उनके उस मान का खण्डन कामदेव रूपी सुभट क्षण भर में कर डालता है।''

उपर्युक्त प्रबल काम-वेग ब्रह्मचर्य व्रत की दुष्करता व दुर्द्धरता को विज्ञापित करते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत की दुर्द्धरता के कारण ही इसकी श्रेष्ठता या त्रिलोकपूज्यता का शास्त्रकारों द्वारा अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है।

**यथा– भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1109)* **प्रोक्तम्–**

*तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ।*
*जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो॥*

**मूलाचारे च** *(गाथा-8)* **निरूपितम्–**

*मादुसुदाभगिणीव य दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।*
*इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं॥*

**ब्रह्मचर्यव्रतस्वरूपमन्याचार्यनिरूपितमपि प्रसङ्गवशादत्र प्रस्तूयते। यथा– नियमसारे** *(गाथा-59)* **निरूपितम्–**

*दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।*
*मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं॥*

---

जैसे, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1109) में कहा गया है–

"तीनों लोक रूपी वन को जलाने वाली और विषय रूपी वृक्षों के कारण धधकती हुई यह कामाग्नि यौवनरूपी तृणों पर विचरण करने में चतुर जिस व्यक्ति को नहीं जलाती, वह तो धन्य है।"

और, मूलाचार (गाथा-8) में वर्णित है–

"स्त्रियों को तथा उनके प्रतिरूप (चित्र) को माता, पुत्री व बहन के समान देखकर जो स्त्री-कथा आदि से निवृत्त होता है, वही ब्रह्मचर्य व्रत है, जो तीनों लोकों में पूज्य है।"

अन्य आचार्यों द्वारा निरूपित ब्रह्मचर्य व्रत के स्वरूप को भी प्रसङ्गवश यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। जैसे, नियमसार (गाथा-59) में कहा गया है–

"जो स्त्रियों के रूप को देखकर उनमें वांछाभाव नहीं रखता, अथवा जिसके परिणाम मैथुन संज्ञा से रहित होते हैं, उसी के चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है।"

**मूलाचारे** *(गाथा-292)* **च भणितम्-**

*अच्चित्तदेवमाणुसतिरिक्खजादं च मेहुणं चदुधा।*
*तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चं पि मुणी हि पयदमणो॥*

**उपर्युक्तब्रह्मचर्यव्रतस्वरूपे मैथुनभावस्य सर्वथा त्यागः परमावश्यकः संकेतितः। मैथुनभावे हिंसादिदोषा जायन्ते एवेति तदीयत्यागः संगच्छते स्पष्टतयैव। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-916)*–

*अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं।*
*तिलणालीए तत्ता सलायवेसो व जोणीए॥*

**स्याद्वादमञ्जर्यां** *(श्लोक-23 टीका)* **च निर्दिष्टम्-**

*मेहुणसण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं।*
*केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया कालं॥*

---

मूलाचार (गाथा-292) में भी कहा गया है-

''अचेतन देव, मनुष्य व तिर्यञ्च -इन स्त्रियों से होने वाला चार प्रकार का जो मैथुन है, प्रयत्नशील मुनि निश्चित रूप से नित्य ही मन-वचन-शरीर से उसका सेवन नहीं करते हैं।''

उपर्युक्त ब्रह्मचर्य व्रत के स्वरूप में मैथुन भाव के सर्वथा त्याग किए जाने का संकेत किया गया है। चूँकि मैथुन में हिंसा आदि दोष लगते ही हैं -इसलिए उसको छोड़ना स्पष्ट रूप से संगत ही है। भगवती-आराधना (गाथा-916) में कहा भी है-

''जैसे तिलों से भरी नाली में तपायी हुई लोहे की सलाई के प्रवेश से तिलों का घात होता है, वैसे ही मैथुन-सेवन से योनि में स्थित बहुत से जीवों का घात होता है। ''

स्याद्वादमञ्जरी में (श्लोक-23 की टीका) भी निर्देश किया गया है-

''मैथुन संज्ञा में आरूढ़ व्यक्ति नौ लाख सूक्ष्म जीवों का घात करता है- इसे केवली (तीर्थंकर भगवान्) ने कहा है जिस पर हमेशा श्रद्धा करनी चाहिए।''

**किञ्च राजवार्तिके** *(7/16/10)* **च प्रत्यपादि–** *''मैथुनसेवनप्रवण: स्थाष्णुचरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति, मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते सचेतनमितरं च परिग्रहं गृह्णाति''।*

**ब्रह्मचारिण: कृते मैथुनपरिवर्जनार्थं तत्प्रकारा अपि ज्ञातव्या भवन्ति। ते च प्रकारा: प्रमुखतो दश वर्णिता:। यथा ज्ञानार्णवे** *(11/6-11)* **प्रोक्तम्–**

*पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम्।*
*योषित्संगाद् विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा॥*

*आद्यं शरीरसंस्कार:, द्वितीयं वृष्यसेवनम्।*
*तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्, संसर्गस्तुर्यमिष्यते॥*

*योषिद्विषयसंकल्प: पञ्चमं परिकीर्तितम्।*
*तदङ्गवीक्षणं षष्ठं सत्कार: सप्तमं मतम्॥*

---

और, राजवार्तिक (7/16/10) में भी प्रतिपादित किया गया है– ''मैथुन सेवन करने वाला व्यक्ति स्थावर व त्रस जीवों का घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, सचेतन व अचेतन परिग्रह का संग्रह भी करता है।''

ब्रह्मचारी के लिए मैथुन से बचने के लिए उसके विविध भेदों की जानकारी अपेक्षित होती है। वे भेद प्रमुखत: दस बताये गए हैं। जैसे, ज्ञानार्णव (11/6-11) में कहा गया है–

''ब्रह्मचर्य के प्रतिकूल यह मैथुन दस प्रकार का होता है जो अन्त में नीरस सिद्ध होता है–ऐसा जानें। स्त्री-संसर्ग से विरक्त मनीषी को इन सबका त्याग ही करना चाहिए।''

''(दस भेदों में) प्रथम है– शरीर का श्रृंगार करना, दूसरा है– गरिष्ठ भोजन, तीसरा है–गीत सुनना, चौथा है– स्त्रियों का संसर्ग।''

''पाँचवाँ भेद स्त्री-सम्बन्धी विचार बताया गया है। स्त्रियों के अङ्गों को निहारना –यह छठा भेद है और स्त्रियों का सत्कार करना– यह सातवाँ भेद है।''

*पूर्वानुभूतसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम्।*
*नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम्॥*

*किम्पाकफलसंभोगसंनिभं तद्धि मैथुनम्।*
*आपातमात्ररम्यं स्याद् विपाकेऽत्यन्तभीतिदम्॥*

*विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते।*
*एते दश महादोषास्तैः त्याज्या भावशुद्धये॥*

**मूलाचारे** *(गाथा-998-1000)* **च अब्रह्मसेवनहेतुभूता दश भेदा इत्थं निर्दिष्टाः-**

*पढमं विउलाहारं विदियं कायसोहणं।*
*तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं॥*

*तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं।*
*पुव्वरदिसरणमिंदियविसयरदी पणिदरससेवा॥*

---

"आठवाँ है- पूर्व में अनुभव में किये गए सम्भोग का स्मरण, नौवाँ है- भावी (मैथुन सम्बन्धी) चिन्तन, और दसवाँ भेद है -वीर्य-क्षरण।"

"यह मैथुन किम्पाक (जहरीले) फल के जैसा है जो भोगते (खाते) समय तो रमणीय प्रतीत होता है किन्तु परिपाक (परिणाम) के समय अत्यन्त भयकारक होता है।"

"जो सज्जन कामभोगों से विरक्त होकर ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) की उपासना करते हैं, उन्हें अपने परिणामों की निर्मलता के लिए उक्त दस महादोषों का त्याग करना चाहिए।"

मूलाचार (गाथा-998-1000) में भी अब्रह्मसेवन के कारणभूत दस भेदों का इस प्रकार निर्देश प्राप्त होता है-

"अब्रह्मचर्य के दस कारण हैं- पहला है- अधिक आहार करना, दूसरा है- शरीर का शोध (सजावट, श्रृंगार आदि), तीसरा है- गन्ध-माला आदि धारण करना, चौथा है- गीत-वाद्य सुनना।"

"इसी तरह पाँचवाँ है- शय्या क्रीड़ा गृह या चित्रशाला आदि की खोज करना, छठा- स्त्री-संसर्ग, सातवाँ (सम्बन्धित प्रयोजन की सिद्धि के लिए) धन-संग्रह, आठवाँ- पूर्वरति का स्मरण, नौवाँ- इन्द्रियजन्य विषयों में अनुराग, और दसवाँ- पौष्टिक रसों का सेवन।"

*दसविहमब्बंभमिणं संसारमहादुहाणमावाहं।*
*परिहरइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि॥*

**अत्रेदं विज्ञेयम्– मिथुनस्य कर्म भावो वा मैथुनम्। किन्तु वन्दनादिकर्मणो मिथुनजन्यत्वेऽपि न तन्मैथुनमाख्यायते, यतो हि 'चारित्रमोहोदयात् प्रमत्तस्य मिथुनस्य कर्म मैथुनम्' इतिलक्षणं ब्रह्मचर्यप्रकरणे बोद्धव्यम्। किञ्च, स्त्रीपुंसयोरेव मैथुनं कर्मेति लोकप्रसिद्धिः, तथापि द्वयोः पुरुषयोः, किम्बहुना एकाकिनः पुरुषस्य ( यद्वा एकाकिन्याः नार्याश्च ) हस्तादिसंघट्टनात् मैथुनभावः सम्भवति, तत्र यथा पिशाचवशीकृतत्वात् जनस्य सद्वितीयत्वसिद्धिः तथैव चारित्रमोहोदयाविष्कृत-कामपिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धिः –इत्यादिकं सर्वं राजवार्तिके** *(7/16/6-9)* **विशदीकृतम्। अस्य ब्रह्मचर्यस्य मनोवचनकायेतिकृतत्वात् त्रयो भेदाः, तेषामपि कृत-कारित-अनुमतेतिभेदेन प्रत्येकं त्रयो भेदाः, सर्वे संहत्य नव भेदाः सम्भवन्ति। द्रव्य-भावेतिभेदेन च भेदद्वयमितिकृत्वा सर्वे अष्टादश भेदा अपि जायन्ते।**

---

''जो महात्मा संसार के महादु:खों के निवासस्थान इन दस प्रकार के अब्रह्म का त्याग करता है, वही दृढ़ ब्रह्मचर्यव्रती होता है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है– मैथुन का अर्थ है– मिथुन (दो व्यक्तियों) का होना या उनका कर्म। किन्तु वन्दना आदि कार्य यद्यपि मिथुन-जनित हैं, फिर भी 'मैथुन' नहीं कहे जाते। कारण यह है कि इस ब्रह्मचर्य के प्रकरण में मैथुन का लक्षण इस प्रकार समझना चाहिए– ''चारित्रमोह के उदय से प्रमाद सहित मिथुन (युगल) का कार्य 'मैथुन' होता है।'' दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि लोक में प्रसिद्धि के अनुसार स्त्री या पुरुष –इन दोनों के ही कर्म को मैथुन कहा जाता है, फिर भी दो पुरुषों के या अधिक क्या, एकाकी पुरुष के (यह एकाकी स्त्री के) भी हाथ आदि संघट्टन (रगड़ने) से मैथुन भाव सम्भव है। वहाँ (एकाकी व्यक्ति में भी) जैसे पिशाच के वशीभूत होने के कारण व्यक्ति की युगलता (द्वितीयसहितता) हो जाती है, उसी तरह चारित्रमोह के उदय के कारण उत्पन्न काम-पिशाच के वशीभूत होने से व्यक्ति के 'दूसरे सहायक' की स्थिति सम्पन्न हो जाती है (और मिथुन एवं मैथुन होने की संगति हो जाती है) –इत्यादि सारी बातें राजवार्तिक (7/16/6-9) में स्पष्ट की गई हैं। इस ब्रह्मचर्य के मन, वचन व शरीर –इन तीन से किये जाने के कारण तीन भेद होते हैं। इन तीनों में भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं– कृत, कारित व अनुमोदित। कुल मिलाकर ब्रह्मचर्य के नौ भेद हो जाते हैं। (इन नौ भेदों के भी) द्रव्य व भाव –इन दो भेदों के कारण कुल अठारह भेद भी हो जाते हैं।

**उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-996)*–

*मणबंभचेरवचिबंभचेर तह कायबंभचेरं च।*
*अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावंति दुवियप्पं॥*

**किञ्च, कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-403)* **प्रोक्तम्**–

*जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।*
*कामकहादिणिरीहो णवविहबंभं हवे तस्स॥*

**विस्तरेण तु शीलस्य अष्टादशसहस्रभेदा भवन्तीति ज्ञेयम्।**

**व्यवहारनिश्चयेतिभेदेन द्वावन्यौ प्रकारावपि तस्य भवतः। उपर्युक्तं सर्वं व्यवहारब्रह्मचर्य-स्वरूपोदाहरणं बोद्धव्यम्। ब्रह्मणि स्वस्वरूपे शुद्धबुद्धैकरूपे शुद्धचिद्रूपे परमानन्दे परमात्मनि चरणं तदनुभवनं निश्चयब्रह्मचर्यम्।**

---

मूलाचार (गाथा-996) में बताया भी गया है–

"मन से ब्रह्मचर्य, वचन से ब्रह्मचर्य और शरीर से ब्रह्मचर्य –इस प्रकार ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं। अथवा द्रव्य और भाव की अपेक्षा से ब्रह्मचर्य दो प्रकार का भी है।"

और कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-403) में कहा गया है–

"जो महिलाओं के संसर्ग का त्याग करता है, उनके रूप का निरीक्षण नहीं करता, और जो कामकथा आदि से निःस्पृह रहता है, उसी के नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य (व्रत) होता है।"

विस्तार से तो शील के अठारह हजार भेद होते हैं –यह जानें।

व्यवहार व निश्चय –इस प्रकार से ब्रह्मचर्य के दो अन्य भेद भी होते हैं। उपर्युक्त सभी उदाहरण व्यवहारब्रह्मचर्य के समझें। स्वस्वरूप शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी शुद्ध चैतन्य रूप परमानन्दमय परमात्म रूप ब्रह्म में चरण या उसका अनुभव –यह निश्चयब्रह्मचर्य है।

**उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-872)*–

*जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।*
*तं जाण बंभचरियं विमुक्कपरदेहतत्तिस्स॥*

**अथवा अनगारधर्मामृते** *(4/60)* **भणितम्–**

*या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः।*
*तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम्॥*

**एवं हे भव्य! ब्रह्मचर्यस्वरूपं तद्भेदांश्च सम्यग् विज्ञाय, अब्रह्मसेवनप्रकारादींश्च सम्यगवबुद्ध्य अब्रह्मसेवनपरिवर्जनपूर्वकं व्यवहारब्रह्मचर्यपालने दृढं प्रयतस्व, येनैव स्वात्मस्थितिरूपनिश्चय-ब्रह्मचर्यानुष्ठानं सम्भवेदिति गाथायाः सारः।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः श्रमणधर्मस्य मोक्षसाधनत्वं प्रतिपादयन्ति–**

---

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-872) में कहा भी गया है–

"जीव ब्रह्म है, उस जीव में ही मुनि की जो चर्या होती है, परदेह की सेवा से रहित वह चर्या ही ब्रह्मचर्य है –यह जानो।"

अथवा– अनगारधर्मामृत (4/60) में भी कहा गया है–

"ब्रह्म शब्द का अर्थ है– निर्मल ज्ञान स्वरूपी आत्मा, उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्व भाव रखता है, उसी के यह ब्रह्मचर्य होता है।"

इस प्रकार, हे भव्य! ब्रह्मचर्य के स्वरूप और उसके भेदों को अच्छी तरह जानकर, अब्रह्मसेवन के विविध प्रकारों को अच्छी तरह हृदयङ्गम कर, अब्रह्मसेवन का परित्याग करते हुए व्यवहारब्रह्मचर्य के पालन में दृढ़ता के साथ प्रयत्नशील रहो, इसी से निजात्म-स्थिति रूप निश्चयब्रह्मचर्य का अनुष्ठान सम्भव होगा – यह गाथा का सार है।

अब शास्त्रकार मोक्ष का साधन श्रमण धर्म है– यह प्रतिपादित कर रहे हैं–

**सावयधम्मं चत्ता जदि-धम्मे जो दु वट्टदे जीवो।**
**सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतए णिच्चं॥ ८१॥**

**छाया–** *श्रावकधर्मं त्यक्त्वा यतिधर्मे यस्तु वर्तते जीवः।*
*स न च वर्जति मोक्षं धर्ममिति चिन्तयेत् नित्यम्॥*

**( सर्वोदया टीका– )** *(जो दु जीवो)* **यो जीवः खलु, नियमेन,** *(सावयधम्मं चत्ता)* **श्रावकधर्मं त्यक्त्वा,** *(जदिधम्मे वट्टए)* **यति-धर्मे अनगारधर्मे, श्रमणधर्मे वा प्रवर्तते,** *(सो ण य मोक्खं वज्जदि)* **स न च मोक्षं वर्जति, मोक्षात् परित्यक्तो न भवति, मोक्षमवश्यमेव प्राप्नोति – इति तात्पर्यम्। क्वचित्** *'सो चेव जादि मोक्खं'* **इतिपाठः, तदा स एव मोक्षं याति –** *(इदि)* **इतिप्रकारेण** *(णिच्चं)* **नित्यमेव, सर्वदा,** *(धम्मं चिंतए)* **धर्मस्य विषये पुनः पुनश्चिन्तनं मननं विधेयमित्यर्थः।**

**अत्रेदं विज्ञेयम्– मुनिप्रव्रज्यां स्वीकृत्य श्रमणधर्माङ्गीकारे श्रावकधर्मः स्वतः परित्यक्तो भवति, अतः श्रावकधर्मं त्यक्त्वा इत्यस्य श्रावकावस्थां बुद्धिपूर्वकं त्यक्तुमना भूत्वेति तात्पर्यम्। तस्यां सवस्त्रावस्थायां गृहस्थावस्थायां मुक्तिलाभस्य सम्भावनाऽपि नास्ति, अतो निर्ग्रन्थयति-धर्माश्रयणं करणीयं श्रेयस्करं भवति।**

---

( 81 )

**( गाथा-अर्थ– ) जो जीव श्रावक धर्म को छोड़कर, मुनि-धर्म में प्रवृत्त होता है, वह मोक्ष को नहीं छोड़ता ( मोक्ष से वंचित नहीं होता ) –इस प्रकार निरन्तर धर्म का चिन्तन करते रहना चाहिए।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( यः तु जीवः )** जो जीव, नियमतः **( श्रावकधर्मं त्यक्त्वा )** श्रावक धर्म को छोड़कर, **( यतिधर्मे वर्तते )** यति अर्थात् अनगार या श्रमण धर्म में प्रवृत्त होता है, **( स न च मोक्षं वर्जति )** वह मोक्ष को नहीं छोड़ता, मोक्ष से अछूता नहीं रहता, मोक्ष अवश्य प्राप्त करता है –यह तात्पर्य है। कहीं (संस्करण में) 'सो चेव जादि मोक्खं' पाठ है, तो अर्थ इस प्रकार करना चाहिए –वही मोक्ष को जाता है। **( इति )** इस प्रकार से **( नित्यं )** नित्य ही, हमेशा, **( धर्मं चिन्तयेत् )** अर्थात् धर्म के विषय में बार-बार चिन्तन-मनन करना चाहिए।

यहाँ यह ज्ञातव्य है- मुनि दीक्षा अङ्गीकार करते हुए श्रमण धर्म स्वीकार करने पर श्रावक धर्म स्वतः परित्यक्त हो जाता है, इसलिए श्रावक धर्म को छोड़ने की जो बात कही गई है, उसका तात्पर्य है कि श्रावक अवस्था को बुद्धिपूर्वक छोड़ने की भावना (या संकल्प) वाला होकर। गृहस्थ की अवस्था वस्त्रसहित अवस्था होती है, उसमें मुक्ति के लाभ की सम्भावना भी नहीं है, इसलिए यति-धर्म का ही आश्रयण करना श्रेयस्कर होता है।

**उक्तं च सूत्रप्राभृते** *(गाथा-23)* **श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यवरैः–**

*ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।*
*णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥*

**किञ्च, सागारधर्मः, अनगारधर्मश्च, एतयोर्द्वयोर्मध्ये मुमुक्षुभिर्भव्यजनैः नूनमनगारधर्म एवाश्रयणीयः, तदङ्गीकारे यदि शरीरादिसामर्थ्याभावस्तदैव सागारधर्माङ्गीकारो विधेयः।**

**अत एव पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-17-18)* **प्रोक्तम्–**

*बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।*
*तस्यैकदेशविरतिः कथनीयाऽनेन बीजेन॥*

*यो यतिधर्ममकथयन् उपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।*
*तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥*

---

सूत्रप्राभृत (गाथा-23) में आचार्यप्रवर श्री कुन्दकुन्द ने कहा भी है–

"जिन-शासन में (कोई) भले ही (भावी) तीर्थंकर हो, यदि वे वस्त्रधारी हैं तो सिद्ध (मुक्त) नहीं होते। नग्नता (दिगम्बरत्व) ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सभी उन्मार्ग हैं।"

और, सागार धर्म और अनगार धर्म –इन दोनों के मध्य में मुमुक्षु भव्य प्राणियों को निश्चय ही अनगार धर्म का आश्रयण लेना ही उचित है। हाँ, यदि अनगार धर्म को पालने की शारीरिक आदि शक्ति का अभाव हो तभी सागार धर्म को अङ्गीकार करना चाहिए।

इसी दृष्टि से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-17-18) में कहा गया है–

"इस हेतु से जो जीव बारम्बार दिखलाई हुई समस्त पापविरति रूप मुनिवृत्ति को कदाचित् ग्रहण न करे तभी उसे एकदेश (आंशिक) पापक्रियारहित गृहस्थाचार का कथन (उपदेश) दें, इस बीज के द्वारा ही मुनिधर्म हो सकता है।"

"जो अल्पबुद्धि उपदेशक मुनि-धर्म का कथन न करके गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, उस उपदेश को भगवत्सिद्धान्त में दण्ड देने का स्थान (पात्र) बताया है।"

**एवं यदि कश्चित्सुहृत् पारिवारिकसदस्यो वा श्रावकधर्मे एव स्थित्यै परामृशेत्, अपरत्र कश्चिद् यथार्थगुरुपदभाक् सत्पुरुषो मुनिधर्माङ्गीकाराय उपदिशेत्, तर्हि तयोर्मध्ये श्रावकधर्मपक्षस्य त्यागं विधाय मुनिधर्मस्वीकरणे प्रयतितव्यमिति शास्त्रकाराशयः। वस्तुतो मुक्तेर्मुख्यं साधनं सम्यक्चारित्रं, तदेव धर्मः, किन्तु सागाराणां चारित्रं विकलमेव, अनगाराणामेव सकलं निर्दोषतया परिपूर्णं चारित्रं वर्तते, अतो मोक्षप्राप्तिरनगारधर्माश्रयणेनैव।**

**अतएव प्रवचनसारे** *(3/1)* **प्रोक्तम्–** *'पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं'* **इति।**

**अपवादरूपेण भरतेश्वरादयो निर्ग्रन्थदीक्षामनङ्गीकृत्यैव घटिकाद्वयेन मोक्षं गताः इति कथनं न यथार्थतां वहति। वस्तुतो भरतचक्रवर्त्यादयोऽपि निर्ग्रन्थरूपेणैव मोक्षं गताः। भरतेश्वरेण सर्वपरिग्रहत्यागं कृत्वा भावतो निर्ग्रन्थदीक्षा गृहीता, केशलोचश्च कृतः, हिंसादिपूर्णनिवृत्तिरूप-महाव्रतान्यपि अङ्गीकृतानि, ततश्चान्तर्मुहूर्ते गते निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा निर्विकल्पस्थितिः प्राप्ता,**

---

इस प्रकार, यदि कोई मित्र या कोई पारिवारिक सदस्य श्रावक धर्म में रहने का परामर्श दे और दूसरी तरफ कोई यथार्थगुरु कहलाने योग्य सत्पुरुष मुनि-धर्म को स्वीकार करने का उपदेश दे, तो इन दोनों के मध्य, श्रावक धर्म का पक्ष छोड़कर मुनि धर्म के स्वीकार हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए –यह शास्त्रकार का आशय है। वस्तुतः मुक्ति का मुख्य साधन सम्यक् चारित्र रूपी 'धर्म' ही होता है, किन्तु सागार का चारित्र तो 'विकल' (एकदेश) ही है, अनगारों का ही चारित्र सकल यानी निर्दोष रूप से परिपूर्ण होता है, इसलिए अनगार धर्म के आश्रय से ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है।

इसीलिए प्रवचनसार (3/1) में कहा गया है– ''यदि दुःख से छूटना चाहते हो तो श्रामण्य (अनगार धर्म) को अङ्गीकार करो।''

''अपवाद रूप से भरतेश्वर आदि ने निर्ग्रन्थ दीक्षा न लेकर दो घड़ी में ही मोक्ष प्राप्त किया था'' – यह कहना यथार्थ नहीं है। वस्तुतः भरत चक्रवर्ती आदि भी निर्ग्रन्थ रूप से ही मोक्ष गए थे। भरतेश्वर ने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर भावतः निर्ग्रन्थ दीक्षा ली थी, केशलोंच भी किया था, हिंसादि से पूर्ण निवृत्ति रूप महाव्रतों को भी अङ्गीकार किया था, फिर अन्तर्मुहूर्त होते ही निजशुद्धात्म-ध्यान में स्थित होकर निर्विकल्पक स्थिति प्राप्त कर ली थी, किन्तु परिग्रह-त्याग आदि की (उक्त) घटना का समय थोड़ा था–

**किन्तु परिग्रहत्यागादिघटनायाः स्तोककालत्वात् लोका न ज्ञातवन्तः इति तल्लोकप्रसिद्धिर्न जातेति शास्त्रकारैः** *(समयसार-तात्पर्यवृत्तौ, बृहद्द्रव्यसंग्रहटीकायां तथा परमात्मप्रकाशटीकायां च)* **निरूपितम्। अतो मुमुक्षूणां श्रामण्याङ्गीकारे एव मुक्तिरिति सिद्ध्यति। किञ्च, उत्कृष्टध्यानादेव मुक्तिरिति राद्धान्तः। ध्यानसिद्धौ च निर्ग्रन्थता साधनं भवति। उक्तं च** *(बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य गाथायाः 57 टीकायामुद्धृते पद्ये)*–

*वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।*
*परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः॥*

**धर्मध्यानोत्कृष्टतायै चित्तचञ्चलताया यावान्निरोधोऽपेक्षितः, न तावान् गृहस्थावस्थायां सम्भवति –इतिदृष्ट्या स्वीक्रियते यत् मुख्यं धर्मध्यानमपि ( धर्मध्यानस्य उत्कृष्टविशुद्धस्थितिः ) सप्तमे अप्रमत्तगुणस्थाने तदुपरि वा सम्भवति, नाधोगुणस्थानेषु। अधोगुणस्थानेषु औपचारिकमेव तत्। गृहस्थानां तद्गुणस्थानं कदाचिदपि न सम्भवति। सामान्यसागाराणां प्रायो दुर्ध्यानमेव, तेषां सावद्यकार्येभ्यः पूर्णनिवृत्तेरसम्भवाद्।**

---

इसलिए लोग जान नहीं पाए और उसकी लोकप्रसिद्धि नहीं हो पाई –यह (सब) शास्त्रकारों ने (समयसार की 414 गाथा पर तात्पर्यवृत्ति टीका में, बृहद् द्रव्यसंग्रह की 57वीं गाथा की टीका में तथा परमात्मप्रकाश की 2/52 की टीका में) निरूपित किया है। इसलिए मुमुक्षुओं को श्रामण्य अङ्गीकार करने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है –यह सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात, उत्कृष्ट ध्यान से ही मोक्ष प्राप्त होता है– यह सिद्धान्त है। ध्यान की सिद्धि हेतु निर्ग्रन्थता एक साधन है। (बृहद्द्रव्यसंग्रह की 57वीं गाथा पर की गई टीका में उद्धृत एक पद्य में) कहा भी गया है–

"वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता, समता व परीषह-जय –ये ध्यान के पाँच हेतु हैं।"

धर्मध्यान की उत्कृष्टता के लिए चित्त की चञ्चलता का जितना निरोध अपेक्षित होता है, उतना गृहस्थ अवस्था में नहीं हो पाता –इस दृष्टि से यह माना जाता है कि मुख्य धर्मध्यान (अर्थात् धर्मध्यान की उत्कृष्ट व विशुद्ध स्थिति) भी सातवें अप्रमत्तगुणस्थान में या उससे ऊपर सम्भव होता है, न कि नीचे के गुणस्थानों में। नीचे के गुणस्थानों में तो वह औपचारिक ही होता है। गृहस्थों के तो वह (सातवाँ) गुणस्थान कभी हो नहीं सकता। सामान्य सागार (गृहस्थों) के तो प्रायः दुर्ध्यान होता है, क्योंकि उनके सावद्य कार्यों से पूर्ण निवृत्ति हो नहीं पाती।

**उक्तं च भावसंग्रहे** *(गाथा-381-387)*–

*जं पुणु वि णिरालंबं तं झाणं गयपमायगुणठाणे।*
*चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणलिंगरूवस्स॥*

*जो भणइ कोइ एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।*
*सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो॥*

*कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि।*
*तह्मा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई॥*

*किं जं सो गिहवंतो बहिरंतरगंथपरिमिओ णिच्चं।*
*बहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं॥*

*घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।*
*झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स॥*

---

भावसंग्रह (गाथा-381-387) में कहा गया है-

''जिसने घरबार छोड़ दिया है और जिन (मुनि) का वेश धारण कर लिया है, उसी के अप्रमत्त गुणस्थान में निरालम्ब (धर्म) ध्यान होता है।''

''जो ऐसा कहता है कि गृहस्थों को शुद्ध निरालम्ब व निश्चल (मुख्य) ध्यान होता है, वह मुनियों के आगम का ज्ञाता नहीं है।''

''दृष्टिवाद अंग में गुणस्थानों में जो ध्यान बताये गए हैं, उसके अनुसार (पाँचवें गुणस्थान वाले) देशविरतश्रावक के मुख्य धर्मध्यान नहीं होता।''

''उसका कारण यह है कि गृहस्थ बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह से नित्य घिरा हुआ और बहुत से आरम्भ-कार्यों में प्रवृत्त होता है, फिर उसे शुद्ध आत्मा का ध्यान कैसे हो सकता है?''

''उसे कितने ही घर के कामकाज करने होते हैं, वे सब, जब वह गृहस्थ आँख बंद करके ध्यान में बैठता भी है तो भी उसके ध्यान में रहते हैं।''

*अह ढिंकुलियाझाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।*
*सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि॥*

*झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स।*
*आलंबणरहियस्स स ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा॥*

**किञ्च, तत्रैव** *(गाथा-391-393)* **विशदीकृतम्–**

*गेहे वट्टंतस्स य वावारसयाइ सया कुणंतस्स।*
*आसवइ कम्ममसुहं अट्टरउद्दे पयत्तस्स॥*

*जह गिरिणई तलाए अणवरयं पविसए सलिलपरिपुण्णं।*
*मणवयतणुजोएहिं पविसइ असुहेहिं तह पावं॥*

*जाम ण छंडइ गेहं ताम ण परिहरइ इंतयं पावं।*

---

"अब भी यदि कोई गृहस्थ शुद्ध ध्यान की बात करे तो उसका कथन मेढकी के टर्राने जैसे है, अथवा ढेकी (मूसली के धान्य कूटने का) के परिश्रम जैसा निरर्थक है, तथैव निरावलंबी ध्यान की चेष्टा परिश्रम मात्र है।"

"चूँकि उस (गृहस्थ) का चित्त स्थिर नहीं रहता, इसलिए उसे सविकल्प रूप आलम्बन रहित अनेक ध्यानों की परम्परा सम्भव होती है और वही उसके पायी जाती है।"

और भी, वहीं (गाथा-391-394) स्पष्ट किया गया है–

"गृहस्थ घर में रहते हुए सैकड़ों व्यापार (सावद्य कार्य) सदा करता रहता है और आर्त व रौद्र ध्यान में प्रवृत्त रहता है, इसलिए उसके अशुभ कर्मों का आस्रव होता रहता है।"

"जिस प्रकार, पहाड़ी नदी व तालाब में अनवरत जल आते रहने से उसमें जल भरा ही रहता है, उसी प्रकार गृहस्थ के भी मन-वचन-शरीर की अशुभ प्रवृत्तियों से पाप का आगमन होता रहता है।"

"जब तक वह घर नहीं छोड़ता, तब तक उपर्युक्त पाप से बच नहीं पाता...।"

**ज्ञानार्णवे** *(4/9-14)* **च भणितम्–**

*न प्रमादजयः कर्तुं धीधनैरपि पार्यते।*
*महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासेऽतिनिन्दिते॥*

*शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।*
*अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहस्थितिः॥*

*प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसां नृणां दुराशाग्रहपीडितात्मनाम्।*
*नितम्बिनीलोचनचौरसंकटे गृहाश्रमे नश्यति पारमार्थिकम्॥*

*निरन्तरार्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने।*
*अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनां नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति॥*

---

ज्ञानार्णव (4/9-14) में भी कहा गया है–

"घर में निवास तीव्र दुःखों से भरा है और अतिशय निन्दित है, इसमें अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति भी उस प्रमाद को जीतने में समर्थ नहीं हो पाते।"

"गृहस्थ जनों द्वारा इस चपल मन को वश में करना सम्भव नहीं है, इसलिए सत्पुरुषों ने मन की शान्ति के लिए घर का त्याग किया है।"

"स्त्रियों के नेत्र रूपी चोरों के कारण संकटग्रस्त इस गृहस्थाश्रम में लोगों का मन सैकड़ों झंझटों से व्यथित तथा तृष्णा रूपी पिशाच से ग्रस्त रहा करता है, इसीलिए गृहस्थावस्था में मनुष्यों की परमार्थता (संयम व मुक्ति की भावना) नष्ट हो जाती है।"

"निरन्तर आर्तध्यान रूप अग्नि के सन्ताप के कारण दुर्गम, कुत्सित वासना रूप अन्धकार से जहाँ आँखें अन्धी हो जाती हैं –ऐसे घर में रहने वाले लोगों की आत्मा, चूँकि अनेक चिन्ता रूप ज्वर से मन्द रहती है, इसलिए आत्म-हित को सिद्ध नहीं कर पाती।"

*विपन्महापङ्कनिमग्नबुद्धयः, प्ररूढरागज्वरयन्त्रपीडिताः।*
*परिग्रहव्यालविषाग्निमूर्च्छिताः विवेकवीथ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी॥*

*हिताहितविमूढात्मा स्वं शश्वद् वेष्टयेद् गृही।*
*अनेकारम्भजैः पापैः, कोशकारः कृमिर्यथा॥*

**अतएव पञ्चाध्यायीग्रन्थे** *(2/709)* **सम्यगुक्तम्–**

*किञ्चास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे।*
*विना साधुपदं न स्यात् केवलोत्पत्तिरञ्जसा॥*

**किञ्च, द्रव्यमुनिलिङ्गाश्रयणेन न मोक्षसिद्धिः, भावलिङ्गाश्रयणमेव मुक्तिसाधकम्, अतो 'यतिधर्मे वर्तते' इत्यस्य 'भावश्रमणधर्मे वर्तते' इति तात्पर्यार्थो ग्राह्यः।**

---

"घर में रहते हुए जिनकी बुद्धि विपत्ति रूपी गहरे कीचड़ में फँसी रहती है, जो उत्पन्न हुए राग रूप ज्वर के यन्त्र से व्यथित रहते हैं, तथा जो परिग्रह रूप विष के सन्ताप से मूर्च्छित-सुध-बुध रहित हो जाते हैं, वे गृहस्थ विवेक रूपी वीथी (गली) में स्खलित होते हैं, मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं।"

"हित-अहित के विवेक से मूढ़ (रहित) हृदय वाला गृहस्थ स्वयं को निरन्तर अनेक आरम्भ-जनित पापों से इस प्रकार लिपटा हुआ रखता है जैसे रेशम का कीड़ा उसके तारों से स्वयं को लपेटता रहता है।"

इसलिए पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (2/709) में भी यह ठीक ही कहा गया है–

"परमागम में यह अन्वर्थ (सार्थक, यथार्थ) रूढ़ि प्रसिद्ध है कि वास्तव में साधु पद के ग्रहण किये बिना किसी को भी केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती।"

और, मुनि के द्रव्यलिङ्ग को धारण करने से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, भावलिङ्ग का आश्रयण ही मुक्ति का साधक होता है, इसलिए 'यति-धर्म में प्रवृत्त होता है' इसका 'भावश्रमण-धर्म में प्रवृत्त होता है' -यह तात्पर्य लेना चाहिए।

**उक्तं च लिङ्गप्राभृते** *(गाथा-2)*–

*धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।*
*जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो॥*

**भावप्राभृते** *(गाथा-120, 125)* **च भणितम्**–

*जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।*
*छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं॥*

*भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।*
*इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होइ॥*

**एवं भावश्रमणेष्वपि ये रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मनि अवस्थानरूपं निश्चयचारित्रात्मकधर्ममाचरन्ति, वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरताश्च भवन्ति, ते निर्वाणं प्राप्नुवन्ति, अतो 'न वर्जेति मोक्षम्' इत्युक्तौ तेषामेव संकेत इति बोद्धव्यम्।**

---

लिङ्गप्राभृत (गाथा-2) में कहा गया है–

"धर्म से लिङ्ग होता है, मात्र लिङ्ग (वेश) धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए भाव को धर्म जानो, भावरहित लिङ्ग से तुझे क्या करना है?"

भावप्राभृत (गाथा-120 व 125) में भी कहा गया है–

"जो कोई द्रव्यलिङ्गी मुनि इन्द्रिय-सुखों के लिए व्याकुल होते हैं, वे संसार रूपी वृक्ष को नहीं काट पाते हैं, परन्तु जो भावलिङ्गी मुनि हैं, वे ध्यानरूपी कुठार से इस संसार रूपी वृक्ष को काट डालते हैं।"

"भावश्रमण (भावलिङ्गी) मुनि सुख पाता है और द्रव्यश्रमण (द्रव्यलिङ्गी) मुनि दु:ख पाता है– इस प्रकार गुण व दोषों को जानकर ही हे मुनि! तू भावसहित संयमी बन।"

इस प्रकार भावश्रमणों में भी जो रागादि विकल्पों से रहित होते हुए निज शुद्धात्मा में अवस्थान रूप निश्चयचारित्रात्मक धर्म का आचरण करते हैं, वीतरागस्वसंवेदन ज्ञान में निरत होने वाले वे ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं– अत: मोक्ष को नहीं छोड़ते –इस कथन में उन्हीं का संकेत किया गया है –ऐसा जानना चाहिए।

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा-156)*–

*मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।*
*परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिदो॥*

**अन्यच्च, तत्रैव** *(गाथा-272)* **स्पष्टमुद्घोषितम्**– *णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।*

**किञ्च, तत्रैव** *(गाथा-412)* **उपसंहाररूपेण भणितम्**–

*मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि चेदयहि झायहि तं चेव।*
*तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥*

**एवं हे मनीषिन्! उत्तमश्रमणधर्माणां स्वरूपं सम्यक् विज्ञाय भावश्रमणत्वमाविर्भावयन् प्रशस्तध्यानक्रमिकसोपानमारोढुं प्रयतस्व, तदैव श्रमणधर्मानुष्ठानस्य सार्थकता भवतीति गाथायाः सारः।**

---

समयसार (गाथा-156) में कहा भी गया है–

"निश्चयनय को छोड़कर विद्वान् व्यवहार के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु जो परमार्थ (शुद्धात्मभूत) के आश्रित हैं, उन्हीं यतियों के कर्मक्षय होता है।"

इसके अतिरिक्त, वहीं (गाथा-272) में स्पष्ट घोषणा की गई है– "निश्चयनय का आश्रयण करने वाले मुनि (ही) निर्वाण को प्राप्त करते हैं।"

और, वहीं (गाथा-412) यह भी उपसंहार रूप से कहा गया है–

"मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को तू स्थापित कर, उसी का अनुभव कर, और उसी का ध्यान कर, उसमें ही सदा विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।"

इस प्रकार हे मनीषी! उत्तम श्रमण धर्मों के स्वरूप को अच्छी तरह जानकर भावश्रमणपने को प्रकट करते हुए प्रशस्त ध्यान के क्रमिक सोपानों पर आरोहण हेतु प्रयत्नशील रहो, तभी श्रमण धर्म के अनुष्ठान की सार्थकता होगी –यह गाथा का सार है।

**सम्प्रति शास्त्रकाराः 'आत्मा सागारानागारधर्माभ्यां पृथगेव' इति प्रतिपादयन्ति–**

**णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।**
**मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतए णिच्चं॥ ८२॥**

**छाया–** *निश्चयनयेन जीवः सागार-अनगारधर्मतो भिन्नः।*
*मध्यस्थभावनया शुद्धात्मानं चिन्तयेत् नित्यम्॥*

**( सर्वोदया टीका– )** *(जीवो)* **जीवः, चेतनालक्षणो जीवः, यद्वा द्रव्यभावप्राणैः जीवति इति जीवः।** *(णिच्छयणएण)* **निश्चयनयानुसारम्। आत्माश्रितो निश्चयनयः। स एव परमार्थ-प्रतिपादकः। तन्मते 'अनादिपारिणामिकचैतन्यलक्षणजीवत्वभावपरिणतो जीवः' इति ज्ञायते। अतः तमनुसृत्य,** *(सागारणगारधम्मदो भिण्णो)* **सागार-अनगारेतिद्विविधधर्मात् भिद्यते, न तु धर्मद्वयं जीवस्वरूपभूतमित्यतः शुद्धात्मा तस्मात्पृथक्, भिन्नो वा। आगारवस्त्रादिपरिग्रहयुक्ताः सागाराः, तद्रहिता अनगाराः –इत्यत्र सागारताया अनगारताया वा यन्निर्धारणं विधीयते, तदात्मेतरपरद्रव्याण्या-श्रित्यैव –इत्यतो व्यवहारनयेनैव जीवस्य सागारधर्मोऽनगारधर्मो वा स्वीक्रियते।**

---

अब शास्त्रकार 'आत्मा सागार या अनगार धर्म से भिन्न ही है' इसका प्रतिपादन कर रहे हैं–

**( 82 )**

**( गाथा-अर्थ– ) निश्चयनय से जीव ( आत्मा ) सागार धर्म व अनगार धर्म –( दोनों ) से भिन्न ( पृथक् ) है, अतः मध्यस्थ भाव के साथ शुद्धात्मा का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( जीवः )** जीव, जिसका लक्षण चेतना है, या जो द्रव्य प्राणों व भाव प्राणों से जीवित रहता है, वह जीव है। **( निश्चयनयेन )** निश्चयनय के अनुसार। (मात्र) आत्मा पर आश्रित दृष्टि निश्चयनय होती है। यह नय परमार्थप्रतिपादक है। इसकी दृष्टि में जीव वह है जो अनादि पारिणामिक चैतन्य लक्षण वाला और जीवत्व भाव में परिणत है। इसलिए उस (नय) के अनुसार, **( सागार-अनगारधर्मतो भिन्नः )** सागार व अनगार –इन दोनों धर्मों से भिन्न है, (अर्थात्) ये दोनों धर्म जीव के स्वरूप नहीं है, इसलिए शुद्धात्मा उनसे पृथक् या भिन्न ही है। जो घर, वस्त्र आदि परिग्रह से युक्त हैं, वे सागार हैं और जो उससे रहित हैं वे अनगार हैं –इस तरह से सागारता या अनगारता का जो निर्धारण किया जाता है, उसमें आत्मेतर परद्रव्यों का ही आश्रयण लिया जाता है, इसलिए व्यवहारनय से ही जीव के सागार या अनगार धर्म का सद्भाव माना जा सकता है।

**निश्चयनयेन तु परमाणुमात्रमपि परद्रव्यसम्बन्धो जीवस्य सम्भवत्येव नहि। ततश्च सागारताऽनगारता वा जीवस्य पूर्णतया प्रतिषिध्यते। किम्बहुना, जीवदेहयोः, जीवकर्मणोश्च परस्परसम्बन्धं निश्चयनयो न विषयीकरोति। निश्चयनयेन तु जीवो न पुमान्, न स्त्री, न गृहस्थः, नानगारः, तन्मते जीवः कर्म-अबद्धः, चिद्रूप एव स्वीक्रियते।**

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा-27, 141)*–

*ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।*
*ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो।।*

*जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।*
*सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं॥*

**किञ्च, तत्रैव** *(गाथा-324, 49, 56)* **भणितम्**–

---

किन्तु निश्चयनय से जीव के परमाणुमात्र भी परद्रव्य का सम्बन्ध सम्भव ही नहीं होता, इसलिए जीव के सागारता व अनगारता –दोनों ही का निषेध हो जाता है। अधिक क्या, जीव व देह और जीव व कर्म –इनके भी परस्पर सम्बन्ध को निश्चयनय विषय नहीं करता (नहीं मानता)। निश्चयनय से तो जीव न पुरुष है, न स्त्री है, न वह गृहस्थ है और न ही अनगार है, इसकी दृष्टि में तो जीव कर्मों से अबद्ध एवं चिद्रूप ही स्थित रहता है।

समयसार (गाथा-27 व 141) में कहा भी गया है–

"व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक है। किन्तु निश्चयनय का कथन है कि जीव और शरीर एक पदार्थ नहीं हो सकते।"

"जीव में कर्म बद्ध हैं तथा स्पृष्ट हैं –यह तो व्यवहारनय का कथन है। और जीव कर्मों से अबद्ध-अस्पृष्ट है –यह शुद्धनय-निश्चयनय का कथन है।"

और, वहीं (गाथा-324, 49 एवं 56) में कहा गया है–

*ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था।*
*जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्तं पि॥*

*अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।*
*जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥*

*ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।*
*गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥*

**एवं निश्चयनयेन यदा जीवो देहरहितः, कर्म-नोकर्मभिरबद्धस्पृष्टश्च वर्तते, तर्हि तस्य वस्त्रादिपरिग्रहस्य सद्भावोऽसद्भावो वेति निरूपणं कथमपि न सङ्गच्छते। अत एव गृहस्थलिङ्गम्, मुनिलिङ्गं चैते अपि जीवस्य मोक्षमार्गरूपतां न वहतः। मोक्षमार्गस्तु सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयं भवति, तत्तु आत्मपरिणामरूपमेव सन्मोक्षमार्गरूपतां बिभर्ति। गृहस्थलिङ्गादिकं तु नात्मपरिणामभूतम्। अतएव समयसारे गृहस्थलिङ्गादीनां मोक्षमार्गत्वं निराकृतम्।**

---

''पदार्थ के यथार्थ स्वरूप से अपरिचित व्यक्ति व्यवहारनय के माध्यम से कहते हैं कि 'पर द्रव्य मेरा है'। किन्तु जो निश्चयनय से जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणु मात्र भी कोई परद्रव्य मेरा नहीं है।''

''जीव (वस्तुतः) रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त, चेतनागुण वाला, शब्दरहित है, उसका किसी चिन्ह या किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता और जिसका कोई आकार कहने में नहीं आता –ऐसा जानो।''

''ये वर्ण आदि से लेकर गुणस्थान तक के सभी भाव व्यवहारनय से जीव के होते हैं, परन्तु निश्चयनय से कोई भी भाव जीव के नहीं होते।''

इस प्रकार, निश्चयनय से जब जीव देहरहित, कर्म व नोकर्म से अबद्ध, अस्पृष्ट है, तब उसके वस्त्र आदि परिग्रह के होने या न होने का निरूपण किसी तरह भी संगत नहीं होता। इसीलिए गृहस्थलिङ्ग व मुनिलिङ्ग –ये दोनों ही जीव के लिए मोक्षमार्ग होने की योग्यता नहीं रखते। मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न हैं, और वह तो आत्म-परिणति रूप होने के कारण मोक्षमार्ग होने की योग्यता रखता है। गृहस्थलिङ्ग आदि तो आत्मपरिणतिरूप होते नहीं। इसी दृष्टि से समयसार में गृहस्थलिङ्ग आदि की मोक्षमार्गता का निराकरण किया गया है।

**यथा तत्र** *(गाथा-408-411)* **प्रोक्तम्–**

*पासंडियलिंगाणि य गिहिलिंगाणि य बहुप्पयाराणि।*
*घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति॥*

*ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।*
*लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति॥*

*ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।*
*दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति॥*

*तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए।*
*दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे॥*

**एवं सागारधर्मः, अनगारधर्मश्चेत्यादिभेदा व्यवहारेण व्यवहारधर्मस्य वा निरूपिताः, अतो न ते निश्चयेन मोक्षमार्गरूपाः। तर्हि निश्चयनयेन को मोक्षमार्गः?**

---

जैसे, वहाँ (गाथा-408-411) इस प्रकार कहा गया है–

''बहुत तरह से पाखण्डिलिङ्गों (धार्मिक साम्प्रदायिक वेशों) या गृहस्थलिङ्गों को ग्रहण कर (उन्हें आधार बनाकर) मूढ़जन ऐसा कहते हैं कि (अमुक) यह लिङ्ग मोक्षमार्ग है।''

''परन्तु कोई लिङ्ग (वेश आदि) मोक्ष का मार्ग नहीं होता, क्योंकि अर्हन्त देव ने भी देह से ममत्व छोड़कर तथा लिङ्ग का त्याग कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र (इन तीनों के समुदित रूप रत्नत्रय) की ही सेवा-आराधना की है।''

''जो भी पाखण्डी (सम्प्रदायविशेष के) लिङ्ग तथा गृहस्थ रूप लिङ्ग हैं, वे मोक्षमार्ग नहीं हैं। जिनेन्द्र भगवान् ने तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा है।''

''इसलिए गृहस्थों व मुनियों के लिङ्ग को छोड़कर (इन्हें मोक्षमार्ग के रूप में न ग्रहण कर) दर्शन-ज्ञान-चारित्र (स्वरूप मोक्षमार्ग) में आत्मा को लगाओ।''

यदि ऐसी स्थिति है कि सागार धर्म आदि भेद व्यवहारनय से या व्यवहार धर्म के हैं, इसलिए वे निश्चयनय से मोक्षमार्ग नहीं है, तो फिर निश्चयनय से मोक्षमार्ग क्या है?

**उच्यते– आत्मना शुद्धात्मनि स्थितिर्निश्चयचारित्रं तदेव निर्वाणसाधनं जानीहि।**

**उक्तं च मोक्षप्राभृते** *(गाथा-83)*–

*णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।*
*सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं॥*

**पञ्चास्तिकाये** *(गाथा-161-162)* **च विशदीकृतम्–**

*णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।*
*ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति॥*

*जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।*
*सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि॥*

**भावप्राभृते च** *(गाथा-83, 77)* **निरूपितम्–**

---

बता रहे हैं– आत्मा द्वारा शुद्ध आत्मा में स्थिति –यह निश्चयचारित्र है, और इसे ही निर्वाण का साधन समझो।

मोक्षप्राभृत (गाथा-83) में कहा गया है–

निश्चयनय का मत है कि जो आत्मा, आत्मा के लिए, आत्मा में तन्मयीभाव को प्राप्त है, वही सुचारित्र (सम्यक् चारित्र) है। इस चारित्र को धारण करने वाला योगी निर्वाण को प्राप्त होता है।

पञ्चास्तिकाय (गाथा-161-162) में इसे स्पष्ट किया गया है–

"निश्चयनय से जो आत्मा सम्यग्दर्शन आदि तीन (रत्नत्रय) से तन्मय होकर अन्य परद्रव्य को न करता है और न छोड़ता है, वही मोक्षमार्ग कहा गया है।"

"जो जीव पर-पदार्थ से भिन्न आत्मस्वरूप में चरण (स्थिति) करता है, उसे ही जानता और देखता है, वही सम्यक् चारित्र, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन होता है।"

भावप्राभृत (गाथा-83, 77) में भी कहा गया है–

*अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।*
*संसारतरणहेदु धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥*

*सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।*
*इदि जिणवरेहिं भणिदं जं सेयं तं समायरह॥*

**एवं पूर्वोक्तं निश्चयचारित्रात्मकधर्मस्य मोक्षमार्गतां मनसि निधाय शास्त्रकारा उपसंहरन्तः परामृशन्ति–** *(मज्झत्थभावणाए णिच्चं सुद्धप्पं चिंतए)* **मध्यस्थभावनां धृत्वा नित्यं शुद्धात्मानं चिन्तयेत्। ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्ममलेन, शरीरादिनोकर्ममलेन, रागद्वेषादिभावकर्ममलेन च रहितत्वादात्मा 'शुद्धः' इत्याख्ययाऽभिधीयते।**

**उक्तं च प्रवचनसारे** *(1/81)–*

*जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।*
*जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥*

---

"रागादि समस्त दोषों से रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूप में लीन रहता है, वही (लीन रहना ही) संसार-समुद्र से पार होने का कारण 'धर्म' है –ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।"

"शुद्ध स्वभावी आत्मा शुद्ध भाव है, वह आत्मा आत्मा में ही लीन रहता है –ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। इन (शुभ-अशुभ और शुद्ध) में जो भाव श्रेयस्कर हो, उसका आचरण करो।"

इस प्रकार, पूर्व-प्रतिपादित निश्चय-चारित्र रूप धर्म की मोक्षमार्गता को मन में रखकर शास्त्रकार उपसंहार रूप से परामर्श दे रहे हैं– **( मध्यस्थभावनया नित्यं शुद्धात्मानं चिन्तयेत् )** मध्यस्थ भावना को धारण कर नित्य शुद्धात्मा का चिन्तन करे। ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूपी मल से, शरीर आदि नोकर्म रूपी मल से तथा राग-द्वेष आदि भावकर्म रूपी मल से रहित होने के कारण आत्मा को 'शुद्ध' इस संज्ञा से पुकारा जाता है।

प्रवचनसार (1/81) में कहा भी गया है–

"जिसका दर्शनमोह नष्ट हो गया है, ऐसा जीव आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने लगता है (उसका अनुभव करने लगता है), और वही जीव जब राग-द्वेष को छोड़ देता है तो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।"

**समयसारे** *(गाथा-7)* **च ज्ञायकचिद्रूप एव शुद्ध इत्युक्तम्–**

*ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।*
*ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥*

**शुद्धात्मनो ध्यानं मुक्तिं प्रापयति –इति मोक्षप्राभृते** *(गाथा-26)* **निरूपितम्–**

*जो इच्छइ निस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुंदस्स।*
*कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं॥*

**एष शुद्धात्मा 'स्वद्रव्य'रूपेणापि निरूप्यते। उक्तं च मोक्षप्राभृते** *(गाथा-18-20)*–

*दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।*
*सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं॥*

*जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।*
*ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं॥*

---

समयसार (गाथा-7) में ज्ञायक चिद्रूप को ही 'शुद्ध' कहा गया है– जीव के ज्ञान, दर्शन व चारित्र हैं –यह व्यवहारनय से कथन है। निश्चयनय से उसके न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है। वह तो एक ज्ञायक भाव है, इसलिए 'शुद्ध' कहा गया है।

शुद्ध आत्मा का ध्यान मुक्ति प्राप्त कराता है –ऐसा मोक्षप्राभृत (गाथा-26) में बताया गया है– ''जो मुनि अत्यन्त विस्तृत संसार-महासागर से निकलना चाहता है, वह कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाला 'शुद्धात्मा का ध्यान' करता है।''

इस शुद्धात्मा को 'स्वद्रव्य' रूप से भी कहा जाता है। मोक्षप्राभृत (गाथा-18-20) में कहा गया है –

''आठों दुष्ट कर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य जो शुद्ध आत्मा द्रव्य है, उसे जिनेन्द्र भगवान् ने 'स्वद्रव्य' कहा है।''

''जो (इस) स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, परद्रव्य से निवृत्त रहते हैं और सम्यक् चारित्र का निरतिचार पालन करते हुए जिनेन्द्र देव के मार्ग में लगे रहते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं।''

*जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।*
*जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं॥*

**समयसारे च** *(गाथा-186-189)* **समर्थितमेतत्–**

*सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।*
*जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥*

*अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।*
*दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि॥*

*जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।*
*ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं॥*

*अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।*
*लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं॥*

---

"जो योगी ध्यानावस्था में जिनेन्द्र देव के मतानुसार शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है, वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करे, वह ठीक ही है। क्योंकि जिस ध्यान से निर्वाण प्राप्त हो सकता है, उससे क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं हो सकता?"

समयसार (गाथा-186-189) में भी उपर्युक्त का समर्थन इस प्रकार किया गया है–

"शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है, और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है। जो जीव अपनी आत्मा को अपने आपके द्वारा शुभ-अशुभ रूप दोनों योगों से रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ अन्य पदार्थों में इच्छा से रहित है, तथा समस्त परिग्रह से रहित होता हुआ आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है, वह कर्म व नोकर्म का ध्यान नहीं करता, किन्तु चेतनारूप होकर एकत्वभाव का चिन्तन करता है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला दर्शनज्ञानमय तथा अन्य वस्तुमय नहीं होने वाला जीव शीघ्र ही कर्मों से रहित आत्मा को ही प्राप्त करता है।"

**मध्यस्थ-भावनापूर्वकं चिन्तनमित्यस्य तात्पर्यमस्ति यद् व्यवहारनिश्चयेतिसंज्ञकौ द्वौ नयौ आत्मस्वरूपपरिचयाय उपयोगिनौ ज्ञातव्यौ, किन्तु उपादेयन्तु नयपक्षातिक्रान्तं तत्त्वं भवति। नयसाहाय्येन तत्त्वस्य परोक्षानुभूतिरेव सम्भवति, प्रत्यक्षानुभूतिस्तु नयपक्षातीतेति विज्ञातव्यम्। अत एवाचार्यवरैरमृतचन्द्रैरपि नयैर्ज्ञाते वस्तुतत्त्वे मध्यस्थताऽऽश्रयणीयेति परामृष्टम्।**

**उक्तं च पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-8)*–

*व्यवहारनिश्चयौ य: प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ:।*
*प्राप्नोति देशनाया: स एव फलमविकलं शिष्य: ॥*

**बृहन्नयचक्रे** *(गाथा-268)* **च भणितम्–**

*तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।*
*णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहओ जम्हा॥*

---

मध्यस्थ भावना के साथ चिन्तन करें –इस कथन का तात्पर्य यह है कि व्यवहार व निश्चय –ये दो नय हैं, वे आत्मस्वरूप से परिचित होने के लिए उपयोगी हैं –ऐसा समझें, किन्तु उपादेय तत्त्व तो नय-पक्षों से अतिक्रान्त (ऊपर) है। नय की सहायता से तत्त्व की परोक्षानुभूति ही हो पाती है, प्रत्यक्ष अनुभूति तो नयपक्षों से अतीत है –यह जानें। इसीलिए आचार्यप्रवर अमृतचन्द्रजी ने भी नयों से वस्तुतत्त्व का ज्ञान करने के अनन्तर मध्यस्थता लानी चाहिए –ऐसा परामर्श दिया है।

उन्होंने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-8) में कहा है–

"जो जीव व्यवहार व निश्चयनय के द्वारा वस्तुस्वरूप को यथार्थतया जानकर मध्यस्थ होता है, वही शिष्य (जिनेन्द्र के) उपदेश के समस्त फल को प्राप्त होता है।"

बृहन्नयचक्र (गाथा-268) में भी कहा गया है–

"तत्त्व के अन्वेषण (परिचयादि) के समय में ही युक्ति-मार्ग से (अर्थात् निश्चय व व्यवहार नय द्वारा) आत्मा ज्ञेय है, किन्तु आत्मा की आराधना करते समय आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष हो जाती है।"

**सूत्रप्राभृते** *(गाथा-6)* **च प्रोक्तम्–**

*जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।*
*तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं॥*

**समयसारे** *(गाथा-142-144)* **च विशदीकृतमेतत्–**

*कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।*
*पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥*

*दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।*
*ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो॥*

*सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।*
*सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो॥*

---

सूत्रप्राभृत (गाथा-6) में कहा गया है–

"जो सूत्र जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट है, उसे व्यवहार व निश्चयनय द्वारा जानो। उसे जानकर ही योगी सुख प्राप्त करता है और (कर्मरूपी) मल के समूह को नष्ट करता है।"

समयसार (गाथा-142-144) में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"जीव कर्म से बँधा है अथवा नहीं बँधा है –यह तो नय पक्ष हैं –ऐसा जानों। जो इस पक्ष से अतिक्रान्त (दूरवर्ती) कहा जाता है– वही समयसार है।"

"जो पुरुष अपने शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध हो दोनों ही नयों के कथन को मात्र जानता है, किन्तु किसी भी नय-पक्ष को ग्रहण नहीं करता (उसी पर आग्रह कर बैठ नहीं जाता), वह नय-पक्ष से परिहीन या पक्षातिक्रान्त है।"

"जो सब नय-पक्षों से रहित है, वही समयसार कहा गया है। वह समयसार ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान –इस नाम को प्राप्त होता है।"

**शुद्धात्मचिन्तनेन धारावाहिना समनुष्ठितेन सता शुद्धात्मप्राप्तिरिति समयसारकलशे** *(127)* **स्पष्टमुद्घोषितम्–**

*यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन, ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।*
*तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा, परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति॥*

**एवं श्रमणधर्मानुष्ठानमाचरन् निश्चयचारित्रात्मकशुद्धात्मस्थितिरूपनिश्चयधर्मानुष्ठानाय भो भव्य मनीषिन्! सर्वात्मना प्रयतस्वेति गाथासारः। एवं धर्मानुप्रेक्षां भावयतो जनस्य धर्मानुरागात् मोक्षमार्गानुष्ठाने प्रयत्नदृढता क्रमशः संवर्द्धते। ततश्च तस्य मोक्षमार्गाच्च्यवनं प्रतिफलति। इत्येवं** *'एयारसदसभेयं धम्मं'* **इत्यादिगाथामारभ्य** *'णिच्छयणयेण जीवो'* **इत्यादिगाथां यावत् पञ्चदशगाथात्मको 'धर्मानुप्रेक्षा'नामक एकादशाधिकारः सम्पन्नः।**

*[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागररचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'धर्मानुप्रेक्षा'–नामक एकादशाधिकारः सम्पन्नः।]*

शुद्ध आत्मा का धारावाही चिन्तन करते रहा जाए तो शुद्धात्मा की उपलब्धि (सिद्धि) होती है– यह समयसारकलश (127) में स्पष्ट उद्घोषित किया गया है–

"जो आत्मा किसी तरह धारावाही (एक प्रवाह रूप) ज्ञान से निश्चल शुद्ध आत्मा को प्राप्त होकर उसमें अवस्थित होता है, वह आत्मा उदय होते हुए आत्मा रूपी क्रीड़ा–उद्यान वाली अपनी आत्मा को परपरिणति (रूप राग–द्वेषादि) के निरोध से शुद्ध रूप में पाता है।"

इस प्रकार, श्रमण धर्मों का अनुष्ठान करते हुए निश्चयचारित्रमय शुद्धात्मा में स्थिति रूप निश्चय धर्म के आचरण की दिशा में हे भव्य मनीषी! सम्पूर्ण आत्मशक्ति से प्रयत्नशील रहो –यह गाथा का सार है। इस तरह धर्मानुप्रेक्षा की जो भावना करता है, उसके धर्मानुराग के कारण मोक्षमार्ग के आचरण में प्रयत्न की दृढ़ता क्रमशः बढ़ती जाती है और उसके प्रतिफलस्वरूप वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता। इस प्रकार से **'एयारसदसभेयं धम्मं'** इत्यादि गाथा से लेकर **'णिच्छयणयेण जीवो'** इत्यादि गाथा तक पन्द्रह गाथाओं वाला धर्मानुप्रेक्षा–नामक ग्यारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

*[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस सर्वोदया नामक टीका में 'धर्मानुप्रेक्षा' नामक ग्यारहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]*

## [ बोहिदुल्लहाणुवेक्खा- बारसो अहियारो ]

## ।। बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा- द्वादशोऽधिकारः ।।

**अथेदानीं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षानामको द्वादशोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथमं तावदस्याधिकारस्य पातनिकां निरूपयामः। तत्र** *'उप्पज्जदि सण्णाणं'* **इत्यादिगाथामारभ्य** *'एवं जायदि सण्णाणं'* **इत्यादिगाथां यावच्चतस्रो गाथा भवन्ति। तासु** *'उप्पज्जदि सण्णाणं'* **इत्यादिका प्रथमा गाथा, यस्यां प्रतिपादितमस्ति यत् सम्यग्ज्ञानप्राप्त्युपायचिन्तनरूपा बोधिरत्यन्तदुर्लभा भवतीति। ततश्च** *'कम्मुदयजपज्जाया'* **इत्यादिका द्वितीया गाथा, कर्मोदयजनितपर्याया हेयाः, क्षायोपशमिकज्ञानं च हेयम्, स्वद्रव्यमेवोपादेयमिति निश्चयः सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादयति। ततोऽनन्तरं** *'मूलोत्तरपयडीओ'* **इत्यादिका तृतीया गाथा, यस्यां प्रतिपादितमस्ति यद् असंख्यातलोकप्रमितानां मिथ्यात्वादिकर्म-मूलोत्तरप्रकृतीनां परद्रव्य-स्वरूपत्वमेव, निश्चयनयेन मात्रशुद्धात्मद्रव्यमेव स्वद्रव्यमिति।**

---

## [ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा- बारहवाँ अधिकार ]

अब बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा नामक बारहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। सर्वप्रथम इस अधिकार की पातनिका का निरूपण करेंगे। इस अधिकार में **'उप्पज्जदि सण्णाणं'** इत्यादि गाथा से लेकर **'एवं जायदि सण्णाणं'** इत्यादि तक कुल चार गाथाएँ हैं। इनमें **'उप्पज्जदि सण्णाणं'** इत्यादि प्रथम (83वीं) गाथा है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के उपाय का चिन्तन करना 'बोधि' है, और उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। इसके बाद, **'कम्मुदयजपज्जाया'** इत्यादि दूसरी (84वीं) गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि 'कर्मोदयजनित पर्याय और क्षायोपशमिक ज्ञान हेय हैं, मात्र स्वद्रव्य ही उपादेय है'– ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है। इसके बाद, **'मूलोत्तरपयडीओ'** इत्यादि तीसरी (85वीं) गाथा है, जिसमें बताया गया है कि असंख्यात लोकप्रमाण मिथ्यात्व आदि कर्मों की मूल व उत्तरप्रकृतियाँ परद्रव्य ही हैं, निश्चयनय से मात्र शुद्ध आत्मा द्रव्य ही स्वद्रव्य है।

**ततश्च** *'एवं जायदि णाणं'* **इत्यादि चतुर्थी गाथा, यस्यां प्रतिपादितमस्ति यत् निश्चयनये हेयोपादेयविकल्पो नास्ति, अतः संसारविरक्तेन बोधिदुर्लभभावना नित्यं भावनीया इति। इत्येवं द्वादशाधिकारस्य पातनिका विज्ञेया।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः बोधिप्राप्तिरतिदुर्लभेति निर्दिशन्ति–**

**उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।**
**चिंता हवेदि बोही, अच्चंतं दुल्लहं होदि।। ८३।।**

**छाया–** *उत्पद्यते सज्ज्ञानं येन उपायेन तस्य उपायस्य।*
*चिन्ता भवति बोधिः अत्यन्तं दुर्लभा भवति।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(जेण उवाएण)* **येन उपायेन** *(सण्णाणं उप्पज्जदि)* **सम्यग्ज्ञानं समुत्पद्यते,** *(तस्स उवायस्स)* **तस्य उपायस्य** *(चिंता)* **चिन्तनम् अनुप्रेक्षणम्** *(बोही हवेदि)* **बोधिः इत्यभिधानेन अभिधीयते। सा च बोधिः,** *(अच्चंतं दुल्लहं होदि)* **अत्यन्तं दुर्लभा भवति।**

---

इसके अनन्तर, **'एवं जायदि णाणं'** इत्यादि चतुर्थ (86वीं) गाथा है जो यह प्रतिपादित करती है कि निश्चयनय में हेय-उपादेय का विकल्प नहीं होता, अतः संसार से विरक्त व्यक्ति को बोधिदुर्लभ भावना का नित्य चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार, बारहवें अधिकार की पातनिका जाननी चाहिए।

अब शास्त्रकार बोधि-प्राप्ति की अत्यन्त दुर्लभता का निरूपण कर रहे हैं–

**( 83 )**

**( गाथा-अर्थ– )** जिस उपाय से सत्य ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) उत्पन्न हो, उस उपाय का चिन्तन बोधि है, जो अत्यन्त दुर्लभ होती है।

**( सर्वोदया टीका– ) ( येन उपायेन )** जिस उपाय से **( सज्ज्ञानम् उत्पद्यते )** सम्यग्ज्ञान प्रादुर्भूत होता हो, **( तस्य उपायस्य )** उस उपाय के **( चिन्ता )** चिन्तन, अनुप्रेक्षण को **( बोधिःभवति )** बोधि इस नाम से कहा जाता है। वह बोधि **( अत्यन्तं दुर्लभा भवति )** अत्यन्त दुर्लभ होती है।

**अत्रायं विस्तरः– का नाम बोधिः? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणाम् अप्राप्तप्रापणं बोधिः। अथवा सम्यग्ज्ञानमेव बोधः, बोधिर्वा भण्यते। आत्मैव सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकः इति समयसारे** *(गाथा-16)* **तथा बृ. द्रव्यसंग्रहे** *( गाथा-40 )* **च भणितमास्ते। एवं बोधिलाभः स्वशुद्धात्मप्राप्तिरेव। स च बोधिरात्मन एव भवति, इत्येक एवात्मा साध्यः साधकश्च, अथवा प्राप्यः प्राप्तकर्ता चेत्युभयं कथं सङ्गतं भवति?**

**अस्या आरेकायाः समाधानमाचार्यामृतचन्द्रैरात्मख्यातिटीकायां** *(स्याद्वादाधिकारे, 265 समयसारकलशानन्तरम्)* **प्रत्यपादि–** *आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽपि उपाय-उपेयभावो विद्यते एव। तस्य एकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूप-उभयपरिणामित्वात्। तत्र यत् साधकं रूपं स उपायः। यत् सिद्धं रूपं स उपेयः। अतोऽस्य आत्मनः अनादिमिथ्यादर्शन-अज्ञान-अचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात् संसरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहार-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-पाकप्रकर्षपरम्परया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्य*

---

यहाँ विस्तार से कुछ कहना है– आखिर बोधि क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र –ये अप्राप्त हों और उन्हें प्राप्त किया जाय, वही बोधि है। अथवा– सम्यग्ज्ञान को ही बोध या बोधि कहा जाता है। समयसार (गाथा-16) तथा बृ.द्रव्यसंग्रह (गाथा-40) में यह कहा गया है कि आत्मा ही सम्यग्दर्शनादि-रत्नत्रयात्मक है। इस तरह, निज शुद्ध आत्मा की प्राप्ति ही बोधि का लाभ है। वह बोधि-लाभ आत्मा को ही होता है –इस प्रकार एक ही आत्मा में साध्य व साधक अथवा प्राप्य व प्राप्तकर्ता – ये दोनों स्वरूप किस प्रकार सम्भव हो सकते हैं?

इस आशंका का समाधान आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने (समयसार की) आत्मख्याति टीका में (स्याद्वादाधिकार, 265वें समयसारकलश के बाद) इस तरह किया है– ''यद्यपि ज्ञानमात्र भाव एक है, फिर भी उसमें उपाय व उपेय भाव (दोनों) बनते हैं, क्योंकि वह एक होते हुए भी स्वयं साधक व सिद्ध दोनों रूपों में परिणत होने में सक्षम है। (एक ही परिणामी आत्मा के दो परिणाम हैं– साधकपना और सिद्धपना।) इनमें जो साधक रूप है, वह उपाय है और जो सिद्ध रूप है, वह उपेय है। इसलिए आत्मा की अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, अज्ञान व अचारित्र के कारण अपने स्वरूप से च्युति होती है और वह संसार में भ्रमण कराती रहती है, किन्तु जब वह जीव अच्छी तरह ग्रहण किये हुए 'व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' के परिपाक में निरन्तर उत्कृष्टता लाता है, और क्रमशः अपने स्वरूप में स्वयं को आरोपित करता

*अन्तर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रय-अतिशय-प्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलित- अस्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममान-ज्ञानमात्रम् एकमेव उपाय-उपेयभावं साधयति।*

**उक्तं च समयसारकलशे** *(15)*–

*एष ज्ञानघनो नित्यम्, आत्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।*
*साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्।।*

**एवमन्यत्रापि आत्मख्यातौ** *(समयसार, गाथा-155)* **निरूपितम्**– *मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि एकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।*

---

जाता है, इस प्रकार उसके अन्तर्मग्न निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो विशेष स्थिति होती है, वही साधक रूप है, तथा परम उत्कृष्ट भूमिका वाले रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित, एवं सकल कर्मक्षय से देदीप्यमान, अस्खलित व विमल स्वभाव के कारण स्वयंसिद्ध रूप से परिणत होने वाला भी ज्ञान ही है, इस तरह एक ज्ञान ही उपाय और उपेय (–इन दोनों) भावों को सम्पन्न करता है।''

समयसारकलश (15) में कहा भी गया है–

''यह ज्ञानघन आत्मा साध्य व साधक के भेद से द्विविध रूप वाला है, तथापि सिद्धि के इच्छुक लोगों को चाहिए कि वे इसे एक रूप से ही सेवन करें।''

इसी प्रकार अन्य स्थान पर भी आत्मख्याति (समयसार, गाथा-155) में यह निरूपण प्राप्त होता है– ''मोक्ष के कारण निश्चय ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र हैं। जीवादि पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान स्वभाव से जो ज्ञान का परिणमन है, वह सम्यग्दर्शन है। जीवादि पदार्थों के ज्ञान स्वभाव से जो ज्ञान का होना (परिणमन) है, वह सम्यग्ज्ञान है, और रागादि के त्याग सम्बन्धी स्वभाव से ज्ञान का होना (परिणमन) है, वह सम्यक्चारित्र है। इस तरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये (तीनों ही) एक ज्ञान के ही परिणमन हैं, इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) ज्ञान ही परमार्थरूप से मोक्ष का कारण है।''

**तथैव बोधप्राभृते** *(गाथा-20)* **च समर्थितमेतत्–**

*संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।*
*णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं।।*

**अथवा, ज्ञानार्णवे** *(7/22-23)* **च निरूपितम्–**

*दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहम्।*
*व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वम्।।*

*अस्मिन् संसारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे,*
*क्रोधाद्युत्तुंगशैले कुटिलगतिसरित्पातसंतानभीमे।*
*मोहान्धाः संचरन्ति स्खलनविधुरिताः प्राणिनस्तावदेते,*
*यावद् विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छिनत्त्यन्धकारम्।।*

---

इसी तरह बोधप्राभृत (गाथा-20) में इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है– ''संयमसहित तथा उत्तम ध्यानयुक्त मोक्षमार्ग का लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा है, वह ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है, अतः ज्ञान ही ज्ञातव्य है।''

अथवा, ज्ञानार्णव (7/22-23) में भी निरूपित किया गया है–

''जो ज्ञान पापरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान है, जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के रहने के लिए कमल के समान है, कामदेवरूपी सर्प को वशीभूत करने के लिए मन्त्र के समान है, मनरूपी हाथी को निग्रह करने के लिए सिंह के समान है, व्यसनरूपी बादलों को उड़ाने के लिए वायु के समान है, समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने में अद्वितीय दीपक के समान है, तथा विषयरूपी मछलियों को पकड़ने के लिए जाल के समान है, उस ज्ञान की आराधना कर।''

''जिस संसाररूपी वन में समस्त प्राणी यमरूपी सर्प के विष से दुष्प्रभावित हो रहे हैं, जहाँ क्रोधादि कषायरूपी ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं, जो (संसार-वन) कुटिल गति (नरकादि दुर्गति) रूपी टेढ़ी-मेढ़ी बहने वाली नदियों में गिरने से भयानक है। उस संसाररूपी वन में ये मोह से अंधे बने प्राणी इधर-उधर गिरने-पड़ने से व्याकुल होकर तभी तक संचार करते हैं जब तक कि विज्ञान रूपी सूर्य संसाररूपी भय को देने वाले उस अन्धकार को नष्ट नहीं करता।''

**एवं सम्यग्ज्ञानस्य दुर्लभत्वं तस्योपयोगित्वं च मुमुक्षुणा चिन्तनीयम्। शीलप्राभृते** *(गाथा-3-5, 8-9)* **च तद्विषये चिन्तन-प्रकारः समुदाहृतश्च–**

*दुक्खेणज्जहि णाणं, णाणं णाऊण भावणा दुक्खं।*
*भावियमई य जीवो विसएसु विरज्जए दुक्खं।।*

*ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो।*
*विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं।।*

*णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।*
*संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।।*

*जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।*
*छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता न संदेहो।।*

---

इसी तरह, सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता और उसकी उपयोगिता के विषय में मुमुक्षु को चिन्तन करना चाहिए। शीलप्राभृत (गाथा-3-5, 8-9) में इस विषय में कैसा चिन्तन करना चाहिए, उसका उदाहरण भी इस रूप में प्रस्तुत किया गया है–

"प्रथम तो ज्ञान की उपलब्धि ही दु:ख से होती है, फिर यदि कोई ज्ञान को जानता भी है तो उसकी भावना (चिन्तन) भी दु:ख से होती है, फिर कोई जीव उसकी भावना भी करता है तो विषयों से विरक्त होना तो और भी (अधिक) दु:ख से होता है।"

"जब तक जीव विषयों के वशीभूत रहता है, तब तक ज्ञान को नहीं जानता, और ज्ञान के बिना मात्र विषयों से विरक्त हुआ जीव पुराने बँधे हुए कर्मों का क्षय नहीं कर पाता।"

"यदि कोई जीव चारित्ररहित ज्ञान का, सम्यग्दर्शन रहित लिङ्ग (वेश) का और संयमरहित तप का आचरण करता है तो उसका वह सब आचरण निरर्थक है।"

"किन्तु जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना करते हैं और विषयों से विरक्त होते हुए तप एवं मूलगुण व उत्तरगुणों से युक्त होते हैं, वे चतुर्गतिरूप संसार का छेद (क्षय) करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।"

*जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खंडियलवणलेवेण।*
*तह जीवो वि विसुद्धं णाण वि सलिलेण विमलेण।।*

**इत्येवंप्रकारेण यन्मनसि विचारणात्मकं चिन्तनं जायते, तदेव बोधिः। तल्लाभाय हे भव्य! सततं प्रयतस्व, तत्प्राप्त्यनन्तरं तत्संरक्षण-संवर्धनार्थं च नित्यं पुरुषार्थं विधत्स्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**अथेदानीं स्वद्रव्यमेवोपादेयमितिनिश्चयः सम्यग्ज्ञानमिति शास्त्रकारा आवेदयन्ति–**

**कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु।**
**सगदव्वमुवादेयं णिच्छित्ति य होदि सण्णाणं।। ८४।।**

**छाया–** *कर्मोदयजपर्याया हेयं क्षायोपशमिकज्ञानं खलु।*
*स्वकद्रव्यमुपादेयं निश्चितिः च भवति सज्ज्ञानम्।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(खु)* **खलु, वस्तुतः निश्चयेन वा।** *(कम्मुदयजपज्जाया)* **कर्मोदयज-पर्यायाः, ये पर्यायाः जीवस्य कर्मोदयेन जनितास्ते, औदयिका भावा इत्यर्थः। विविधगतिनाम-**

---

''जिस प्रकार सुहागा व नमक के लेप से युक्त कर फूँका हुआ स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी निर्मल जल से यह जीव भी विशुद्ध हो जाता है।''

इत्यादि प्रकार से जो मानसिक विचार या चिन्तन किया जाता है, वही 'बोधि' है। उसके लाभ के लिए हे भव्य! निरन्तर प्रयत्नशील रहो, उसकी प्राप्ति होने पर उसके संरक्षण व संवर्धन हेतु नित्य पुरुषार्थ करते रहो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, 'स्वद्रव्य ही उपादेय है –इसका निश्चय हो जाना सम्यग्ज्ञान है' –इसे शास्त्रकार बता रहे हैं –

**( 84 )**

**( गाथा अर्थ– ) कर्मोदय-जनित पर्यायें और क्षायोपशमिक ज्ञान हेय हैं और स्वद्रव्य ( ही ) उपादेय है, और यह ( जो ) निश्चय ( होना है, वह ) सम्यग्ज्ञान है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( खलु )** वस्तुतः, निश्चय से। **( कर्मोदयजपर्यायाः )** कर्मोदयज पर्याय अर्थात् जो पर्याय जीव के कर्मोदय के कारण होते हैं, अर्थात् औदयिक भाव। विविधगतिनाम कर्मों के उदय

**कर्मोदयाद् ये जीवस्य भावाः, यथा– नरकगतिनामकर्मोदयात् नारकभावः, तिर्यग्गतिनामकर्मोदयात् तिर्यग्भावः, मनुष्यगतिनामकर्मोदयात् मनुष्यभावः, देवगतिनामकर्मोदयात् देवभावः। एते नारकादिअवस्थाविशेषाः जीवस्य विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः भण्यन्ते। एतेषु विविधेषु पर्यायेषु जीवद्रव्यत्वमव्याहतम्, पर्यायाणामेवोत्पादो व्ययश्च भवतः। उक्तं च प्रवचनसारे** *(2/20-21, 25-27, 60-61)*–

*जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।*
*किं दव्वत्तं पजहदि ण चयदि अण्णो कहं हवदि।।*

*मणुवो ण हवदि देवो, देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।*
*एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि।।*

*कम्मं णामसमक्खं सहावमध अप्पणो सहावेण।*
*अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि।।*

---

से जीव के जो भाव होते हैं, जैसे– नरकगतिनामकर्म के उदय से नारकभाव, तिर्यग्गतिनामकर्मोदय से तिर्यञ्चभाव, मनुष्यगतिनामकर्मोदय से मनुष्यभाव, और देवगतिनामकर्मोदय से देवभाव। नारकी आदि ये विशेष अवस्थाएँ जीव की विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय कही जाती हैं। इन विविध पर्यायों में जीवद्रव्यत्व अक्षुण्ण रहता है, पर्यायों का ही उत्पाद व व्यय होता है। प्रवचनसार (2/20-21, 25-27, 60-61) में कहा भी गया है–

"जीव द्रव्य परिणमन करता हुआ मनुष्य, देव या अन्य कुछ रूप (में परिणत) होगा, वह तद्रूप होकर क्या अपनी द्रव्यत्व शक्ति (जीवत्व भाव) को छोड़ देता है? यदि नहीं छोड़ता है तो अन्य रूप कैसे हो सकता है?"

"जो मनुष्य है, वह उस समय देव नहीं है, और जो देव है, वह उस समय मनुष्य या सिद्ध नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य की एक समय में एक ही पर्याय हो सकती है। इस प्रकार देव आदि रूप नहीं होने वाला मनुष्य आदि पर्याय, परस्पर में अभिन्न भाव को किस प्रकार प्राप्त हो सकता है?"

"नाम संज्ञक कर्म, अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव को अभिभूत कर (आच्छादित कर) जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी व देव बना देता है।"

*णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।*
*ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि।।*

*जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।*
*जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा।।*

*अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो।*
*अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।।*

*णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।*
*पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स।।*

**पञ्चास्तिकाये** *(गाथा-55)* **च भणितमास्ते–**

*णेरइयतिरियमणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी।*
*कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं।।*

---

''मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्च और देव– इस प्रकार चारों गतियों के जीव निश्चय से नामकर्म के द्वारा रचे गए हैं और इसीलिए वे अपने अपने उपार्जित कर्मों के अनुरूप परिणमन करते हुए शुद्ध आत्मा-स्वभाव को प्राप्त नहीं होते हैं।''

''जिसमें प्रत्येक क्षण उत्पाद व व्यय हो रहा है– ऐसे जीव-लोक में द्रव्य दृष्टि से न तो कोई जीव उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट होता है। द्रव्य दृष्टि से जो उत्पाद होता है, वही व्यय है, परन्तु पर्याय दृष्टि से उत्पाद व व्यय नाना रूप हैं (पृथक्-पृथक् हैं)।''

''(स्वलक्षणभूत) स्वरूपास्तित्व से निश्चित जीव पदार्थ की अन्य पदार्थ (पुद्गल द्रव्य) के संयोग से उत्पन्न हुई जो दशाविशेष है, वह पर्याय है। वह पर्याय संस्थान, संहनन आदि के भेद से अनेक प्रकार की होती है।''

''संसारी जीवों की मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च व देव पर्याय हैं, वे नाम कर्म के उदय से संस्थान व संहनन आदि के द्वारा स्वभाव पर्याय से भिन्न विभाव रूप से उत्पन्न होती हैं।''

पञ्चास्तिकाय (गाथा-55) में भी कहा गया है– ''नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य व देव –इन नामों से युक्त कर्म-प्रकृतियाँ विद्यमान पर्याय का नाश करती हैं और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद करती हैं।''

**नामकर्मोदयवशादेव जीवस्य संस्थानसंहननादिभेदानाश्रित्य अवान्तरभेदाः, तथा चतुरशीतिलक्षयोनयश्च सम्भाव्यन्ते। योनीनां चतुरशीतिलक्षसंख्या ग्रन्थेऽत्र प्राक्** *(35 गाथायां)* **तथा मूलाचारे** *(गाथा-226)* **च निरूपिता। पर्यायाणां कर्मोदयजनितत्वं निर्दिशन्तः शास्त्रकारा एषां जीवस्वभावपर्यायत्वं निराचिकीर्षन्ति। कथं तर्हि शुद्धात्मनो मूर्तिरहितस्य स्निग्धरूक्षत्वाभावाद् कर्मबन्धः सम्भवतीति विषये श्रीकुन्दकुन्दाचार्यवरैः ) प्रवचनसारे** *(2/81-87)* **सम्यक् निरूपितम्–**

*मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।*
*तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं।।*

*रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।*
*दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि।।*

---

नामकर्म के उदय के कारण ही जीव के संस्थान, संहनन आदि भेदों के आधार पर अवान्तर भेद तथा चौरासी लाख योनि (रूप भेद) –ये भी सम्भावित होते हैं। योनियों की चौरासी लाख संख्या का निरूपण पहले इसी ग्रन्थ (की 35वीं गाथा) में तथा मूलाचार (गाथा-226) में किया गया है। पर्यायों का कर्मोदय से जनित होने का शास्त्रकार ने जो निर्देश किया है, उसके माध्यम से वे इनके जीव के स्वभावपर्याय होने का निराकरण करना चाहते हैं। आत्मा जब शुद्ध है, अमूर्त है और उसमें स्निग्ध व रूक्ष गुण भी नहीं होते, तब फिर उसके कर्म-बन्ध किस प्रकार हो सकता है –इस विषय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने प्रवचनसार (2/81-87) में अच्छी तरह निरूपण इस प्रकार किया है–

"रूप आदि गुणों वाला मूर्त (पुद्गल) द्रव्य जो अपने स्पर्श गुणों के कारण परस्पर बन्ध को प्राप्त होता है, किन्तु इससे विपरीत (अमूर्त, अस्पर्श) आत्मा पौद्गलिक कर्म को किस प्रकार बांधता है?"

"रूपादि गुणों से रहित आत्मा जिस प्रकार रूपादिसहित (घट पट आदि) द्रव्यों को और उनके गुणों को देखता व जानता है, उसी प्रकार रूपादि गुणों से युक्त कर्म रूप पुद्गल द्रव्य के साथ इसका बन्ध हो जाता है –ऐसा जानो।"

*उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।*
*पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो।।*

*भावेण तेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।*
*रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवदेसो।।*

*फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।*
*अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो।।*

*सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।*
*पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति।।*

*रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।*
*एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।।*

''जो उपयोगस्वभावी जीव विविध (इष्ट-अनिष्ट) विषयों को पाकर मोहित होता है (अपना मानने लगता है), राग या द्वेष करता है, वह उन्हीं भावों से बन्ध को प्राप्त होता है।''

''जीव इन्द्रियों के विषय में आये हुए (इष्ट-अनिष्ट) पदार्थों को जिस भाव से जानता है और देखता है, तथा राग करता है, उसी भाव से पौद्गलिक द्रव्यकर्म का बन्ध करता है –ऐसा (जिनेन्द्र का) उपदेश है।''

''यथायोग्य (स्निग्ध व रूक्ष) स्पर्श गुणों द्वारा पूर्व व नवीन कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं का जो बन्ध है, वह पुद्गल-बन्ध है, रागादि भावों से जीव में जो विकार उत्पन्न होता है, वह जीव-बन्ध है, और पुद्गल व जीव का जो परस्पर अवगाह (प्रदेशानुप्रवेश) होता है, वह पुद्गल व जीव– इन दोनों का बन्ध कहा गया है।''

''यह आत्मा (लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात प्रदेशों वाला होने से) सप्रदेश है, उन प्रदेशों में (कर्मवर्गणा के योग्य) पुद्गल-पिण्ड (काय, वचन, मन की प्रवृत्ति रूप) योग के अनुसार प्रवेश करते हैं, बन्ध को प्राप्त होते हैं, स्थिति को प्राप्त होते हैं और फिर झड़ जाते हैं।''

''रागी जीव कर्मों को बाँधता है, और रागरहित जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है। संसारी जीवों के बन्ध के सम्बन्ध में यही निश्चित रूप से संक्षिप्त कथन जानो।''

**एवं कर्मबन्धे संगते सति नामकर्मोदयपर्याया अपि जीवस्य संगमनीयाः। तथा च,** *(खाओवसमियणाणं)* **क्षायोपशमिकज्ञानम्, केवलज्ञानं परित्यज्य मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यायेति चत्वारि ज्ञानानि क्षायोपशमिकज्ञानरूपेण स्वीक्रियन्ते। केवलज्ञानं तु क्षायिकमतस्तस्य क्षायो-पशमिकज्ञानरूपेण न ग्रहणमत्र। ज्ञानावरणीयसर्वघातिस्पर्धकस्य अनुदयप्राप्तस्य सदवस्था उपशमः, तस्यैव उदयाभावात् क्षयः, देशघातिस्पर्धकस्य च यदोदयः, तदोपलभ्यमानो यो ज्ञानभावः, तस्यैव क्षायोपशमिकज्ञानमिति संज्ञा विज्ञेया।**

*(हेयं)* **हेयं त्याज्यम्। कर्मोदयजनितपर्याया हेयाः, तथा च क्षायोपशमिकज्ञानानि च हेयानि —इतिभावः। कर्मोदयजनितत्वात् नात्मनः स्वभावभूता मनुष्यादिपर्यायाः, सादिसान्तास्ते न च स्थायिनः, तथैव क्षायोपशमिकज्ञानानि निरन्तरहानिवृद्धिसहितानि, कर्मपरतन्त्रत्वात् न च स्वाधीनानि, अनन्तनिरावरणज्ञानस्वभावविपरीतानि, अतस्तेषां हेयत्वं हृदि अवधारणीयम्। स्वशुद्धात्मस्वरूपादतिरिक्तं यत्किञ्चिदपि, परमाणुमात्रमपि, सर्वं हेयमेव ज्ञानिनः कृते।**

---

इस प्रकार आत्मा के कर्मबन्ध होने की संगति होने पर, नामकर्म के उदय और उससे होने वाले पर्यायों की भी संगति समझ लेनी चाहिए। और **( क्षायोपशमिकज्ञानम् )** क्षायोपशमिक ज्ञान। 'केवलज्ञान' को छोड़कर मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय –ये चारों ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान के रूप में माने जाते हैं। 'केवलज्ञान' तो क्षायिक होता है, इसलिए उसका क्षायोपशमिक ज्ञान रूप से यहाँ ग्रहण नहीं होता। ज्ञानावरणीय के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय न होकर उसका सत्ता में स्थित रहना –यह उपशम है, उदय न होने से उसी (सर्वघाती स्पर्धक) का क्षय भी है, इसी स्थिति में जब देशघाती स्पर्धक का उदय होकर जो ज्ञान-भाव उपलब्ध हो, उसी की 'क्षायोपशमिक' ज्ञान संज्ञा समझनी चाहिए।

**( हेयं )** हेय है, त्याज्य है। कर्मोदय से उत्पन्न जो (जीव के) पर्यायें हैं, और जो क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, वे हेय हैं –यह तात्पर्य है। चूँकि ये कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे मनुष्य आदि पर्याय आत्मा के स्वभावभूत धर्म नहीं हैं, सादि-सान्त हैं, और स्थायी भी नहीं हैं, इसी तरह क्षायोपशमिक ज्ञान ( भी ) निरन्तर हानि-वृद्धि से युक्त हैं, कर्मों के परतन्त्र होने से स्वाधीन भी नहीं हैं, (इसके अतिरिक्त, वे) अनन्त निरावरण ज्ञान स्वभाव से विपरीत भी हैं, इसलिए 'वे हेय हैं' –इसे हृदय में बैठा लेना चाहिए। निज शुद्ध आत्मा के स्वरूप को छोड़कर अन्य जो कुछ भी, चाहे वे परमाणु मात्र भी हों, ज्ञानी के लिए सब हेय हैं।

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा-35, 203)*–

*जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चुयदि।*
*तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी।।*

*आदह्मि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।*
*थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण।।*

**किञ्च तत्रैव** *(गाथा-207)* **प्रोक्तम्**–

*को णाम भणेज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं।*
*अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो।।*

**किंच, मोक्षप्राभृते** *(गाथा-17-18)* **च विशदीकृतम्**–

*आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।*
*तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं।।*

---

समयसार (गाथा-35 व 203) में कहा भी गया है–

"जिस तरह कोई व्यक्ति 'यह पर-द्रव्य हैं –ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है, उसी तरह ज्ञानी जीव समस्त पर-भावों को' 'ये पर हैं' ऐसा जानकर छोड़ देता है।"

"आत्मा में पर-द्रव्य के निमित्त से हुए अपद रूप द्रव्य-भावरूप सभी भावों को छोड़कर नियत, स्थिर, एक तथा स्वभावतः उपलब्ध होने वाले इस चैतन्य मात्र भाव को तू ग्रहण कर।"

और, वहीं (गाथा-207) यह भी कहा गया है– "नियमतः आत्मा को ही अपना परिग्रह मानने वाला कौन विद्वान् ऐसा कहेगा कि यह पर-द्रव्य मेरा द्रव्य है।"

इसके अतिरिक्त, मोक्षप्राभृत (गाथा-17-18) में भी इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

"आत्म-स्वभाव से अतिरिक्त जो भी सचित्त या अचित्त या मिश्र द्रव्य हैं, वह सब पर-द्रव्य हैं – ऐसा समस्त पदार्थों को यथार्थ रूप से जानने वाले सर्वज्ञ देव ने कहा है।"

*दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।*
*सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं।।*

**एवं सर्वहेयान् त्यक्त्वा,** *(सगदव्वं उवादेयं)* **स्वकं, स्वकीयं शुद्धात्म-द्रव्यमेव उपादेयम्। समर्थितमेतत् नियमसारे** *(गाथा-38, 50)*–

*जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।*
*कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।।*

*पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।*
*सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा।।*

**उपादेयताविषये किं भावनीयमिति विषयेऽपि चिन्तनप्रकारः प्रवचनसारे** *(2/99-101)* **उदाहृतः**–

---

"आठों दुष्ट कर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य, शुद्ध जो आत्म-द्रव्य है, उसे जिनेन्द्र प्रभु ने 'स्व-द्रव्य' कहा है।"

इस प्रकार, सभी हेय पदार्थों का त्याग कर, **(स्वकद्रव्यम् उपादेयम्)** अपना, शुद्धात्मा द्रव्य ही उपादेय है। नियमसार (गाथा-38 व 50) में भी इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है–

"जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्म रूप उपाधि से उत्पन्न होने वाले गुण व पर्यायों से रहित आत्मा आत्मा के लिए उपादेय है।"

"पूर्वोक्त समस्त भाव पर-द्रव्य एवं पर-स्वभाव हैं, इसलिए वे हेय हैं (छोड़ने योग्य हैं) और आत्मा 'अन्तस्तत्त्व' (स्वभाव व स्वद्रव्य) है, इसलिए उपादेय है।"

उपादेयता के बारे में किस तरह की भावना (चिन्तन-मनन) करनी चाहिए –इस विषय में भी प्रवचनसार (2/99-101) में चिन्तन-मनन का यह (निम्नलिखित) प्रकार उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया गया है–

*णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।*
*इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा।।*

*एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।*
*धुवमचलमणालंबं मण्णेहं अप्पगं सुद्धं।।*

*देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।*
*जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा।।*

**एवमेषा** *(णिच्छित्ति य)* **निश्चितिः, मनसि निश्चयः, अर्थात् द्रव्यकर्मभावकर्मोपाधिरहित-निजनिर्मलशुद्धात्मद्रव्यमेव सर्वतोभावेन उपादेयं, ध्येयं वेति मनसि दृढनिर्णयः, सैव** *(सण्णाणं होदि)* **सम्यग्ज्ञानं भवति। एतादृशसम्यग्ज्ञानस्य धारकः शुद्धात्मानं प्राप्नोत्येव। उक्तं च मोक्षप्राभृते** *(गाथा-14, 19)*–

*सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।*
*सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि।।*

---

"मैं शरीरादि परद्रव्यों का नहीं हूँ और ये शरीरादि परपदार्थ भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञान रूप हूँ, इस प्रकार जो ध्यान में अपने शुद्ध आत्मा का चिन्तन करता है वही ध्याता है– वास्तविक ध्यान करने वाला है।"

"मैं आत्मा को ऐसा मानता हूँ कि वह ज्ञानात्मक है, दर्शनरूप है, अतीन्द्रिय है, सब से महान् (श्रेष्ठ) है, नित्य है, अचल है, पर-पदार्थों के आलम्बन से रहित है और शुद्ध है।"

"शरीर हो या धन हो, सुख हो या दुःख हो, शत्रु हो या मित्र जन हों, ये सभी जीव के अविनाशी (स्वभाव) नहीं हैं। मात्र ज्ञान-दर्शन स्वरूप शुद्ध आत्मा ही ध्रुव (अविनाशी) है।"

इस तरह यह **( निश्चितिः च )** निश्चय होना, मन में निर्णय होना, अर्थात् द्रव्यकर्म व भावकर्म रूप उपाधि से रहित निज निर्मल शुद्ध आत्मा द्रव्य ही सब प्रकार से उपादेय है, अर्थात् ध्येय है –यह जो दृढ़ निर्णय होता है, वही **( सज्ज्ञानं भवति )** सम्यग्ज्ञान होता है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के धारक व्यक्ति को शुद्धात्मा की प्राप्ति होती ही है। मोक्षप्राभृत (गाथा-14 व 19) में कहा भी गया है–

"स्वद्रव्य में रत साधु नियमतः सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ वह साधु दुष्ट आठों कर्मों का क्षय करता है।"

*जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।*
*ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं।।*

**एवं भेदविज्ञानेन सहैव शुद्धात्मद्रव्यस्य उपादेयताया, अन्यत्सर्वस्य हेयतायाश्च यो दृढनिर्णयः, तस्यैव सम्यग्ज्ञानमिति संज्ञेति सम्यक् विज्ञाय, परमौदासीन्यं धृत्वा तत्सम्यग्ज्ञानायैव प्रयतस्व, तदेव लभस्वेति गाथायाः सारः।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः परद्रव्य-स्वद्रव्ययोर्विवेकाय पुनर्विशदयन्ति–**

**मूलुत्तरयपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।**
**परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण।। ८५॥**

***छाया–*** *मूलोत्तरप्रकृतयः मिथ्यात्वादयः असंख्य-लोकपरिमाणाः।*
*परद्रव्यं स्वकद्रव्यम् आत्मा–इति निश्चयनयेन।।*

---

''जो स्व-द्रव्य का ध्यान करते हैं, पर-द्रव्य से विमुख रहते हैं और सम्यक् चारित्र का (निरतिचार) पालन करते हुए जिनेन्द्र-मार्ग का अनुसरण करते रहते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं।'' (19)

इस तरह, भेदविज्ञान के साथ-साथ, शुद्धात्मा द्रव्य की उपादेयता का और अन्य सभी की हेयता का जो दृढ़ निर्णय होता है, उसी की सम्यग्ज्ञान संज्ञा है –ऐसा अच्छी तरह जानकर, परम उदासीनता भाव को धारण करते हुए उक्त सम्यग्ज्ञान हेतु प्रयत्नशील बनो, उसी को प्राप्त करो –यह गाथा का सार है।

अब शास्त्रकार (आचार्य) पर-द्रव्य और स्व-द्रव्य के अन्तर को पुनः स्पष्ट कर रहे हैं–

**(85)**

**(गाथा-अर्थ–) असंख्य लोक परिमाण मिथ्यात्व आदि (कर्मों की) मूल व उत्तर प्रकृतियाँ पर-द्रव्य हैं और आत्मा (मात्र) ही स्व-द्रव्य है– ऐसा निश्चय (नय) से जानें।**

**( सर्वोदया टीका- )** *(मिच्छत्तादी)* **मिथ्यात्वप्रभृतयो रागद्वेषमोहपरिणामाः आत्मनो विभावरूपाः। तथा च** *(असंखलोगपरिमाणा)* **असंख्यातलोकप्रमिताः,** *(मूलुत्तरपयडीओ)* **कर्मणां मूलप्रकृतयः, उत्तरप्रकृतयश्च, ताः सर्वा अपि** *(परदव्वं)* **परद्रव्यरूपेण स्वीकरणीयाः। परत्वमात्मनो भिन्नत्वम्, पृथग्भूतत्वम्, आत्म-स्वभावविपरीतत्वम्, अजीवत्वं पौद्गलिकत्वं वेति तात्पर्यम्। तथा** *(अप्पा सगदव्वं)* **आत्मा, शुद्धनिर्विकारचैतन्यमात्रमेव स्वद्रव्यम्,** *(इदि णिच्छयणएण)* **इति निश्चयनयमाश्रित्य निरूपितमिति विज्ञेयम्। इदमत्राकूतम्- स्वकद्रव्यमुपादेयमिति निश्चितिः सम्यग् ज्ञानमिति पूर्वगाथायां भणितम्। तत्र किं स्वद्रव्यमिति जिज्ञासायां शास्त्रकारा निश्चयनयेन तन्निर्दिशन्ति।**

**व्यवहारनयेन आत्मा कर्मणां कर्ता, भोक्ता, कर्मबद्धश्च। निश्चयनयेन तु शुद्धात्मैव, न स कर्ता, भोक्ता, कर्मबद्धश्च। बद्धानि कर्माणि, कर्मबन्धहेतवश्च परद्रव्यरूपतामेव वहन्ति, तेषामात्म-स्वभाववैपरीत्यं वरीवर्ति निश्चयनयेनेति गाथाया आशयः।**

---

**( सर्वोदया टीका- ) ( मिथ्यात्वादयः )** मिथ्यात्व आदि, (अर्थात्) आत्मा के विभावरूप राग-द्वेष-मोह परिणाम। और **( असंख्यलोकपरिमाणा )** असंख्यात लोक-प्रमाण वाली, **( मूल-उत्तरप्रकृतयः )** कर्मों की मूल प्रकृतियाँ व उत्तरप्रकृतियाँ, इन सबको ( परद्रव्यम् ) पर-द्रव्य रूप से मान लेना चाहिए। 'पर' से तात्पर्य है कि वे आत्मा से भिन्न हैं, पृथक् हैं, आत्मस्वभाव से विपरीत हैं, अजीव हैं या पौद्गलिक हैं। और **( आत्मा स्वकद्रव्यम् )** आत्मा शुद्धनिर्विकार चैतन्यमात्र ही स्व-द्रव्य है **( इति निश्चयनयेन )** ऐसा निश्चयनय का आश्रय लेकर बताया गया है -यह जानें। यहाँ सारभूत बात यह है कि स्वद्रव्य ही उपादेय है -ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है -यह पूर्व गाथा में कहा जा चुका है। वहाँ वह स्वद्रव्य आखिर क्या है -यह जिज्ञासा होती है, अतः शास्त्रकार निश्चयनय से उस (स्व-द्रव्य के स्वरूप) का यहाँ निर्देश कर रहे हैं।

व्यवहारनय से आत्मा कर्मों का कर्ता है, भोक्ता है और कर्मों से बँधता भी है। निश्चयनय से वह शुद्ध आत्मा ही है, वह उन (कर्मों) का कर्ता व भोक्ता नहीं है और वह कर्मों से बँधता भी नहीं है। बँधे हुए कर्म और कर्म-बन्ध के हेतु -ये सभी निश्चयनय से पर-द्रव्य रूप ही हैं, वे सभी आत्म-स्वभाव से विपरीत भाव वाले होते हैं -यह गाथा का आशय है।

**सोऽत्र विस्तरेण विव्रियते– मिथ्यात्वादिकाः कर्मबन्धे सामान्यप्रत्ययाः ( सामान्य-हेतवो ) भवन्ति –इतिव्यवहारनयेन बोद्ध्यते। आदिपदेन अविरतिः, प्रमादः, कषायः, योगश्चेति ग्राह्यम्।**

**उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे** *(8/1) 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः'* **इति।**

**एते सामान्यतः पञ्च प्रत्ययाः स्वीक्रियन्ते। प्रमादस्य कषाये अन्तर्भावं मनसि निधाय चत्वारः बन्धप्रत्ययाः समयसारे** *(गाथा-109)* **भणिताः। एते दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयकर्मोदयादिजनिता आत्मभावाः व्यवहारनयेन आत्मन एव स्वीक्रियन्ते। तत्र दर्शनमोहनीयकर्मणो मिथ्यात्वप्रकृत्युदयात् मिथ्यात्वपरिणामो जायते। अन्येऽपि प्रत्ययाः कर्मविशेषोदयादिजनिता एव बोध्याः। यथा– अविरतिः हिंसादिप्रवृत्तिरूपत्वात्, चारित्रमोहोदयेन ( प्रत्याख्यानावरणादि– ) कषायजनिता भवति। कषायाः कारणम्, अविरतिस्तु कार्यमिति तयोर्विशेषः। यद्यपि कार्यकारणयोरभेदं स्वीकृत्य कषायात् पृथक् तस्या निर्देशो नापेक्षितः, तथापि व्यवहारनयेन अविरतेः कषायात् पृथक् निर्देशो विहित इति बोध्यम्।**

---

इसी आशय को विस्तार से व्यक्त किया जा रहा है– कर्म-बन्ध में मिथ्यात्व आदि सामान्य प्रत्यय (यानी सामान्य हेतु) होते हैं –ऐसा व्यवहारनय द्वारा बताया जाता है। आदि पद से अविरति, प्रमाद, कषाय व योग– इनका ग्रहण होता है।

तत्त्वार्थसूत्र (8/1) में कहा भी है– ''मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग –ये कर्म-बन्ध के हेतु हैं।''

ये पाँच सामान्य प्रत्यय (हेतु) माने जाते हैं। प्रमाद का कषाय में ही अन्तर्भाव मानकर समयसार (गाथा-109) में चार बन्ध प्रत्यय ही कहे गए हैं। व्यवहारनय यह मानता है कि ये दर्शनमोहनीय या चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में होने वाले आत्म-परिणाम ही हैं। इनमें दर्शन-मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व परिणाम होता है। अन्य प्रत्ययों को भी कर्म-विशेष के उदय से उत्पन्न होने वाले जानना चाहिए। जैसे– अविरति तो हिंसा (असत्य, चोरी, कुशील परिग्रह) आदि रूप होती है, वह चारित्रमोह के उदय से (प्रत्याख्यानावरण आदि) कषायों के कारण होती है। कषाय कारण हैं और अविरति उनका कार्य –यही दोनों में अन्तर है। यद्यपि कार्य व कारण में अभेद माना जा सकता है, तब कषाय से पृथक् अविरति का पृथक् कथन अपेक्षित नहीं रह जाता, तथापि व्यवहारनय से अविरति का कषाय से पृथक् निर्देश किया गया समझना चाहिए।

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 7, खण्ड-2, भाग-1, सू. 7)*— *असंजमो जदि कसाएसु चेव पदति तो पुध तदुवदेसो किमट्ठं कीरदे? ण एस दोसो, ववहारणयं पडुच्च तदुवदेसादो।* **एवं च कषायाश्च वेदनीयकर्मण उदयादात्मकालुष्यरूपाः भवन्ति। योगश्च मनोवचनकाय-सम्बन्धिपुद्गलालम्बनेन आत्मप्रदेश-परिस्पन्दः। स च नामकर्मोदयादिजनितत्वात् औदयिकभावरूपः, कथंचिदुपचारतः क्षायोप-शमिकत्वमपि ( वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमजनितत्वमाश्रित्य ) स्वीक्रियते। वीर्यान्तरायकर्मक्षयेऽपि सयोगकेवलिनि योगसद्भावो दृश्यते, इत्यतः तस्यौदयिकत्वमेव सम्मतम्। विस्तरस्तु धवलाग्रन्थे** *(पु. 5, खण्ड-1, भाग-7, सू. 48, तथा पु. 7, खण्ड-2, भाग-1, सू. 33 पृ. 75-76)* **द्रष्टव्यः।**

**एवं सामान्यप्रत्ययाः मिथ्यात्वादिकाः पुद्गलकर्मोदयजनिताः, अतः परमार्थतया अनात्मभूता अचेतनाः, न तेषामात्मा कर्ता, भोक्ता चेति निश्चयनयाभिप्रायः, तमेवाश्रित्य मिथ्यात्वादीनां भावकर्मणां निश्चयनयेन परद्रव्यत्वं प्रतिपादितम्। समर्थितं च समयसारे** *(गाथा-109, 111)*—

---

धवला ग्रन्थ (पु. 7, खण्ड-2, भाग-1, सू. 7) में कहा भी गया है- "यदि असंयम (अविरति) कषायों में परिगणित है तो उसका पृथक् उपदेश क्यों किया जाता है? (उत्तर) यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि व्यवहारनय का आश्रय लेकर उसका पृथक् उपदेश किया गया है।" इस प्रकार, वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले एवं आत्मा की कलुषता रूप कषाय हैं। मन-वचन-शरीर सम्बन्धी पुद्गलों के आलम्बन से होने वाला आत्मीय प्रदेशों का परिस्पन्द ही 'योग' है। वह योग नामकर्म के उदय आदि से जनित होने से औदयिक भाव रूप है, कथंचित् उपचार से (वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जनित होने की दृष्टि से) क्षायोपशमिक भी माना जाता है। चूँकि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय होने पर भी सयोगकेवली में योग का सद्भाव दृष्टिगोचर होता है, इसलिए इसे औदयिक भाव ही माना जाता है। विस्तार से जानना हो तो धवला ग्रन्थ (पु. 5, खण्ड-1, भाग-7, सू. 48 तथा पु. 7, खण्ड-2, भाग-1, सू. 33 पृ. 75-76) में देखें।

इस प्रकार, मिथ्यात्व आदि सामान्य प्रत्यय पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए परमार्थ रूप से वे अनात्मभूत व अचेतन हैं, उनका कर्ता व भोक्ता आत्मा नहीं है -यह निश्चयनय का अभिप्राय है, उसी का आश्रय लेकर मिथ्यात्व आदि भावकर्मों को निश्चयनय के अनुसार पर-द्रव्य बताया गया है। समयसार (गाथा-109 व 111) में भी इसका समर्थन इस प्रकार प्राप्त होता है-

*सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।*
*मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा।।*

*एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।*
*ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा।।*

**एवं मिथ्यात्वादयो भावकर्मरूपाः पुद्गलद्रव्यनिमित्तकत्वात् अनात्मस्वभावभूता एव। उक्तं च समयसारे** *(गाथा-46, 51, 55)*–

*ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।*
*जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणाओ भावा।।*

*जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।।*

*जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा।।*

---

"यथार्थ में चारों सामान्य प्रत्ययों को बन्धकारक कहा जाता है। ये चार प्रत्यय हैं–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग।"

"ये सभी प्रत्यय चूँकि पौद्गलिक कर्मों के उदय से होते हैं, इसलिए यथार्थ में अचेतन हैं। यदि ये प्रत्यय इन कर्मों को करते हैं तो आत्मा उनका भोक्ता नहीं होता है।"

इस प्रकार मिथ्यात्व आदि भावकर्म पुद्गल द्रव्य के निमित्त से होने के कारण अनात्म स्वभाव रूप ही हैं। समयसार (गाथा-46, 51 व 55) में कहा भी गया है–

"ये सब अध्यवसान आदि भाव 'जीव' हैं –ऐसा जो जिनेन्द्र भगवान् ने वर्णित किया है, वह सब व्यवहारनय का मत है।"

"जीव के न तो राग है, न द्वेष है, न मोह है।"

"क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।"

**सर्वार्थसिद्धौ** *(7/17)* **च प्रतिपादितम्–** *'रागादय: पुन: कर्मोदयतन्त्रा इति नात्मस्वभावत्वाद् हेया:'* **इति।**

**आत्मख्यातौ च** *(समयसार, गाथा-51)* **भणितम्–** *'य: प्रीतिरूपो राग:.... अप्रीतिरूपो द्वेष:... अप्रतिपत्तिरूपो मोह:, स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति अनुभूते: भिन्नत्वात्।'* **एवं भावकर्मणां परद्रव्यत्वं निर्दिश्य द्रव्यकर्मणामपि परद्रव्यत्वसूचनाय मूलोत्तरप्रकृतीनां परद्रव्यत्वमावेदितम्। व्यवहारनयेनैव आत्मा ज्ञानावरणादिभेदभिन्नानां कर्मणां कर्ता, भोक्ता च भवति, किन्तु निश्चयनयेन नास्ति।**

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा-107)*–

*उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।*
*आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं।।*

**तथा च तत्रैव** *(गाथा-83-84)* **प्रोक्तम्–**

---

सर्वार्थसिद्धि (7/17) में भी प्रतिपादित किया गया है– ''राग आदि तो कर्मोदय के अधीन रहते हैं, अत: आत्मस्वरूप न होने से हेय हैं।''

(समयसार, गाथा-51 की) आत्मख्याति (टीका) में भी कहा गया है– ''जो प्रीतिरूप राग है...अप्रीति रूप द्वेष है...अप्रतिपत्तिरूप मोह है, वह सभी जीव के नहीं हैं, क्योंकि (वे सभी) पुद्गल द्रव्य के परिणाम रूप होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं।'' इस प्रकार, भावकर्मों की परद्रव्यता का निर्देश करके द्रव्यकर्मों की भी परद्रव्यता को बताने के लिए मूल व उत्तरप्रकृतियों की भी परद्रव्यता बताई गई है। व्यवहारनय से ही आत्मा ज्ञानावरण आदि भेदों में विभक्त कर्मों का कर्ता व भोक्ता है, किन्तु निश्चयनय से ऐसा नहीं है।

समयसार (गाथा-107) में भी कहा गया है–

''आत्मा पुद्गल द्रव्य (कर्म) को उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमाता है तथा ग्रहण करता है –यह सब व्यवहारनय का कथन है।''

इसी तरह, वहीं (गाथा-83-84) कहा गया है–

*णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।*
*वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।।*

*ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।*
*तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं।।*

**व्यवहारनयेन यदष्टविधं कर्म बद्ध्यते, सुखदुःखादिरूपेण वेद्यते, अनुभूयते च तत्सर्वं पौद्गलिकत्वान्मूर्तमचेतनम्, अतः कर्मणः तत्प्रकृतीनां च आत्मद्रव्यात् पृथग्भूतत्वं परद्रव्यरूपत्वमेवेति निश्चयनयाभिप्रायः। उक्तं च पञ्चास्तिकाये** *(गाथा-133)*–

*जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुजंदे णियदं।*
*जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि।।*

**समयसारे च** *(गाथा-45)* **भणितम्–** *अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।*

---

''निश्चयनय का तो यह मत है कि आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोगता है – ऐसा जानें।''

''व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म को करता है और अनेक प्रकार के उसी पुद्गल कर्म को भोगता भी है।''

व्यवहारनय के कथनानुसार जो आठ प्रकार का कर्म बँधता है, सुख-दुःख रूप में भोगा जाता है व अनुभव में आता है, वह सब पौद्गलिक होने से मूर्त व अचेतन है और इसी तरह कर्म और उसकी प्रकृतियाँ भी आत्मद्रव्य से पृथक् हैं, और पर-द्रव्य रूप ही हैं –यह निश्चयनय का अभिप्राय है। पञ्चास्तिकाय (गाथा-133) में कहा भी गया है–

''चूँकि कर्मों के फलीभूत सुख-दुःख आदि के कारण रूप विषयों का उपभोग स्पर्शनादि मूर्त इन्द्रियों के द्वारा होता है, इसलिए कर्म मूर्त हैं।''

समयसार (गाथा-45) में भी कहा गया है– ''आठ प्रकार का जो भी कर्म है, वह सब पुद्गलात्मक है –ऐसा जिनेन्द्रदेव का कथन है।''

**का च कर्मबन्धप्रक्रिया, कथं च कर्मणो मूलोत्तरप्रकृतयः सम्भवन्ति– इतिविषये प्रासङ्गिकं किञ्चिद् निरूप्यते। यथा अयस्कान्तोपले लोहखण्डमाकर्षितुं काचिच्चुम्बकाख्या शक्तिर्भवति, तथैव जीवे कर्मणि च विभावाख्या शक्तिर्वर्तते, तत्प्रभावेण परस्परमास्रवणं बन्धश्च जायेते। द्रव्यकर्म जीवस्य ज्ञानादिभावानां विकारे कारणं भवति, ते च मिथ्यात्वादिका विभावपरिणामा द्रव्य-कर्मणामास्रवे कारणभूता भवन्ति, अर्थात् जीवस्य वैभाविकभावैः निमित्तभूतैः कार्मणपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मरूपेण परिणतिर्विधीयते।**

**उक्तं च पञ्चाध्याय्याम्** *(2/45, 109-110)*–

*अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत् तद्द्वयोः पृथक्।*
*अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी।।*

*जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद् द्रव्यकर्म तत्।*
*तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः।।*

---

कर्म-बंध की प्रक्रिया क्या है? कर्मों की मूल व उत्तरप्रकृतियाँ किस प्रकार सम्भव होती हैं –इस विषय में प्रसङ्गवश कुछ कहा जा रहा है। जिस प्रकार, चुम्बक पत्थर में लोहे के टुकड़े को खींचने की कोई चुम्बकीय शक्ति होती है, उसी प्रकार, जीव व कर्म में विभाव नामक शक्ति होती है, जिसके प्रभाव से उनमें परस्पर समीप आना और बन्ध होता है। द्रव्यकर्म जीव के ज्ञान आदि भावों के विचार में कारण होते हैं, और वे मिथ्यात्व आदि विभाव परिणाम द्रव्य कर्मों के आस्रव में कारण होते हैं, अर्थात् जीव के वैभाविक भावों का निमित्त पाकर कार्मण पुद्गलों की ज्ञानावरण आदि कर्मों के रूप में परिणति होती है।

पञ्चाध्यायी (2/45, 109-110) में कहा भी गया है–

''जीव व कर्म– दोनों में भिन्न-भिन्न एवं परस्पर में बन्ध कराने वाली, लोहे की सुई को खींचने वाले चुम्बक पत्थर के समान, विभाव नामक शक्ति होती है।''

''वह द्रव्यकर्म जीव के ज्ञानादिक भावों के विकार का कारण होता है और जीव के भावों का विकार द्रव्य कर्म के आस्रव का कारण होता है।''

*तन्निमित्तात् पृथग्भूतोऽप्यर्थः स्यात् तन्निमित्तकः।।*

**एवं बन्धावस्थायां परस्परनिमित्तमाश्रित्य जीवपुद्गलेत्युभयोर्द्रव्ययोः विभावपरिणतिः सम्पद्यते। किञ्च, पूर्वोक्तेषु प्रत्ययेष्वपि कषाययोगयोः विशेषस्थानं वर्तते। कषायेन कर्मणां स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धश्च जायेते। योगेन च कर्मणां प्रकृतिबन्धः, प्रदेशबन्धश्च जायेते। एतदतिरिच्य तत्र पुद्गलकर्मस्कन्धानां कर्मरूपपरिणतौ द्रव्यक्षेत्रकालभावेत्यादयः चत्वारो नियामका अपि भवन्ति।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 15, पृ. 34)– जदि मिच्छत्तादिपच्चएहि कम्मइयवग्गणक्खंधा अट्ठकम्मागारेण परिणमंति, तो एगसमएण सव्वकम्मइयवग्गणक्खंधा कम्मागारेण [किं ण] परिणमंति, णियमाभावादो। ण, दव्वखेत्तकालभावेत्ति चदुहि णियमेहि णियमिदाणं परिणामुवलंभादो। दव्वेण अभवसिद्धिएहि अणंतगुणाओ सिद्धाणमणंतभागमेत्ताओ चेव वग्गणाओ एगसमएण एगजीवादो कम्मसरूवेण परिणमंति।।*

---

"अर्थात् जीव के वैभाविक भाव के निमित्त से पृथक्भूत कार्मण पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणत हो जाते हैं।"

इस प्रकार, बन्ध की स्थिति में परस्पर-निमित्त का आश्रय लेकर जीव व पुद्गल –इन दोनों की विभावपरिणति सम्पन्न होती है। और, पूर्वोक्त प्रत्ययों में भी कषाय व योग का विशिष्ट स्थान है। कषाय से कर्मों की स्थिति बँधती है और अनुभागबन्ध भी होता है। योग से कर्मों का प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध होता है। इसके अतिरिक्त पुद्गल कर्म-स्कन्धों की कर्म रूप परिणति में द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव –ये चार नियामक भी रहते हैं।

धवला ग्रन्थ (पुस्तक-15, पृ. 34) में कहा भी गया है– "यदि मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों (हेतुओं) द्वारा कार्मण वर्गणा के स्कन्ध आठ कर्मों के रूप से परिणत होते हैं तो समस्त कार्मण वर्गणा के स्कन्ध एक समय में आठ कर्मों के रूप में क्यों नहीं परिणत हो जाते, क्योंकि उनके परिणमन में कोई नियामक तो है नहीं? (ऐसी स्थिति में, एक ही जीव के समस्त कर्मवर्गणाएँ बँध जाने से अन्य जीव के कर्म कैसे बँधेगें?) (उत्तर) नहीं, (समस्त कर्मवर्गणाएँ कर्मरूप नहीं परिणत होतीं), क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव –इन चार नियामकों द्वारा नियमित होकर (ही) उक्त स्कन्धों का कर्मरूप परिणमन होता है। जैसे– द्रव्य की अपेक्षा अभवसिद्धिक जीवों से अनन्तगुनी वर्गणाएँ और सिद्ध जीवों के अनन्तवें भाग मात्र ही वर्गणाएँ एक समय में एक जीव के साथ कर्मस्वरूप से परिणत होती हैं।"

**किञ्च, योगनिमित्तके प्रकृतिबन्धे कर्मणां ज्ञानावरणीयादिका अष्टमूलभेदाः सम्पद्यन्ते। एते मूलभेदा एव कर्मणां मूलप्रकृतयः। तासां कर्मप्रकृतीनां चोत्तरप्रकृतयस्तु तन्मूलभेदानाम-वान्तरभेदाः।**

**उक्तं च गोम्मटसारे** *(कर्मकाण्डे, गाथा-7)*–

*तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा।*
*ताणं पुण घादित्ति अघादि त्ति य होंति सण्णाओ।।*

**अथवा, पञ्चाध्यायां** *(2/1000)* **प्रोक्तम्–**

*उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम्।*
*शक्तितोऽनन्तसंज्ञश्च, सर्वकर्मकदम्बकम्।।*

**अत्रारेका– कथं चैकेन आत्म-परिणामेन आदीयमानाः कर्मपुद्गला ज्ञानावरणाद्यनेकमूल-प्रकृतिभेदान् प्रतिपद्यन्ते?**

---

और, योग के निमित्त से जो कर्मों का प्रकृतिबन्ध होता है, उसमें कर्मों के ज्ञानावरण आदि आठ मूल भेद सम्पन्न होते हैं। ये मूल भेद ही कर्मों की मूल प्रकृतियाँ हैं। इन (मूल) कर्मप्रकृतियों की भी उत्तरप्रकृतियाँ –उन मूलभेदों के ही अवान्तर भेद हैं।

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, गाथा-7) में कहा गया है–

''सामान्य कर्म के आठ प्रकार हैं, या एक सौ अड़तालीस प्रकार हैं या असंख्यात लोकप्रमाण प्रकार भी हैं, इनकी पृथक्-पृथक् घाती व अघाती –ये दो संज्ञाएँ होती हैं।''

अथवा पञ्चाध्यायी (2/1000) में कहा गया है–

''उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा से कर्म असंख्यात लोक प्रमाण हैं तथा अपने अविभाग प्रतिच्छेदों की शक्ति की अपेक्षा से समस्त कर्मों का समूह (तो) अनन्त है।''

यहाँ यह शंका उठती है– किस प्रकार एक ही आत्म-परिणाम से ग्रहण किये जाने वाले कर्म-पुद्गल ज्ञानावरण आदि आठ भिन्न-भिन्न मूल प्रकृतियों के रूप में परिणत हो जाते हैं?

**उच्यते। समाहितं सर्वार्थसिद्धौ** *(8/4)– "एकेनात्मपरिणामेन आदीयमानाः पुद्गलाः ज्ञानावरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते, सकृदुपभुक्त-अन्नपरिणामरसरुधिरादिवत्।"* **यद्वा मिथ्यात्व-असंयमादि-अनेकप्रत्ययैः जीवेऽष्टशक्तयो जायन्ते, तादृशजीव-सम्बन्धेन कार्मणपुद्गलस्कन्धानाम् अष्टविधकर्मप्रकृतिरूपेण परिणमनं जायते।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 12, खण्ड-4, भाग-2, सू. 11)– "मिच्छत्तासंजमकसायजोगपच्चयावट्ठंभबलेण समुप्पण्णट्ठसत्तिसंजुत्तजीवसंबंधेण कम्मइयपोग्गलक्खंधाणं अट्ठकम्मायारेण परिणमणं पडिविरोहाभावादो।"* **एवमेव यथा आकाशात् निपतद् मेघजलं भाजनविशेषाधारेण पृथक् पृथक् रसत्वेन विपरिणमते, तथैव ज्ञानावरणादिकर्मापि मत्यावरणश्रुतावरणादि-उत्तरभेदान् प्रतिपद्यते।**

**उक्तं च राजवार्तिके** *(8/4/7)– "यथा अम्भो नभसः पतदेकरसं भाजनविशेषात् विश्वगरसत्वेन विपरिणमते, तथा ज्ञानशक्त्युपरोधस्वभावाविशेषात्, उपनिपतत् कर्म प्रत्यास्रवं सामर्थ्यभेदात् मत्याद्यावरणभेदेन व्यवतिष्ठते।"*

---

(उत्तर) सर्वार्थसिद्धि (8/4) में इसका समाधान इस प्रकार दिया गया है– "एक बार खाये हुए अन्न की जिस प्रकार रस, रुधिर (मज्जा) आदि अनेक रूपों में परिणति होती है, वैसे ही एक (ही) आत्मपरिणाम से ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरण आदि अनेक भेदों को प्राप्त होते हैं।" अथवा, मिथ्यात्व, असंयम आदि अनेक प्रत्ययों के कारण जीव में विविध शक्तियाँ होती हैं, ऐसे जीव के सम्बन्ध से कार्मण पुद्गल-स्कन्धों का आठ प्रकार की कर्म-प्रकृतियों के रूप में परिणमन हो जाता है।

धवला ग्रन्थ (पु. 12, खण्ड-4, भाग-2, सू.11) में कहा भी गया है– "मिथ्यात्व, असंयम, कषाय व योग रूप प्रत्ययों के आश्रय के कारण उत्पन्न होने वाली आठ प्रकार की शक्तियों वाले जीव के सम्बन्ध से कार्मणपुद्गल-स्कन्धों का आठ प्रकार के कर्मों के रूप में परिणमन होने में कोई विरोध (असंगति) नहीं है।" इसी तरह, जैसे आकाश से गिरने वाला एक ही मेघ-जल पात्रों की भिन्नता के आधार से पृथक्-पृथक् रस रूप में परिणत हो जाता है, उसी तरह ज्ञानावरण आदि कर्म भी मत्यावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि उत्तरभेदों को प्राप्त हो जाता है।

राजवार्तिक (8/4/7) में कहा भी गया है– "जिस प्रकार आकाश से पतित होने वाला पानी एकरस वाला ही होता है, किन्तु पात्रविशेषों के कारण भिन्न-भिन्न रसों के रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही ज्ञान शक्ति का उपरोध करने में ज्ञानावरण सामान्यतः एक होकर भी प्रत्येक आस्रव-गत (अवान्तर) शक्ति-भेद के कारण मत्यावरण, श्रुतावरण आदि रूपों से परिणमन करता है।"

**एवं मूलप्रकृतयोऽष्टौ, यथा—ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयम्, वेदनीयम्, मोहनीयम्, आयुःकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म, अन्तरायकर्म चेति। तत्र जीवगुणघातकत्वात् ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय-अन्तरायेति चत्वारि कर्माणि अर्थात् चतुष्कं घातिकर्म भण्यते, अन्ये चत्वारि तु अघातिकर्माणि। कर्मबन्धे भेदविवक्षया बन्धयोग्याः उत्तरप्रकृतयः षट्चत्वारिंशच्छतम्, अभेदविवक्षया तु विंशत्युत्तरशतं भवन्ति। उदये तु भेदविवक्षया अष्टचत्वारिंशच्छतम्, अभेदविवक्षया तु द्वाविंशत्युत्तरशतं ता भवन्ति।**

**उक्तं च गोम्मटसारे** *(कर्मकाण्ड, गाथा-35-36)*—

*पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।*
*दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ।।*

*पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी।*
*दोण्णि य पंच य भणिदा एदाओ उदयपयडीओ।।*

---

इस प्रकार, मूल प्रकृतियाँ आठ हो जाती हैं, जैसे— ज्ञानावरणीयकर्म, दर्शनावरणीयकर्म, वेदनीय, मोहनीय, आयु कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अन्तराय कर्म। इनमें जीव के गुणों को घात करने की शक्ति होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय —ये चार कर्म अर्थात् यह कर्मचतुष्क 'घाती' कर्म कहे जाते हैं, अन्य चार कर्म 'अघाती' कर्म हैं। उत्तरप्रकृतियों में भेदविवक्षा से बन्ध-योग्य प्रकृतियों की संख्या एक सौ छियालीस मानी जाती है, अभेदविवक्षा से तो इनकी संख्या एक सौ बीस मानी जाती है। उदय-योग्य प्रकृतियों की तो भेदविवक्षा से एक सौ अड़तालीस संख्या मानी जाती है और अभेदविवक्षा से एक सौ बाईस संख्या मानी गई है।

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, गाथा-35-36) में कहा गया है—

"(बन्ध योग्य) ये (120) कर्म-बन्ध की प्रकृतियाँ कही गई हैं— ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की छब्बीस, आयुकर्म की चार, नामकर्म की सड़सठ, गोत्रकर्म की दो, अन्तराय कर्म की पाँच (इस प्रकार आठों कर्मों की कुल मिलाकर बन्धयोग्य एक सौ बीस उत्तरप्रकृतियाँ हैं)।"

"कर्मों की उदययोग्य 122 कर्म-प्रकृतियाँ कही गई हैं— ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु कर्म की चार, नामकर्म की सड़सठ, गोत्रकर्म की दो, अन्तराय की पाँच— (इस प्रकार आठों कर्मों की) कुल मिलाकर एक सौ बाईस उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं)।"

**प्रोक्तासु विंशत्युत्तरशतसंख्यकासु कर्मोत्तरप्रकृतिषु गुणस्थानानुसारं बन्धयोग्यतामधिकृत्य गोम्मटसारे** *(कर्मकाण्डे, गाथा-103)* **स्पष्टीकृतम्–**

*सत्तरसेक्कग्गसयं चउसत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी।*
*बंधा णवट्ठवण्णा दुवीस सत्तारसेकोघे।।*

**विस्तरस्तु तत्रैव ग्रन्थान्तरेषु च द्रष्टव्यः।** ***तदेवं गुणस्थानानि, प्रकृतिबन्ध-प्रदेशबन्धकारणानि योगस्थानानि, स्थितिबन्ध-अनुभाग-बन्धकारणानि अध्यवसायस्थानानि, बन्धप्रत्ययादीनि च सर्वाणि निश्चयनयेन जीवस्य सन्त्येव न हि, इति समयसारे*** (गाथा-50-56) ***समुद्घोषितम्। अतः सर्वेषां परद्रव्यत्वं सुस्पष्टमेव। अतः चिन्मात्रशुद्धात्मद्रव्यमेव स्वद्रव्यरूपेण सिद्ध्यति।***

**तदेवं भव्य मनीषिन्! यदि परमनिःश्रेयसावाप्तिरिष्यते, तर्हि समस्तकर्मोपाधिरहितनिज-सहजैकज्ञानमात्रात्मैव स्वद्रव्यमिति विज्ञाय, तदेव सर्वप्रकारेणोपादेयं विज्ञाय निरन्तरं भावनीयमिति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

पूर्वोक्त एक सौ बीस उत्तरप्रकृतियों की गुणस्थानों के अनुसार बन्धयोग्यता को ध्यान में रखकर गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, गाथा-103) में यह स्पष्टीकरण किया गया है–

''मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में एक सौ सत्रह उत्तरप्रकृतियों का बन्ध होता है, इसी तरह दूसरे गुणस्थान में एक सौ एक, तीसरे में चौहत्तर, चौथे में सतहत्तर, पाँचवें में सड़सठ, छठे में तिरसठ, सातवें में उनसठ, आठवें में अठावन, नौवें में बाईस, दसवें में सत्रह, ग्यारहवें में एक, बारहवें में एक, तेरहवें में एक, और चौदहवें में शून्य उत्तरप्रकृतियाँ बँधती हैं।''

विस्तृत जानकारी हेतु वहीं (गोम्मटसार में) तथा अन्य (कर्म-)ग्रन्थ देखें। इस प्रकार प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध के कारणभूत योगस्थान, स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध के कारणभूत अध्यवसायस्थान, बन्ध के प्रत्यय –ये सभी निश्चयनय के अनुसार जीव के होते ही नहीं –ऐसा समयसार (गाथा-50-56) में जोर देकर कहा है। इसलिए इन सब की परद्रव्यता स्पष्ट ही है। अतः चिन्मात्र शुद्धात्म द्रव्य ही स्व-द्रव्य रूप (से मान्य) सिद्ध होता है।

इस प्रकार हे भव्य मनीषी! यदि परम निःश्रेयस की उपलब्धि चाहते हो तो समस्त कर्मोपाधि-रहित निज सहज मात्र एक ज्ञान रूप आत्मा ही स्व-द्रव्य है –ऐसा जानकर, उसे ही सभी तरह से उपादेय मानकर उसकी निरन्तर भावना (चिन्तन-मनन) करनी चाहिए –यह गाथा का तात्पर्य है।

**सम्प्रति शास्त्रकाराः निश्चयनयो हेयोपादेयविकल्पज्ञानरहितः, तथा च संसारमुक्तये मुनिना बोधिदुर्लभभावना कार्येति निरूपयन्ति–**

**एवं जायदि णाणं हेयमुवादेयं णिच्छये णत्थि।**
**चिंतिज्जदि मुणि बोहिं संसारविणासणट्ठाए।। ८६ ।।**

***छाया–*** *एवं जायते ज्ञानं हेयमुपादेयं निश्चये नास्ति।*
*चिन्तयति (चिन्तयेत्) मुनिः बोधिं संसारविनाशनार्थाय।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(एवं)* **स्वद्रव्यं शुद्धात्मरूपमुपादेयमिति निर्णयः सम्यग्ज्ञानम्, इति प्रतिपादिततथ्यानुसारम्** *(हेयमुवादेयं णाणं जायदि)* **सामान्यव्यवहारे यत्सम्यग्ज्ञानं भवति, हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं सत् प्रमाणमपि अभिधीयते, तस्य साक्षात् फलमज्ञाननिवृत्तिः, परम्पराफलं तु हेयोपादेयविवेकः।**

**उक्तं च परीक्षामुखे** *(4/1)– ''अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्''*।

---

अब शास्त्रकार यह बता रहे हैं कि निश्चयनय हेय व उपादेय के विकल्प ज्ञान से रहित होता है, और संसार से छूटने के लिए मुनि को बोधि-दुर्लभता की भावना करनी चाहिए–

**( 86 )**

**( गाथा-अर्थ– ) इस प्रकार, हेय व उपादेय ( –इन विकल्पों वाला जो ) ज्ञान ( होता है, वह ) निश्चयनय में नहीं होता। मुनि को संसार के नाश हेतु बोधि ( दुर्लभता ) का चिन्तन करते रहना चाहिए।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( एवं )** स्वद्रव्य शुद्धात्मा है और वही उपादेय है– ऐसा निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है– इस प्रतिपादित तथ्य के अनुसार **( हेयमुपादेयं ज्ञानं जायते )** सामान्य व्यवहार में जो सम्यग्ज्ञान होता है, वह हित-प्राप्ति व अहित-परिहार में समर्थ होने से प्रमाण भी कहा जाता है, उसका साक्षात् फल अज्ञान-निवृत्ति होता है और परम्पराफल तो हेय व उपादेय का विवेक होता है।

परीक्षामुख (4/1) में कहा गया है– ''अज्ञान की निवृत्ति, त्याग व ग्रहण और उपेक्षा भाव –ये सम्यग्ज्ञान के फल हैं।''

**एवं सर्वं व्यावहारिकं ज्ञानं हेयोपादेयविवेकं जनयति। एवमध्यात्मक्षेत्रे सम्यग्ज्ञानेन स्वद्रव्यमात्मैवोपादेयः इति निर्णयो भवति। एतत्सम्यग्ज्ञानं व्यवहार-निश्चयनयाश्रितत्वाद् द्विधा– व्यवहारज्ञानं निश्चयज्ञानं च। सर्वतोभावेन स्वकीयशुद्धात्मद्रव्यमेव उपादेयम्, शेषमन्यद् हेयमिति विकल्पात्मकं ज्ञानं व्यवहारज्ञानमेव। व्यवहार-ज्ञानस्यास्यापि अन्यज्ञानापेक्षया महनीयता निर्विवादैव।**

**उक्तं च समाधिशतके** *(श्लोक-94)*–

*विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।*
*देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते।।*

**कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-466)* **च भणितमास्ते–**

*जो ण वि जाणदि अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।*
*सो ण वि जाणदि सत्थं आगमपाढं कुणंतो वि।।*

---

इस प्रकार, समस्त व्यावहारिक ज्ञान यह विवेक उत्पन्न करता है कि (ज्ञात वस्तु में) क्या हेय है और क्या उपादेय है। इस प्रकार, अध्यात्मक्षेत्र में सम्यग्ज्ञान द्वारा स्वद्रव्य आत्मा ही उपादेय है –यह निर्णीत हो जाता है। यह सम्यग्ज्ञान व्यवहार नय व निश्चयनय –इन दोनों नयों के आधार पर दो प्रकार का है– व्यवहारज्ञान व निश्चयज्ञान। सभी तरह से स्वकीय शुद्धात्मद्रव्य ही उपादेय है, शेष अन्य हेय हैं –इस प्रकार विकल्पात्मक ज्ञान जो होता है, वह व्यवहार ज्ञान ही है। (तथापि) इस व्यवहार ज्ञान की अन्य (सांसारिक) ज्ञानों की अपेक्षा महनीयता निर्विवाद ही है।

समाधिशतक (श्लोक-94) में कहा भी गया है–

''शरीर में आत्म-बुद्धि रखने वाले बहिरात्मा की मुक्ति नहीं होती, भले ही वह समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हो। और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करने वाला अन्तरात्मा सोते हुए और उन्मत्त होते हुए भी मुक्त हो जाता है।''

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-466) में भी कहा गया है–

''जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह आगम का पठन-पाठन करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता।''

**आचार्य देवसेनकृते आराधनासारे** *(गाथा-111)* **च वर्णितम्–**

*अइकुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं।*
*जाम ण झावइ अप्पा ताम ण मोक्खो जिणो भणइ।।*

**तथा च तत्रैव** *(गाथा-54)* **प्रतिपादितम्–**

*सव्वं चायं काऊ विसए अहिलससि गहियसण्णासो।*
*जइ तो सव्वं अहलं दंसणणाणं तवं कुणसि।।*

**निश्चयज्ञानं तु स्वस्य सम्यग् निर्विकल्परूपेण वेदनम्। एतस्य निश्चयज्ञानस्य साधकं पूर्वोक्तसम्यग्ज्ञानम्। एवं सिद्ध्यति यद् बहिरङ्गपरमाभ्यासेन आभ्यन्तरे स्वसंवेदनज्ञानं यत्तदेव परमार्थतया निश्चयनयेन वा सम्यग्ज्ञानम्। व्यवहारसम्यग्ज्ञानस्य सार्थकता तदैव यदा उपादेयरूपेण ज्ञातस्य आत्मनो ध्याने प्रवृत्तिः स्यात्, अर्थात् अध्यात्मरतिः सम्यग्ज्ञानस्य फलम्।**

---

आचार्य देवसेन द्वारा विरचित आराधनासार (गाथा-111) में भी कहा गया है–

''चाहे अत्यधिक तप करो, संयम पालो, सकल शास्त्रों को पढ़ो, परन्तु जब तक आत्मा का ध्यान नहीं करता, तब तक मोक्ष नहीं होता।''

इसी तरह, वहीं (गाथा-54) यह भी कहा गया है–

''भले ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से युक्त होकर तप का आचरण भी करते हो, संन्यास लेकर समस्त (परिग्रह का) त्याग भी कर दिया हो, किन्तु फिर भी यदि विषयों में अभिलाषा है तो सब निष्फल है।''

निज का सम्यक्तया निर्विकल्प रूप से जो वेदन (अनुभव) है, वह तो निश्चय ज्ञान है। इस निश्चय ज्ञान का साधक पूर्वोक्त (सविकल्पक) सम्यग्ज्ञान होता है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि बहिरङ्ग परमाभ्यास (सविकल्पक भेदविज्ञान) द्वारा आभ्यन्तर में जो स्वसंवेदन ज्ञान होता है, वही परमार्थरूप से या निश्चयनय से सम्यग्ज्ञान है। व्यवहार सम्यग्ज्ञान की सार्थकता तभी है जब उपादेय रूप से ज्ञात आत्मा के ध्यान में (ज्ञानी की) प्रवृत्ति हो, अर्थात् अध्यात्मरति सम्यग्ज्ञान का फल है।

**उक्तं च आचार्यामितगतिरचिते योगसारे** *(7/43)*–

*आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।*
*अशेषशास्त्रशास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः॥*

**इत्थं निश्चयज्ञाने प्रवर्तिते सति, स्वद्रव्यातिरिक्तस्यान्यस्य कस्यचिदेवाभावात्, हेयोपादेयेति-द्विविधविकल्पस्य सम्भावनाऽपि क्षीयते। तदनन्तरं निश्चयधर्मध्यानं प्रवर्तते। तत्र निर्विकल्पकावस्थैव समुल्लसति। एतदेव गाथायामस्यां निरूप्यते–** *(णिच्छये णत्थि)* **प्राग् व्यवहारदशायां यद् हेयोपादेयविकल्पज्ञानं भवति, तत सम्प्रति निश्चये, निश्चयध्यानावस्थायां नास्ति, न तत्र विकल्पावस्था, अतो निश्चयनये, निश्चयध्याने वा हेयोपादेयरूपादिसमस्तविकल्पात्मकज्ञानं विलीयते इति भावः। एतस्या अवस्थायाः स्वरूपं महत्त्वं च शास्त्रेषु बहुधा प्रत्यपादि।**

**यथा– कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा–482)* **भणितम्–**

---

आचार्य अमितगति-रचित योगसार (7/43) में भी कहा गया है–

"आत्म-ध्यान में रुचि होना –यही विद्वत्ता का परम फल जानना चाहिए। मात्र सभी शास्त्रों पर अधिकार होने को तो विद्वानों ने संसार (सांसारिक प्रवृत्ति का एक अंग) कहा है।"

इस प्रकार, निश्चय ज्ञान की प्रवृत्ति होने पर, निज द्रव्य से अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य के अभाव होने से 'यह हेय है' या 'यह उपादेय है' इस द्विविध विकल्प की सम्भावना भी क्षीण हो जाती है। उसके अनन्तर, निश्चयधर्मध्यान प्रवृत्त होता है। फिर वहाँ तो निर्विकल्पक स्थिति ही शोभायमान रहती है। इसी तथ्य को इस गाथा में निरूपित किया जा रहा है– **( निश्चये नास्ति )** पहले व्यवहार की स्थिति में जो हेय-उपादेय सम्बन्धी विकल्पात्मक ज्ञान होता है, वह अब निश्चय अर्थात् निश्चय ध्यान की स्थिति में नहीं रहता, वहाँ विकल्प की स्थिति नहीं रहती, इसलिए निश्चयनय में या निश्चय ध्यान में हेय-उपादेय आदि समस्त विकल्पात्मक ज्ञान विलीन हो जाते हैं –यह तात्पर्य है। इस अवस्था के स्वरूप व महत्त्व का शास्त्रों में अनेक रूपो में प्रतिपादन किया गया है।

जैसे, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-482) में कहा गया है–

*वज्जियसयलवियप्पो अप्पसरूवे मणं णिरुंधंतो।*
*जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं झाणं।।*

**अथवा, ज्ञानार्णवे** *(28/19)* **निरूपितं वरीवर्ति–**

*अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत्।*
*मुनेस्तदैवं निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता।।*

**तथैव, आचार्यदेवसेनकृते आराधनासारे** *(गाथा-83)* **निश्चयध्यानस्य स्वरूपं संकेतितमपि–**

*यावद् विकल्पः कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य।*
*तावन्न शून्यं ध्यानं चिन्ता वा भावनाऽथवा।।*

**बृहद्द्रव्यसंग्रहे** *(गाथा-55-56)* **च निरूपितमेतत्–**

*जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।*
*लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं ज्झाणं॥*

---

"सकल विकल्पों को छोड़कर और आत्मस्वरूप में मन को रोककर आनन्द सहित जो चिन्तन होता है, वही उत्तम धर्मध्यान होता है।"

अथवा, ज्ञानार्णव (28/19) में कहा गया है– "मुनि का मन अन्य विषयों से हटकर जब आत्मस्वरूप के सम्मुख होता है, तभी उसके ध्यान की सिद्धि निर्बाध होती है।"

इसी तरह, आचार्य देवसेन द्वारा रचित आराधनासार (गाथा-83) में भी निश्चय ध्यान के स्वरूप का संकेत इस प्रकार किया गया है–

"ध्यानयुक्त मुनि के जब तक कोई विकल्प उत्पन्न होता है, तब तक शून्य निर्विकल्प ध्यान नहीं होता, किन्तु वह तो चिन्ता या भावना ही होती है।"

बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-55-56) में भी इस प्रकार निरूपण प्राप्त होता है–

"ध्येय में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी भी पदार्थ का ध्यान करता हुआ साधु जब निःस्पृहवृत्ति होता है, उस समय वह उसका निश्चय ध्यान होता है।"

*मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।*
*अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं।।*

**एवं मनुष्यत्वसम्यक्त्वप्राप्त्यनन्तरं देहात्मनोर्भेदविज्ञानस्य, तदनन्तरं चाध्यात्मरतिप्रकर्षे निर्विकल्पकध्यानस्य च प्राप्तिः सुदुर्लभेति चिन्तनात्मिका बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा विज्ञेया।**

**उदाहृताऽपि एषा सर्वार्थसिद्धौ** *(9/7)* **राजवार्तिके** *(9/7/8)* **च–** *"एकस्मिन् निगोतशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः। एवं सर्वलोको निरन्तरं निचितः स्थावरैः, अतस्तत्र त्रसता बालुकासमुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा, तत्र च विकलेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वात् पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभावः चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः। तत्प्रच्यवे च पुनः तदुत्पत्तिः दग्धतरुपुद्गलतद्भावोपपत्तिवद् दुर्लभा।*

---

हे भव्य पुरुषो! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो (अर्थात् मन-वचन व काय की वृत्ति को रोको) ताकि तुम्हारी आत्मा अपनी आत्मा में स्थिर हो जाए। और (आत्मा का आत्मा में लीन होना) यही परम ध्यान है।"

इस प्रकार, मनुष्यत्व व सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद देह व आत्मा में भेदविज्ञान की प्राप्ति होना, और उसके बाद अध्यात्मरति की प्रकृष्टता होने से निर्विकल्पक ध्यान की प्राप्ति होना दुर्लभ है –इस तरह चिन्तन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है –यह जानें।

सर्वार्थसिद्धि (9/7) तथा राजवार्तिक (9/7/8) में इसके स्वरूप को उदाहरण रूप में प्रस्तुत भी किया गया है– "एक निगोद-शरीर में सिद्धों से अनन्तगुने (निगोदिया) जीव हैं। इस प्रकार के स्थावर जीवों से समस्त लोक निरन्तर भरा हुआ है। अतः इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना ही दुर्लभ है जितना कि बालुका-समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता (बालू) की कणिका का मिलना दुर्लभ होता है। इसमें (त्रस पर्याय में) भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण पंचेन्द्रिय पर्याय का मिलना उतना ही दुर्लभ है जितना गुणों में कृतज्ञता का लाभ दुर्लभ होता है। इस (पञ्चेन्द्रिय पर्याय) में भी पशु, मृग, पक्षी व सरीसृप तिर्यञ्चों की बहुलता होती है। इसीलिए जिस प्रकार चौराहे पर गिर गई रत्नराशि का मिलना अतिकठिन होता है, उसी तरह मनुष्य पर्याय मिलना अत्यन्त कठिन होता है। और मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद, यदि एकबार वह च्युत (नष्ट) हो जाए तो पुनः उसकी प्राप्ति होना उतना ही कठिन है जितना कि जले हुए पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्याय रूप से उत्पन्न होना कठिन होता है।

*तल्लाभे च देशकुलेन्द्रियसम्पत्-नीरोगत्वानि उत्तरोत्तरतोऽतिदुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलम्भो यदि न स्यात्, व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम्। तमेव कृच्छ्रलभ्यं धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थं चन्दनदहनमिव विफलम्। विरक्तविषयसुखस्य तु तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुरवापः। तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा।"*

**संक्षेपेण, कथञ्चित् काकतालीयन्यायेन मनुष्यगति-आर्यत्व-तत्त्वश्रवणादिषु सर्वेषु लब्धेष्वपि बोधिलाभः, तदनन्तरं च तत्फलभूत-स्वशुद्धात्मसंवित्त्यात्मक-निर्मलधर्मध्यानादिरूपः परम-समाधिर्दुर्लभ एव। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिरत्र ज्ञेया। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-301)*–

---

कदाचित् उसकी पुनः प्राप्ति हो भी जाए तो उत्तम देश, कुल, इन्द्रिय, सम्पत्ति और नीरोगता – इनका प्राप्त होना तो उत्तरोत्तर और भी दुर्लभ होता है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न हो तो जिस प्रकार दृष्टि (आँखों) के बिना मुख व्यर्थ होता है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म प्राप्त होना व्यर्थ होता है। इस प्रकार अतिकठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषय-सुख में रति होना उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार भस्म के लिए चन्दन (की लकड़ी) को जलाना। कदाचित् विषय-सुख से विरक्ति भी प्राप्त हुई, किन्तु इसके साथ तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरण रूप समाधि का प्राप्त होना तो और भी अत्यन्त दुर्लभ है। इसके होने पर भी बोधि का लाभ तो और भी अतिदुर्लभ होता है, क्योंकि इस (मरण-समाधि) के होने पर ही बोधि-लाभ की सफलता है –ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।"

संक्षेप में, किसी तरह काकतालीय न्याय से (अर्थात् कभी अकस्मात् संयोगवश कोई घटना घटित हो जाती है, जैसे तालवृक्ष से फल गिरे और संयोगवश कोई कौआ उसे गिरने से पूर्व ही अपनी चोंच में ग्रहण कर ले, उसी तरह) मनुष्य-गति भी प्राप्त हो जाए और उसमें भी श्रेष्ठ आचरण व तत्त्व (धर्म) श्रवण आदि समस्त (दुर्लभ वस्तुओं) की प्राप्ति हो भी जाए, तो भी बोधि का लाभ और उसके अनन्तर उसके ही फलस्वरूप निज शुद्धात्मा का संवेदन और निर्मल धर्मध्यान आदि रूप परम समाधि की प्राप्ति तो दुर्लभ ही है। बोधि से यहाँ तात्पर्य है– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र जो प्राप्त नहीं थे, उनकी प्राप्ति होना। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-301) में कहा भी गया है–

*इय सव्वदुलहदुलहं दंसणणाणं तहा चरित्तं च।*
*मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि।।*

**बोधिलाभस्य दुर्लभता दर्शनप्राभृते** *(गाथा-5)* **च समर्थिता–**

*सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।*
*ण लहंति बोहिलाहं अपि वाससहस्सकोडीहिं।।*

**पूर्वोक्तप्रकारेण बोधिदुर्लभानुप्रेक्षां भावयतो जनस्य प्रमादोऽपगतो भवति, ततश्च मोक्षमार्गे प्रगतिः सुकरा भवति। एवं सम्यग् विज्ञाय, भो भव्य! बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा नित्यं भावनीयेति गाथायास्तात्पर्यम्। एवं** *'उप्पज्जदि सामण्णं'* **इति गाथामादिं कृत्वा** *'एवं जाणदि णाणं'* **इत्यादिगाथां यावत् चतसृभिर्गाथाभिः बोधिदुर्लभानुप्रेक्षानामको द्वादशाधिकारः सम्पन्नः।**

*[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागररचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा' -नामको द्वादशाधिकारः सम्पन्नतां गतः।।]*

---

"इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को संसार की समस्त दुर्लभ वस्तुओं में भी दुर्लभ जानो और इन तीनों का अत्यन्त आदर करो।"

बोधिलाभ की दुर्लभता का समर्थन दर्शनप्राभृत (गाथा-5) में भी इस प्रकार प्राप्त होता है– "जो सम्यक्त्व से रहित हैं, वे हजारों, करोड़ों वर्षों तक अच्छी तरह उग्र तप भी करें तो भी बोधि-लाभ प्राप्त नहीं कर पाते हैं।"

पूर्वोक्त प्रकार से बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा की भावना (बार-बार चिन्तन) करते रहने से व्यक्ति का प्रमाद नहीं रहता और फिर मोक्षमार्ग में प्रगति सरल हो जाती है। इस प्रकार, अच्छी तरह जानकर हे भव्य! बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का नित्य चिन्तन करते रहना चाहिए –यह गाथा का तात्पर्य है। इस तरह '**उप्पज्जदि सामण्णं**' इत्यादि (83वीं) गाथा से लेकर '**एवं जायदि णाणं**' (86वीं) इत्यादि गाथा तक चार गाथाओं में बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा नामक बारहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

*[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस सर्वोदया नामक टीका में 'बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा' नामक बारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।]*

## [ बारसाणुवेक्खा-माहप्पं- तेरसमो अहियारो ]

## ।। द्वादशानुप्रेक्षामाहात्म्यम्- त्रयोदशोऽधिकारः ।।

**अथेदानीं द्वादशानुप्रेक्षामाहात्म्यनामकः ( उपसंहारनामको वा ) त्रयोदशाधिकारो गाथापञ्चकात्मकः प्रारभ्यते। तत्र प्रथमं** *'बारस-अणुपेक्खाओ'* **इत्यादिका प्रथमगाथा प्रतिपादयति यद् द्वादशानुप्रेक्षा प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण-आलोचना-समाधिरूपाः, अतस्ता भावनीया इति। ततश्च-** *'रत्तिदिवं पडिकमणं'* **इत्यादिका द्वितीया गाथा प्रतिपादयति यद् यथाशक्ति दिवानिशं प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-समाधि-सामायिकालोचनानुष्ठानं करणीयमिति। ततश्च** *'मोक्खगया जे पुरिसा'* **इत्यादिका तृतीया गाथा प्रतिपादयति यदद्य यावद् यावन्तः पुरुषाः सिद्धत्वमापन्नाः, ते सर्वे द्वादशानुप्रेक्षा-परिचिन्तनं कृत्वैव जाताः, अतस्ते पुनः पुनः नमस्करणीयाः भवन्ति। ततश्च** *'किं पलविदेण बहुणा'* **इति चतुर्थी गाथा प्रतिपादयति यद् भाविनि कालेऽपि ये भव्याः सेत्स्यन्ति, तेऽपि द्वादशानुप्रेक्षा-माहात्म्यमेव प्रकटीकरिष्यन्ति -इति। ततश्च** *'इदि णिच्छयववहारं'* **इत्यादिका पञ्चमी गाथा वर्तते,**

---

## [ द्वादशानुप्रेक्षा-माहात्म्य- तेरहवाँ अधिकार ]

अब पाँच गाथाओं वाला 'बारह अनुप्रेक्षा-माहात्म्य' नामक (या उपसंहार नामक) तेरहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। इसमें सर्वप्रथम '**बारस अणुपेक्खाओ**' इत्यादि प्रथम गाथा (87वीं गाथा) है जो यह प्रतिपादित करती है कि बारह अनुप्रेक्षाएँ प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना व समाधि रूप होती हैं, इसलिए उनकी भावना (निरन्तर चिन्तन) करते रहना चाहिए। इसके बाद, '**रत्तिदिवं पडिकमणं**' इत्यादि दूसरी (88वीं) गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि यथाशक्ति, रात-दिन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक व आलोचना -इनका अनुष्ठान करना चाहिए। इसके बाद, '**मोक्खगया जे पुरिसा**' इत्यादि तीसरी (89वीं) गाथा है जो यह प्रतिपादित करती है कि आज तक जितने भी पुरुष सिद्धावस्था को प्राप्त हुए हैं, वे सभी (इन) बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना या चिन्तन करके ही हुए हैं, इसलिए वे बारम्बार नमस्करणीय हैं। इसके बाद, '**किं पलविदेण बहुणा**' इत्यादि चौथी गाथा (90वीं) है जिसमें यह बताया गया है कि आगामी काल में जो भी भव्य सिद्ध होंगे, वे भी बारह अनुप्रेक्षाओं के माहात्म्य को प्रकट करेंगे। इसके बाद, '**इदि णिच्छयववहारं**' इत्यादि पाँचवीं (91वीं) गाथा है जिसमें यह प्रतिपादन किया गया है

**यस्यां प्रतिपाद्यते यद् निश्चयव्यवहाररूपेण द्वादशानुप्रेक्षाणां यदत्र ग्रन्थे निरूपणं कृतम्, तासां शुद्धमनसा भावनया परमनिर्वाणं प्राप्तुं शक्यते इति। एवं गाथापञ्चकात्मकस्य त्रयोदशाधिकारस्य पातनिका विज्ञेया।**

**सम्प्रति शास्त्रकाराः श्रमणचर्यायां द्वादशानुप्रेक्षाणां माहात्म्यं निर्दिशन्ति–**

**बारस अणुपेक्खाओ, पच्चक्खाणं तहेव पडिकमणं।**
**आलोयणं समाहिं, तम्हा भावेज्ज अणुपेक्खं।। ८७।।**

**छाया–** *द्वादश अनुप्रेक्षाः प्रत्याख्यानं तथैव प्रतिक्रमणम्।*
*आलोचनं समाधिः, तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम्।।*

**( सर्वोदया टीका– ) पूर्वं ग्रन्थकारेण द्वादशानुप्रेक्षाणां सम्यक्तया निरूपणं कृतमिदानी-मुपसंहाररूपेण तदीयमाहात्म्यं विशदीक्रियते–** *(बारस अणुपेक्खाओ)* **अध्रुवानुप्रेक्षामादिं कृत्वा बोधिदुर्लभानुप्रेक्षां यावद् द्वादश अनुप्रेक्षाः या निरूपिता, ताः** *(पच्चक्खाणं)* **प्रत्याख्यानरूपा भवन्ति, अर्थात् अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानं यत्तद्रूपतां दधति।**

---

कि इस ग्रन्थ में निश्चय व व्यवहार रूपों में बारह अनुप्रेक्षाओं का जो निरूपण किया गया है, उनकी शुद्ध मन से भावना करने से परम निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार, पाँच गाथाओं वाले तेरहवें अधिकार की पातनिका जाननी चाहिए।

अब शास्त्रकार श्रमणचर्या में बारह अनुप्रेक्षाओं के माहात्म्य का निरूपण कर रहे हैं–

**( 87 )**

**( गाथा-अर्थ– ) ( ये ) बारह अनुप्रेक्षाएँ ( आगामी दोषों के ) प्रत्याख्यान, ( पूर्व दोषों का ) प्रतिक्रमण, ( वर्तमान दोषों की ) आलोचना एवं समाधि ( आत्मस्वरूपस्थिरता ) रूप हैं, इसलिए ( इन ) अनुप्रेक्षाओं की ( निरन्तर ) भावना करते रहना चाहिए।**

**( सर्वोदया टीका– )** इसके पूर्व, ग्रन्थकार बारह अनुप्रेक्षाओं का सम्यक् रूप से निरूपण कर चुके हैं, अब उपसंहार रूप से उनके माहात्म्य पर प्रकाश डाला जा रहा है– **( द्वादश अनुप्रेक्षाः )** अध्रुवानुप्रेक्षा से लेकर बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा तक बारह अनुप्रेक्षा जो निरूपित हुई हैं, वे **( प्रत्याख्यानम् )** प्रत्याख्यान रूप हैं, अर्थात् अनागत दोषों का निराकरण रूप जो प्रत्याख्यान होता है, उस रूप को धारण करती हैं।

**प्रत्याख्यानस्वरूपं मूलाचारे** *(गाथा-27)* **निर्दिष्टमास्ते–**

*णामादीणं छण्हं अजोगपरिवज्जणं तिरयणेण।*
*पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले।।*

**तत्र प्रत्याख्यानं व्यवहार-निश्चयेति भेदद्वयं बिभर्ति। मुनयो भुक्त्वा दिने योग्यकालपर्यन्तं यदन्नपानखाद्यलेह्यरुचिं प्रत्यादिशन्ति, तदेव व्यवहारप्रत्याख्यानस्वरूपम्। निश्चयप्रत्याख्यानस्वरूपं च नियमसारे** *(गाथा-95)* **निरूपितम्–**

*मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहणिवारणं किच्चा।*
*अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स।।*

**अथवा समयसारे** *(गाथा-384)* **निरूपितम्–**

*कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि वज्झइ भविस्सं।*
*तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया।।*

---

प्रत्याख्यान के स्वरूप का निरूपण मूलाचार (गाथा-27) में इस प्रकार किया गया है–

'भविष्य में आने वाले तथा निकटवर्ती भविष्य काल में आने वाले नाम, स्थापना आदि छहों अयोग्य (कार्यों) का मन, वचन व शरीर से त्याग करना–इसे प्रत्याख्यान जानना चाहिए।'

यहाँ प्रत्याख्यान के दो भेद हैं– व्यवहार प्रत्याख्यान और निश्चय प्रत्याख्यान। मुनि दिन में आहार लेकर योग्य कालावधि तक, अन्न, पान, खाद्य व लेह्य –इन चारों पदार्थों के प्रति रुचि का जो प्रत्याख्यान (त्याग) करते हैं, वही व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप है। निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप नियमसार (गाथा-95) में इस प्रकार बताया गया है–

"जो समस्त वचन-जाल को छोड़कर तथा आगामी शुभ-अशुभ (व्यापारों) का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है, उसके 'प्रत्याख्यान' होता है।"

अथवा समयसार (गाथा-384) में बताया गया है–

"जिस भाव के होने पर जो शुभ-अशुभ कर्म भविष्य में बँधने वाले हैं, उनसे जो ज्ञानी निवृत्त होता है, वह 'प्रत्याख्यान' है।"

**एवमेव,** *(पडिकमणं)* **अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम्, यद्वा प्रतिक्रियन्ते निराक्रियन्ते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषाः येन तत् प्रतिक्रमणम्। उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-26)*–

*दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं।*
*णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं।।*

**अर्थात् आहार-शरीरादिविषये द्रव्ये, वसतिका-शयन-आसन-गमनागमनप्रभृतिमार्गविषये क्षेत्रे, पूर्वाह्न-अपराह्न-दिन-रात्रि-पक्ष-मास-वर्षादित्रिकालविषये काले, चित्तव्यापारविषये भावे, अथवा तथोक्तद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्वा मनसा, वचसा, कायेन च व्रतेषु ये दोषा उत्पद्यन्ते, तेषां निन्दापूर्वकं गर्हापूर्वकं च निराकरणमेव प्रतिक्रमणं भवति। अत्रेदं ज्ञेयम्-निन्दा स्वात्मदोषाविष्करणं भवति, गर्हा तु आचार्यादिसमक्षमालोचनापूर्वकं दोषाविष्करणमिति।**

***प्रतिक्रमणभेदविषये मूलाचारे*** *(गाथा-120, 615)* ***निरूपितमास्ते–***

---

इसी तरह, **( प्रतिक्रमणं )** अतीत काल के दोषों से निवृत्त होना 'प्रतिक्रमण' है, या जिससे प्रमाद-जनित दैनिक आदि दोषों का प्रतिक्रमण यानी निराकरण होता है, वह 'प्रतिक्रमण' होता है। मूलाचार (गाथा-26) में कहा भी गया है–

"निन्दा और गर्हा पूर्वक मन-वचन-शरीर द्वारा द्रव्य-क्षेत्र, काल व भाव के विषय में किये गये अपराधों का शोधन करना 'प्रतिक्रमण' होता है।"

अर्थात् आहार, शरीर आदि के 'द्रव्य' रूप विषय में, वसतिका, शयन (शैय्या) आसन व गमनागमन आदि मार्ग रूप 'क्षेत्र' में, पूर्वाह्न, अपराह्न, दिन, रात, पक्ष, महीना, वर्ष आदि त्रिकाल-विषयक 'काल' में, चित्त-व्यापार-विषयक 'भाव' में, या इन कथित द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावों के द्वारा मन, वचन व शरीर से व्रतों में जो दोष लग जाते हैं, उनका निन्दा व गर्हा के साथ निराकरण करना ही प्रतिक्रमण होता है। यहाँ ज्ञातव्य है– अपने दोषों को प्रकट करना 'निन्दा' होती है और आचार्यादि के समक्ष आलोचनापूर्वक दोषों को प्रकाशित करना 'गर्हा' होती है।

प्रतिक्रमण के भेद के विषय में मूलाचार (गाथा-120 व 615) में बताया गया है–

*पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।*
*पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवायमुत्तमट्ठं च।।*

*पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोद्धव्वं।*
*पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च।।*

**एवमेव** *(आलोयणं)* **आलोचनारूपा अपि द्वादशानुप्रेक्षा भवन्ति। अपरिस्रवाणां श्रुतरहस्यविदां वीतरागाणां मेरुवत् रत्नत्रयपालने स्थिराणां गुरूणां समक्षं स्वदोषनिवेदनमालोचनं भवति –इति धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग 1-3, सू. 26, पृ. 60)* **प्रोक्तम्। समयसारे** *(गाथा-385)* **तु स्वदोषद्रष्टा आत्मैव आलोचनमिति भणितम्–**

*जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।*
*तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया।।*

**नियमसारे** *(गाथा-109)* **च समर्थितमेतत्–**

---

''पहला (भेद) सर्वातिचार प्रतिक्रमण है। दूसरा है–त्रिविध आहार-त्याग प्रतिक्रमण। यावज्जीवन पानक आहार का त्यागना –यह उत्तमार्थ नाम का तीसरा प्रतिक्रमण है।''

''दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ –इन (सात) भेदों वाला प्रतिक्रमण होता है (अर्थात् प्रतिक्रमण के उक्त सात भेद हैं)।''

इसी तरह **( आलोचनम् )** बारह अनुप्रेक्षाएँ आलोचना रूप भी होती हैं। अपरिस्रव यानी आस्रव-रहित, श्रुत-रहस्य (प्रायश्चित्त ग्रन्थ) के ज्ञाता, वीतराग एवं मेरू की तरह रत्नत्रय की पालना में स्थिर रहने वाले गुरुजनों के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना 'आलोचना' होता है– ऐसा धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग 1-3, सू. 26, पृ. 60) में कहा गया है। समयसार (गाथा-385) में तो निज दोषों का द्रष्टा आत्मा ही 'आलोचन' है– यह कहा गया है–

''अनेक विस्तार-विशेष को लिए हुए जो शुभ या अशुभ कर्म वर्तमान में उदय को प्राप्त हैं, उस कर्म को जो ज्ञानी दोष-स्वरूप में अनुभव में लाता है (अर्थात् उससे स्वामित्व भाव को छोड़ता है), वह (निश्चय से) 'आलोचना' है।''

नियमसार (गाथा-109) में भी इसका समर्थन इस प्रकार किया गया है–

*जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।*
*आलोयणमिदि जाणह परमजिणिंदस्स उवएसं।।*

**आलोचनस्य सप्त प्रकारा भवन्ति। उक्तं च मूलाचारे** *(गाथा-621)*–

*आलोचणं दिवसियं रादिअ इरियावधं च बोद्धव्वं।*
*पक्खिह चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च।।*

**तथा च, नियमसारे** *(गाथा-108)* **च चत्वारः प्रकाराः प्रोक्ताः**–

*आलोयणमालुञ्छणवियडीकरणं च भावसुद्धी य।*
*चउविहमिय परिकहियं आलोयणलक्खणं समए।।*

**आलोचनं निर्दोषतया समनुष्ठेयम्। तत्र दोषाणां संख्या दश भवन्ति –इति भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-564)* **प्रोक्तम्**–

*आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।*
*छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी।।*

---

"जो (जीव अपने) परिणाम को समभाव में स्थापित कर निज आत्मा को देखता है, वह आलोचन है– ऐसा परम जिनेन्द्र का उपदेश जानना।"

आलोचना के सात भेद होते हैं। मूलाचार (गाथा-621) में कहा गया है– "दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ– ये (सात तरह की) आलोचना है।"

और, नियमसार (गाथा-108) में इसके चार प्रकार कहे गये हैं– "आलोचन, आलुञ्छन, अविकृतिकरण, भावशुद्धि–इस तरह आगम में आलोचना का लक्षण चार प्रकार का कहा गया है।"

आलोचना निर्दोष रूप से करनी चाहिए। उन दोषों की संख्या दस होती है– ऐसा भगवती आराधना ग्रन्थ (गाथा-564) में कहा गया है– "(आलोचना के ये दस दोष हैं) आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त व तत्सेवी।"

**तत्र गुर्वादीनामात्मनि अनुकम्पां सम्पाद्य क्रियमाणमालोचनं तत्र आकम्पितमिति प्रथमदोषः। गुर्वादीमभिप्रायमुपायेन विज्ञाय क्रियमाणमालोचनं यत्तत्र अनुमानितमिति द्वितीयदोषः। यत् परैः दृष्टम्, तन्मात्रस्यैव क्रियमाणमालोचनं यत्तत्र दृष्टमिति तृतीयो दोषः। स्थूलदोषस्य ( एव ) क्रियमाणमालोचनं यत्तत्र बादरमिति चतुर्थो दोषः। सूक्ष्मदोषस्य ( एव ) क्रियमाणमालोचनं यत्तत्र, सूक्ष्ममिति पञ्चमो दोषः। कश्चिन्न पश्येद् इति प्रच्छन्नरूपेण क्रियमाणमालोचनं यथा– अस्य दोषस्य किं प्रायश्चित्तं भवति, अथवा केनचित् साधकेन एतादृशो दोष आचरितः स्यात् तर्हि तेन किं प्रायश्चित्तं करणीयं भवति –इति पृष्ट्वा आचार्योक्तसमाधानमनुसृत्य स्वयं प्रायश्चित्तं क्रियते यत्तत्र छन्नमिति षष्ठो दोषो भवति। यदा शब्दाकुलता, कोलाहलः, न स्पष्टतया कश्चिच्छ्रोतुं प्रभवेत् –इत्यवस्थायां क्रियमाणमालोचनं यत्तत्र शब्दाकुलितमिति सप्तमो दोषः। गुरुदत्तप्रायश्चित्तं प्रति अश्रद्धानतया बहुगुरूनन्यान् दोषप्रायश्चित्तविषये पृच्छनं यत्र, तत्र बहुजननामकोऽष्टमो दोषः। अव्यक्ततया, तथा ज्ञानदृष्ट्या चारित्रदृष्ट्या बालकानां मुनीनां समक्षं क्रियमाणमालोचनं यत्तत्र**

---

इन (दोषों) में, अपने ऊपर गुरु आदि की कृपा प्राप्त करके जो आलोचना की जाती है, वहाँ आकम्पित नामक प्रथम दोष होता है। किसी उपाय से गुरु के अभिप्राय को जानकर की गई आलोचना में 'अनुमानित' यह दूसरा दोष होता है। दूसरों ने जो दोष देखा, (मात्र) उसकी आलोचना की जाये तो वहाँ 'दृष्ट' (नाम का) तीसरा दोष होता है। (मात्र) स्थूल दोष की ही आलोचना की जाए, तो वहाँ 'बादर' (नाम का) चौथा दोष होता है। सूक्ष्म दोष की (ही) आलोचना की जाये तो वहाँ 'सूक्ष्म' (नाम का) पाँचवाँ दोष होता है। कोई देख न पाए –इस उद्देश्य से प्रच्छन्न रूप से (छिपकर) की गई आलोचना में जैसे– इस (अमुक) दोष का क्या प्रायश्चित्त होता है, या किसी साधक द्वारा इस प्रकार का कोई दोष हो जाय तो उसे क्या प्रायश्चित्त करना होता है –ऐसा पूछकर आचार्य द्वारा दिये गये समाधान के अनुसार उस प्रायश्चित्त को स्वयं कर लेना –यह 'छन्न' (नाम का) छठा दोष होता है। जब शब्दों की भरमार हो, कोलाहल हो, या जहाँ कोई स्पष्ट रूप से सुन न पाए –इस स्थिति में की गई आलोचना में 'शब्दाकुलित' –यह सातवाँ दोष होता है। गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त (दायक वचनों) पर श्रद्धान न करके यदि अन्य बहुत से गुरुओं को दोष-प्रायश्चित्त के विषय में पूछा जाता है तो वहाँ 'बहुजन' नामक आठवाँ दोष होता है। अव्यक्त रूप से, अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से एवं चारित्र की दृष्टि से जो बालक (मुनि) हैं, उनके पास दोषों की

**अव्यक्तमिति नवमो दोषः। ये स्वदोषसमानदोषान् सेवन्ते, तेषां समक्षं क्रियमाणमालोचनं यत्तत्र 'तत्सेवी'- नामको दशमो दोषो विज्ञेयः।**

*(तहेव समाहिं)* **तथैव अनुप्रेक्षाः समाधिरूपा अपि सन्ति। बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणो योगः यद्वा स्वरूपे चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणो योगः समाधिपदेन अभिधीयते। उक्तं च नियमसारे** *(गाथा-122-123)*–

*वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।*
*जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।*

*संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।*
*जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।*

**समर्थितमेतत् परमात्मप्रकाशे** *(2/190)*–

---

आलोचना की जाये तो वहाँ 'अव्यक्त' –यह नौवाँ दोष होता है। जो निज दोषों के समान दोषों का सेवन करते हैं, उनके समक्ष दोषों की आलोचना की जाये तो वहाँ 'तत्सेवी' नाम का दसवाँ दोष होता है –यह जानें।

**( तथैव समाधिः )** इसी तरह अनुप्रेक्षा समाधि रूप भी होती है। बाह्य व आन्तरिक जल्प (वचनक्रिया) का त्याग रूप 'योग', या स्वरूप में चित्तवृत्ति-निरोध रूप 'योग' –यह अर्थ समाधि पद से (यहाँ) कहा गया है। नियमसार (गाथा-122-123) में कहा भी गया है–

"जो वचनोच्चारण की क्रिया को छोड़कर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसके परम समाधि होती है।"

"जो संयम, नियम व तप से तथा धर्मध्यान व शुक्लध्यान द्वारा आत्मा का ध्यान करता है, उसके परमसमाधि होती है।"

परमात्मप्रकाश (2/190) में भी इसी भाव का समर्थन करते हुए कहा गया है–

*सयलवियप्पहं जो विलउ परमसमाहि भणंति।*
*तेण सुहासुह-भावणा मुणि सयलवि मेल्लंति।।*

**अत्रेदं ज्ञेयम्–अन्तर्बहिर्जल्पसहितो जनो बहिरात्मैव, तद्रहित एवान्तरात्मा भवति। उक्तं च नियमसारे** *(गाथा-150)*–

*अन्तरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।*
*जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अन्तरंगप्पा।।*

*(तम्हा)* **तस्मात् कारणाद्** *(अणुवेक्खं भावेज्ज)* **अनुप्रेक्षां भावयेत्। अनुप्रेक्षाभावनया प्रत्याख्यान–प्रतिक्रमण-आलोचन-समाधिभावानां स्वतोऽनुष्ठितत्वमथवा तेषां तदन्तर्हितत्वं विज्ञेयमिति निष्कर्षः।**

**एवं प्रकारेण, द्वादशानुप्रेक्षाणां महिमानं विज्ञाय भो जीव! संसारशरीरभोगाद् विरम्य ता अनुप्रेक्षा निरन्तरं भावय, यतस्तत्पूर्वकमेव उत्कृष्टशुद्धचारित्रं सम्भवतीति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

''जो समस्त विकल्पों का नाश होना है– उसे ही परम समाधि कहते हैं। इसी से मुनिराज समस्त शुभ-अशुभ विकल्पों को छोड़ देते हैं।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है– जो अन्तर्जल्प व बहिर्जल्प में वर्तता है, वह तो बहिरात्मा ही होता है और उनसे रहित ही अन्तरात्मा होता है। नियमसार (गाथा-150) में कहा गया है–

''जो साधु अन्तर्जल्प व बाह्यजल्प (वचन-प्रयोग) में वर्तता है, वह बहिरात्मा होता है और जो जल्पों में नहीं वर्तता है, वह अन्तरात्मा कहा जाता है।''

**( तस्मात् )** उस कारण से। **( अनुप्रेक्षां भावयेत् )** अनुप्रेक्षा की भावना करनी चाहिए। अनुप्रेक्षाओं की भावना से प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचन, समाधि –इन भावों का स्वतः अनुष्ठान हो जाता है या (उस भावना में) इन अनुष्ठानों का अन्तर्भाव समझना चाहिए –यह निष्कर्ष है।

इस प्रकार, बारह अनुप्रेक्षाओं की महिमा को जानकर, हे जीव! संसार व शरीर के भोगों से विरत होकर, इन अनुप्रेक्षाओं का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए, क्योंकि इसके करने पर ही उत्कृष्ट व शुद्ध चारित्र सम्भव होता है –यह गाथा का तात्पर्य है।

**अथेदानीं शास्त्रकारा अहोरात्रं श्रमणैर्यथाशक्ति किमनुष्ठेयं भवतीति परामृशन्ति–**

**रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहि सामइयं।**
**आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती।।८८।।**

**छाया–** *रात्रिन्दिवं प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं समाधिं सामायिकम्।*
*आलोचनां प्रकरोति यदि विद्यते आत्मनः शक्तिः।।*

**(सर्वोदया टीका–)** *(जदि अप्पणो सत्ती विज्जदि)* **यदि आत्मनः शक्तिः सामर्थ्यं वा वर्तते, तर्हि श्रमणः** *(रत्तिदिवं)* **रात्रौ दिने च,** *(पडिकमणं)* **प्रतिक्रमणं,** *(पच्चक्खाणं)* **प्रत्याख्यानम्,** *(समाहिं)* **समाधिम्,** *(सामइयं)* **सामायिकम्,** *(आलोयणं)* **आलोचनाम्** *(पकुव्वदि)* **प्रकरोति, एषां प्रतिक्रमणादीनामनुष्ठानं करोति, प्रत्येकश्रमणेन एतानि अनुष्ठानानि करणीयानीत्यर्थः।**

**अत्रायं विस्तरः– प्रतिक्रमणादिषु मनोनिग्रह आवश्यकः, मनोनिग्रहं विना तदनुष्ठानान्यशक्यान्येव। स च मनोनिग्रहोऽनुप्रेक्षाचिन्तनेन सिद्ध्यत्येव।**

---

अब शास्त्रकार दिन-रात यथाशक्ति श्रमणों के लिए क्या करणीय है– इसका परामर्श दे रहे हैं–

(88)

**(गाथा-अर्थ–) (इस प्रकार) अगर अपनी शक्ति है तो (तदनुरूप,यथाशक्ति) दिन-रात प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना करनी चाहिए।**

**(सर्वोदया टीका–) (यदि आत्मनः शक्तिः विद्यते)** यदि स्वयं की शक्ति या सामर्थ्य विद्यमान हो, तो श्रमण (रात्रिन्दिवं) रात व दिन में **(प्रतिक्रमणं)** प्रतिक्रमण, **(प्रत्याख्यानं)** प्रत्याख्यान, **(समाधिं)** समाधि, **(सामायिकं)** सामायिक और **(आलोचनां)** आलोचना **(प्रकरोति)** करता है, इन प्रतिक्रमणादि का अनुष्ठान करता है, अर्थात् प्रत्येक श्रमण को इनका अनुष्ठान करते रहना चाहिए।

यहाँ विस्तार से कुछ कहना है– प्रतिक्रमण आदि (अनुष्ठानों) में मनोनिग्रह आवश्यक होता है, मनोनिग्रह के बिना उनका अनुष्ठान सम्भव नहीं हो सकता। वह मनोनिग्रह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से सिद्ध होता ही है।

**उक्तं च तत्त्वानुशासने** *(79 श्लोके)*–

*संचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।*
*जयत्येव मनः साधुः, इन्द्रियार्थपराङ्मुखः।।*

**'यदि विद्यते आत्मशक्तिः' इत्यनेन शास्त्रकाराः परामृशन्ति यत् प्रतिक्रमणादीनां श्रमणोचितानामनुष्ठाने स्वशक्तिमनतिक्रम्यैव वर्तितव्यम्, अथ च स्वशक्तिगूहनमपि नैव विधेयम्, अर्थात् पूर्णशक्त्या तदनुष्ठानं सततं विधेयम्। एतदुभयपरामर्शः श्रमणचर्यायै हितकरः।**

**यथा प्रवचनसारे** *(3/30-31)* **निर्दिष्टं वरीवर्ति–**

*बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।*
*चरियं चरिदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि।।*

---

तत्त्वानुशासन (श्लोक-79) में कहा गया है–

''जो साधक सदा अनुप्रेक्षाओं का सम्यक्तया चिन्तन करता रहता है, स्वाध्याय में उद्यत रहता है और इन्द्रिय-विषयों से प्रायः विमुख रहता है, वह अवश्य ही मन पर विजय प्राप्त करता है।''

(प्रस्तुत गाथा-88) में) 'यदि आत्म-शक्ति हो' –इस कथन से शास्त्रकार यह परामर्श दे रहे हैं कि श्रमणोचित प्रतिक्रमण आदि के अनुष्ठान में अपनी शक्ति का अतिक्रमण न करते हुए ही रहना चाहिए और यह भी परामर्श दे रहे हैं कि अपनी शक्ति को छिपाना भी नहीं चाहिए, अर्थात् पूर्ण शक्ति का प्रयोग करते हुए उनका अनुष्ठान करना चाहिए। उक्त दोनों ही परामर्श श्रमण-चर्या के लिए हितकर हैं।

उदाहरणार्थ, प्रवचनसार (3/30-31) में निम्नलिखित निर्देश उपलब्ध है–

''बालक हो या वृद्ध हो, अथवा तपस्या से खिन्न या रोगपीड़ित हो, वैसा मुनि अपनी शक्ति के अनुरूप और जिस तरह मूल संयम का घात न हो –इसका ध्यान रखते हुए आचरण करे।''

*आहारे य विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।*
*जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो।।*

**श्रमणानां शक्तितारतम्यमपेक्ष्यैव शास्त्रेषु उत्सर्ग-अपवादमार्गयोर्निर्देशः कृतोऽस्ति। प्रवचनसारस्य** *(3/30-31)* **तत्त्वप्रदीपिकायां प्रोक्तनिर्देशः शक्तिमनतिक्रम्य तपसोऽनुष्ठानं करणीयमिति समभिव्यक्ति।**

**नियमसारे** *(गाथा-154)* **च भगवता शास्त्रकारेण भणितमास्ते–**

*जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।*
*सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं।।*

**सर्वत्र तपसि 'अनिगूहितवीर्यता' समपेक्ष्यते, अत एव** *'अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकाय-क्लेशस्तपः'* **इति राजवार्तिके** *(6/24/7)* **लक्षणमुट्टङ्कितम्।**

---

"जो श्रमण आहार या विहार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, श्रम, शक्ति और शरीरादि परिग्रह –इन पाँचों को अच्छी तरह जानकर प्रवृत्त होता है, वह अल्प कर्म-बन्ध से लिप्त होता है।"

श्रमणों की सामर्थ्य-सम्बन्धी तरतम्यता की अपेक्षा से ही शास्त्रों में उत्सर्ग-अपवाद मार्गों का निर्देश किया गया है। प्रवचनसार (3/30-31) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्राप्त उक्त निर्देश इस तथ्य को अभिव्यक्त करता है कि अपनी शक्ति का अतिक्रम न करते हुए तप का अनुष्ठान करणीय है।

नियमसार (गाथा-154) में शास्त्रकार भगवान् (आ. कुन्दकुन्द स्वामी) ने कहा है–

"हे मुनि! यदि करने की सामर्थ्य है तो तुझे ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करना चाहिए और शक्ति से रहित है तो तुझे श्रद्धान ही करना चाहिए।"

सर्वत्र तप में 'अपनी शक्ति को नहीं छिपाना' – यह अपेक्षित माना गया है। इसीलिए राजवार्तिक (6/24/7) में 'अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हुए मार्ग-अविरुद्ध कायक्लेश करना तप है– ऐसा लक्षण लिखा है।

**प्रवचनसारेऽपि** *(3/28) 'समणो आउत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं'* **इति निर्देशः तदेव समर्थयति।**

**तत्रैव तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां विशदीकृतम्–** *"समस्तामपि आत्मशक्तिं प्रकटयन्...तपसा तं देहं सर्वारम्भेण अभियुक्तवान् स्यात्"* **इति।**

**गाथायामस्यां प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-समाधि-सामायिक-आलोचनादीनामात्मशक्त्या करणीयता प्रतिपादिता, तत्र प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-समाधि-आलोचनानां स्वरूपादिकं पूर्वगाथायां निरूपितम्, सामायिकस्य स्वरूपादिकमत्र वितन्यते–** *'सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं चित्तस्य एकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम्'* **इति राजवार्तिके** *(6/24/11)* **निर्दिष्टम्।**

**मूलाचारे** *(गाथा-519-526)* **च प्रोक्तम्–**

*सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।*
*समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण।।*

---

प्रवचनसार (3/28) में 'श्रमण अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हुए अपने शरीर को तप से संयोजित करे' ऐसा निर्देश कर उसी बात का समर्थन किया गया है।

वहीं तत्त्वप्रदीपिका (आ. अमृतचन्द्रकृत) टीका में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है– "समस्त आत्म-शक्ति को प्रकट करते हुए.. तप से उस शरीर को समस्त प्रयत्नों के साथ जोड़े।"

इस गाथा (सं. 88) में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक, आलोचना आदि को आत्मशक्ति से करना चाहिए –यह प्रतिपादित किया गया है। इनमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि और आलोचना के स्वरूप आदि का निरूपण पूर्व गाथा (सं. 87) में कर दिया गया है, (अब यहाँ) सामायिक के स्वरूप आदि का विवेचन कर रहे हैं– 'समस्त सावद्य (सदोष) योगों (प्रवृत्तियों) का त्याग करना और चित्त को एकाग्र रूप से ज्ञान में लगाना सामायिक है' ऐसा राजवार्तिक (6/24/11) में बताया गया है।

मूलाचार (गाथा-519 -526) में इस प्रकार कहा गया है–

"सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम व तप के साथ जो प्रशस्त समागम (एकता) है, वह 'समय' कहा गया है, उसे ही सामायिक जानो।"

*जिद उवसग्गपरीसह उवजुत्तो भावणासु समिदीसु।*
*जमणियमउज्जदमदी सामाइयपरिणदो जीवो।।*

*जं च समो अप्पाणं परे य मादू य सव्वमहिलासु।*
*अप्पियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइयं।।*

*जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।*
*सब्भावं तं सिद्धं सामाइयमुत्तमं जाणे।।*

*रागदोसे णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु।*
*सुत्तेसु य परिणामो सामाइयमुत्तमं ठाणं।।*

*विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।*
*जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं।।*

*जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।*
*तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।।*

"जिन्होंने उपसर्ग व परीषह को जीत लिया है, जो भावना व समितियों में उपयोग-युक्त हैं, यम व नियम में उद्यमशील हैं, वे जीव सामायिक से परिणत हैं।"

"जिस कारण से अपने व पर में, माता और समस्त महिलाओं में, अप्रिय व प्रिय में तथा मान व अपमान में समान-भाव होता है, इसी कारण से वे श्रमण हैं और इसी से वे सामायिक हैं।"

"जो द्रव्यों के गुणों और पर्यायों के समवाय को और सद्भाव को जानता है, उसके उत्तम 'सामायिक' सिद्ध होती है- ऐसा तुम जानो।"

"राग-द्वेष का निरोध करके सभी कार्यों में समता भाव होना और सूत्रों में परिणाम होना (श्रद्धान होना) -यही प्रकृष्ट सामायिक है -ऐसा जानो।"

"सर्व सावद्य (कर्मों) से विरत, तीन गुप्तियों से गुप्त, जितेन्द्रिय जीव संयमस्थान रूप उत्तम सामायिक नाम को प्राप्त होता है।"

"जिसकी आत्मा संयम, नियम व तप में स्थित है, उसके सामायिक रहती है -ऐसा केवली (सर्वज्ञ) के शासन में कहा गया है।"

*जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।*
*तस्स सामाइयं ठादि इदि केवलिसासणे।।*

**नियमसारे** *(गाथा-125-133)* **च तदेव समर्थितम्–**

*विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।*
*तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

*जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।*
*तस्स सामाइयं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

*जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।*
*तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

*जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु।*
*तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

---

"सभी प्राणियों में, त्रसों व स्थावरों में जो समभावी है, उसके सामायिक होती है –ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।"

नियमसार (गाथा-125-133) में भी इसी का समर्थन किया गया है–

"जो समस्त सावद्य कार्यों से विरत है, तीन गुप्तियों से गुप्त है और जिसने इन्द्रियों का निग्रह-निरोध कर रखा है, उसके स्थायी सामायिक होती है –ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।"

"जो स्थावर व त्रस जीवों में समभाव वाला है, उसके सामायिक स्थायी होती है –ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।"

"जिसकी आत्मा संयम, नियम व तप में स्थिर है, उसके सामायिक स्थायी होती है –ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।"

"राग व द्वेष जिसके (मन में) विकार उत्पन्न नहीं करते हैं, उसके सामायिक स्थायी होती है – ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।"

*जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा।*
*तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

*जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसा।*
*तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

*जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसा।*
*तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

*जो दुगुंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।*
*तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

*जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।*
*तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।।*

**सामायिकविधेः सप्ताधिकाराः कथ्यन्ते। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-352)*–

---

"जो निरन्तर आर्त व रौद्र ध्यान का त्याग करता है, उसके स्थायी सामायिक होती है –ऐसा केवली के शासन में कहा गया है।"

"जो निरन्तर पुण्य व पाप रूप भाव को छोड़ देता है, उसके स्थायी सामायिक होती है, ऐसा केवली के शासन में कहा गया है।"

"जो निरन्तर हास्य, रति, शोक और अरति का परित्याग करता है, उसके सामायिक स्थायी होती है –ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।"

"जो निरन्तर जुगुप्सा, भय और सब प्रकार के वेदों को छोड़ता है, उसके सामायिक स्थायी होती है –ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।"

"जो निरन्तर धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्याता है, उसके सामायिक स्थायी होती है –ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।"

सामायिक सम्बन्धी विधि-विधान के सात अधिकार कहे जाते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-352) में कहा गया है–

*सामाइयस्स करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ।*
*मणवयणकायसुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव।।*

**सामायिकव्रतं श्रमणस्य कृते यावज्जीवं चारित्ररूपं भवति, श्रावकाणां कृते तु व्रतरूपेण प्रतिदिनं नियतकाले ( त्रिवारं दिने ) क्रियमाणं स्वीक्रियते। उक्तं च तत्स्वरूपं पद्मनन्दिपञ्च-विंशतिकाग्रन्थे** *(6/8)*–

*समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।*
*आर्तरौद्रपरित्यागः, तद्धि सामायिकं व्रतम्।।*

**तथा च, कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-354)* **भणितम्–**

*पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि वि णालिया-छक्को।*
*सामाइयस्स कालो सविणय-णिस्सेस-णिद्दिट्ठो।।*

**किञ्च, सामायिकप्रतिमानुसारं सामायिकविधिरपि रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-139)* **प्रोक्तः–**

---

"सामायिक करने के लिए क्षेत्र, काल, आसन, विलय (ध्यान), मनःशुद्धि, वचन-शुद्धि और शरीर-शुद्धि –ये सात बातें जानने योग्य होती हैं।"

सामायिक व्रत श्रमण के लिए तो यावज्जीवन धारण करने योग्य चारित्र रूप होता है और श्रावकों के लिए वह व्रत रूप से प्रतिदिन नियतकाल (दिन में तीन बार) करणीय रूप में स्वीकृत होता है। पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रन्थ (6/8) में उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है––

"सभी प्राणियों के प्रति समता भाव रखना, संयम में शुभ भाव रखना तथा आर्त व रौद्र ध्यान का परित्याग –इसे सामायिक व्रत माना गया है।"

और, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-354) में कहा गया है–

"विनय-संयुक्त गणधर देव आदि ने पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न –इन तीन कालों में छः-छः घड़ी सामायिक का काल कहा है।"

और, सामायिक प्रतिमा के अनुसार सामायिक विधि का निरूपण भी रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-139) में किया गया है–

*चतुरावर्तत्रितयश्चतु:प्रणाम: स्थितो यथाजात:।*
*सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी।।*

**वसुनन्दिश्रावकाचारे** *(गाथा-274-275)* **च निरूपितम्-**

*होऊण सुई चेइयगिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो।*
*अण्णत्थ सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा।।*

*जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालयाण णिच्चंपि।*
*जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु।।*

**सामायिकं धीर-निश्चलतया करणीयं भवति- इति रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-103)* **निरूपितम्-**

*शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधरा:।*
*सामायिकं प्रतिपन्ना: अधिकुर्वीरन्नचलयोगा:।।*

---

"जो चार बार तीन-तीन आवर्त करता है, चार प्रणाम करता है, कायोत्सर्ग से स्थित 'यथाजात' अर्थात निर्विकार हो, दो बार बैठकर नमस्कार करता है, तीनों योगों से शुद्ध और तीनों संध्याओं में वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।"

वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-274-275) में भी (इस प्रतिमा का स्वरूप) बताया गया है-

"स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में प्रतिमा के समक्ष होकर अथवा अपने ही घर में या फिर अन्य पवित्र स्थान में पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंच परमेष्ठी और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल वन्दना की जाती है, वह सामायिक नाम का तीसरा प्रतिमा स्थान है।"

सामायिक को धीरता व निश्चलतापूर्वक करना चाहिए -ऐसा रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-103) में बताया गया है-

"सामायिक को धारण करने वाले गृहस्थ मन-वचन-काय को डाँवाडोल न करते हुए, मौन व्रत धारण कर, शीत, उष्ण, डाँस-मच्छर आदि के परीषहों को और उपसर्ग को सहन करें।"

**सामायिके किं चिन्तनीयं ध्यातव्यं वा भवतीति विषये कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** *(गाथा-372)* **कथितम्–**

*चिन्तन्तो ससरूवं जिणबिम्बं अहव अक्खरं परमं।*
*झायदि कम्म-विवायं तस्स वयं होदि सामइयं।।*

**तथा च, रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-104)* **भणितम्–**

*अशरणमशुभमनित्यं दु:खमनात्मानमावसामि भवम्।*
*मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामायिके।।*

**एवं निश्चयेन अनुप्रेक्षा एव सामायिकरूपा:, प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानादिरूपाश्च भवन्ति–इति सम्यक् विज्ञाय यथोक्त-अनुप्रेक्षा निरन्तरं भावनीया इति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**अथेदानीं शास्त्रकारा द्वादशानुप्रेक्षामाहात्म्यनिरूपण-प्रसङ्गेन तस्या: मोक्षसाधनत्वं निरूपयन्ति–**

---

सामायिक करते हुए चिन्तन व ध्यान का विषय क्या हो –इस विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा-372) में कहा गया है–

''जो अपने स्वरूप का अथवा जिनबिम्ब का, या परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का, या कर्मविपाक का चिन्तन करते हुए ध्यान करता है, उसके सामायिक प्रतिमा होती है।''

और, रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-104) में कहा गया है– ''सामायिक में स्थित श्रावक इस प्रकार ध्यान करे कि मैं शरणरहित, अशुभ, अनित्य, दु:खस्वरूप और आत्मस्वरूप से भिन्न संसार में रह रहा हूँ और मोक्ष उसके विपरीत स्वरूप वाला है।''

इस प्रकार, निश्चय से अनुप्रेक्षाएँ ही सामायिक रूप हैं, तथा प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि रूप भी हैं –यह अच्छी तरह जानकर, यथोक्त अनुप्रेक्षाओं का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, बारह अनुप्रेक्षाओं के माहात्म्य का निरूपण करते हुए प्रसङ्गवश शास्त्रकार अनुप्रेक्षा की मोक्ष-साधनता का निरूपण कर रहे हैं–

**मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारसणुपेक्खं।**
**परिभाविदूण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं।। ८९।।**

**छाया–** *मोक्षगताः ये पुरुषाः अनादिकालेन द्वादशानुप्रेक्षाः।*
*परिभाव्य सम्यक् प्रणमामि पुनः पुनः तेभ्यः।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(अणाइकालेण)* **अनादिकालतः अद्यपर्यन्तम्।** *(जे पुरिसा मोक्खगया)* **येऽपि पुरुषाः, जीवाः मनुष्यपर्यायं प्राप्ताः, तपसा घात्यघातिकर्माष्टकक्षयं कृत्वा मुक्तिं प्राप्नुवन्तः, तथा ये च भविष्यति काले मोक्षं प्राप्स्यन्ति, ते सर्वे एव** *(सम्मं बारसणुपेक्खं परिभाविदूण)* **सम्यक्तया द्वादश अनुप्रेक्षाः भावयित्वा, मुक्तिं गता इति शेषः।**

**अत्रायं विस्तरः– सामान्यतः चारित्रमोहनीयभेद-नोकषायात्मक-पुरुषवेद- प्रकृत्युदयेन भावपुरुषः, तथा पुंवेदोदयेन तथा निर्माणनामकर्मोदययुक्त-अङ्गोपाङ्गनामककर्मोदयवशेन पुरुषोचितशरीरावयवयुक्तो जीवो द्रव्यपुरुषो भवति। निर्युक्तिदृष्ट्याऽस्यैको विशिष्टोऽर्थः स्वीक्रियते।**

---

**( 89 )**

**( गाथा-अर्थ– ) अनादि काल से ( आज तक ) जो ( भी ) पुरुष मोक्ष गये हैं, वे बारह अनुप्रेक्षाओं की सम्यक् भावना करके ( ही ) गये हैं। मेरा उन ( सिद्धों ) को बारम्बार नमन है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( अनादिकालेन )** अनादि काल से आज तक, **( ये पुरुषाः मोक्षगताः )** जो भी पुरुष, (अर्थात्) मनुष्य पर्याय को प्राप्त जीव, तप से घाती-अघाती (समस्त) आठ कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, और जो भी आगामी काल में मोक्ष जाएंगे, वे सभी **( सम्यक् द्वादश अनुप्रेक्षाः परिभाव्य )** अच्छी तरह बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना (निरन्तर चिन्तन) करके (ही) 'मुक्ति को प्राप्त हुए' यह शेष वाक्य है।

(अब) विस्तार से कथन किया जा रहा है- सामान्यतः स्वामी रूप से चारित्रमोहनीय के भेद नोकषाय रूप पुरुषवेद नामक प्रकृति के उदय से भावपुरुष कहा जाता है तथा पुरुषवेद के उदय से तथा निर्माण नामकर्म के उदय से युक्त अंगोपाङ्ग नामकर्म के उदयवश पुरुषोचितशरीरावयव (चिह्नादि) से युक्त जीव द्रव्यपुरुष कहा जाता है। निर्युक्ति की दृष्टि से इसका एक विशिष्ट अर्थ माना गया है। 'पुरु' यह शब्द

**'पुरु'-शब्द उत्कृष्टार्थवाचकः। यः पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते ( स्वामिरूपेण प्रवर्तते )। यद्वा पुरुगुणं कर्म करोति इति पुरुषः। उक्तं च प्राकृतपञ्चसंग्रहे** *(1/106)* –

*पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं।*
*पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो।।*

**गोम्मटसारस्य** *(जीवकाण्ड, गाथा-273)* **जीवतत्त्वप्रदीपिकाटीकायां विशदीकृतमेतत्–** *''पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे, शेते स्वामित्वेन प्रवर्तते, पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्राद्यधिकभोगचये भोक्तृत्वेन प्रवर्तते, पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठानं शेते करोति च। पुरूत्तमे परमेष्ठिपदे शेते तिष्ठति पुरूत्तमः सन् तिष्ठति इत्यर्थः।''*

**एतस्य पुरुषस्य यज्जीवनं, पुरुषत्वं वा, तस्य विशिष्टप्रयोजनं भवति, तस्य पुरुषार्थ इति संज्ञा। ते च चत्वारः–धर्म, अर्थः, कामः, मोक्षश्चेति।**

---

उत्कृष्ट अर्थ का वाचक है, जो उत्कृष्ट गुणों में और उत्कृष्ट भोगों में (स्वामी रूप से) शयन करता है, (प्रवृत्त होता है) अथवा उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करता है, वह पुरुष है। प्राकृत पञ्चसंग्रह (1/106) में कहा भी गया है–

''जो उत्तम गुण और उत्कृष्ट भोगों में शयन करता है, लोक में उत्तम गुण और उत्तम कर्म को करता है, अथवा जो स्वयं उत्तम है–इसलिए वह 'पुरुष' इस नाम से निरूपित किया जाता है।''

गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-273) की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका में इसी को विस्तार से स्पष्ट किया गया है– ''पुरु (उत्कृष्ट) गुण यानी सम्यग्ज्ञान आदि गुणसमूह में जो सोता है अर्थात् स्वामी रूप से प्रवृत्त होता है, पुरुभोग यानी नरेन्द्र, नागेन्द्र, देवेन्द्र आदि से भी अधिक विविध भोगों को भोगता है, पुरु गुण यानी धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूप (चार) पुरुषार्थों की सिद्धि में साधनभूत अनुष्ठानों को करता है, पुरु= उत्तम (सर्वश्रेष्ठ) में, यानी परमेष्ठी पद में सोता है यानी विराजित होता है– वह (पुरुष पद का) अर्थ है।''

इस पुरुष का जो जीवन होता है या जो पुरुषत्व है, उसका एक विशिष्ट प्रयोजन होता है, उसकी 'पुरुषार्थ' यह संज्ञा है। उन पुरुषार्थों की संख्या चार है। वे हैं– धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष।

**उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(3/4)*–

*धर्मश्चार्थश्च कामश्च, मोक्षश्चेति महर्षिभिः।*
*पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टः, चतुर्भेदः पुरातनैः।।*

**एतेषु पुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थः, अतएव पंचास्तिकायस्य** *(गाथा-172)* **तत्त्व-प्रदीपिकायां मोक्षतत्त्वं सकलपुरुषार्थसारभूतं निर्दिष्टम्। धर्मपुरुषार्थो मोक्षसाधनभूतः इति तस्यापि उपादेयता सिद्ध्यत्येव। अर्थकामावपि धर्म-अविरुद्धौ सेवनीयौ भवतः। धर्मविरुद्धार्थकामभोगयोस्तु सर्वथा हेयत्वं वर्णितम्। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-1807-1809)*–

*असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं।*
*एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो॥*

*इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं।*
*अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो।।*

---

ज्ञानार्णव (3/4) में कहा भी गया है– "पुरातन महर्षियों ने ये चार पुरुषार्थ बताए हैं–धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष।"

इन पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। इसीलिए पंचास्तिकाय (गाथा-172) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में मोक्ष तत्त्व को 'सभी पुरुषार्थों में सारभूत' बताया है। धर्म पुरुषार्थ मोक्ष में साधन है, अतः उस पुरुषार्थ की भी उपादेयता सिद्ध होती ही है। अर्थ व काम –ये दो पुरुषार्थ यदि धर्म से अविरोधी हों तो सेवनीय होते हैं। किन्तु धर्मविरुद्ध अर्थ व काम (भोग) पुरुषार्थ तो सर्वथा हेय ही है –ऐसा वर्णित है। भगवती-आराधना (गाथा-1807-1809) में कहा भी है–

"अर्थ, काम और सभी मनुष्यों का शरीर अशुभ है। केवल धर्म ही शुभ है और समस्त सुखों की खान है, शेष सब अशुभ है।"

"धन समस्त अनर्थों की जड़ है। यह पुरुष में नित्य इस लोक और परलोक सम्बंधी दोष लाता है। वह महाभय (का मूल) है और मोक्षमार्ग के लिए तो अर्गला (प्रतिपंथ) है।"

*कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा।*
*उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा।।*

**अत एव ज्ञानार्णवे** *(3/5)* **परामृष्टम्–**

*त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातङ्कदूषितम्।*
*ज्ञात्वा तत्त्वविद: साक्षाद् यतन्ते मोक्षसाधने।।*

**परमात्मप्रकाशे** *(2/3)* **च समर्थितमेतत्–**

*धम्महँ अत्थहँ कम्महँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु।*
*उत्तम पभणहिँ णाणि जिय अण्णेँ जेण ण सोक्खु॥*

**वस्तुतः मोक्षः स्वशुद्धात्मप्राप्तिरेव, नान्यत्। उक्तं च पूज्यपादाचार्येण सिद्धभक्तौ** *(पद्य-2) 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः'*।

---

"यह कामभोग अपवित्र शरीर पर आश्रित होता है। वह अल्पकालिक भी होता है। वह सुलभ भी नहीं होता। वह व्यक्ति को हल्का (तुच्छ) बनाता है और दु:खदायी भी होता है।"

इसीलिए ज्ञानार्णव (3/5) में यह परामर्श दिया गया है–

"चारों पुरुषार्थों में पहले के तीन पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ व काम) नश्वर हैं और सांसारिक जन्म-मरणादि रोग से दूषित हैं। ऐसा जानकर तत्त्वज्ञानी पुरुष (अन्तिम) मोक्ष पुरुषार्थ की साधना में ही संलग्न रहते हैं।"

परमात्मप्रकाश (2/3) में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है–

"हे जीव! धर्म, अर्थ व काम –इन सब पुरुषार्थों में मोक्ष को ही ज्ञानी पुरुष उत्तम कहते हैं, क्योंकि अन्य पुरुषार्थों में परमसुख नहीं है।"

वस्तुत: मोक्ष और कुछ नहीं, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही है। आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित सिद्धभक्ति (पद्य-2) में कहा गया है– "निज आत्मा की उपलब्धि ही सिद्धि है।"

**उक्तं च पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-11)*–

*सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।*
*भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः।।*

**अतएव समयसारकलशे** *(185)* **परामृष्टम्–**

*सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यताम्,*
*शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।*

*एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथक्लक्षणाः,*
*तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि।।*

**तथा च तत्रैव** *(239 कलश)* **भणितम्–**

*दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।*
*एक एव सदा सेव्यः, मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।।*

---

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-11) में भी कहा गया है–

"जिस समय (अशुद्ध) आत्मा सम्पूर्ण विभावों से परे हो जाता है और अपने निष्कम्प चैतन्य स्वरूप को पा लेता है, तब वह पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त करते हुए सम्यक् रूप से कृतकृत्य हो जाता है, उससे मुक्त हो जाता है (अर्थात् अब उसे कुछ करना शेष नहीं रह जाता)।"

इसीलिए समयसारकलश (सं. 185) में यह परामर्श दिया गया है–

"उदात्त मनोव्यापार वाले मोक्षार्थियों को चाहिए कि वे इस सिद्धान्त का सेवन करें (मन में उतारें) कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमय परम ज्योति ही सदा हूँ और ये जो अनेक प्रकार के भिन्न लक्षणरूप भाव हैं, वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सभी परद्रव्य हैं।"

और वहीं (समयसार कलश-239) में कहा गया है–

"चूँकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र –इन तीनों का समुदित रूप ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है, इसलिए मोक्षार्थी व्यक्तियों के लिए एक यही सदा सेवनीय (उपासनीय) है।"

**एवं सिद्ध्यति यन्मोक्षपुरुषार्थसिद्धौ निज आत्मैव परमोपादेयपदार्थः, अतः स एव परमार्थः। उक्तं चात्मख्यातौ** *(समयसार, गाथा-17-18)– 'मोक्षार्थिना प्रथममेव आत्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स एवानुचरितव्यश्च'* **इति।**

**तथा च तत्रैव** *(समयसार, गाथा-204)* **आत्मख्यातिटीकायां प्रतिपादितम्**–*'आत्मा किल परमार्थः.... आत्मा च एक एव पदार्थः'* **इति।**

**कश्च मोक्षपदार्थः? 'मोक्ष असने' इति धातोः भावे घञि प्रत्यये मोक्षणं मोक्षः, अर्थात् कर्मणामात्यन्तिकः उच्छेद एव मोक्षः। स च द्विविधः– भावमोक्षः, द्रव्यमोक्षश्च। कर्मनिर्मूलनसमर्थः शुद्धात्मोपलब्धिरूपो जीवपरिणामो भावमोक्षः, भावमोक्षनिमित्तेन जीवकर्मप्रदेशानां निरवशेषः पृथग्भावो द्रव्यमोक्षः। अतएव आत्म-बन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः इत्यपि भण्यते।**

---

इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि में निज आत्मा ही परम उपादेय पदार्थ है, इसलिए वही परमार्थ (भी) है। आत्मख्याति (समयसार, गाथा-17-18) में कहा भी गया है–"मोक्षार्थी के लिए प्रथम ही आत्मा जानने योग्य है, इसलिए वही श्रद्धानयोग्य है, इसलिए वही अनुशरणीय है।"

और वहीं (समयसार, गाथा-204 की आत्मख्याति) यह भी प्रतिपादित किया गया है, –"निश्चय ही आत्मा परम पदार्थ है... वह आत्मा एक ही पदार्थ है।"

और, मोक्ष पदार्थ क्या है? 'मोक्ष असने' (क्षय करने अर्थ में मोक्ष धातु है) –इस धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होकर, मुक्त होना (क्षय होना) इस अर्थ में 'मोक्ष' शब्द निष्पन्न होता है, अर्थात् कर्मों का अत्यन्त रूप से उच्छेद होना ही मोक्ष है। वह (मोक्ष) दो प्रकार का है– भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। कर्मों के निर्मूलन में समर्थ शुद्धात्म-उपलब्धि रूप जो जीव-परिणाम है, वह भावमोक्ष है और भावमोक्ष का निमित्त प्राप्त कर जीव व कर्म-प्रदेशों का पूर्णतया पृथक् हो जाना –यह द्रव्यमोक्ष है। इसी दृष्टि से आत्मा और बन्ध का दो भागों में विभक्त हो जाना मोक्ष है –यह भी कहा गया है।

**मोक्षे आत्मनोऽनन्तचतुष्टयगुणं निरावृतं भवति। तामवस्थां मनसिकृत्य सर्वार्थसिद्धौ** *(1/1 उत्थानिका)– 'निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्य अशरीरस्य आत्मनः अचिन्त्यस्वाभाविक-ज्ञानादिगुणम् अव्याबाध सुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्षः '* **इति प्रत्यपादि। केवलिनोऽपि घातिकर्मक्षये भावमोक्षस्थितिः स्वीक्रियते, इति दृष्ट्या तेऽपि जीवन्मुक्ताः अर्हत्पदाभिधेयाः भवन्ति।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1)– रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता। 'रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवत्, निःशक्तीकृत-अघातिकर्मणो हननात् अरिहन्ता' इति।*

**किञ्च, तत्रैव** *(पु. 8, खण्ड-3, सू. 41, पृ. 89)* **विशदीकृतम्–** *"खविदघातिकम्मा केवलणाणे द्विदसव्वट्ठा अरहंता णाम। अधवा, णिट्ठविदट्ठकम्माणं घाइदघादिकम्माणं च अरहंतेति सण्णा, अरिहणं पडि दोण्हं भेदाभावादो।"*

---

मोक्ष में आत्मा के अनन्त गुण-चतुष्टय (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य) अनावृत (निरावरण) हो जाता है। उस अवस्था को ध्यान में रखकर सर्वार्थसिद्धि (1/1 उत्थानिका) में यह प्रतिपादित किया गया है कि समस्त कर्म-फल रूपी कलङ्क से रहित हो चुके अशरीरी आत्मा की ऐसी नई अवस्था का होना –जिसमें अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञान आदि गुण प्रकट हो जाते हैं तथा निर्बाध सुख प्रकट होता है– 'मोक्ष' (कहा जाता) है। केवली (सर्वज्ञ) के भी घाति कर्मों के क्षय से भावमोक्ष की स्थिति मानी जाती है –इस दृष्टि से वे (केवली) भी जीवन्मुक्त और 'अर्हत्' पद से कहे जाते हैं।

धवला (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1) में कहा गया है– "रहस्य के अभाव से भी 'अरहन्त' कहे जाते हैं। रहस्य का अर्थ है– अन्तराय (कर्म)। अन्तराय कर्म का नाश शेष तीन घाति कर्मों के नाश का अविनाभावी है, और अन्तराय कर्म के नाश होने पर अघाति कर्म भ्रष्ट (अग्नि में जले) बीज की तरह शक्तिहीन हो जाते हैं। ऐसे अन्तराय कर्म के नाश होने से 'अरहन्त' होते हैं।

इसी तथ्य को वहीं (धवला-पु. 8, खण्ड-3, सू. 41, पृ. 89) स्पष्ट करते हुए कहा गया है– "जिन्होंने घाति कर्मों का क्षय कर दिया है और 'केवल ज्ञान' से समस्त पदार्थों के द्रष्टा हैं, वे 'अरहन्त' हैं, अथवा आठों कर्मों को दूर करने वाले और घाति कर्मों को नष्ट कर देने वालों की अरहन्त संज्ञा है। कर्म-शत्रुओं के नाश (की दृष्टि) से दोनों (अर्हन्त व सिद्ध) में कोई भेद नहीं है।"

**बोधप्राभृते** *(गाथा-30)* **च भणितम्–**

*जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च।*
*हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो।।*

**नियमसारे** *(गाथा-71)* **च भणितम्–**

*घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।*
*चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति।।*

**मूलाचारे** *(गाथा-505, 563)* **च प्रोक्तम्–**

*रजहंता अरिहंति य अरहंता तेन उच्चंदे।*

*जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।*
*हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण वुच्चंति।।*

---

बोधप्राभृत (गाथा-30) में कहा गया है–

"जिनके बुढ़ापा, रोग, जन्म व मृत्यु, चतुर्गतियों में गमन, पुण्य व पाप तथा रागादि दोषों का नाश होकर (केवल) ज्ञान होता है, वे अरहंत होते हैं।"

नियमसार (गाथा-71) में कहा गया है–

"अत्यन्त अहितकारी घाति कर्मों से रहित, केवलज्ञान आदि परम गुणों से सहित और चौंतीस अतिशयों से युक्त –ऐसे अरहन्त होते हैं"

मूलाचार (गाथा-505 व 563) में भी कहा गया है–

"रज (आवरण) का तथा (मोह रूप) शत्रु का हनन करने वाले हैं, इसलिए अर्हन्त कहे जाते हैं।"

"क्रोध, मान, माया व लोभ को जो जीत चुके हैं, इसलिए वे 'जिन' कहलाते हैं। शत्रुओं का और जन्म का हनन करने वाले हैं। इसलिए वे अरहन्त कहे जाते हैं।"

**एवं सिद्धाः ( मुक्ताः ) तथा केवलिनस्तीर्थंकरादयश्च अर्हत्पदवाच्यतया सर्वेषां कृते वन्दन-नमस्करणपूजनादियोग्या भवन्ति।**

**उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1)- 'अतिशयपूजार्हत्वाद् वाऽर्हन्तः'* **इति।**

**मूलाचारे** *(गाथा-505, 564)* **च समर्थितम्–** *'अरिहंत णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।' (505)*

*अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।*
*अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति।।*

**एवं मोक्षगतानां सर्वेषां पूज्यत्वात् शास्त्रकारोऽपि तेभ्यः स्वप्रणतिं न्यवेदयत्–** *'पणमामि पुणो पुणो तेसिं'* **इति। अर्हदादिनमस्कारेण सर्वदुःखक्षयो भवतीति मूलाचारे** *(गाथा-506)* **प्रतिपादितम्–**

---

इस प्रकार, सिद्ध (मुक्त) तथा केवली व तीर्थंकर (जीवन्मुक्त) आदि अर्हत् (अरहंत) पद से कहे (पुकारे, बताये) जाते हैं, इसलिए वे सभी के लिए वन्दन, नमस्कार व पूजा आदि के योग्य होते हैं।

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू.1) में भी कहा गया है- "जो अतिशय पूजा के योग्य हैं, इस कारण से वे अर्हन्त होते हैं।"

मूलाचार (505, 564) में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है- "वे नमस्कार के योग्य हैं तथा लोक में उत्तम देवों द्वारा पूजा के योग्य हैं।"

"जो वन्दना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा व सत्कार के योग्य हैं और सिद्धि-गमन के योग्य हैं, इसलिए वे अरहंत कहलाते हैं।"

इस प्रकार, मोक्ष को प्राप्त सभी आत्माओं की पूज्यता है, इस दृष्टि से शास्त्रकार भी उनके प्रति यहाँ (प्रस्तुत गाथा-89 में) प्रणति निवेदन करते हुए कह रहे हैं- 'प्रणमामि पुनः पुनः तेभ्यः', अर्थात् "उनके प्रति बार-बार मेरा नमन है।" अर्हन्त आदि को नमस्कार करने से समस्त दुःखों का क्षय हो जाता है- ऐसा मूलाचार (गाथा-506) में कहा गया है-

*अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।*
*सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।।*

**मोक्षरूपपरमपुरुषार्थसिद्धौ द्वादशानुप्रेक्षाणां सर्वासां कतिपयानां वा चिन्तनं मननं परमोपयोगि –इति मत्त्वा हे भव्य मनीषिन्! ताः अनुप्रेक्षाः निरन्तरं भावनीया इति गाथायास्तात्पर्यम्।**

**सम्प्रति द्वादशानुप्रेक्षाणां माहात्म्यमेव शास्त्रकारा उपसंहरन्ति–**

**किं पलविदेण बहुणा, जे सिद्धा णरवरा गए काले।**
**सिज्झिहदि जेवि भविया, तज्जाणह तस्स माहप्पं।।९०।।**

***छाया–*** *किं प्रलपितेन बहुना, ये सिद्धाः नरवरा गते काले।*
*सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः, तद् जानीहि तस्य माहात्म्यम्।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(बहुणा पलविदेण किं)* **अत्यधिकेन कथनेन को लाभः? संक्षेपेण सारभूतकथनमेव युक्तमिति सङ्केतः। सारकथनमेव शास्त्रकृता प्रस्तूयते–** *(गए काले)* **अतीते समये, अद्य यावदित्यर्थः।**

---

''जो प्रयत्न (सावधानी) पूर्वक भाव से अर्हन्त को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र ही समस्त दुःखों से मुक्ति (छुटकारा) प्राप्त कर लेता है।''

मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि में बारह अनुप्रेक्षाओं में से सभी का या कुछ का भी चिन्तन-मनन परम उपयोगी है –ऐसा जानकर हे भव्य मनीषी! उन अनुप्रेक्षाओं की बारम्बार भावना (निरन्तर चिन्तन) करते रहो –यह गाथा का तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं के माहात्म्य (सम्बन्धी निरूपण) का उपसंहार कर रहे हैं–

( 90 )

**( गाथा-अर्थ– ) अधिक प्रलाप से क्या लाभ? भूत काल में जो भी महापुरुष सिद्ध हुए हैं और जो भी भव्य ( भविष्य में ) सिद्ध होंगे, उसे उस ( अनुप्रेक्षा-चिन्तन ) का ही माहात्म्य समझो।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( बहुना प्रलपितेन किम् )** अधिक प्रलाप से क्या लाभ है? संक्षेप में सारभूत कुछ कहना ही उपयुक्त होता है– यह संकेत किया गया है। उस सारभूत कथन को ही शास्त्रकार यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं– **( गते काले )** अतीत समय में, अर्थात् आज तक।

*(जे णरवरा सिद्धा)* **येऽपि महापुरुषाः सिद्धिं मोक्षं प्राप्ताः**, *(जे वि भविया सिज्झिहदि)* **येऽपि भव्यपुरुषाः सेत्स्यन्ति, सिद्धिं प्राप्स्यन्ति,** *(तज्जाणह तस्स माहप्पं)* **तत्सिद्धिगमने तस्य अनुप्रेक्षा-प्रेक्षणस्य माहात्म्यं जानीहि। अद्य यावदनन्तकालो व्यतीतः, अनन्तश्च भाविकालः, अतीते काले अनन्तानन्तसिद्धाः जाताः, भविष्यति चानन्ताः सिद्धिं प्राप्स्यन्त्यपि, तेषां सिद्धिगमने हेतुभूतं द्वादशानुप्रेक्षाचिन्तनमिति तात्पर्यम्।**

**अत्रायं विस्तरः। अस्यां गाथायां एतद्ग्रन्थ-निष्कर्षभूततथ्यस्य शास्त्रकारेण निरूपणं कृतमस्ति। 'बहुना प्रलपितेन किम्' इति कथनमेव गाथोक्तस्य महत्त्वं प्रख्यापयति। शास्त्रकारस्येमां कथनशैलीमनुकुर्वन्त आचार्यामृतचन्द्राः समयसारकलशे पद्यद्वयं रचितवन्तः, यथा–** *'विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन' (कलश-34)* **तथा** *'अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैः' (कलश-244)* **इति।**

**पूर्वगाथायां मोक्षगतानां निर्देशः, अत्र तु सिद्धानां सिद्धिं प्राप्तानां वा निर्देशः। कर्मबद्धता संसारावस्था, कर्मराहित्ये च मोक्षः।**

---

**( ये नरवराः सिद्धाः )** जो भी महापुरुष सिद्धि यानी मोक्ष गए हैं, **( येऽपि भव्याः सेत्स्यन्ति )** जो भी भव्य पुरुष सिद्ध होंगे, सिद्धि प्राप्त करेंगे **( तत् जानीहि तस्य माहात्म्यम् )** वह (अर्थात् सिद्धि प्राप्त करना) उस अनुप्रेक्षा के प्रेक्षण (चिन्तन) का माहात्म्य है –यह जानो। आज तक अनन्त काल व्यतीत हो चुका है, आगामी काल भी अनन्त है, अतीत समय में अनन्त-अनन्त सिद्ध हो चुके हैं, आगामी काल में भी अनन्त (जीव) सिद्धि प्राप्त करेंगे ही, उनके भी सिद्धि प्राप्त करने में हेतु है –बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, यह तात्पर्य है।

यहाँ कुछ विस्तार से कहना है। इस गाथा में शास्त्रकार ने इस ग्रन्थ के निष्कर्ष रूप तथ्य का निरूपण किया है। 'बहुत प्रलाप से क्या?' यह कथन ही गाथा में किये गये कथन के महत्त्व को विज्ञापित कर रहा है। शास्त्रकार की इस कथन-शैली का अनुकरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसारकलश ग्रन्थ में दो पद्यों की रचना की है। उदाहरणार्थ– 'विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन' (कलश सं. 34) (अर्थात् आखिर निष्प्रयोजन कोलाहल करना छोड़ो, इससे कोई लाभ नहीं) तथा 'अलमलमतिजल्पैः दुर्विकल्पैरनल्पैः' (कलश सं. 244) (अर्थात् अत्यधिक प्रलाप तथा दुर्विकल्पों से क्या लाभ है?)

पूर्व (89) गाथा में मोक्ष-प्राप्त (मुक्त) आत्माओं का निर्देश है, किन्तु इस (प्रस्तुत) गाथा में सिद्धों का निर्देश है। कर्मों से बँधना संसार है और कर्म-रहित होने पर मोक्ष होता है।

**अष्टसु कर्मसु आत्मगुणघातिकर्मचतुष्टयनाशे सर्वज्ञत्वं प्राप्ताः केवलिनः। निरवशेषाष्ट-कर्मनाशे सिद्धा भवन्ति। केवलिनोऽपि शुद्धात्म-प्राप्तिरूपसिद्धिमधिगताः, प्रकटितानन्त-चतुष्टयात्मक-स्वात्मगुणवैभवाः जातिजरामरणात्मकसंसाररहिता एव भवन्ति। शेषाणां चतुर्णां वेदनीयादि-अघातिकर्मणां तेषां सद्भावेऽपि शुक्लध्यानाग्निना अर्द्धदग्धबीजवत् तानि निःशक्तिकानि भवन्ति। किंच सिद्धत्व प्राप्तिस्तेषामवश्यम्भाविनी, तथा भावमोक्षस्तेषां जात एवेति दृष्ट्या मुक्तपदेन तेषामपि ग्रहणं सम्भवति। धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1 पृ. 46)* **च केवलिनोऽपि 'इहैव आत्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः' प्रोक्ताः। वस्तुत आर्हन्त्यपदं प्राप्ताः केवलिनः सिद्धाश्च समानतया वन्दननमस्कारपूजादियोग्याः, तथापि सलेपत्वनिर्लेपत्वदृष्ट्या तयोर्भेदः स्वीक्रियते। केवलिनोऽर्हन्तः सलेपाः, सिद्धास्तु सर्वतोभावेन निर्लेपाः भवन्ति।**

**सर्वमेतत्प्रतिपादितं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1)– "सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न। नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्तः इति तयोर्भेदः।*

---

आठों कर्मों में आत्मीय गुणों के घातक चार (घाति) कर्मों के नाश होने पर सर्वज्ञता को प्राप्त होने वाले 'केवली' होते हैं। समस्त आठों कर्मों के नाश होने पर 'सिद्ध' होते हैं। केवली भी शुद्धात्म-प्राप्ति रूप सिद्धि को प्राप्त करने वाले होते हैं, उनका अनन्तचतुष्टय रूप आत्मीय गुणों का वैभव प्रकट हो जाता है और वे जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु रूप संसार से रहित ही होते हैं। उनके अवशिष्ट वेदनीय आदि चार अघाति कर्मों का सद्भाव रहता है, फिर भी शुक्लध्यान की अग्नि से वे (अघाति कर्म) अधजले हुए बीज की तरह शक्तिहीन हो जाते हैं। और, सिद्धत्व की प्राप्ति भी उनके अवश्यम्भावी होती है, और भावमोक्ष उनको प्राप्त हो चुका होता है, इस दृष्टि से 'मुक्त' पद से उन (केवलियों) का भी ग्रहण हो जाता है। धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 46) में उन्हें 'यहीं' (अर्थात् इसी लोक में) 'सिद्धत्व को आत्मसात् कर चुके ऐसा कहा है। वस्तुतः अर्हद् अवस्था को प्राप्त केवली व सिद्ध (वे दोनों ही) समान रूप से वन्दना, नमस्कार व पूजा आदि के योग्य होते हैं, फिर भी सलेप व निर्लेप की दृष्टि से उन दोनों में भेद माना जाता है। केवली व अर्हन्त सलेप हैं किन्तु सिद्ध सर्वथा निर्लेप होते हैं।

यह सब धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है– "सिद्ध व अर्हन्तों में क्या अन्तर है? (उत्तर–) आठ कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध होते हैं और चार घाति कर्मों को नष्ट करने वाले अर्हन्त होते हैं– यही दोनों में भेद है।

*नष्टेषु घातिकर्मसु आविर्भूताशेषात्मगुणत्वात् न गुणकृत एतयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदय-सत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निना अर्धदग्धत्वात् सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तॄणि इति चेन्न। पिण्डनिपाताभावान्यथानुपत्तित: आयुष्यादिशेषकर्मोदय-अस्तित्वसिद्धे:। तत्कार्यस्य चतुरशीति-लक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसारस्य असत्त्वात् तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावात् च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्यवेदनीयोदययो: जीवोर्द्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयो: सत्त्वात्। नोर्ध्वगमनमात्मगुण:, तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात्। सुखमपि न गुणस्तत एव। न वेदनीयोदयो दु:खजनक:, केवलिनि केवलित्व-अन्यथानुपपत्ते:, इति चेद्, अस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात्। किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्।''*

(प्रश्न-) चार घाति कर्मों के नष्ट हो जाने पर अर्हन्तों की आत्मा के समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं, इसलिए सिद्ध और अरिहन्त परमेष्ठी में गुणकृत भेद नहीं हो सकता है? (उत्तर-) ऐसा नहीं है। क्योंकि अर्हन्तों के अघाति कर्मों का उदय और सत्त्व दोनों पाये जाते हैं, इसीलिए इन दोनों परमेष्ठियों में गुणकृत भेद भी है। (प्रश्न-) ये अघाति कर्म शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि द्वारा अधजले-से हो जाने के कारण उदय व सत्त्व रूप से विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हैं। (उत्तर-) ऐसा नहीं है, क्योंकि शरीर के पतन का अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता, इसलिए अरिहन्तों के आयु आदि शेष कर्मों के उदय व सत्त्व की (अर्थात् उनके कार्य की) सिद्धि हो जाती है। (प्रश्न-) कर्मों का कार्य तो चौरासी लाख योनि-रूप जन्म, जरा व मरण से युक्त संसार है। वह, अघाति कर्मों के रहने पर अर्हन्त परमेष्ठी के नहीं पाया जाता है। तथा अघाति कर्म आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात करने में समर्थ भी नहीं हैं। इसलिए अर्हन्त व सिद्ध परमेष्ठी में गुणकृत भेद मानना ठीक नहीं है। (उत्तर-) ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयु कर्म का उदय और सुख गुण का प्रतिबन्धक वेदनीय कर्म का उदय अर्हन्तों के पाया जाता है, इसलिए अर्हन्त और सिद्धों में गुणकृत भेद मानना ही चाहिए। (प्रश्न-) ऊर्ध्वगमन आत्मा का गुण नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसके अभाव में आत्मा का ही अभाव मानना पड़ेगा। (इसी कारण से) सुख भी आत्मा का गुण नहीं है। दूसरे, वेदनीय कर्म का उदय दु:ख का उत्पादक नहीं होता, अन्यथा केवली भगवान् के केवलीपना नहीं बन सकता। (उत्तर-) यदि ऐसा है तो हो, अर्थात् यदि उन दोनों में गुणकृत भेद (सिद्ध नहीं होता है तो मत होओ), क्योंकि वह (अभेद) न्यायसंगत है। फिर भी, सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा और देश-भेद की अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियों में भेद सिद्ध है।''

**सिद्धानां स्वरूपादिकं नियमसारे** *(गाथा-72)* **भणितम्–**

*णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।*
*लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।।*

**पंचास्तिकाये** *(गाथा-28)* **च संकेतितम्–**

*कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।*
*सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।।*

**बृहन्नयचक्रे** *(गाथा-106)* **च निरूपितम्–**

*णट्ठट्ठकम्मसुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणड्ढा।*
*परमपहुत्तं पत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का।।*

**नियमसारे** *(गाथा-176-184)* **सिद्धत्वप्राप्तिक्रमः, निर्वाणस्वरूपम्, सिद्धपुरुषस्थितिः इत्यादिविषये विशदीकृतम्–**

---

सिद्ध आत्माओं के स्वरूप आदि का निरूपण नियमसार (गाथा-72) में इस प्रकार कहा गया है–

"आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट किया है, ऐसे आठ महागुणों से युक्त, परम (उत्कृष्ट) लोकाग्र में स्थित और नित्य– ऐसे सिद्ध होते हैं।"

पञ्चास्तिकाय (गाथा-28) में संकेत किया गया है–

"कर्म-मल से मुक्त एवं ऊर्ध्व लोक के अन्त को प्राप्त कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी आत्मा अनन्त अनिन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।"

बृ. नयचक्र (गाथा-106) में भी कहा गया है–

"जिनके आठों कर्म नष्ट हो गये हैं, शरीर-रहित हैं, अनन्त सुख व अनन्त ज्ञान में आसीन हैं, और परम प्रभुत्व को प्राप्त हैं, ऐसे सिद्ध भगवान् मुक्त हैं।"

नियमसार (गाथा 176-184) में सिद्धत्व प्राप्ति की प्रक्रिया, निर्वाण-स्वरूप और सिद्ध पुरुष की स्थिति –इनके विषय में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

*आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।*
*पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण।।*

*जाइजरामरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं।*
*णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं।।*

*अव्वावाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।*
*पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं।।*

*णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।*
*णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।*

*णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्दा य।*
*ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।*

*णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।*
*णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।*

---

"आयु (कर्म) के क्षय से केवली के समस्त (कर्म) प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। इसके बाद वे एक समय मात्र में शीघ्र ही लोकाग्र को प्राप्त कर लेते हैं।"

"वह परम (आत्मा) जन्म, जरा व मृत्यु से रहित है, उत्कृष्ट है, आठ कर्मों से रहित है, शुद्ध है, ज्ञानादिक चार गुण रूप स्वभाव से सहित है, अक्षय, अविनश्वर एवं अछेद्य है।"

"वह अव्याबाध, अनिन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप से निर्मुक्त, पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और अनालम्ब -पर के आलम्बन से रहित है।"

"जहाँ न दु:ख है, न सांसारिक (अपूर्ण) सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है, वहीं निर्वाण होता है।"

"जहाँ न इन्द्रियाँ हैं, न (कोई) उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न तृषा है और न क्षुधा है -वहीं निर्वाण होता है।"

"जहाँ न कर्म है, न नोकर्म है, न चिन्ता है, न आर्त-रौद्र ध्यान है और न धर्म व शुक्ल ध्यान है - वहीं निर्वाण होता है।"

*विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।*
*केवल दिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं।।*

*णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।*
*कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जत्तं।।*

*जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।*
*धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति।।*

**सिद्धजीवानां न पुनः संसारे कर्मबन्धः सम्भवति, कर्मास्त्रवाभावात्। कर्मबीजे दग्धे न भवाङ्कुरः प्रभवति। उक्तं च राजवार्तिके** *(10/2/3 उद्धृते पद्ये)*–

*दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।*
*कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।*

**धवलाग्रन्थे** *(पु. 4, खण्ड-1, भाग-5, सू. 310)* **च समर्थितमेतद्**–

---

"उन सिद्ध भगवान् के केवलज्ञान है, केवलसुख है, केवलवीर्य है, केवलदर्शन है, अमूर्तिकपना है, अस्तित्व है तथा प्रदेशवत्ता है।"

"निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं- ऐसा कहा गया है। कर्म से विमुक्त आत्मा लोकाग्रपर्यन्त जाता है।"

"जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहाँ तक ही जीव और पुद्गलों का गमन होता है। लोकाग्र के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से कर्ममुक्त आत्मा नहीं जाती है।"

सिद्ध जीवों का पुनः कर्म-बन्ध होकर संसार में आना सम्भव नहीं होता, क्योंकि उनके कर्मों का आस्रव (ही) नहीं होता। कर्मरूपी बीज के जल जाने पर भव (संसार) रूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो पाती। राजवार्तिक (10/2/3 पर उद्धृत पद्य) में कहा गया है-

"जिस प्रकार बीज के अत्यन्त दग्ध हो जाने पर अंकुर नहीं निकलता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के जल जाने पर भव (संसार) रूपी अंकुर उगता नहीं।"

धवला ग्रन्थ (पु. 4, खण्ड-1, भाग-5, सू. 310) में उसी का समर्थन प्राप्त होता है-

*'ण च ते संसारे णिवदंति, णट्ठासवत्तादो'।*

**सिद्धा यत्र वसन्ति, स सिद्धलोकः कथ्यते। तस्य स्वरूपं तिलोयपण्णत्तौ** *(9/3)* **प्रोक्तम्–**

*अट्ठमखिदीए उवरिं पण्णासब्भहियसत्तयसहस्सा।*
*दंडाणिं गंतूणं सिद्धाणं होदि आवासो।।*

**सिद्धलोकस्य विशदं वर्णनं च तत्र** *(8/652-658)* **विहितम्–**

*सव्वट्ठसिद्धिइंदयकेदणदंडादु उवरि गंतूणं।*
*वारसजोयणमेत्तं अट्ठमिया चेट्ठदे पुढवी।।*

*पुव्वावरेण तीए उवरिमहेट्ठिमतलेसु पत्तेक्कं।*
*वासो हवेदि एक्का रज्जू रूवेण परिहीणा।।*

*उत्तरदक्खिणभाए दीहा किंचूणसत्तरज्जूओ।*
*वेत्तासणसंठाणा सा पुढवी अट्ठजोयणा बहला।।*

---

"चूँकि उनके आस्रव का अभाव है, इसलिए वे (सिद्ध) संसार में नहीं लौटते।"

जहाँ सिद्ध आत्माएँ रहती हैं, वह सिद्धलोक कहा जाता है। उसका स्वरूप तिलोयपण्णत्ति (9/3) में इस प्रकार कहा गया है–

"आठवीं पृथिवी के ऊपर सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धों का आवास होता है।"

सिद्धलोक का विशद वर्णन भी वहीं (8/652-658) इस प्रकार किया गया है–

"सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के ध्वजदण्ड से बारह योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है।"

"उसके उपरिम व अधस्तन तल में से प्रत्येक का विस्तार पूर्व-पश्चिम में रूप से रहित एक राजू प्रमाण है।"

"वेत्रासन के समान वह पृथिवी उत्तर-दक्षिण भाग में कुछ कम सात राजू लम्बी और आठ योजन बाहल्य (चौड़ाई) वाली है।"

*जुत्ता घणोवहिघणाणिलतणुवादेहि तिहि समीरेहिं।*
*जोयण वीससहस्सं पमाणबहलेहिं पत्तेक्कं।।*

*एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं।*
*अज्जुणसुवण्णसरिसं णाणारयणेहिं परिपुण्णं॥*

*उत्ताणधवलछत्तोवमाणसंठाणसुंदरं एवं।*
*पंचत्तालं जोयणलक्खाणिं वास संजुत्तं।।*

*तम्मज्झबहलमट्ठं जोयणया अंगुलं पि यंतम्मि।*
*अट्ठमभूमज्झगओ तप्परिही मणुवखेत्तपरिहिसमो।।*

**निश्चयनयेन तु सिद्धात्मानः स्वस्मिन्नेव स्थिताः, व्यवहारेणैव सिद्धलोकस्थाः। उक्तं च नियमसारकलशे** *(कलश-294)*–

*लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः,*
*स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते।।*

---

"यह पृथिवी घनोदधि, घनवात और तनुवात –इन वायुओं से युक्त है। इनमें से प्रत्येक वायु का बाहल्य बीस हजार योजन प्रमाण है।"

"इसके बहुमध्य भाग में चाँदी व सुवर्ण के समान और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है।"

"यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के समान, आकार से सुन्दर और पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार वाला है।"

"उसका मध्य बाहल्य आठ योजन और अन्त में एक अंगुल मात्र है। अष्टम भूमि में स्थित सिद्ध क्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है।"

निश्चयनय से तो सिद्ध आत्माएँ निज आत्मा में ही स्थित रहती हैं, मात्र व्यवहारनय से ही वे सिद्ध लोक में स्थित रहती हैं। नियमसारकलश (कलश-294) में कहा भी गया है–

"वे देवदेव व्यवहारनय से लोक के अग्रभाग में सुरक्षित हैं और निश्चय नय से अपनी आत्मा में अतिशयतया अविचल रूप से ही रहते हैं।"

**परमात्मप्रकाशे** *(1/4)* **च समर्थितमेतत्–**

*ते पुणु वंदउँ सिद्धगण जे णिव्वाणि वसंति।*
*णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति॥*

**एवं केवलिनोऽर्हद्देवा अपि परमात्मध्याने स्थिताः मन्तव्याः। उक्तं च परमात्मप्रकाशग्रन्थस्य** *(2/4)* **टीकायाम्–** *"जिनाः कर्तारः 'वच्चहिं'= व्रजन्ति गच्छन्ति। कुत्र गच्छन्ति? 'परलोई'= परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने, न तु कायमोक्षे चेति।"*

**एवं केवलिनोऽपि केवलज्ञानेन समस्तलोकालोकं जानन्तोऽपि ईहापूर्वकपरपदार्थतन्मयत्वाभावात् निश्चयनयेन स्वमात्मानमेव जानन्ति पश्यन्ति च।**

**उक्तं च नियमसारे** *(गाथा-159)*– *"केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।"*

**प्रवचनसारकलशे** *(कलश-4)* **च भणितम्–**

---

परमात्मप्रकाश दोहा (1/4) में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है–

"और मैं उन सिद्धों को वन्दना करता हूँ जो मोक्ष में विद्यमान हैं, ज्ञान से तीन लोक में गुरु हैं, और भवसागर में नहीं पतित होते हैं।"

इस प्रकार, केवली व अर्हन्त देव भी परमात्म-ध्यान में स्थित हैं –ऐसा मानो। परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (2/4) की टीका में कहा गया है– "जिन देव जाते हैं, कहाँ जाते हैं? परलोक शब्द से कहे जाने वाले परमात्म-ध्यान में जाते हैं, न कि कायमोक्ष में।"

इस प्रकार, केवली देव भी 'केवल ज्ञान' से समस्त लोकालोक को जानते हुए भी, ईहापूर्वक ज्ञान के अभाव में और पर-पदार्थ में तन्मय न होने के कारण, निश्चयनय से अपनी आत्मा को ही जानते हैं, देखते हैं।

नियमसार (गाथा-159) में कहा भी गया है– "केवलज्ञानी नियमतः आत्मा को जानते-देखते हैं।"

प्रवचनसार कलश (कलश-4) में कहा गया है–

*जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भावि भूतं समस्तम्,*
*मोहाभावाद् यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।*
*तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-*
*ज्ञेयाकारत्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः।।*

***किंच, नियमसारे*** ( *गाथा*-172) **च भणितम्**–

*जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।*
*केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो।।*

**ग्रन्थस्यास्य मूलगाथायां द्वितीयपादे** *'जे सिद्धा णरवरा गए काले'* **इत्युक्तम्, तेन 'सिद्धपरम्परा अतीतकालादेव प्रचलिता वर्तते' इति मतं सूच्यते। अतो वर्तमानावसर्पिणीकाले परमदिगम्बर-प्रथमतीर्थंकरवृषभनाथाद् यद्वा अन्तिमतीर्थंकरश्रीवर्द्धमानकालतः एषा परम्परा प्रचलितेति कथनं न यथार्थतां वहति, अपितु अनादिकालत एव प्रचलितेति ज्ञेयम्, यतो हि उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालप्रवर्तनमनादि एव।**

---

"जिसने कर्मों का उच्छेद कर डाला है, ऐसा वह आत्मा विश्व के समस्त पदार्थों को उनकी अतीत, भावी व वर्तमान पर्यायों के साथ एक साथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता, इसलिए अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से समस्त ज्ञेयाकारों को पी लेने वाला यह ज्ञानमूर्ति आत्मा तीनों लोकों के सभी पदार्थों के ज्ञेयाकारों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ कर्मबन्धन से मुक्त ही रहता है।"

और, नियमसार (गाथा-172) में कहा गया है- "केवली भगवान् का जानना व देखना ईहापूर्वक नहीं होता है, इसलिए केवलज्ञानी उस हेतु से अबन्धक ही कहे गये हैं।"

इस ग्रन्थ (बारस अणुवेक्खा) की (प्रस्तुत) इस मूल गाथा के द्वितीय चरण में कहा गया है- 'जे सिद्धा णरवरा गए काले' (जो अतीतकाल में मानव सिद्ध हुए हैं)। इससे यह मत सूचित किया गया है कि सिद्धों की परम्परा अतीत (अनादि) काल से ही प्रचलित है। इसलिए 'वर्तमान अवसर्पिणी काल में परमदिगम्बर प्रथमतीर्थंकर वृषभनाथ से या अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी के समय से उक्त परम्परा चली (प्रवर्तित) है' -यह कथन यथार्थ नहीं है, अपितु यह अनादि काल से ही प्रचलित है -ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल की प्रवृत्ति भी अनादि ही है।

**एवमेव अतीतकाले अद्य यावत् अनन्ताश्चतुर्विंशतिजिना अभवन् ते सर्वे जैनधर्मस्य प्रवर्तकाः। अतो वृषभादिमहावीरान्ताः तीर्थंकराः नैव जैनधर्मस्य स्थापकाः, अपितु प्रवर्तकाः ज्ञेयाः। यदि तान् धर्मस्थापकान् स्वीकुर्मस्तर्हि सिद्धबुद्धमुक्तपरम्पराया अनादित्वं निराकृतं स्यात्, सहैव जैनधर्मस्य अनादिताऽपि निराकृता स्यात्, जैनागमविरोधश्च प्रसज्ज्येत। अतः सिद्ध्यति यत् मोक्षः, मोक्षमार्गः, तदुपदेशका जिनेन्द्राः, तदुपदिष्टजैनधर्मः –एतेषामनादित्वमेवेति। तीर्थंकरादिपरम्पराया अनादित्वादेव तीर्थान्तरीयवेदशास्त्रे कतिपयतीर्थंकराणां नामानि संदृश्यन्ते –इति विद्वद्वरा मन्यन्ते। मूलगाथायां तृतीयपादे '*सिज्झिहदि जे वि भविया*' इति भणितम्, तेनापि भाविनि अनन्तकाले अनन्तसिद्धानां सद्भावो निर्दिश्यते। एवं जैनधर्मः शाश्वतः सनातनश्चेति निर्विवादतया सिद्ध्यति।**

**इत्यलं पल्लवितेन। एवं भो भव्य मुमुक्षो! शाश्वतपरमानन्दमयीं सिद्धावस्थामधिगन्तुं मोक्षपुरुषार्थसिद्ध्यै प्रयतस्व, द्वादशानुप्रेक्षा-माहात्म्यं मनसि निधाय तत्साहाय्येन च प्रशस्तध्यान-सोपानारोहणतत्परो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

---

इसी तरह, अतीत काल में आज तक जिनेन्द्रों की चौबीसी भी अनन्त हो चुकी है, और वे सभी जिनेन्द्र (तीर्थंकर) जैनधर्म के प्रवर्तक थे। इसलिए प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक के (चौबीसों) तीर्थंकर जैनधर्म के स्थापक नहीं, अपितु प्रवर्तक थे –ऐसा जानना चाहिए। यदि इन्हें धर्म-संस्थापक मानें तो सिद्ध बुद्ध-मुक्त जीवों की परम्परा की अनादिता का भी खण्डन हो जाएगा, और साथ ही जैनधर्म की अनादिता का खण्डन हो जाएगा, और जैनागम (के कथनों) से विरोध का प्रसंग भी होगा। तीर्थंकरादि की अनादि परम्परा के कारण ही अन्य तीर्थों (वैदिकों) के 'वेद' शास्त्र में कुछ तीर्थंकरों के नाम दृष्टिगोचर होते हैं –ऐसा विद्वानों का अभिमत है। मूल गाथा के तीसरे चरण में '**सिज्झिहदि जे वि भविया**' (जो भी भव्य सिद्ध होंगें) –ऐसा कहा गया है, यह कथन भी भावी अनन्त काल में अनन्त सिद्धों के सद्भाव का निर्देश करता है। इस प्रकार, जैनधर्म एक शाश्वत व सनातन धर्म है – यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है।

बस अब, इतना ही पर्याप्त है। इस प्रकार हे भव्य मुमुक्षु! शाश्वत परमानन्दमय सिद्धावस्था को प्राप्त करने हेतु मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहो, बारह अनुप्रेक्षाओं के माहात्म्य को मन में बैठाकर उनकी सहायता से प्रशस्त ध्यान की सीढ़ी पर आरोहण में तत्पर रहो –यह गाथा का तात्पर्य है।

**सम्प्रति शास्त्रकाराः द्वादशानुप्रेक्षाविषयकं निश्चयव्यवहारेतिनयद्वयनिरूपणसंवलितं ग्रन्थराजमिममुपसंहरन्ति–**

**इदि णिच्छयववहारं जं भणिदं कुंदकुंदमुणिणाहे।**
**जो भावदि सुद्धमणो, सो पावदि परमणिव्वाणं।। ९१ ।।**

***छाया–*** *इति निश्चयव्यवहारं यत् भणितं कुन्दकुन्दमुनिनाथेन।*
*यो भावयति शुद्धमनाः, स प्राप्नोति परमनिर्वाणम्।।*

**( सर्वोदया टीका– )** *(इदि)* **एवं प्रकारेण,** *(कुंदकुंदमुणिणाहे)* **कुन्दकुन्दमुनीश्वरेण। मुनिनाथः मुनीश्वरः, मुनिनायकः मुनिकुञ्जरः, मुनिश्रेष्ठः, आचार्यः, गणी, गणाचार्यः, गणनायकः, गणधरः, गणाधिपतिः इत्यादिकाः पर्यायाः। अथवा दीक्षाशिक्षाप्रदायक आचार्यो मुनिनाथः, तेन।** *(जं णिच्छयववहारं भणिदं)* **यद् निश्चयव्यवहारेतिनयद्वयनिरूपणसमन्वितं द्वादशानुप्रेक्षाविषयकं निरूपणं कृतम्, तद्** *(जो सुद्धमणो भावदि)* **योऽपि शुद्धमनोयुक्तः, मनःशुद्ध्या इत्यर्थः, भावयति, वारंवारं चिन्तयति,** *(सो परमणिव्वाणं पावदि)* **स परमनिर्वाणं सिद्धावस्थात्मकं प्राप्नोति।**

---

अब निश्चय व व्यवहार –इन दोनों नयों से की गई प्ररूपणा से युक्त तथा बारह अनुप्रेक्षा से सम्बन्धित इस ग्रन्थराज का शास्त्रकार उपसंहार कर रहे हैं–

( 91 )

**( गाथार्थ– ) इस प्रकार मुनिराज कुन्दकुन्द ने निश्चय व व्यवहार ( नय ) के साथ जो कुछ कहा है, ( उसे हृदयंगम कर ) जो पुरुष शुद्ध मन से ( इन अनुप्रेक्षाओं की ) भावना करता है, वह परम निर्वाण को प्राप्त करता है।**

**( सर्वोदया टीका– ) ( इति )** इस प्रकार से **( कुन्दकुन्दमुनिनाथेन )** कुन्दकुन्द मुनीश्वर द्वारा। मुनिनाथ, मुनीश्वर, मुनिनायक, मुनिकुञ्जर, मुनिश्रेष्ठ, आचार्य, गणी, गणाचार्य, गणनायक, गणधर, गणाधिपति – इत्यादि (परस्पर) पर्याय हैं। अथवा (मुनीश्वर से तात्पर्य है–) दीक्षा-शिक्षा के प्रदाता आचार्य मुनिनाथ। **( यद् निश्चयव्यवहारं भणितम् )** निश्चय व व्यवहार –इन दो नयों के निरूपण के साथ बारह अनुप्रेक्षा विषय पर जो निरूपण किया है, उसे **( यः शुद्धमनाः भावयति )** जो भी व्यक्ति शुद्ध मन वाला अर्थात् मनःशुद्धि के साथ, भावना करता है, बार-बार चिन्तन करता है, तदनुरूप उच्चारण करता है, **( स परमनिर्वाणं प्राप्नोति )** वह परमनिर्वाण को –जो सिद्धावस्थारूप है–प्राप्त करता है।

**परमपदं श्रेष्ठताया उत्कृष्टताया वाचकम्। तत्पदमाप्तः परमात्मा च भण्यते। शास्त्रकारैश्च निर्वाणं परमपदरूपेण निरूपितमपि। यथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-222-224)* **भणितम्–**

*सम्यक्त्वचारित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।*
*मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्।।*

*नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।*
*गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः।।*

*कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।*
*परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव।।*

**अयं ग्रन्थो निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वादशानुप्रेक्षाणां निरूपणं करोति। अस्य वक्तारः पूज्यकुन्दकुन्दाचार्यप्रवराः- इति गाथायामस्यां संकेतितम्। एतेनास्य ग्रन्थस्य महनीयत्वं परिपूर्णत्वं च प्रादर्शि।**

---

'परमनिर्वाण' इस पद में 'परम' शब्द श्रेष्ठता –उत्कृष्टता का वाचक है। उस पद को प्राप्त करने वाले भी 'परमात्मा' कहे जाते हैं। शास्त्रकारों ने निर्वाण को 'परमपद' रूप से निरूपित भी किया है। उदाहरणार्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-222-224) में कहा गया है–

"इस प्रकार यह पूर्वोक्त निश्चय-व्यवहाररूप, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग आत्मा को परमपद (निर्वाण) प्राप्त कराता है।"

"आकाश की तरह सदैव कर्मरूपी रज के लेप से रहित, निज स्वरूप में स्थित, उपघातरहित (अविनश्वर) व अत्यन्त निर्मल परम पुरुष (परमात्मा) लोकशिखर-स्थित मोक्ष-स्थान में प्रकाशमान होते हैं।"

"समस्त पदार्थों के ज्ञाता, परमानन्द में निमग्न, ज्ञानमय ज्योतिरूप परमात्मा परम पद में सदैव आनन्द रूप स्थित हैं और वह कृतकत्य हैं।"

यह ग्रन्थ निश्चयनय व व्यवहारनय द्वारा बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण करता है। इसके वक्ता भी आचार्य कुन्दकुन्द हैं –यह इस गाथा में संकेत किया गया है। इससे इस ग्रन्थ की महनीयता व परिपूर्णता का निदर्शन भी कराया गया है।

**अत्रेदं ज्ञेयम्-सर्वज्ञदेशना विविधनयायत्ता भवति। अतएव महावीराष्टके प्रोक्तम्-**

*यदीया वाग्गङ्गा विविधनयकल्लोलविमला,*
*बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।*

**धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, गाथा-68, पृ. 92)* **प्रोक्तम्-** *"णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि।"*

**एवं जिनेन्द्रप्रवचनस्य हार्दं स एवाधिगन्तुं प्रभवति यो विविधनयैः तत्समीक्षते। उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, श्लोक-10, पृ. 17)-*

*प्रमाणनयनिक्षेपैः, योऽर्थं नाभिसमीक्षते।*
*युक्तं चायुक्तवद् भाति, तस्यायुक्तं च युक्तवत्।।*

**तिलोयपण्णत्तौ** *(1/82)* **च भणितम्-**

---

यहाँ पर ज्ञातव्य है- सर्वज्ञ (तीर्थंकर) की देशना विविध नयों के अधीन (उनसे जुड़ी हुई) होती है। इसीलिए महावीराष्टक में कहा गया है-

"जिनकी जिनवाणी रूपी गङ्गा विविध नयों रूपी कल्लोलों से निर्मलता को प्राप्त है और इस जगत् में भारी ज्ञानरूपी जलराशि से जनता को स्नान कराती है..।"

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, गाथा-68, पृ. 92) में भी कहा गया है- "जिनेन्द्र भगवान् के सिद्धान्त में नयवाद के बिना कोई सूत्र व अर्थ नहीं कहा गया है।"

इस तरह जिनेन्द्र-प्रवचन के हार्द (सार) को वही व्यक्ति हृदयंगम कर सकता है जो विविध नयों से उसकी समीक्षा करता है। धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, श्लोक-10, पृ. 17) में कहा भी गया है-

"जो प्रमाण, नय व निक्षेप के माध्यम से अर्थ की समीक्षा नहीं करता, उसका युक्त कथन भी अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है और अयुक्त कथन युक्तियुक्त।"

तिलोयपण्णत्ति (1/82) में भी कहा गया है-

*जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरिक्खदे अत्थं।*
*तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहादि।।*

**माइल्लधवलकृते द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्रे** *(गाथा-181)* **च प्रोक्तम्–**

*जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धी।*
*वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति।।*

**नयेषु च व्यवहारनिश्चयेतिनयद्वयं विशेषतोऽध्यात्मतत्त्वनिरूपणे विशेषमहत्त्वं बिभर्ति। उक्तं च पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-8)*–

*व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।*
*प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।*

**प्रस्तुतगाथायां** *'णिच्छयववहारं भणिदं'* **इतिकथनेनास्य ग्रन्थस्य एकाङ्गित्वं प्रत्याख्यातम्। व्यवहारनिश्चयात्मकनिरूपणयुक्तस्य ग्रन्थस्य मध्यस्थतयाध्ययनं विधाय स्वात्महितं कर्तव्यमिति प्रेरणा चात्रैव दत्ता वर्तते।**

---

जो प्रमाण, नय और निक्षेप से अर्थ की समीक्षा नहीं करता, उसका अयुक्त कथन भी युक्तियुक्त और युक्तियुक्त भी अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है।

माइल्लधवल रचित द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र (गाथा-181) में कहा गया है– ''जो व्यक्ति नय-दृष्टि से रहित हैं, उन्हें वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?''

नयों में व्यवहारनय व निश्चयनय –इन दोनों नयों का, विशेष कर अध्यात्म तत्त्व के निरूपण में विशेष महत्त्व है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-8) में कहा गया है– ''जो शिष्य व्यवहारनय व निश्चयनय को यथार्थ रूप में जानकर मध्यस्थ होता है, वही शिष्य देशना के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है।''

प्रस्तुत गाथा में 'णिच्छयववहारं भणिदं' यह कथन किया गया है, जिसके द्वारा इस ग्रन्थ के एकाङ्गीपने का निराकरण किया गया है। व्यवहार-निश्चय नयात्मक निरूपण से युक्त इस ग्रन्थ का मध्यस्थता से अध्ययन कर निज आत्मा का हितसाधन करना चाहिए –इसकी प्रेरणा भी यहीं दी गई है।

**सम्प्रति निश्चयव्यवहारनययोः स्वरूपादिकं विचारयामः– निश्चयनयः, व्यवहारनयश्चेति द्वौ मूलनयौ स्तः। उक्तं चालापपद्धतौ** *(सू. 40, गाथा-4)– 'णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं'* **इति। तत्र आत्माश्रितो निश्चयनयः। अथवा अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयनयः। एष द्रव्याश्रितत्वात् केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवमलम्ब्य उत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। अथवा निश्चयनयोऽभेदविषयः। अथवा अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते येन स निश्चयः। एष निश्चयनयो द्विविधः– शुद्धनिश्चयः, अशुद्धनिश्चयश्च। एतयोः 'निरुपाधिकगुणगुण्य-भेदविषयकः शुद्धनिश्चयः'। यथा 'केवलज्ञानादयो जीवः' इति। शुद्धनिश्चयेन जीवो रागद्वेषादि-विभावपरिणामरहितः, द्रव्यभाव-कर्मरहितश्च स्वीक्रियते। यथा पुत्रोत्पत्तौ स्त्रीपुरुषेति-उभयसंयोग आवश्यकः, यथा च सुधाहरिद्रासंयोगेनैव वर्णविशेषोत्पत्तिर्जायते, नैकेनान्यतरेण वा तदुत्पत्तिः, तथैव रागाद्युत्पत्तिरपि जीवकर्मेत्युभयसम्बन्धेनैव सम्भवा नान्यथा। किन्तु शुद्धनिश्चयनयो जीवद्रव्यकर्मणोः संयोगमपि न विषयीकरोति, अतो जीवस्य रागाद्युत्पत्तिप्रसङ्ग एव नोत्पद्यते।**

---

अब निश्चयनय व व्यवहारनय के स्वरूप आदि पर विचार कर रहे हैं– निश्चयनय व व्यवहारनय –ये दो मूल नय हैं। आलापपद्धति (सू. 40 गाथा-4) में कहा भी है– ''निश्चय व व्यवहार नय ये सभी नयों के दो मूल भेद हैं।'' इनमें आत्मा (स्वयं) आश्रित नय निश्चयनय है। अथवा निश्चयनय में कर्ता, कर्म आदि भाव एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते। यह नय द्रव्य के आश्रित होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव को अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, यह सभी परभावों को पर का बता कर उनका निषेध करता है। अथवा निश्चय नय वह है जो अभेद को विषय करता है। अथवा जो अभेद व अनुपचार से वस्तु का निश्चय करता है, वह निश्चयनय है। यह निश्चयनय दो प्रकार का है– शुद्ध निश्चय व अशुद्ध निश्चय। इन दोनों में 'निरुपाधिक गुण व गुणी में अभेद दर्शाने वाला नय शुद्ध निश्चयनय है। जैसे यह कहना कि केवलज्ञानादि जीव है (अर्थात् जीव का स्वभावभूत लक्षण है)। शुद्ध निश्चयनय से जीव राग-द्वेष आदि विभाव परिणामों से रहित और द्रव्यकर्म व भावकर्म से भी रहित माना जाता है। जिस प्रकार, पुत्र (संतान) की उत्पत्ति में स्त्री व पुरुष –इन दोनों का संयोग जरूरी है, इसी प्रकार सुधा व हल्दी के संयोग से ही (रक्त) वर्णविशेष की उत्पत्ति हो पाती है, किसी एक द्वारा वह नहीं होती, इसी तरह राग आदि की उत्पत्ति भी जीव व कर्म –इन दोनों के सम्बन्ध होने पर ही सम्भव है,अन्यथा नहीं। किन्तु शुद्ध निश्चयनय जीव व द्रव्य कर्म –इनका संयोग ही नहीं मानता, इसलिए जीव के राग आदि के उत्पत्ति का अवसर ही नहीं उठता।

**एव शुद्धनिश्चयनये बन्ध एव नास्ति, बन्धाभावात् मोक्षोऽपि न, तथैव मोक्षाभावे सति संसारोऽपि न। अत्र विषये दृष्ट्यन्तरमपि प्राप्यते। विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन रागादयः कर्मजनिता इति द्रव्यसंग्रहस्य** *(गाथा-57)* **टीकायां प्रतिपादितम्। एवं परमात्मप्रकाशस्य** *(गाथा-1/64-65)* **टीकायां निरूपितं यदशुद्धनिश्चयनयेन सुखदुःखादयो जीवस्य वर्तन्ते, रागादयो जीवजनिताः, जीवस्य भावबन्धश्च भवति, किन्तु शुद्धनिश्चयनयेन रागादयः कर्मजनिताः, जीवस्य द्रव्यभावेत्युभवबन्धाभावः इति। कर्मोपाधिसमुत्पन्नगुणगुणिनोरभेदविषयो नयोऽशुद्धनिश्चयनयः, यथा मतिज्ञानादयो जीव इति। अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता जीवः स्वीक्रियते। भावकर्मदहनं तथैव केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारोऽपि अशुद्धनिश्चय-नयेनेति ज्ञेयम्। संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारनयः। यद्वा संग्रहनयगृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु येन व्यवह्रियते स व्यवहारः। अथवा– एकस्मिन्नभेदात्मकवस्तुनि गुणपर्यायात्मक-धर्माणां भेदरूपोपचारो येन क्रियते स व्यवहारनयः। अथवा पराश्रितो व्यवहारनयः। अथवा भिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरो व्यवहारनयः।**

---

इसी तरह शुद्ध निश्चयनय में बन्ध ही नहीं है, बन्ध के न होने से मोक्ष भी नहीं है, उसी प्रकार मोक्ष का अभाव होने से उसी नय से संसार (का सद्भाव) भी नहीं है। इस विषय में अन्य दृष्टि भी प्राप्त होती है– विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से रागादि कर्मजनित हैं –ऐसा द्रव्यसंग्रह (गाथा-57) की टीका में प्रतिपादित किया गया है। इसी तरह परमात्मप्रकाश (गाथा-1/64-65) की टीका में बताया गया है कि अशुद्ध निश्चयनय से जीव के सुख-दुःख आदि हैं, रागादि जीव-जनित हैं और जीव के भावबन्ध होता है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय से रागादि के जनक कर्म हैं (जीव नहीं) और जीव के द्रव्यबन्ध व भावमोक्ष –दोनों ही नहीं होते। जो कर्मोपाधि से उत्पन्न गुण व गुणी में अभेद दर्शाता है, वह नय अशुद्ध निश्चयनय है, जैसे यह कहना कि मतिज्ञान आदि जीव (के स्वभावभूत लक्षण) हैं। अशुद्धनिश्चयनय से समस्त मोह-राग आदि भाव कर्मों का कर्ता व भोक्ता जीव है –यह माना जाता है। भाव कर्मों का दहन (क्षय) तथा केवलज्ञानादि अनन्तगुणों का स्मरण 'भावनमस्कार' भी अशुद्धनिश्चयनय के अनुसार है– यह जानें। संग्रहनय द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण (अर्थात् भेद करना) व्यवहारनय है। या संग्रहनय से गृहीत अर्थ के भेद रूप से जो वस्तु में भेद करता है, वह व्यवहार नय है। अथवा– एक अभेद वस्तु में गुण-पर्याय रूप धर्मों का भेद रूप उपचार जिससे किया जाता है, वह व्यवहार नय है। अथवा– परपदार्थ के आश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं। अथवा– भिन्न कर्ता व कर्म को विषय करने वाला व्यवहारनय होता है।

**उक्तं च बृहन्नयचक्रे** *(गाथा-262)*–

*जो सिय भेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स।*
*सो ववहारो भणियो।*

**पंचाध्यायीग्रन्थे** *(1/522)* **च भणितम्**–

*व्यवहरणं व्यवहार: स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थ:।*
*स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात्।।*

**समयसारे** *(गाथा-59-60)* **विशदीकृतम्**–

*तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।*
*जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।*

*गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।*
*सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।*

---

बृहत्नयचक्र (गाथा-262) में कहा गया है–

"एक अभेद वस्तु में जो धर्मों का (अर्थात् गुणपर्यायों का) भेद रूप उपचार करता है, वह व्यवहारनय कहा गया है।"

पञ्चाध्यायी (1/522) में भी कहा गया है–

"विधिपूर्वक भेद करने का नाम व्यवहार है। यह इस निरुक्ति द्वारा किया गया शब्दार्थ है, परमार्थ नहीं। जैसा कि यहाँ पर गुण और गुणी में सत् रूप से अभेद होने पर भी जो भेद करता है, वह व्यवहारनय कहलाता है।"

समयसार (गाथा-59-60) में भी स्पष्ट किया गया है–

"जीव में कर्मों व नोकर्मों का वर्ण देखकर, जीव का यह वर्ण है –ऐसा जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से कहा है। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श रूप देह, संस्थान आदि सभी व्यवहार से हैं, ऐसा निश्चयनय के द्रष्टाओं ने कहा है।"

**स व्यवहारनयोऽपि द्विविधः– सद्भूतः, असद्भूतश्च। तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः। गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारककारकिणोर्भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः। उक्तं च बृहन्नयचक्रे** *(गाथा-219)* **तथा देवसेनकृते नयचक्रे** *(गा. 46)*–

*गुणगुणिपज्जयदव्वे कारगसब्भावदो य दव्वेसु।*
*तो णाऊणं भेयं कुणइ सब्भूयसुद्धियरो।।*

**स च सद्भूतव्यवहारो द्विविधः– उपचरित-अनुपचरितभेदात्। तत्र सोपाधिगुणगुणिनो-र्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारः, यथा मतिज्ञानादयो जीवस्य गुणाः। उपचरितसद्भूतस्य अशुद्धभूतेति नामान्तरं ज्ञेयम्। निरूपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारनयः, यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः। अस्यैव शुद्धसद्भूतव्यवहारनय इति नामान्तरम्, यतो ह्ययं शुद्धगुण-शुद्धगुणिनोः शुद्धपर्यायशुद्धपर्यायिणोर्भेदं विषयीकरोति।**

---

वह व्यवहारनय दो प्रकार का है– सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। इनमें एक वस्तु को विषय करने वाला सद्भूत व्यवहारनय होता है। गुण व गुणी में, पर्याय व पर्यायवान् में, स्वभाव व स्वभाववान् में और कारक और कारकवान् में भेद करना (वस्तुतः जो अभिन्न हैं, उनमें भेद व्यवहार करना) सद्भूत व्यवहार का अर्थ (विषय) होता है। बृ. नयचक्र (गाथा-219) तथा देवसेनकृत नयचक्र (गा. 46) में भी कहा गया है–

''गुण व गुणी में, पर्याय व द्रव्य में कर्ता, कर्म, करण व सम्बन्ध आदि कारकों का कथंचित् सद्भाव होता है, उसे जानकर जो द्रव्यों में भेद करता है, वह शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय होता है।''

वह सद्भूत व्यवहार भी दो प्रकार का होता है– उपचरित व अनुपचरित। इनमें उपाधिसहित (कर्मज विकार-सहित) गुण व गुणी में भेद को विषय करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहारनय होता है, जैसे जीव के मतिज्ञान आदि गुण होते हैं (यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का कथन है)। उपचरित सद्भूत का ही दूसरा नाम अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है। निरुपाधि गुण व गुणी में भेद को विषय करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय होता है, जैसे जीव के केवलज्ञान आदि गुण हैं (यह कथन अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय का है)। इसी का दूसरा नाम– शुद्धसद्भूत व्यवहारनय है, क्योंकि यह शुद्ध गुण व शुद्ध गुणी में और शुद्ध पर्याय और शुद्धपर्यायवान् –इनमें भेद को विषय करता है।

**भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः। यद्वा अन्यद्रव्यस्य गुणानां द्रव्यविशेषे सद्भावं मनुते, सोऽसद्भूतव्यवहारः। एतस्योदाहरणानि बृहन्नयचक्रे** *(गाथा-112, 320)* **प्रोक्तानि–**

*मणवयण काय इंदिय आणप्पाणाउगं च जं जीवे।*
*तमसब्भूओ भणदि हु ववहारो लोयमज्झम्मि।।*

*णेयं खु जत्थ णाणं सद्धेयं जत्थ दंसणं भणियं।*
*चरियं खलु चारित्तं णायव्वं तं असब्भूयं।।*

**'नमो जिनेभ्यः' इतिवचनात्मकनमस्कारोऽपि असद्भूतव्यवहारनयेनैव। एष च द्विविधः- उपचरित-अनुपचरितभेदात्। तत्र संश्लेषरहितवस्तुसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारः, यथा देवदत्तस्य धनमिति। असद्भूत एवोपचारः, उपचारादपि य उपचारं करोति स उपचरितासद्भूत-व्यवहारः।**

---

भिन्न वस्तु को विषय करने वाला असद्भूत व्यवहारनय होता है। अथवा किसी द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुणों का सद्भाव जो मानता है, वह असद्भूत व्यवहारनय होता है।

इसके उदाहरण बृ. नयचक्र (गाथा-112 व 320) में इस प्रकार कहे गए हैं–

"लोक में, मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण और आयु- ये जो इस प्रकार के प्राण कहे गये हैं, वे जीव के हैं- ऐसा असद्भूत व्यवहारनय कहता है।"

"ज्ञेय को ज्ञान कहना, श्रद्धेय को दर्शन कहना, आचरित करने योग्य को चारित्र कहना –यह सब असद्भूत व्यवहारनय (के अनुसार) जानना चाहिए।"

'जिनेश्वरों को नमस्कार है'– यह वचनात्मक नमस्कार भी असद्भूत व्यवहारनय से है। इस नय के भी दो भेद हैं– उपचरित व अनुपचरित। इनमें संश्लेष-रहित (दो नहीं जुड़ी हुई) वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहारनय होता है, जैसे यह कहना कि 'यह देवदत्त का धन है'। असद्भूत ही उपचार है, उपचार से भी जो उपचार करता है, वही उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है।

**एतेन नयेन जीवो घटपटादीनामपि कर्ता, इष्टानिष्ट-पञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःख-योर्भोक्ता च। बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणाः क्रोधादि-औदयिका भावा अपि जीवस्य भवन्तीति नयोऽसौ स्वीकरोति। संश्लेषसहितवस्तुसम्बद्धविषयोऽनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनयः। यथा- जीवस्य शरीरम्। एतन्नयानुसारं जीवो द्रव्यकर्मणां नोकर्मणां च कर्ता, तत्कृतफलसुखदुःखादीनां भोक्ता च भवति। ये बुद्धिपूर्वकं नैव जाताः, तान् क्रोधादिविभावभावानपि एष नयो जीवस्य स्वीकरोति। विस्तरस्तु ततद्ग्रन्थेषु द्रष्टव्यः।**

**अयं च समस्तव्यवहारनयः प्राथमिकशिष्यान् बोधयितुं भवत्युपयोगी। उत्कृष्टभूमिका-मधिरूढानां कृते परमार्थरूपनिश्चयनयाश्रयणेणैव मुक्तिरिति शास्त्रकारैः प्रतिपादितं वर्तते।**

**उक्तं च समयसारे** *(गाथा-8, 151, 156)*-

*जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।*
*तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।।*

---

इस नय से जीव घट, पट आदि का कर्ता है, इष्ट-अनिष्ट पञ्चेन्द्रिय विषयों से उत्पन्न सुख या दुःख का भोक्ता भी है। बुद्धिपूर्वक होने वाले क्रोधादि औदयिक भाव भी जीव के हैं- ऐसा यह नय मानता है। संश्लेष सहित (परस्पर जुड़ी) दो वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाला नय अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय होता है। जैसे- यह कहना कि यह शरीर जीव का है। इस नय के अनुसार जीव द्रव्य-कर्मों का तथा नोकर्मों का कर्ता है और उससे होने वाले सुख-दुःख का भोक्ता भी है। अबुद्धिपूर्वक होने वाले क्रोधादि विभाव भावों को भी यह नय जीव का मानता है। विस्तार से जानने के लिए उन-उन ग्रन्थों को देखना चाहिए।

यह समस्त व्यवहारनय प्राथमिक शिष्यों को प्रतिबोधित करने की दृष्टि से उपयोगी (सिद्ध) होता है। किन्तु उत्कृष्ट भूमिका में अधिरूढ़ हो गये जीवों को परमार्थरूप निश्चयनय के आश्रयण से ही मुक्ति होती है -ऐसा शास्त्रकारों ने प्रतिपादित किया है।

समयसार (गाथा-8, 151 व 156) में कहा गया है-

"जैसे अनार्य को अनार्य भाषा के बिना अर्थ-ग्रहण कराना (समझाना) सम्भव नहीं, वैसे ही व्यवहार (नय) के बिना परमार्थ (निश्चय) का उपदेश करना अशक्य है।"

*परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।*
*तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।*

*मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।*

**किञ्च, व्यवहारनयो न सर्वथा प्रतिषिद्धः इति तत्रैव** *(गाथा-11-12)* **निरूपितम्–**

*ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।*
*भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।*

*सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।*
*ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।*

**किंच, अनगारधर्मामृते** *(1/100)* **प्रोक्तम्–**

---

"निश्चय से जो परमार्थ (आत्मा) है, वह 'समय' है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उस (परमार्थ) स्वभाव में स्थित जो मुनिजन हैं, वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं।"

"निश्चयनय के विषय (परमार्थ) को छोड़कर विद्वान् व्यवहार के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु परमार्थ के आश्रय लेने वाले मुनियों के ही कर्मक्षय होता है।"

और, वहीं (गाथा-11-12) यह भी बताया गया है कि व्यवहारनय सर्वथा प्रतिषिद्ध नहीं होता है –

"व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्ध नय भूतार्थ है। जो भूतार्थ का आश्रय लेता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है।"

"जो परमभाव के द्रष्टा हैं, उनके द्वारा शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्ध (नय) जानने योग्य होता है। जो अपरम (निचले), (शुभोपयोग या भेदरत्नत्रय) भाव में स्थित हैं, उनके लिए तो व्यवहारनय का उपदेश किया गया है।"

और, अनगारधर्मामृत (1/100) में कहा गया है कि व्यवहारनय सर्वथा प्रतिषिद्ध नहीं है–

*व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति।*
*बीजादिना विना मूढ:, स सस्यानि सिसृक्षति।।*

**तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-6-7)* **निरूपितम्–**

*अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।*
*व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।।*

*माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।*
*व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य।।*

**निश्चय-व्यवहारनययो: प्रयोजनं साधनाभूमिकानुरूपं शास्त्रेषु स्वीकृतं वर्तते। आचार्यजयसेनमते निर्विकल्पसमाधिरतानां (तु) निश्चयनय: प्रयोजनवान् भवति, निर्विकल्पसमाधिरहितानां तु केषांचित् प्रथमभूमिकायां कदाचित् सविकल्पकावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं व्यवहारनय: प्रयोजनवान् भवति।**

---

''जो व्यवहार से विमुख होकर निश्चय (के आश्रयण) को करना चाहता है, वह मूढ़ बीज, खेत, पानी आदि के बिना ही वृक्ष आदि को पैदा करना चाहता है।''

तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-6-7) में कहा गया है–

''अज्ञानी जीव को समझाने के लिए मुनिराज व्यवहारनय का उपदेश देते हैं। जो जीव मात्र व्यवहारनय को ही साध्य मान लेता हो, उसके लिए उपदेश नहीं है।''

''जैसे सिंह से अनभिज्ञ व्यक्ति को समझाने के लिए माणवक (बिल्ली) ही सिंह रूप होता है, उसी तरह निश्चयनय से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए व्यवहार ही निश्चय स्वरूप बनता है।''

निश्चय व व्यवहार –इन दो नयों की उपयोगिता शास्त्रों में साधना की भूमिका के अनुरूप स्वीकारी गई है। आचार्य जयसेन के मत में जो निर्विकल्पसमाधि में रत हैं, उनके लिए (तो) निश्चयनय का प्रयोजन रहता है, किन्तु निर्विकल्पसमाधि रहित जीवों में कुछ लोग जो प्राथमिक भूमिका में हैं, उनके लिए कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व-विषयकषाय व दुर्ध्यान से बचने के लिए व्यवहारनय का प्रयोजन (उपयोगिता) है।

**ये अपरमे भावे स्थिताः, अर्थात् असंयत-सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सराग-सम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे, प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिताः, तेषां कृते व्यवहारनयः सप्रयोजनो भवतीति समयसारस्य** *(गाथा-12)* **तात्पर्यवृत्तिटीकायां स्पष्टीकृतम्।**

**समयसारस्य** *(गाथा-12)* **टीकायामात्मख्यातौ च निर्दिष्टम्-**

*जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।*
*एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।*

**वस्तुतः निश्चयनयात् शुद्धनयाद्वा शुद्धात्मलाभः, अतो निश्चयनयस्तत्र साधकतमः स्वीक्रियते। स निश्चयनय एकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानन्दं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोति तमिति पूज्यतमः।**

---

जो अपरम भाव (अपूर्णता की स्थिति) में हैं, अर्थात् असंयतसम्यग्दृष्टि या श्रावक जब सरागसम्यग्दर्शन स्वरूप शुभोपयोग में स्थित हो, और प्रमत्तसंयत व अप्रमत्तसंयत (छठे व सातवें) गुणस्थान में जब भेदरत्नत्रयस्वरूप (सविकल्प उपयोग) में स्थित हों, तब उनके लिए व्यवहारनय का प्रयोजन है- ऐसा समयसार (गाथा-12) की तात्पर्यवृत्ति टीका में स्पष्ट किया गया है।

समयसार (गाथा-12) की आत्मख्याति टीका में भी कहा गया है-

"यदि तुम जैन धर्म का प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय -इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि एक (व्यवहारनय) के बिना तो तीर्थ (व्यवहार-मार्ग) का लोप हो जाएगा और दूसरे (निश्चयनय) के बिना 'तत्त्व' का नाश हो जाएगा (अर्थात् परमात्म तत्त्व अप्राप्य हो जाएगा)।"

वस्तुतः निश्चयनय से या शुद्धनय से शुद्धात्मा (स्वरूप) की प्राप्ति होती है, इसलिए वहाँ निश्चयनय साधकतम माना जाता है। वह निश्चयनय एकत्व को प्राप्त कराकर ज्ञान रूपी चैतन्य में स्थापित कराता है और परमानन्द को उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना कार्य करके वह स्वतः निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार वह जीव को नय पक्ष से अतीत कर देता है, इस कारण वह पूज्यतम है।

**यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारो निवर्तते, तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते। यथा च निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पो निवर्तते, तथा निर्विकल्पस्वशुद्धात्मानुभूतिकाले निश्चयनयाश्रितविकल्पोऽपि लयं याति। एवं हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसितस्वभावः स एव नयपक्षातीतः। एवं सम्यग्व्यवहारे स्थितस्य निश्चयनयाश्रयणेन निर्विकल्पकस्थितिप्राप्तिरेव मुख्यं प्रयोजनम्, तत्सिद्धेरेव व्यवहारनयस्य साफल्यं बोद्धव्यम्। एवं निश्चयव्यवहारनययोः सम्यक् स्वरूपमुपादेयतां च सम्यगवबुद्ध्य हे ज्ञानिन्! निर्विकल्पशुद्धात्मानु-भूतिसुधारसपानाय मातृकल्पा द्वादशानुप्रेक्षा निरन्तरं भावयेति गाथायाः सारः।**

**एवं** *'बारस अणुपेक्खाओ'* **इत्यादिकां गाथामारभ्य** *'इदि णिच्छयववहारं'* **इत्यादिकां गाथां यावत् गाथापञ्चकात्मको द्वादशानुप्रेक्षामाहात्म्यनिरूपकस्त्रयोदशोऽधिकारः सम्पन्नः।**

*[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागररचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'द्वादशानुप्रेक्षामाहात्म्य-' नामा त्रयोदशाधिकारः सम्पन्नतां प्राप्तः।]*

---

जिस प्रकार सम्यग्व्यवहार से मिथ्या व्यवहार की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की भी निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अपनी निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव के समय निश्चयनयाश्रित विकल्प भी नष्ट हो जाता है। इसलिए स्वस्थित स्वभाव ही नयपक्षातीत है। इस प्रकार, सम्यग्व्यवहार में स्थित व्यक्ति का मुख्य प्रयोजन यही होता है कि निश्चयनय के आश्रयण से निर्विकल्पक स्थिति की प्राप्ति करे, और इसकी सिद्धि ही व्यवहारनय की सफलता है –ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार, निश्चय व व्यवहार –इन (दोनों) नयों के सम्यक् स्वरूप व उपयोगिता को अच्छी तरह समझ कर हे ज्ञानी! निर्विकल्प शुद्धात्मा की अनुभूति रूप सुधारस के पान हेतु मातृतुल्य इन बारह अनुप्रेक्षाओं का निरन्तर चिन्तन करो –यह गाथा का सार है।

इस प्रकार, '**बारस अणुपेक्खाओ**' इत्यादि गाथा से लेकर '**इदि णिच्छयववहारं**' इत्यादि गाथा तक पाँच गाथाओं वाला द्वादशानुप्रेक्षा–माहात्म्य–निरूपक तेरहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

*[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस सर्वोदया नामक टीका में 'द्वादशानुप्रेक्षामाहात्म्य' नामक यह तेरहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]*

# ।।सर्वोदयाटीकाकर्तुः मङ्गलप्रशस्तिः ।।

**(अनुष्टुप्)**

*वर्धमानं जिनं नौमि, सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम्।*
*वीतरागं महादेवं सर्वसत्त्वहितङ्करम्॥१॥*

*श्रीगौतमं गणेशं च मुनिनाथं दिगम्बरम्।*
*शब्दागमप्रणेतारं त्रियोगैः प्रणमाम्यहम्॥२॥*

*अध्यात्मयोगदेष्टारं श्रुतज्ञानस्य सागरम्।*
*कुन्दकुन्दमहाचार्यं प्रणमामि सदा हृदा॥३॥*

**(मालिनी)**

*सुकृतिवरतपस्यासंरताचार्यवर्यान्, सकलमुनिवरेण्यानादिसिन्धून् नमामि।*
*विविधगुणसमुद्रान्नौमि पट्टाधिरूढान्, मुनिनुतचरणाब्जान् श्रीमहावीरकीर्तीन्॥४॥*

## [ सर्वोदया टीकाकार द्वारा मङ्गल प्रशस्ति ]

मैं (गणाचार्य विरागसागर) समस्त प्राणियों के हितकारी, वीतराग, महादेव, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ जिनेन्द्र वर्धमान तीर्थंकर को नमस्कार करता हूँ॥ 1॥

मैं शाब्दिक रूप में जैन आगमों के रचयिता एवं दिगम्बर मुनीश्वर गौतम गणधर को तीनों (मन, वचन, व काय के) योगों से नमस्कार करता हूँ॥ 2॥

अध्यात्मयोग के उपदेशक तथा श्रुतज्ञान के सागर महान् आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव को हृदय से सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥ 3॥

पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ, तपस्या में निरत रहने वाले तथा समस्त मुनियों में श्रेष्ठ पूज्य आचार्य आदिसागर जी (अंकलीकर जी) महाराज को प्रणाम करता हूं। (उनके) पट्ट पर आसीन, अनेक गुणों के सागर तथा जिनके चरणों में मुनि-संघ नमन करते थे, उन पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज को प्रणाम करता हूँ॥ 4॥

**( शार्दूलविक्रीडितम् )**

*सन्मार्गेऽग्रसरांस्तपस्विमहितान् वात्सल्यरत्नाकरान्,*
*आचार्यान् विमलोदधीन् गुरुवरान् वन्दे सदा श्रद्धया।*
*पूज्यान्सन्मतिसागरांश्च सुगुरून्नौमीद्धभक्तिर्ययोः,*
*आशीर्भिः परिपूर्णतां गतवती सर्वोदया-वृत्तिका।। ५ ।।*

**( उपजातिः )**

*अध्यात्मविद्यागगने दिनेशाः, आचार्यवर्या यतिकुन्दकुन्दाः।*
*कृतिस्तदीया खलु बारसाणुपेक्खाभिधा श्रेष्ठतमा चकास्ति।। ६ ।।*

*तस्योपरीहाद्य तु देववाण्याम्, बुधेन टीका रचिता न काचिद्।*
*अतस्तदीया सुरवाचि टीका कार्येति मे प्रादुरभूद् विचारः।। ७ ।।*

*ततोऽहमल्पश्रुतवैभवोऽपि भक्त्या प्रवृत्तोऽत्र विरागसिन्धुः।*
*सर्वोदयानामकवृत्तिमेताम्, व्यधाम्, यया तोक्ष्यति विज्ञलोकः।। ८ ।।*

---

जो सन्मार्ग में अग्रणी थे एवं तपस्वियों द्वारा भी पूजित थे, उन पूज्य गुरुवर वात्सल्यरत्नाकर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की श्रद्धापूर्वक वन्दना करता हूँ। पूर्ण भक्ति भाव के साथ अपने सद्गुरु पूज्य आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज को भी प्रणाम करता हूँ। इन दोनों के शुभ आशीर्वाद से (ही) यह सर्वोदया वृत्ति (टीका) पूर्णता को प्राप्त हुई है ॥ 5 ॥

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी अध्यात्मविद्या के आकाश में सूर्य समान थे। उनकी बारस अणुपेक्खा नामक यह श्रेष्ठतम कृति विद्यमान है ॥ 6 ॥

किन्तु इस ग्रन्थ पर आज तक किसी विद्वान् द्वारा किसी संस्कृत टीका की रचना नहीं हुई है, इसलिए मेरे मन में यह सद्विचार प्रादुर्भूत हुआ कि इस पर संस्कृत टीका का निर्माण किया जाय ॥ 7 ॥

मैं गणाचार्य विरागसागर, श्रुतज्ञान सम्बन्धी अल्प वैभव वाला होता हुआ भी भक्तिवश इस कार्य में प्रवृत्त हुआ और इस **सर्वोदया** नामक संस्कृत टीका की रचना की, इससे विद्वज्जन सन्तुष्ट होंगे ॥ 8 ॥

**( अनुष्टुप् )**

*साँगलीति-प्रसिद्धे वै, जनपदोऽस्ति तत्र च।*
*नांगेबाडीतिसुग्रामे, तट्टीकामहमारभे।। ९ ।।*

*कृष्णपक्षद्वितीयाऽऽसीत्, फाल्गुने मास्युषःस्थितिः।*
*तदा मे मुनिदीक्षायाः, वत्सरो राजतोऽप्यभूत्।। १० ।।*

*वीरनिर्वाणतोऽब्दानां शतानां पञ्चविंशतिः।*
*चतुस्त्रिंशत्समानां च व्यतीतिरग्रतःस्थिता।। ११ ।।*

*सर्वोदया समारब्धा, श्रुताञ्जलिनिभा मया।*
*विरागसागरेणेयं विद्वद्भिरनुमोदिता।। १२ ।।*

*अल्पश्रुतवतो मेऽत्र स्खलितं यत्प्रमादतः।*
*तत्समीक्ष्य प्रयत्नेन शोधयिष्यन्ति पण्डिताः।। १३ ।।*

*एषा सर्वोदया टीका विस्तृतार्थप्रकाशिका।*
*भव्यानां च मुमुक्षूणां भूयात् सद्बोधवर्धिनी।। १४ ।।*

---

(महाराष्ट्र में) 'सांगली' नामक प्रसिद्ध जनपद है, उसके नांगेबाडी नामक ग्राम में मैंने उसकी टीका लिखनी प्रारम्भ की॥ 9॥

उस दिन फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया थी और प्रातः उषाकाल था। तब (मेरी) मुनि-दीक्षा का रजत-वर्ष भी चल रहा था॥ 10॥

तब वीरनिर्वाण वर्ष का पच्चीस सौ चौंतीसवाँ वर्ष व्यतीत होने की ओर अग्रसर था।॥ 11॥

मुझ गणाचार्य विरागसागर मुनि द्वारा श्रुताञ्जलि-समान इस सर्वोदया टीका का प्रारम्भ किया गया, जिसे विद्वानों द्वारा अनुमोदन भी प्राप्त हुआ।॥ 12॥

अल्पश्रुतज्ञानी मेरे द्वारा प्रमादवश कोई स्खलना हो गई हो तो पण्डितजन उसका सम्यक् निरीक्षण कर संशोधन कर लेंगे।॥ 13॥

ग्रन्थ के विस्तृत अर्थ को प्रकाशित करने वाली यह 'सर्वोदया टीका' भव्य मोक्षार्थियों को सद्बोध देने वाली (सिद्ध) हो।॥ 14॥

*ज्येष्ठाभिधे शुभे मासे पञ्चमी सितपक्षगा।*
*वर्ततेऽद्य प्रसिद्धा या, प्रसिद्धा श्रुतपञ्चमी॥ १५ ।।*

**( इन्द्रवज्रा )**

*या मुम्बईति प्रथिता पुरीद्धा, तत्क्षेत्रकं बोरिवलीतिसंज्ञम्।*
*नन्दीश्वरद्वीपमिति प्रसिद्धम्, तीर्थं जिनक्षेत्रवरं च तत्र।। १६ ।।*

*शुभे तिथावद्य शुभे च काले, सर्वोदयावृत्तिरभूत् प्रपूर्णा।।*
*प्रभावनायै जिनशासनस्य, नूनं समर्था भवतीति मन्ये।। १७।।*

**( अनुष्टुप् )**

*यावन्नभसि सूर्येन्दू, यावच्च जिनशासनम्।*
*तावत्सर्वोदया टीका विद्वन्मनसि राजताम्।। १८।।*

*भव्यानां पाठकानां या, मोक्षमार्गोपदेशिका।*
*जीयात् सर्वोदया टीका, जिनशासनवर्द्धिनी।। १९।।*

ooo

---

ज्येष्ठ नामक शुभ मास चल रहा है, आज इसकी शुक्लपक्ष की पञ्चमी है जो 'श्रुतपञ्चमी' नाम से प्रसिद्ध है।॥ 15 ॥

मुम्बई नाम की यह समृद्ध नगरी प्रसिद्ध है, इसी का बोरीवली नाम का एक क्षेत्र है। इस क्षेत्र में नन्दीश्वरद्वीप नाम का एक जिनक्षेत्र भी तीर्थ रूप में प्रसिद्ध है।॥ 16 ॥

आज इस शुभ (श्रुतपञ्चमी) तिथि और शुभ समय में यह '**सर्वोदया टीका**' सम्पन्न हुई है। मेरा मानना है कि यह टीका जिन-शासन की प्रभावना में निश्चय ही सक्षम होगी।॥ 17 ॥

जब तक आकाश में सूरज व चन्द्रमा हैं, जब तक जिनशासन प्रवर्तमान है, तब तक यह सर्वोदया टीका विद्वानों के मन में शोभित होती रहे।॥ 18 ॥

भव्य पाठकों को मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाली और जिन-शासन का उन्नयन-संवर्द्धन करने वाली यह 'सर्वोदया' (संस्कृत) टीका जयवन्त हो॥ 19 ॥

**ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी ( श्रुतपंचमी ),**
**रविवार, वीर निर्वाण सं. 2534**

**–गणाचार्य विरागसागर**
**नन्दीश्वर द्वीप, बोरीवली, मुम्बई**

– 0 –

## सर्वोदयाटीकाया लोकार्पणमहोत्सव

भारत भू प्रदेशे अयोध्यानगर्यां तत्र भवतो भगवत ऋषभदेवाभिधानप्रथमतीर्थंकरस्य जनको महाराजाधिराज अन्तिमकुलकरो मनुनाभिराज:, तन्नाम्ना अजनाभवर्षेतिप्रथिते, अथ च ऋषभदेवपुत्र-प्रथमचक्रवर्तिभरत:, तन्नाम्ना विश्रुतनामधेये भारतवर्ष, राजस्थानेतिविश्रुते तदीयप्रान्तविशेषे, तदीयराजधानीभूतायां जयपुरनगर्यां समायोजिते परमपूज्य-युगप्रमुखश्रमणाचार्य-गणाचार्यविरागसागरमुने: स्वर्णजयन्तिवर्षमहोत्सवे, चतु:पंचाशदधिकशतसंख्यकशिष्यप्रशिष्यसनाथितयतिसम्मेलनावसरे विस्मृतश्रमणश्रमणीयुगप्रतिक्र-मणपरम्परा-पुरुत्थानोद्देश्येन समायोजिते बृहद्युगप्रतिक्रमणमहोत्सवे, सप्तसहस्र-इन्द्र-इन्द्राणी-विहितकल्पद्रुममहार्चनापवित्रिते पंचविंशति-मुमुक्षुदीक्षामहोत्सवे आयोजितायां शताधिकविद्वज्जनसंगोष्ठ्यां, पंचविंशतिसहस्राधिकजनोपस्थितौ, शुभतिथौ वैशाख-शुक्लदशम्यां अष्टत्रिंशदधिकपंचविंशतिशत-संख्यकवीरनिर्वाणाब्दे मंगलवासरे (ई. 2 मई 2012) पूर्वाह्नवेलायां समस्तविद्वत्समूहसमुपस्थितौ राजस्थानप्रान्तमान्यमुख्यमन्त्रिणा श्रीमता अशोकगहलोतमहोदयेन तथा केन्द्रीयमन्त्रिणा श्रीमता प्रदीपजैननेन च श्रीकुन्दकुन्दस्वामि-विरचितस्य द्विसहस्राधिकवर्षप्राचीनतमग्रन्थस्य बारसाणुवेक्खाग्रन्थस्य उपरि रचिताया: सहस्राधिकपृष्ठप्रमिताया: परमपूज्यश्रमणाचार्यगणाचार्यविरागसागरमुनिराज्ञा सर्वोदया-नाम्न्या: संस्कृतटीकाया: विमोचन लोकार्पणं च सानन्दं महत्या धर्मप्रभावनया सह समजनि।

**–संपादक:**

## सर्वोदया टीका लोकार्पण महोत्सव

भारत भूमि के अयोध्या नगरी में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ के पिता महाराजाधिराज अन्तिमकुलकर नाभिराज हुए, उनके नाम से इस देश का नाम अजनाभवर्ष प्रसिद्ध था और भगवान ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम से प्रसिद्ध भारतवर्ष के प्रसिद्ध राजस्थान प्रान्त की राजधानी जयपुर नगरी में समायोजित परमपूज्य युगप्रमुख श्रमणाचार्य गणाचार्य श्री विरागसागर जी मुनि महाराज की स्वर्ण जयन्ति वर्ष महोत्सव पर 154 शिष्य-प्रशिष्यों के सानिध्य में, यति सम्मेलन के अवसर पर विस्मृत श्रमण-श्रमणी युग प्रतिक्रमण की परम्परा को पुन: प्रवर्तन के उद्देश्य से समायोजित बृहद्युग प्रतिक्रमण महोत्सव, 7000 इन्द्र-इन्द्राणी के द्वारा कल्पद्रुपमहामण्डल महार्चना से पवित्र एवं 25 मुमुक्षु की दीक्षा महोत्सव के अवसर पर, 100 से अधिक विद्वज्जनों की संगोष्ठी एवं 25 हजार लोगों की उपस्थिति में, वी. नि. सं. 2538 वैशाख सुदि 9वीं शुभ तिथि दिन मंगलवार (ई. 2 मई 2012) की पौर्वाह्निक बेला में समस्त विद्वत् समूह की उपस्थिति में, राजस्थान प्रान्त के माननीय मुख्यमन्त्री श्रीमान अशोक गहलोत महोदय तथा केन्द्रीय मन्त्री श्रीमान प्रदीप जैन 'आदित्य' के द्वारा श्री कुन्दकुन्द स्वामी विरचित 2000 से अधिक वर्ष प्राचीनतम ग्रन्थ बारसाणुवेक्खा पर परम पूज्य श्रमणाचार्य गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज के द्वारा रचित 1000 से अधिक पृष्ठ प्रमाण **सर्वोदय** नाम की संस्कृत टीका का विमोचन, लोकार्पण सानन्द महान धर्मप्रभावना के साथ सम्पन्न हुआ।

**–सम्पादक**

# परिशिष्ट

## उत्तरार्द्ध

## बारस अणुवेक्खा

## की

# सर्वोदया टीका

*उत्तरार्द्ध खण्ड (गाथा-47 से 91 तक)*

## मूल गाथाओं की अकारादि अनुक्रमणिका


| गाथा | गाथा सं. | पृष्ठ सं. |
|---|---|---|
| असुहेदरभेदेण दु | 50 | 545 |
| आसवहेदू जीवो | 58 | 636 |
| इदि णिच्छयववहारं | 91 | 1027 |
| उत्तमखममद्दवज्जव | 70 | 798 |
| उप्पज्जदि सण्णाणं जेण | 83 | 952 |
| एयारसदसभेयं धम्मं | 68 | 763 |
| एयंतविणय विवरिय | 48 | 534 |
| एवं जायदि णाणं | 86 | 979 |
| कम्मासवेण जीवो | 57 | 627 |
| कम्मुदयजपज्जाया हेयं | 84 | 957 |
| किण्हादि तिण्णि लेस्सा | 51 | 548 |
| किं पलविदेण बहुणा | 90 | 1015 |
| कुलरूवजादिबुद्धिसु | 72 | 810 |
| कोहुप्पत्तिस्स पुणो | 71 | 802 |
| कोहो माणो माया | 49 | 541 |
| कंखाभावणिवित्तिं किच्चा | 75 | 833 |
| चलमलिणमगाढं | 61 | 656 |
| जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिये | 56 | 614 |

| गाथा | गाथा सं. | पृष्ठ सं. |
|---|---|---|
| जीवस्स ण संवरणं | 65 | 687 |
| णिच्छयणयेण जीवो | 82 | 940 |
| णिव्वेगतियं भावदि | 78 | 888 |
| दंसणवदसामाइय | 69 | 769 |
| परसंतावयकारण | 74 | 825 |
| पारंपज्जाएण दु | 59 | 642 |
| पुव्वुत्तासवभेदा | 60 | 645 |
| पंचमहव्वयमणसा | 62 | 666 |
| बंधप्पदेसग्गलणं | 66 | 695 |
| बारस अणुवेक्खाओ | 87 | 988 |
| भत्तित्थिराय चोरकहाओ | 53 | 575 |
| मिच्छत्तं अविरमणं | 47 | 529 |
| मूलुत्तरपयडीओ | 85 | 966 |
| मोक्खगया जे पुरिसा | 89 | 1006 |
| मोत्तूण असुहभावं | 54 | 579 |
| मोत्तूण कुडिलभावं | 73 | 819 |
| रत्तिदिवं पडिकमणं | 88 | 996 |
| रागो दोसो मोहो | 52 | 556 |
| वदसमिदि पालणाए | 76 | 843 |
| विसयकसाय विणिग्गह | 77 | 861 |
| संसारछेदकारणवयणं | 55 | 599 |
| सव्वंगं पेच्छंतो | 80 | 912 |
| सा पुण दुविहा णेया | 67 | 700 |
| सावयधम्मं चत्ता | 81 | 930 |
| सुद्धुवजोगेण पुणो | 64 | 681 |
| सुहजोगस्स पवित्ती | 63 | 672 |
| होदूण य णिस्संगो | 79 | 900 |


000

# सर्वोदया टीका में उद्धृत प्राकृत ग्रन्थ

(1) आराधनासार (आचार्य देवसेन)

(2) (स्वामि) कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामीकुमार)

(3) गोम्मटसार (आचार्य नेमिचन्द्र)

(4) चारित्रप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

(5) तत्त्वसार (आचार्य देवसेन)

(6) तिलोयपण्णत्ति (आचार्य यतिवृषभ)

(7) त्रिलोकसार (आचार्य नेमिचन्द्र)

(8) दर्शनप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

(9) दर्शनसार (आचार्य देवसेन)

(10) नयचक्र (लघु) (देवसेनाचार्य)

(11) बृ. नयचक्र (माइल्ल-धवल)

(12) नयचक्र-वृत्ति

(13) नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द)

(14) पद्मनन्दिपंचविंशतिका (आचार्य पद्मनन्दि)

(15) परमात्मप्रकाश (आचार्य योगीन्दु)

(16) प्रा. पंचसंग्रह

(17) पंचास्तिकाय (आचार्य योगीन्दु)

(18) प्रवचनसार (आचार्य कुन्दकुन्द)

(19) भगवती-आराधना (आचार्य शिवार्य)

(20) भावप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

(21) भावसंग्रह (आचार्य देवसेन)

(22) मूलाचार (आचार्य वट्टकेर)

(23) मोक्षप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

(24) योगसार (आचार्य योगीन्दु)

(25) रयणसार (आचार्य कुन्दकुन्द)

(26) वसुनन्दिश्रावकाचार (आचार्य वसुनन्दि)

(27) षट्खण्डागम
(आचार्य पुष्पदन्त व आचार्य भूतवली)

(28) समयसार (आचार्य कुन्दकुन्द)

(29) शीलप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

# सर्वोदया टीका में संस्कृत के उद्धृत ग्रन्थ

(1) अनगारधर्मामृत (पं. आशाधर)
(2) अमितगति-श्रावकाचार (आ. अमितगति)
(3) आत्मानुशासन (आचार्य गुणभद्र)
(4) आदिपुराण (आचार्य जिनसेन)
(5) आलापपद्धति (आचार्य देवसेन)
(6) इष्टोपदेश (आचार्य पूज्यपाद)
(7) उपासकाध्ययन (सोमदेव सूरि)
(8) कुरलकाव्य (तिरुवल्लुवर)
(9) गोम्मटसार टीका (संस्कृत)
(10) ज्ञानार्णव (आ. शुभचन्द्र) (शोलापुर संस्क.)
(11) तत्त्वानुशासन (आचार्य रामसेन)
(12) तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य उमास्वामी)
(13) तत्त्वार्थराजवार्तिक (आचार्य अकलंक)
(14) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (आ. विद्यानन्दि)
(15) धवला टीका (आचार्य वीरसेन)
(16) नारदीय शिक्षा
(17) पञ्चाध्यायी (पं. राजमल्ल)
(18) परमात्मप्रकाश-टीका (ब्रह्मदेव)
(19) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आचार्य अमृतचन्द्र)
(20) प्रमेयरत्नमाला (लघु अनन्तवीर्य)
(21) बृ. द्रव्यसंग्रह-टीका (ब्रह्मदेव-वृत्ति)
(22) बृ. स्वयम्भूस्तोत्र (आचार्य समन्तभद्र)
(23) भावना द्वात्रिंशिका (आचार्य अमितगति)
(24) मूलाचार (आचार्य कुन्दकुन्द)
(25) योगसार (आचार्य अमितगति)
(26) रत्नकरण्डश्रावकाचार (आ. समन्तभद्र)
(27) लाटी संहिता (श्रावकाचारसंग्रह में प्रकाशित)
(28) शुद्धोपयोग (गणाचार्य विरागसागर जी म.)
(29) समाधिभक्ति (आचार्य पूज्यपाद)
(30) समाधिशतक (तन्त्र) (आचार्य पूज्यपाद)
(31) सर्वार्थसिद्धि (आचार्य पूज्यपाद)
(32) समयसारकलश (आचार्य अमृतचन्द्र)
(33) सम्यग्दर्शन (गणाचार्य विरागसागर जी म.)
(34) सागारधर्मामृत (पं. आशाधर)
(35) सिद्धभक्ति (आचार्य पूज्यपाद)
(36) सुभाषितरत्नभाण्डागार
(37) स्याद्वादमञ्जरी (आचार्य मल्लिषेण)
(38) हरिवंश पुराण (आचार्य जिनसेन)

# 'सर्वोदया' टीका

## ( गाथा-47 से 91 तक ) में उद्धृत

## गाथा, पद्य, सूत्र आदि की अनुक्रमणिका

[उद्धृत गाथा आदि की वर्णक्रमानुरूप संयोजना में टीका-ग्रन्थ के पृष्ठ/गाथा संख्या के अनुक्रम को विशेष महत्त्व दिया गया है। अत: उद्धरणों का स्वकीय वर्णक्रम बाधित भी हुआ है। इसी तरह, एक ही वर्ण से प्रारम्भ होने वाले उद्धरणों में आदि वर्ण का अनुक्रम ठीक होने पर भी परवर्ती वर्णों के अनुक्रम को गौण कर दिया गया है। यदि कोई उद्धरण कई पृष्ठों में आया है तो पृष्ठानुसार उसकी पुनरावृत्ति भी हुई है। -संपा.]

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| अप्पा अप्पम्मि रओ | 945/82 | भावप्राभृत | 85 |
| अबुधस्य बोधनार्थं | 1038/91 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 6 |
| अलियं स किं पि | 830/74 | भगवती-आराधना (उ.) | 841 |
| अप्पडिकुट्टं उवधिं | 895/78 | प्रवचनसार | 3/23 |
| अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते | 536/48 | स्वयम्भूस्तोत्र | 98 |
| अप्पपसंसणकरणं | 544/49 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 92 |
| अइभीमदंसणेण य | 546/50 | प्राकृत पञ्चसंग्रह | 1/53 |
| अरहंतादिसु भत्ती | 558/52 | प्रवचनसार | 3/46 |
| अरिहंतसिद्धसाहुसु | 557/52 | पंचास्तिकाय | 136 |
| अप्पाणमयाणंतो | 566/52 | समयसार | 202 |
| अनुबृंहणाद् गुणानां | 582/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 67 |
| अलं विकल्पसंकल्पैः | 590/54 | लाटी संहिता | 4/189 |
| अक्रमकथनेन यतः | 591/54 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 19 |
| अरहंतसिद्धकेवलि | 592/54 | भगवती-आराधना | 1628 |
| अहिसेयफलेण णरो | 613/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 491 |
| अन्तरायः तस्य | 601/55 | धवला | 1/1, 1, सू. 1 |
| अतिक्रमो मानसशुद्धि | 616/56 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-टीका | 30 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| अणसंजोजिदसम्मे | 622/56 | गोम्मटसार, कर्मकाण्ड | 448 |
| अहमिंदा जह देवा | 629/57 | प्राकृत पञ्चसंग्रह | 1/65 |
| अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं | 659/61 | ज्ञानार्णव | 6/54 |
| अरहंत सिद्ध चेदिय | 676/63 | पंचास्तिकाय | 166 |
| अशुद्धे असंयत | 683/64 | समयसार ता. वृ. | 12 |
| अच्छइ जित्तिउ कालु | 703/67 | परमात्मप्रकाश | 2/38 |
| अनिगूहितवीर्यस्य | 704/67 | सर्वार्थसिद्धि | 6/24 |
| अनवधृतकाल | 711/67 | राजवार्तिक | 9/19/2 |
| अणुसूरी पडिसूरी य | 720/67 | भगवती-आराधना | 224 |
| अब्भावगास सयणं | 721/67 | भगवती-आराधना | 228 |
| अब्भुट्ठणं च रादो | 721/67 | भगवती-आराधना | 229 |
| अप्पसरूवालंबण | 725/67 | नियमसार | 119 |
| अस्थितानां योगानां | 736/67 | चारित्रसार | पृ.141 |
| अहवा सरीरसेज्जा | 738/67 | भगवती-आराधना | 171 |
| अरहंत सिद्ध चेइय | 746/67 | भगवती-आराधना | 45 |
| अब्भुट्ठाणं किदियम्मं | 749/67 | भगवती-आराधना | 121 |
| अद्धाण तेण सावय | 753/67 | भगवती-आराधना | 308 |
| अणिगूहिदबलविरिओ | 755/67 | भगवती-आराधना | 309 |
| अर्हद्ध्यानपरस्या | 756/67 | अनगारधर्मामृत | 7/92 |
| अष्टमूलगुणोपेतो | 772/69 | लाटी संहिता | 1/6 |
| अहो जिनोक्तिनिर्णीतिः | 781/69 | सागारधर्मामृत | 7/10 |
| अन्नं पानं खाद्यं | 782/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 142 |
| अस्त्यात्मैकशरीरार्थं | 788/69 | लाटी संहिता | 6/41 |
| अनुमतिरारम्भे वा | 789/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 146 |
| अह न भणइ तो | 792/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 307 |
| अप्पा अप्पम्मि रओ | 800/70 | भावप्राभृत | 85 |
| अयत्नेनापि सैवेयं | 809/71 | ज्ञानार्णव | 18/956 |
| अधिगेसु बहुसु | 816/72 | भगवती-आराधना | 1423 |
| अदिगूहिदा वि | 822/73 | भगवती-आराधना | 1426 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| असत्यमपि तत्सत्यं | 829/74 | ज्ञानार्णव | 9/3/533 |
| अप्पच्चओ अकित्ती | 830/74 | भगवती-आराधना | 842 |
| अर्पितानर्पितसिद्धे | 838/76 | तत्त्वार्थसूत्र | 5/32 |
| अन्येषां विजयो | 846/76 | कुरलकाव्य | 13/7 |
| अणिहुदमणसा | 846/76 | भगवती-आराधना | 1832 |
| अमणुण्णे य मणुण्णे | 846/76 | चारित्रसार | 29 |
| अच्छीहिं य पेच्छंता | 852/76 | मूलाचार | 856 |
| अह ढिंकुलिया झाणं | 870/77, 935/81 | भावसंग्रह | 386 |
| अग्निजलरुधिर | 874/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/102 |
| अष्टम्यामध्ययनं | 876/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/107 |
| अतितीव्रदु:खितानां | 877/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/110 |
| अज्झयणमेव झाणं | 862/77, 883/77 | रयणसार | 90 |
| अत्रेदानीं निषेधन्ति | 863/77 | तत्त्वानुशासन | 76 |
| अज्ज वि तिरयणसुद्धा | 863/77 | मोक्षप्राभृत | 77 |
| अण्णाणतिमिरहरणं | 882/77 | धवला | 1/1, 1, 1, सू. 1/51 |
| अप्पा य वंचिओ | 887/77 | भगवती-आराधना | 1448 |
| अहं ममेति संकल्प: | 899/78 | कुरलकाव्य | 35/6 |
| अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम | 901/79 | ज्ञानार्णव | 16/25 |
| अकिंचनोऽहमित्यास्स्व | 911/79 | आत्मानुशासन | 110 |
| अङ्गं यद्यपि योषितां | 919/80 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 12/14 |
| अपि मानसमुत्तुङ्गनग | 922/80 | ज्ञानार्णव | 11/33 |
| अच्चित्तदेवमाणुस | 924/80 | मूलाचार | 292 |
| अवि य वहो जीवाणं | 924/80 | भगवती-आराधना | 916 |
| अरसमरूवमगंधं | 942/82 | समयसार | 49 |
| अप्पाणमप्पणा | 947/82 | समयसार | 187 |
| अप्पाणं झायंतो | 947/82 | समयसार | 189 |
| अस्मिन् संसारकक्षे | 955/83 | ज्ञानार्णव | 7/23 |
| अत्थित्तणिच्छिदस्स | 959/84 | प्रवचनसार | 2/60 |
| असंजमो जदि कसाएसु | 969/85 | धवला | 7/2, 1 सू. 7 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| अट्ठविहं पि य कम्मं | 972/85 | समयसार | 45 |
| अयस्कान्तोपलाकृष्ट | 973/85 | पंचाध्यायी | 2/45 |
| अज्ञाननिवृत्तिः | 979/86 | परीक्षामुख | 4/1 |
| अइकुणइ तवं पालेउ | 981/86 | आराधनासार | 111 |
| अविक्षिप्तं यदा चेतः | 983/86 | ज्ञानार्णव | 26/19 |
| अन्तरबाहिरजप्पे | 995/87 | नियमसार | 150 |
| अनिगूहितवीर्यस्य | 998/88 | राजवार्तिक | 6/24/7 |
| अशरणमशुभमनित्यं | 1005/88 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 104 |
| असुहा अत्था कामा | 1008/88 | भगवती-आराधना | 1807 |
| अतिशयपूजार्ह | 1014/89 | धवला | 1/1, 1 सू. 1 |
| अरिहंत णमोक्कारं | 1014/89, 1015/89 | मूलाचार | 505, 506 |
| अरिहंति वंदण | 1014/89 | मूलाचार | 564 |
| अलमलमतिजल्पैः | 1016/90 | समयसार-कलश | 244 |
| अव्वावाहमणिंदिय | 1020/90 | नियमसार | 177 |
| अट्ठमखिदीए उवरि | 1022/90 | तिलोयपण्णत्ति | 9/3 |
| अध्यात्मयोगदेष्टारं | 1041 | प्रशस्ति, बारस अणुपेक्खा | 3 |
| अध्यात्मविद्यागगने | 1042 | प्रशस्ति, बारस अणुपेक्खा | 6 |
| अल्पश्रुतवतो | 1043 | प्रशस्ति, बारस अणुपेक्खा | 9 |
| अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं | 638/58 | ज्ञानार्णव | 2/4 |
| आदम्हि दव्वभावे | 963/84 | समयसार | 203 |
| आदसहावादण्णं | 963/84 | मोक्षप्राभृत | 17 |
| आद्यं शरीरसंस्कारो | 925/80 | ज्ञानार्णव | 11/7 |
| आहारदंसणेण य | 546/50 | प्राकृत पञ्चसंग्रह | 1/52 |
| आह्वाननं च प्रथमं | 609/55 | उमास्वामि-श्रावका. | 147 |
| आवलिमेत्तकालं | 622/56 | प्रा. पञ्चसंग्रह | 1/103 |
| आश्रुत्य स्नपनं | 606/55 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 6/22 |
| आस्रवनिरोधः | 657/61 | तत्त्वार्थसूत्र | 9/1 |
| आयंबिल णिव्वियडी | 719/67, 778/69, 723/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 351/292 |
| आलोयणापरिणदो | 726/67 | भगवती-आराधना | 408 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| आलोयणपडिकमणं | 728/67 | मूलाचार | 362 |
| आलोचनप्रतिक्रमण | 729/67 | तत्त्वार्थ सूत्र | 9/22 |
| आलोयणा हु दुविहा | 730/67 | भगवती-आराधना | 535 |
| आलोयणं दिवसियं | 731/67 | मूलाचार | 621 |
| आळोयणमालुंछण | 731/67, 992/87 | नियमसार | 107 |
| आकंपिय अणुमाणिय | 732/67, 992/87 | भगवती-आराधना | 564 |
| आराहणाइ वट्टइ | 734/67 | नियमसार | 84 |
| आयारजीवकप्प | 745/67 | भगवती-आराधना | 132 |
| आणा संजगसाखिल्लदा | 755/67 | भगवती-आराधना | 312 |
| आयापायविदण्हू | 759/67, 880/77 | भगवती-आराधना | 105 |
| आत्मायत्तं निराबाधम् | 764/68 | तत्त्वानुशासन | 242 |
| आकांक्षन् संयमं | 794/69 | सागारधर्मामृत | 7/44 |
| आक्रुष्टोऽहं हतो | 808/71 | ज्ञानार्णव | 18/943 |
| आदाणे णिक्खेवे | 856/76 | मूलाचार | 319 |
| आसाढे दुपदा छाया | 875/77 | मूलाचार | 272 |
| आगमउवदेसाणा | 864/77 | धवला | 13/5, 4, सू. 26 |
| आराहणणिज्जुत्ती | 879/77 | मूलाचार | 279 |
| आगमहीणो समणो | 881/77 | प्रवचनसार | 3/33 |
| आगमचक्खू साहू | 881/77 | प्रवचनसार | 3/34 |
| आगमपुव्वा दिट्ठी | 881/77 | प्रवचनसार | 3/36 |
| आदौ तनोर्जननमत्त | 891/78 | आत्मानुशासन | 195 |
| आत्मद्रव्यस्य द्वितीय | 897/78 | प्रवचनसार, तत्त्वदीपिका | 3/22 |
| आत्मवस्तुनो हि | 953/83 | समयसार, आ. ख्या. | 265 |
| आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं | 982/86 | योगसार | 7/43 |
| आलोयणं दिवसियं | 992/87 | मूलाचार | 621 |
| आहारे य विहारे देसं | 998/88 | प्रवचनसार | 3/31 |
| आत्मा किल परमार्थ: | 1011/89 | समयसार | 204 |
| आउस्स खयेण पुणो | 1020/90 | नियमसार | 175 |
| इह जाहि बाहिया | 546/50 | प्रा. पञ्चसंग्रह | 1/51 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| इत्थिकहा अत्थकहा | 576/53 | मूलाचार | 857 |
| इच्छुरससप्पिदहि | 607/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 454 |
| इरियावहकम्मं गहिदं | 619/56 | धवला | 13/5, 4 सू. 24 |
| इन्द्रियकषायाव्रत | 628/57 | तत्त्वार्थ सूत्र | 6/5 |
| इदं पूर्वोक्तं पुण्यं | 641/58 | परमात्मप्रकाश टीका | 2/60 |
| इच्चेव माइया जे | 661/61 | प्राकृत पञ्चसंग्रह | 1/164 |
| इह परलोय सुहाणं | 705/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 400 |
| इत्तिरियं जावजीवं | 710/67 | मूलाचार | 347 |
| इष्टफलानपेक्षं | 711/67 | सर्वार्थसिद्धि | 9/19 |
| इरियागोयर सुमिणा | 736/67 | मूलाचार | 630 |
| इंदिय कसाय उवधीण | 738/67 | भगवती-आराधना | 170 |
| इंदियकसायपणिधाणं | 748/67 | भगवती-आराधना | 114 |
| इच्चेवमानि विणओ | 750/67 | भगवती-आराधना | 124 |
| इय एसो पच्चक्खो | 751/67 | भगवती-आराधना | 128 |
| इय सक्खापच्चक्खं | 758/67 | तिलोयपण्णत्ती | 1/38 |
| इदं पडिंददिगिंद | 758/67 | तिलोयपण्णत्ति | 1/40 |
| इत: पूर्वं कदाचिद् | 781/69 | लाटीसंहिता | 6/16 |
| इत: पूर्वं सुवर्णादि | 788/69 | लाटीसंहिता | 6/40 |
| इह य परत्तय लोए | 816/72, 823/73, 841/75 | भगवती-आराधना | 1423 |
| इंदियदुद्दंतस्सा | 846/76 | भगवती-आराधना | 1831 |
| इरियावहपडिवण्णेण | 848/76 | मूलाचार | 303 |
| इय संसारं जाणिय | 890/78 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 73 |
| इहलोगणिरावेक्खो | 895/78 | प्रवचनसार | 3/26 |
| इत्थिविसयाभिलासो | 915/80 | भगवती-आराधना | 873 |
| इय सत्त्वदुलहदुलहं | 986/86 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 301 |
| इहलोगियपरलोगिय | 1008/88 | भगवती-आराधना | 1808 |
| ईर्यासमिति | 797/69 | लाटी संहिता | 6/61 |
| ईर्यापथशुद्धि: | 849/76 | राजवार्तिक | 9/6/16 |
| उत्ताणधवलछत्तो | 1023/90 | तिलोयपण्णत्ति | 8/657 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| उवयरण दंसणेण य | 547/50 | प्राकृत पञ्चसंग्रह | 1/55 |
| उद्वम मिथ्यात्वविषं | 558/52 | बृ. द्रव्य संग्रह टीका | 38 |
| उवकुणदि जो वि | 558/52 | प्रवचनसार | 3/49 |
| उसहसेणादिगणहर | 562/52 | धवला | 9/4, 1, सू. 1 |
| उक्किट्ठो जो बोहो | 724/67 | नियमसार | 116 |
| उत्तरगुण उज्जमणे | 748/67 | भगवती-आराधना | 118 |
| उवसंतवयणमगिहत्थ | 750/67 | भगवती-आराधना | 126 |
| उहयगुणवसण | 773/69 | रयणसार | 8 |
| उत्तविहाणेण तहा | 777/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 288 |
| उपवासाक्षमैः | 778/69 | सागारधर्मामृत | 5/35 |
| उपवासं कुव्वंतो | 779/69 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 378 |
| उत्कृष्टः श्रावको | 796/69 | लाटी संहिता | 6/55 |
| उत्तमणाणपहाणो | 812/72 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 395 |
| उचितं बुध चेद् | 828/74 | कुरलकाव्य | 20/7 |
| उत्तमक्षमामार्दवा | 838/75 | तत्त्वार्थसूत्र | 7/12 |
| उच्चारं पस्सवणं | 858/76 | मूलाचार | 322 |
| उपधित्यागः पुरुष | 898/78 | राजवार्तिक | 9/6/27 |
| उपात्तेष्वपि | 911/79 | सर्वार्थसिद्धि | 9/6 |
| उवओगमओ जीवो | 961/84 | प्रवचनसार | 2/83 |
| उप्पादेदि करेदि य | 971/85 | समयसार | 107 |
| उत्तरोत्तरभेदैश्च | 975/85 | पञ्चाध्यायी | 2/1000 |
| उत्तरदक्खिणभाए | 1022/90 | विलोयपण्णत्ति | 8/654 |
| उत्तानधवलछत्तो | 1023/90 | तिलोयपण्णत्ति | 8/657 |
| ऊर्ध्वार्काद्ययनैः | 719/67 | अनगारधर्मामृत | 7/32 |
| एदाए बहुमज्झे खेत्तं | 1023/90 | तिलोयपण्णत्ति | 8/656 |
| एसा छव्विह पूजा | 609/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 478 |
| एया वि सा समत्था | 611/55 | भगवती-आराधना-टीका | 745 |
| एत एव दुरवधीरता | 648/60 | धवला | 9/4, सू. 45 |
| एवं जाणंतो वि हु | 653/60 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 93 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| एदे मोहयभावा | 654/60 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 94 |
| एदे संवरहेदू | 680/63 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 100 |
| एगादिगिहपमाणं | 714/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 445 |
| एत्थ दु उज्जगभावा | 727/67 | भगवती-आराधना-टीका | 619 |
| एदं कत्थ होदि? | 736/67 | धवला | 13/5, 4 सू. 26 |
| एसा पसत्थभूदा | 753/67 | प्रवचनसार | 3/54 |
| एदे गुणा महल्ला | 754/67 | भगवती-आराधना | 331 |
| एयारसम्मि ठाणे | 790/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 301 |
| एमेव होइ विदिओ | 795/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 311 |
| एकमेव पदं | 828/74 | कुरलकाव्य | 13/8 |
| एकैककरणपरवश | 845/76 | ज्ञानार्णव | 18/150 |
| एगंते अच्चित्ते दूरे | 857/76 | मूलाचार | 15 |
| एयग्गगदो समणो | 880/77 | प्रवचनसार | 3/32 |
| एतावनादिसम्भूतौ | 906/79 | ज्ञानार्णव | 21/21 |
| एवं विसग्गिभूदं | 916/80 | ज्ञानार्णव | 875 |
| एकाक्यपि जयत्येष | 920/80 | ज्ञानार्णव | 11/19 |
| एष ज्ञानघनो नित्यम् | 954/83 | समयसार कलश | 15 |
| एवं णाणप्पाणं | 965/84 | प्रवचनसार | 2/100 |
| एदे अचेदणा खलु | 970/85 | समयसार | 111 |
| एकेनात्मपरिणामेन | 976/85 | सर्वार्थसिद्धि | 8/4 |
| एकस्मिन् निगोतशरीरे | 984/86 | सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक | 9/7 |
| एषा सर्वोदयी टीका | 1043 | प्रशस्ति | 10 |
| ओघेणालोचेदि हु | 730/67 | भगवती-आराधना | 536 |
| औदारिकवैक्रियिक | 602/55 | नियमसार, ता. बृ. | 43 |
| कर्मणामसंख्यातगुण | 561/52 | धवला | 1/1, 1, सू. 1 |
| कक्कस्सवयणं | 827/74 | भगवती-आराधना | 824 |
| कर्मपरवशे सान्ते | 834/75 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 12 |
| कहियाणि दिट्ठिवाए | 869/77, 934/81 | भावसंग्रह | 383 |
| कन्दर्पदर्पदलनो | 578/53 | ज्ञानसार | 4 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| कम्ममसुहं कुसीलं | 639/58 | समयसार | 145 |
| कम्मं बद्धमबद्धं जीवे | 652/60, 949/82 | समयसार | 142 |
| कलङ्कविलयः साक्षात् | 669/62 | ज्ञानार्णव | 20/6 |
| कषायवैरिव्रजनिर्जयं | 670/62 | ज्ञानार्णव | 18/118 |
| कम्मबन्धो हि णाम | 677/63, 904/79 | धवला | 12/4, 2, 8-3 |
| कलहो बोलो झंझा | 718/67 | भगवती-आराधना | 234 |
| कल्ले परे व परदो | 726/67 | भगवती-आराधना | 543 |
| कम्ममहीरुहमूल | 731/67 | नियमसार | 110 |
| कम्मादो अप्पाणं | 732/67 | नियमसार | 111 |
| कम्मं जं पुव्वकयं | 733/67 | समयसार | 383 |
| कम्माण णिज्जरट्ठं | 708/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 441 |
| कषायविषयारम्भ | 779/69 | व्रतविधान संग्रह (उ.गा.) | |
| कलहादि धूमकेदू | 875/77 | मूलाचार | 275 |
| कलहं वादं जूवा | 908/79 | लिंगप्राभृत | 6 |
| कर्ता कर्मणि नास्ति | 909/79 | समयसार कलश | 98 |
| कम्मं णामसमक्खं | 958/84 | प्रवचनसार | 2/25 |
| कम्मं जं सुहमसुहं | 989/87 | समयसार | 384 |
| कम्ममलविप्पमुक्को | 1019/90 | पंचास्तिकाय | 28 |
| कगचजतदपयवां | 795/69 | हैमप्राकृत व्याकरण | 1/77 |
| कायमणोवचिगुत्तो | 707/67 | राजवार्तिक (उ.गा.) | 8/23/7 |
| काऊण य किदियम्मं | 735/67 | मूलाचार | 620 |
| कायाईपरदव्वे थिरभाव | 739/67 | नियमसार | 121 |
| काले विणये उवधाणे | 747/67 | भगवती-आराधना | 112 |
| काइयवाइय माणसिओ | 749/67 | भगवती-आराधना | 120 |
| काउस्सग्गम्हि | 774/79 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 276 |
| कालकूटादहं मन्ये | 920/80 | ज्ञानार्णव | 11/21 |
| किं जं सो गिहवंतो | 869/77, 934/81 | भावसंग्रह | 384 |
| किण्हादि तिलेस्सजुदा | 551/51 | तिलोयपण्णत्ति | 2/296 |
| किमट्ठं एसो | 711/67 | धवला | 13/5, 4 सू. 26 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| किं बहुणा भणिएण | 724/67 | नियमसार | 117 |
| कित्ती मेती माणस्स | 745/67 | भगवती-आराधना | 133 |
| किञ्च गन्धादि | 794/69 | लाटीसंहिता | 6/69 |
| किम्पाकफलसंभोग | 926/80 | ज्ञानार्णव | 11/10 |
| किञ्चास्ति यौगिकी | 937/81 | पञ्चाध्यायी | 2/709 |
| कुसुमेहिं कुसेसयवयणु | 612/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 485 |
| कुलरूवाणाबलसुद | 818/72 | भगवती-आराधना | 1369 |
| कुक्कुयकंदप्पाइय | 852/76 | मूलाचार | 860 |
| कुणिमकुडिभवा | 1009/89 | भगवती-आराधना | 1809 |
| कृष्णचतुर्दश्यां | 876/77 | धवला | 9/4,1, सू. 54/108 |
| कृतकृत्य: परमपदे | 1028/91 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 224 |
| केनाप्यस्ति न | 910/79 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 23/4 |
| केवलाणाणी जाणदि | 1024/90 | नियमसार | 159 |
| को जाणइ णवभावे | 539/48 | गोम्मटसार, कर्मकाण्ड | 886 |
| को जाणइ सत्तचऊ | 540/48 | गोम्मटसार, कर्मकाण्ड | 887 |
| कोहादिसगब्भावक्खय | 724/67 | नियमसार | 114 |
| कोहं खमया | 806/71 | नियमसार | 115 |
| क्रोधवह्ने: क्षमैकेयं | 807/71 | ज्ञानार्णव | 18/49/939 |
| को इत्थ मज्झ | 816/72 | भगवती-आराधना | 1422 |
| कोहो माणो लोहो य | 825/74 | भगवती-आराधना | 1381 |
| को णाम भणेज्ज बुहो | 963/84 | समयसार | 207 |
| कौपीनोपधिमात्रत्वात् | 790/69 | लाटीसंहिता | 6/58 |
| क्षेत्रं संशोध्य पुन: | 878/77 | धवला | 9/4, 1, सू. 34/103 |
| खवियघाइकम्मा | 600/55 | धवला | 9/4, 1, 1 सू. 10 |
| खविदघातिकम्मा | 1012/89 | धवला | 8/3, सू. 41 |
| खीरद्धिसलिल | 607/55 | तिलोयपण्णत्ति | 8/584 |
| खीरदहिसप्पि | 716/67 | भगवती-आराधना | 217 |
| गब्भावतारजम्मा | 607/55 | वसुनन्दीश्रावकाचार | 453 |
| गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं | 745/67 | अनगारधर्मामृत | 7/57 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| गंतूण णिययगेहं | 777/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 289 |
| गंतूण गुरुसमीवं | 794/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 310 |
| गर्वप्रत्यग्नगकवलिते | 817/72 | अनगारधर्मामृत | 6/10 |
| गंधरसफासरूवा | 1034/91 | समयसार | 60 |
| गुणाधिकतया मन्ये | 671/62 | ज्ञानार्णव | 19/75 |
| गुणाधिए उवज्झाए | 752/67 | मूलाचार | 390 |
| गुणपरिणामादीहिं य | 754/67 | भगवती-आराधना | 330 |
| गुणपरिणामो सड्ढा | 755/67 | भगवती-आराधना | 311 |
| गुरुपुरओ किदियम्मं | 776/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 283 |
| गुणगुणिपज्जय | 1034/91 | बृहद् नयचक्र | 219 |
| गृहतो मुनिवनमित्वा | 790/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 147 |
| गेहे वट्टंतस्स य | 935/81 | भावसंग्रह | 391 |
| गोयरपमाण दाय | 714/67 | मूलाचार | 355 |
| घरवावारा | 870/77, 934/81 | भावसंग्रह | 385 |
| घंटाहि घंटसद्दा | 612/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 489 |
| घोडगलिंडसमाणस्स | 820/73 | भगवती-आराधना | 1341 |
| घणघाइकम्मरहिया | 1013/89 | नियमसार | 71 |
| चंडो ण मुयदि वेरं | 551/51 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 509 |
| चतुराहारविसर्जन | 586/54, 709/67, 775/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 109 |
| चरणम्मि तम्मि जो | 705/67, 884/77 | भगवती-आराधना | 10 |
| चतुर्विधेन संघेन | 744/67 | आचारसार | 6/64 |
| चरणज्ञानयोर्बीजं | 765/68 | ज्ञानार्णव | 6/53 |
| चतुरार्वतत्रितयश्चतु: | 774/69, 1004/88 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 139 |
| चरदि णिबद्धो | 833/75 | प्रवचनसार | 3/14 |
| चदुरंगुला च जिब्भा | 845/76 | मूलाचार | 991 |
| चउगइसंभमणं | 690/65 | नियमसार | 42 |
| चागो य अणारंभो | 596/54 | प्रवचनसार | 3/39 |
| चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघ | 889/78 | नियमसार ता. बृ. | 6 |
| चिदचिद्रूपिभावेषु | 906/79 | ज्ञानार्णव | 21/23 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| चिन्तन्तो ससरूवं | 1005/88 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 372 |
| चेदणपरिणामो जो | 658/61 | बृ. द्रव्यसंग्रह | 34 |
| चेतोभ्रान्तिकरी नरस्य | 918/80 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 12/6 |
| चैत्यालयस्थ: स्वाध्यायं | 789/69 | सागारधर्मामृत | 7/31 |
| चोराण मिच्छवाण | 908/79 | लिंगप्राभृत | 10 |
| छत्तेहिं एयछत्तं भुंजइ | 613/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 490 |
| छट्ठट्ठमदसमदु | 710/67, 757/67, 872/77 | मूलाचार/भगवती-आराधना | 348/108 |
| छादालदोससुद्धं | 854/76 | मूलाचार | 13 |
| छेदो जेण ण विज्जदि | 895/78 | प्रवचनसार | 3/22 |
| छेदपउत्तो समणो | 725/67 | प्रवचनसार | 3/12 |
| जरवाहिजम्ममरणं | 1013/89 | बोधप्राभृत | 30 |
| जह कोइ तत्तलोहं | 805/71 | भगवती-आराधना | 1356 |
| जत्तो पाणवधादी | 827/74 | भगवती-आराधना | 825 |
| जह सीलरक्खयाणं | 917/80 | भगवती-आराधना | 988 |
| जं पुणु वि णिरालंबं | 934/80 | भावसंग्रह | 381 |
| जह गेरुवेण कुड्डो | 549/51 | प्रा. पञ्चसंग्रह | 1/143 |
| जह जह सुदमोग्गाहदि | 561/52, 759/67 | भगवती-आराधना | 104 |
| जह बालो जंपंतो | 593/54 | मूलाचार | 56 |
| जलधाराणिक्खेवेण | 611/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 483 |
| जस्स ण विज्जदि | 671/62 | पञ्चास्तिकाय | 142 |
| जस्स हिदएणुमेत्तं | 676/63 | पञ्चास्तिकाय | 167 |
| जह ण वि | 692/65, 1037/91 | समयसार | 8 |
| जं अण्णाणी कम्मं | 702/67, 757/67, 872/77 | भगवती-आराधना | 107 |
| जह ण करेदि तिगिच्छं | 727/67 | भगवती-आराधना | 455 |
| जं सुहमसुहमुदिण्णं | 729/67, 991/87 | समयसार | 385 |
| जह-जह सुदमोग्गाहदि | 759/67, 880/77 | भगवती-आराधना | 104 |
| जं च कामसुहं | 765/68 | मूलाचार | 1144 |
| जह तारयाण चंदो | 766/68 | भावप्राभृत | 143 |
| जह उक्कस्सं तह | 777/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 290 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| जं वज्जिज्जइ हरियं | 780/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 295 |
| जं किंचि गिहारम्भं | 786/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 298 |
| जइ अद्धवहे कोइ | 792/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 306 |
| जं किं पि पडिय | 792/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 308 |
| जइ एवं ण रएज्जो | 793/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 309 |
| जदिदा सवदि | 808/71 | भगवती-आराधना | 1415 |
| जगद्-वैचित्र्येऽस्मिन् | 817/72 | अनगारधर्मामृत | 6/11 |
| जणपायडो वि दोसो | 823/73 | भगवती-आराधना | 1428 |
| जध कोडिसमिद्धो वि | 824/73 | भगवती-आराधना | 1376 |
| जगत्कायस्वभावौ वा | 837/75 | तत्त्वार्थसूत्र | 7/12 |
| जदि तं हवे असुद्धं | 858/76 | मूलाचार | 324 |
| जं थिरमज्झवसाणं | 862/77 | धवला | 13/5, 4 सू. 26 गा.12 |
| जम्भाजृम्भाक्षुतोद्गार | 866/77 | हरिवंशपुराण | 56/37 |
| जह वा घणसंघाया | 868/77 | धवला | 13/5, 4, सू. 26 |
| जं किंचि वि चिंतंतो | 868/77, 983/86 | बृ. द्रव्यसंग्रह | 55 |
| जह गिरिणई तलाए | 935/81 | भावसंग्रह | 392 |
| जं सुत्तं जिणउत्तं | 949/82 | सूत्रप्राभृत | 6 |
| जह कंचणं विसुद्धं | 957/83 | शीलप्राभृत | 9 |
| जह णाम को वि | 963/84 | समयसार | 35 |
| जम्हा कम्मस्स फलं | 972/85 | पञ्चास्तिकाय | 133 |
| जदि मिच्छत्तादि | 974/85 | धवला | पु. 15, पृ. 34 |
| जदि सक्कदि कादुं जे | 998/88 | नियमसार | 154 |
| जं च समो अप्पाणं | 1000/88 | मूलाचार | 521 |
| जस्स सन्निहिदो | 1000/88 | नियमसार | 127 |
| जस्स रागो दु | 1001/88 | नियमसार | 128 |
| जस्स संनिहिदो | 1001/88 | नियमसार | 127 |
| जइ जिणमयं | 1039/91 | आत्मख्याति (समयसार) | 12 |
| ज्येष्ठाभिधे शुभे | 1043 | प्रशस्ति, | 12 |
| जायइ अक्खयणिहि | 611/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 484 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| जायइ णिविज्जदाणेण | 612/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 486 |
| जावंति केइ संगा | 565/52, 907/79 | भगवती-आराधना | 266 |
| जाम ण छंडइ गेहं | 935/81 | भावसंग्रह | 393 |
| जायदि णेव ण णस्सदि | 959/84 | प्रवचनसार | 2/27 |
| जाइजरामरणरहियं | 1020/90 | नियमसार | 176 |
| जानन्नप्येष विश्वं | 1025/90 | प्रवचनसारकलश | 4 |
| जाणंतो पस्संतो | 1025/90 | नियमसार | 172 |
| जिदउवसग्गपरीसह | 1000/88 | मूलाचार | 520 |
| जिणवयण धम्म चेइय | 1004/88 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 275 |
| जिना: कर्तार: व्रजन्ति | 1024/90 | परमात्मप्रकाश टीका | 2/4 |
| जिदकोहमाणमाया | 1013/89 | मूलाचार | 563 |
| जिणबिंबदंसणेण | 604/55 | धवला | 6/1, 9-9 सू. 22 |
| जिब्भोवत्थणिमित्तं | 845/76 | मूलाचार | 990 |
| जिणवयणभासिदत्थं | 853/76 | मूलाचार | 862 |
| जिणसाहु गुणकित्तण | 864/77 | धवला | 13/5, 4, सू. 26 गा. 55 |
| जिणसत्थादो अट्ठे | 880/77 | प्रवचनसार | 1/86 |
| जियमोहिंधणजलणो | 882/77 | धवला | 1/1, 1 सू. 1/50 |
| जिणवयणमोसहमिणं | 883/77 | दर्शनप्राभृत | 17 |
| जिणवरमएण जोई | 947/82 | मोक्षप्राभृत | 20 |
| जीवस्स णत्थि रागो | 970/85 | समयसार | 51 |
| जीवदया दम सच्चं | 595/54 | शीलप्राभृत | 19 |
| जीवो बंभा जीवम्मि | 929/80 | भगवती-आराधना | 872 |
| जीवे कम्मं बद्धं | 941/82 | समयसार | 141 |
| जीवो ववगदमोहो | 945/82 | प्रवचनसार | 1/81 |
| जीवो भवं भविस्सदि | 958/84 | प्रवचनसार | 2/20 |
| जीवादिबहित्तच्चं | 964/84 | नियमसार | 38 |
| जीवभावविकारस्य | 973/85 | पञ्चाध्यायी | 2/109 |
| जीवाणं पुग्गलाणं | 1021/90 | नियमसार | 183 |
| जुत्ता घणोवहिघणा | 1023/90 | तिलोयपण्णत्ति | 8/655 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| जे के वि दव्वसमणा | 938/81 | भावप्राभृत | 121 |
| जे झायंति सदव्वं | 946/82, 966/84 | मोक्षप्राभृत | 19 |
| जे पुण विसयविरत्ता | 956/83 | शीलप्राभृत | 8 |
| जे णयदिट्ठिविहीणा | 1030/91 | बृहद् नयचक्र | 181 |
| जो चरदि णादि पिच्छदि | 944/82 | पंचास्तिकाय | 162 |
| जो भणइ कोइ एवं | 869/77, 934/81 | भावसंग्रह | 382 |
| जो जाणादि जिणिंदे | 557/52 | प्रवचनसार | 2/65 |
| जोगपउत्ती लेस्सा कसाय | 549/51 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 490 |
| जो पुण विसयविरत्तो | 680/63 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 101 |
| जो संवरेण जुत्तो | 696/66 | पञ्चास्तिकाय | 145 |
| जो मण इंदियविजई | 708/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 440 |
| जो रायदोसहेदू | 717/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 447 |
| जो णिवसेदि मसाणे | 717/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 449 |
| जो पस्सदि अप्पाणं | 730/67, 932/87 | नियमसार | 109 |
| जो उवयरदि जदीणं | 752/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 459 |
| जो वावरइ सरूवे | 752/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 460 |
| जो दिढचित्तो | 772/69 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 329 |
| जो पस्सइ समभावं | 774/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 277 |
| जो रयणत्तयजुत्तो खमादि | 800/70 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 392 |
| जो ण य कुणदि | 813/72 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 313 |
| जो अवमाणणकरणं | 816/72 | भगवती-आराधना | 1423 |
| जो चितंइ ण वंकं | 822/73 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 396 |
| जोगेसु मूलजोगं | 826/74 | मूलाचार | 939 |
| जो दु ण करेदि | 835/75 | समयसार | 230 |
| जो सग्गसुहणिमित्तं | 835/75 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 416 |
| जो जीवरक्खणपरो | 859/76 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 399 |
| जो चयदि मिट्ठभोज्जं | 896/78 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 401 |
| जो देहे णिरवेक्खो | 905/79 | मोक्षप्राभृत | 12 |
| जो णवि जादि वियारं | 921/80 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 404 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| जो परिहरेदि संगं | 928/80 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 403 |
| जो इच्छइ निस्सरिदुं | 946/82 | मोक्षप्राभृत | 26 |
| जो सव्वसंगमुक्को | 947/82 | समयसार | 188 |
| जो ण वि जाणदि | 980/86 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 466 |
| जो जाणइ समवायं | 1000/88 | मूलाचार | 522 |
| जो समो सव्वभूदेसु | 1001/88 | मूलाचार | 526 |
| जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु | 1001/88 | नियमसार | 126 |
| जो दु अट्टं च रुद्दं | 1002/88 | नियमसार | 129 |
| जो दु पुण्णं च पावं | 1002/88 | नियमसार | 130 |
| जो दु हस्सं रई सोगं | 1002/88 | नियमसार | 131 |
| जो दुगुंछा भयं वेदं | 1002/88 | नियमसार | 132 |
| जो दु धम्मं च सुक्कं | 1002/88 | नियमसार | 133 |
| जो ण पमाणणएहिं | 1030/91 | तिलोयपण्णत्ती | 1/82 |
| जो सिय भेदुवयारं | 1033/91 | बृहद् नयचक्र | 262 |
| ज्ञो भुञ्जानोऽपि नो | 570/52 | अनगारधर्मामृत | 8/3 |
| ज्ञानं पूजां कुलं | 815/72 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 25 |
| झाणाणं संताणं | 870/77, 935/81 | भावसंग्रह | 387 |
| ठाणसयणासणेहिं | 718/67 | मूलाचार | 356 |
| डंभसएहिं बहुगेहिं | 823/73 | भगवती-आराधना | 1429 |
| णट्ठट्ठकम्मबन्धा | 1019/90 | नियमसार | 72 |
| ण य परिभवइ परं | 553/51 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 513 |
| णडभडमल्लकहाओ | 576/53 | मूलाचार | 858 |
| ण्हाण विलेयण भूसण | 586/54 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 538 |
| ण ताव जिणो | 610/55 | धवला | 9/4, 1, 1, सू. 8 |
| णत्थि णएण विहूणं | 646/60, 1029/91 | धवला | 1/1, 1, 1 गा. 68 |
| ण य परिहायदि | 819/72 | भगवती-आराधना | 1374 |
| ण वि ते अभित्थु | 826/74 | मूलाचार | 819 |
| ण डहदि अग्गी | 831/74 | भगवती-आराधना | 832 |
| णवकम्माणादाणं | 867/77 | धवला | 13/5, 4 सू. 26 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| णव सत्तपंचगाहा | 875/77 | मूलाचार | 273 |
| ण हि णिरवेक्खो | 896/78 | प्रवचनसार | 3/20 |
| ण वि सिज्झइ | 931/80 | सूत्रप्राभृत | 23 |
| ण उ होदि मोक्खमग्गो | 943/82 | समयसार | 409 |
| ण वि एस मोक्खमग्गो | 943/82 | समयसार | 410 |
| णरणारयतिरियसुरा जीवा | 959/84 | प्रवचनसार | 2/26 |
| णरणारयतिरियसुरा संठाणा | 959/84 | प्रवचनसार | 2/61 |
| णट्ठट्ठकम्मसुद्धा | 1019/90 | बृहद् नयचक्र | 106 |
| णवि दुक्खं णवि सुक्खं | 1020/90 | नियमसार | 178 |
| णवि इंदिय उवसग्गा | 1020/90 | नियमसार | 179 |
| णवि कम्मं णोकम्मं | 1020/90 | नियमसार | 180 |
| ण च ते संसारे | 1022/90 | धवला | 4/1, 5 सू. 310 |
| णाणाधम्मजुदं पि य | 648/60 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 264 |
| णारयतिरिक्खिणरसुर | 542/49 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 288 |
| णाणे णाणुवयरणे य | 747/67 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 322 |
| णाणं सिक्खदि णाणं | 747/67 | मूलाचार | 368 |
| णाणुवहिं संजमुवहिं | 856/76 | मूलाचार | 14 |
| णाणं चरित्तहीणं | 956/83 | शीलप्राभृत | 5 |
| णाहं होमि परेसिं | 965/84 | प्रवचनसार | 2/99 |
| णामादीणं छण्हं | 989/87 | मूलाचार | 27 |
| णिव्वाणसाधए जोगे | 811/72 | मूलाचार | 577 (512) |
| णिच्छयणयस्स एवं | 944/82 | मोक्षप्राभृत | 83 |
| णिद्दावंचणबहुलो | 552/51 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 511 |
| णिज्जियसासो | 577/53 | बृहद् नयचक्र | 389 |
| णिच्छयववहारणया | 650/60, 1031/91 | आलाप पद्धति | गा. 4, सू. 40 |
| णिच्छयणयासिदा | 688/65, 879/81 | समयसार | 272 |
| णिस्संगो णिरारंभो | 811/72 | मूलाचार | 1002 |
| णिच्छयणयेण भणिदो | 944/82 | पंचास्तिकाय | 161 |
| णिच्छयणयस्स एवं आदा | 972/85 | समयसार | 83 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| णिव्वाणमेव सिद्धा | 1021/90 | नियमसार | 182 |
| णीचं ठाणं णीचं | 749/67 | भगवती-आराधना | 122 |
| णेरइयतिरियमणुआ | 959/84 | पंचास्तिकाय | 55 |
| णेयं खु जत्थ णाणं | 1035/91 | बृहद् नयचक्र | 320 |
| णोकम्मकम्मरहियं | 731/67 | नियमसार | 107 |
| तपो मनोक्षकायानां | 884/77 | अनगारधर्मामृत | 7/2 |
| तध रोसेण सयं | 805/71 | भगवती-आराधना | 1357 |
| तह सयणसोधणं पि | 926/80 | मूलाचार | 999 |
| तम्मज्झबहलमट्ठं | 1023/90 | तिलोयपण्णत्ति | 8/658 |
| तदेव च स्यान्न तदेव | 536/48 | स्वयम्भूस्तोत्र | 42 |
| तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं | 539/48 | भगवती-आराधना | 55 |
| तत्तो चेव सुहाइं | 562/52, 882/77 | धवला | 1/1, 1, सू. 1 |
| ततो विसर्जनं कार्यं | 610/55 | उमास्वामिश्रावका. | 148 |
| तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्या | 633/57 | तत्त्वार्थसूत्र | 6/10-27 |
| तद्वतोऽपि चैतन्या | 630/57 | त. राजवार्तिक | 2/19/12 |
| तम्हा अहिगयसुत्तेण | 647/60 | धवला | 1/1, 1, 1 गा. 69 |
| तदप्यलब्धमाहात्म्यं | 664/61 | अनगारधर्मामृत | 2/59 |
| तम्हा णिव्वुदिकामो | 677/63 | पंचास्तिकाय | 169 |
| तवसा विणा न मोक्खो | 697/66 | भगवती-आराधना | 1840 |
| तवसा चेव न मोक्खो | 697/66 | भगवती-आराधना | 1848 |
| तदेतन्नवविधं | 728/67 | राजवार्तिक | 9/22/10 |
| तत्तं पक्कं सुक्कं | 782/69 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 379 |
| तत्राप्यन्यतमे गेहे | 793/68 | लाटीसंहिता | 6/67 |
| तत्रैलकः स गृह्णाति | 796/69 | लाटीसंहिता | 6/56 |
| तस्मै देहि क्षमादानं | 806/71 | कुरलकाव्य | 16/2 |
| तत्सत्यमपि नो | 830/74 | उपासकाध्ययन | 28/377 |
| तच्चवियारणसीलो | 833/75 | रयणसार | 93 |
| तम्हा सो सालंबं | 870/77 | भावसंग्रह | 388 |
| तपसि द्वादशसंख्ये | 876/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/105 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| तं पढिदुमसज्झाये | 879/77 | मूलाचार | 278 |
| तं णत्थि जं न लब्भइ | 885/77 | भगवती–आराधना | 1467 |
| त्याग: सर्वाभिलाषस्य | 890/78 | पञ्चाध्यायी | 2/443 |
| ततः प्रेमानुबन्धः | 914/80 | ज्ञानार्णव | 14/17 |
| तह सयणसोधणं | 926/80 | मूलाचार | 999 |
| तम्हा जहित्तु लिंगे | 943/82 | समयसार | 411 |
| तच्चाणेसणकाले | 948/82 | बृहद् नयचक्र | 268 |
| तन्निमित्तात् पृथग्भूतो | 974/85 | पंचाध्यायी | 2/110 |
| तल्लाभे च देश | 985/86 | सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक | 9/7 |
| तं पुण अट्ठविहं | 975/85 | गोम्मटसार, कर्मकाण्ड | 7 |
| तह जीवे कम्माणं | 1034/91 | समयसार | 59 |
| तस्योपरीहाद्य तु | 1042 | प्रशस्ति | 7 |
| ततोऽहमल्पश्रुत | 1042 | प्रशस्ति | 8 |
| तावन्मात्रे स्थावर | 873/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/97 |
| ताव ण जाणदि णाणं | 956/83 | शीलप्राभृत | 4 |
| तिण्णं रयणाण | 704/67 | धवला | 13/5, 4 सू. 26 |
| तित्थयराणाकोपो | 755/67 | भगवती–आराधना | 310 |
| तिष्ठेच्चैत्यालये | 796/69 | लाटी संहिता | 6/59 |
| तिविहा य होइ | 834/75 | मूलाचार | 249 |
| तिलपलल पृथुक | 872/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/93 |
| तेल्लोकाडविडहणो | 923/80 | भगवती–आराधना | 1109 |
| तेसिं पुणो वि य | 624/56 | समयसार | 110 |
| ते सावेक्खा सुणया | 649/60 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 266 |
| ते होंति णिव्वियारा | 853/76 | मूलाचार | 861 |
| ते पुणु वंदउ | 1024/90 | परमात्मप्रकाश | 1/4 |
| त्रिवर्गं तत्र सापायं | 1009/89 | ज्ञानार्णव | 3/5/251 |
| दग्धमङ्गं पुनः साधु | 829/74 | कुरलकाव्य | 13/9 |
| दसविहमब्बंभमिणं | 927/80 | मूलाचार | 1000 |
| दग्धे बीजे यथात्यन्तं | 1021/90 | राजवार्तिक (उ.गा.) | 10/2/3 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| दव्वत्थिकाय छप्पण | 560/52 | रयणसार | 60 |
| दंसणणाणुवदेसो | 558/52 | प्रवचनसार | 3/48 |
| दर्शनेन जिनेन्द्राणां | 604/55 | धवला | 6/1, 9-9 सू. 22 |
| दर्शनविशुद्धिविनय | 634/57 | तत्त्वार्थसूत्र | 6/24 |
| दंसणमोहुदयादो | 660/61 | धवला | 1/1, 1, सू. 114 |
| दंसणणाणसमग्गं | 686/64 | तिलोयपण्णत्ति | 9/21 |
| दंसणणाणे विणओ | 746/67 | मूलाचार | 364 |
| दद्याद्धर्मोपदेशं च | 797/69 | लाटी संहिता | 6/62 |
| दंसणणाणचरित्तेसु | 801/70 | प्रवचनसार | 3/42 |
| दशधाऽऽध्यात्मिकं | 866/77 | हरिवंशपुराण | 56/38 |
| दव्वादिवदिक्कमणं | 878/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/115 |
| द्रव्यं क्षेत्रं बलं | 894/78 | अनगारधर्मामृत | 5/65 |
| दट्ठूण इच्छिरूवं | 923/80 | नियमसार | 59 |
| दव्वे खेत्ते काले भावे | 990/87 | मूलाचार | 26 |
| दर्शनज्ञानचारित्र | 1010/89 | समयसार कलश | 239 |
| दाणं पूया मुक्खं | 603/55 | रयणसार | 11 |
| दाऊण किंचि रत्तिं | 777/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 286 |
| दानदाक्षिण्यविश्वासैः | 914/80 | ज्ञानार्णव | 14/17 |
| दिसदाह उक्कपडणं | 875/77 | मूलाचार | 274 |
| दीवेहिं दीवियासेस | 612/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 487 |
| दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं | 913/80 | ज्ञानार्णव | 14/16 |
| दुस्सहउवसग्गजई | 718/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 450 |
| दुर्दृशामपि न | 867/77 | ज्ञानार्णव | 4/18 |
| दुट्ठट्ठकम्मरहियं | 946/82, 964/84 | मोक्षप्राभृत | 18 |
| दुरिततिमिरहंसं | 955/83 | ज्ञानार्णव | 7/22 |
| दुक्खेणज्जहि णाणं | 956/83 | शीलप्राभृत | 3 |
| देवजदिगुरु | 557/52 | प्रवचनसार | 1/69 |
| देवपूजा गुरूपास्तिः | 603/55 | पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका | 6/7 |
| देहा वा दविणा वा | 965/84 | प्रवचनसार | 2/101 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| देहस्येन्द्रियाणां च | 704/67 | राजवार्तिक | 9/19/21 |
| देवमणुस्सादीहिं | 758/67 | तिलोयपण्णत्ति | 1/37 |
| देहि त्ति दीणकलुसं | 827/74 | मूलाचार | 820 |
| दैवात्पात्रं समासाद्य | 793/69 | लाटी संहिता | 6/68 |
| दोसु वि पव्वेसु सया | 586/54 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 539 |
| दोण्ह वि णयाण | 652/60, 949/82 | समयसार | 143 |
| दोभेदं च परोक्खं | 758/67 | तिलोयपण्णति | 1/39 |
| धम्मदयापरिचित्तो | 551/51 | तिलोयपण्णत्ति | 2/297 |
| धनधान्यादिग्रन्थं | 581/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 61 |
| धरिदुं जस्स ण सक्कं | 677/63 | पंचास्तिकाय | 168 |
| धम्मावासयजोगे | 713/67 | मूलाचार | 351 |
| धम्मिल्लाणं चयणं | 791/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 302 |
| धम्मस्स लक्खणं से | 863/77 | भगवती-आराधना | 1704 |
| ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो | 865/77 | तत्त्वानुशासन | 218 |
| ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते | 867/77 | ज्ञानार्णव | 4/29 |
| धम्मेण होइ लिंगं | 938/81 | लिंगप्राभृत | 2 |
| धर्मश्चार्थश्च कामश्च | 1008/88 | ज्ञानार्णव | 3/4/250 |
| धम्महं अत्थहं | 1009/88 | परमात्मप्रकाश | 2/3 |
| धुवसिद्धी तित्थयरो | 886/77 | मोक्षप्राभृत | 60 |
| धावदि पिंडणिमित्तं | 908/79 | लिंगप्राभृत | 13 |
| धूवेण सिसिरयरधवल | 612/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 488 |
| धूर्तकामुकक्रव्याद | 851/76 | ज्ञानार्णव | 18/8 |
| न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति | 536/48 | स्वयम्भूस्तोत्र | 24 |
| न तु परदारान् गच्छति | 581/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 59 |
| न चाऽऽशंक्यमिमाः | 590/54 | लाटी संहिता | 4/187 |
| नष्टं रत्नमिवाम्बुधौ | 638/58 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 1/166 |
| न्यायोपात्तधनो | 771/69 | सागारधर्मामृत | 1/11 |
| नवमं प्रतिमास्थानं | 787/69 | लाटी संहिता | 6/39 |
| न चेदयं मां | 809/71 | ज्ञानार्णव | 18/959 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| न वक्तव्यं न | 831/74 | कुरल काव्य | 30/7 |
| न खलु बहिरङ्गसंग | 897/78 | प्रवचनसार | 3/20 |
| नवमे प्राणसन्देह | 922/80 | ज्ञानार्णव | 11/31 |
| न प्रमादजय: कर्तुं | 936/81 | ज्ञानार्णव | 4/9 |
| नाश्नुते विषयसेवनेऽपि | 568/52 | समयसार | 135 |
| नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो | 678/63 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 4/65 |
| नाल्पसत्वैर्न नि:शीलै | 920/80 | ज्ञानार्णव | 11/5 |
| निहितं वा पतितं वा | 581/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 57 |
| नित्यस्नानं गृहस्थस्य | 606/55 | उपासकाध्ययन | 34/464 |
| नि:शेषक्लेशनिर्मुक्तं | 678/63 | ज्ञानार्णव | 3/34 |
| निश्चयनय: परमार्थ | 688/65 | नयचक्र | श्रुत/32 |
| निरूप्य तत्त्वं स्थिरता | 689/65 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 1/80 |
| निरतिक्रमणमणुव्रत | 774/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 138 |
| नि:शल्यो व्रती | 823/73 | तत्त्वार्थसूत्र | 7/18 |
| निग्रहं कुरु पञ्चानाम् | 845/76 | कुरलकाव्य | 35/3 |
| नि:शङ्कीकुरुते | 914/80 | ज्ञानार्णव | 14/20 |
| निरन्तरार्तानलदाह | 936/81 | ज्ञानार्णव | 4/12 |
| निरवशेषनिराकृत | 1012/89 | सर्वार्थसिद्धि | 1/1 उत्था. |
| नित्यमपि निरुपलेप: | 1028/91 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 223 |
| परमट्ठो खलु समओ | 1037/91 | समयसार | 151 |
| परुसं कडुयं वयणं | 827/74 | भगवती-आराधना | 826 |
| पढमं विउलाहारं | 926/80 | मूलाचार | 998 |
| पणिदरस भोयणेण य | 547/50 | प्राकृतपचसंग्रह | 1/54 |
| परवंचणप्पसत्तो | 552/51 | तिलोयपण्णत्ति | 2/298 |
| परमाणुपमाणं वा | 566/52 | मोक्षप्राभृत | 69 |
| पञ्चमहाव्रतरक्षां | 559/52 | बृ. द्रव्यसंग्रह टीका | 38 |
| परमाणुमित्तयं पि हु | 566/52 | समयसार | 201 |
| पञ्चानां पापानां | 588/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 72 |
| पड़िसेवणादिचारे | 593/54 | भगवती-आराधना | 620 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| पउमणिमित्तं व जहा | 594/54 | भगवती-आराधना | 1195 |
| पंचसमिदो तिगुत्तो | 596/54, 747/70 | प्रवचनसार | 3/40 |
| पत्थं हिदयाणिट्ठं पि | 599/55, 828/74 | भगवती-आराधना | 359 |
| प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या | 603/55 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 6/14 |
| प्रस्तावना पुराकर्म | 608/55 | उपासकाध्ययन | 35/529 |
| प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो | 646/60, 1029/91 | धवला | 1/1, 1, 1/10 |
| परमार्थशब्दाभिधेयं | 678/63 | समयसार, ता. वृ. | 215 |
| पयदम्हि समारद्धे | 725/67 | प्रवचनसार | 3/11 |
| पडिसेवणादिचारे | 728/67 | भगवती-आराधना | 620 |
| पव्वज्जादी सव्वं | 730/67 | भगवती-आराधना | 537 |
| पडिकमणं देवसियं | 734/67 | मूलाचार | 615 |
| पंचविहं चारित्तं | 748/67 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 323 |
| पडिरूवकायसंफास | 750/67 | भगवती-आराधना | 123 |
| परियट्टणाय वायण | 756/67, 871/77 | मूलाचार | 393 |
| परिषोढव्या नित्ये | 722/67 | चारित्रसार (उ.गा.) | 107 |
| प्रथमक्षणे कर्म | 531/47 | द्रव्यसंग्रह टीका | 33 |
| पंचुम्बरसहियाइं | 772/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 205 |
| पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि | 775/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 140 |
| पक्खालिऊण वयणं | 776/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 282 |
| पच्चूसे उट्ठित्ता | 777/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 287 |
| परविवाहकरणेत्वरिका | 784/69 | तत्त्वार्थसूत्र | 7/28 |
| पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो | 790/69 | सागारधर्मामृत | 7/34 |
| पक्खालिऊण पत्तं | 792/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 304 |
| परिणमदि जेण | 800/70 | प्रवचनसार | 1/8 |
| पंचसमिदो तिगुत्तो | 596/54, 741/70 | प्रवचनसार | 3/40 |
| पडिवज्जदु सामण्णं | 801/70 | प्रवचनसार | 3/1 |
| पञ्चमहाव्रतधराः | 811/72 | धवला | 1/1, 1 सू. 1 |
| परिभागम्मि असंते | 823/73 | भगवती-आराधना | 1427 |
| पयणं व पायणं | 826/74 | मूलाचार | 821 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| परिठवणासमिदी | 858/76 | मूलाचार | 325 |
| प्रथमक्षणे कर्म | 531/47 | बृ. द्रव्यसंग्रह-टीका | 33 |
| प्रसन्नचित्तता | 864/77 | आदिपुराण | 21/159 |
| पर्वसु नन्दीश्वर | 876/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/106 |
| पवयणसारब्भासं | 883/77 | रयणसार | 161 |
| परिणामें बंधु जि | 904/79 | योगसार | 14 |
| प्रथमे जायते चिन्ता | 921/80 | ज्ञानार्णव | 11/29 |
| पञ्चमे दह्यते गात्रं | 922/80 | ज्ञानार्णव | 11/30 |
| पर्यन्तविरसं विद्धि | 935/80 | ज्ञानार्णव | 11/6 |
| पडिवज्जदु सामण्णं | 932/81 | प्रवचनसार | 3/1 |
| प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्त | 976/81 | ज्ञानार्णव | 4/11 |
| पंच णव दोण्णि छव्वी | 977/85 | गोम्मटसार, कर्मकाण्ड | 35 |
| पंच णव दोण्णि अट्ठा | 977/85 | गोम्मटसार, कर्मकाण्ड | 36 |
| पढमं सव्वदिचार | 991/87 | मूलाचार | 120 |
| पडिकमणं देवसियं | 991/87 | मूलाचार | 615 |
| पापविसोत्तिग परिणाम | 750/67 | भगवती-आराधना | 127 |
| पावंति भावसमणा | 669/62 | भावप्राभृत | 100 |
| प्रागसंयममृत्सृज्य | 680/63 | ज्ञानार्णव | 32/88 |
| प्राय इत्युच्यते | 723/67 | धवला | 13/5, 4 सू. 26/9 |
| प्रायो लोकस्तस्य | 724/67 | अनगारधर्मामृत | 7/37 |
| पादेनापि स्पृशन् | 780/69 | सागारधर्मामृत | 7/9 |
| पावं खवइ | 806/71 | भावप्राभृत | 108 |
| प्राणात्ययेऽपि | 807/71 | ज्ञानार्णव | 18/71 |
| पावइ दोसं मायाए | 824/73 | भगवती-आराधना | 1378 |
| पापस्सासवदारं | 831/74 | भगवती-आराधना | 843 |
| प्राणिनि च तीव्रदु:खात् | 873/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/96 |
| पादोसियवेरत्तिय | 874/77 | मूलाचार | 270 |
| पासंडियलिंगाणि य | 943/82 | समयसार | 408 |
| पाकादेशघ्नसम्यक्त्व | 661/61 | अनगारधर्मामृत | 2/56 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| प्रशस्ताप्रशस्त | 889/78 | नियमसार, ता. वृ. | 43 |
| प्राणान्तेऽपि न भंक्तव्यं | 592/54 | सागारधर्मामृत | 7/52 |
| प्रातरुत्थाय कर्तव्यं | 604/55 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 6/16 |
| पिंडं उवधिं | 744/67 | भगवती-आराधना | 294 |
| पीडयत्येव निःशंको | 920/80 | ज्ञानार्णव | 11/20 |
| पुग्गलकम्मादीणं | 690/65 | बृ. द्रव्यसंग्रह | 8 |
| पुव्वावरेण तीए | 1022/90 | तिलोयपण्णत्ती | 8/653 |
| पुण्णेण होइ | 640/58 | तिलोयपण्णत्ती | 9/52 |
| पुव्वत्तणवविहाणं | 784/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 297 |
| पुस्तकाद्युपधिश्चैव | 796/69 | लाटी संहिता | 6/57 |
| पुव्वं सयमुवभुत्तं | 808/71 | भगवती-आराधना | 1420 |
| पुस्तोपलविनिष्पन्नं | 913/80 | ज्ञानार्णव | 14/15 |
| पुव्वुत्तसयलभावा | 964/84 | नियमसार | 50 |
| पुव्वण्हे मज्झण्हे | 1003/88 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 354 |
| पुरुगुणभोगे सेदे | 1007/88 | प्राकृतपंचसंग्रह | 1/106 |
| पुरुगुणे सम्यग्ज्ञान | 1007/88 | गोम्मटसार,जीवकाण्ड टीका | 273 |
| पुरिमचरिमादु जम्हा | 737/67 | मूलाचार | 632 |
| पूर्वोदितक्रमेणैव | 797/69 | लाटी संहिता | 6/60 |
| पूर्वानुभूतसंभोग | 926/80 | ज्ञानार्णव | 11/9 |
| पूयादिसु णिरवेक्खो | 717/67, 756/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 448, 462 |
| पूयावयणं हिदभासणं | 750/67 | भगवती-आराधना | 125 |
| फलकंदमूलबीयं | 782/69 | मूलाचार | 827 |
| फासुयमग्गेण दिवा | 848/76 | मूलाचार | 11 |
| फासेहिं पुग्गलाणं | 961/84 | प्रवचनसार | 2/85 |
| बहिरब्भंतर किरिया | 578/53 | बृ. द्रव्यसंग्रह | 46 |
| बहुशः समस्तविरतिं | 591/54, 931/80 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 17 |
| बन्धु वि मोक्ख वि | 691/65 | परमात्मप्रकाश | 1/65 |
| बत्तीसा किर कवला | 712/67 | मूलाचार | 350 |
| बहुतससमण्णिदं | 772/69 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 328 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| बलदेव चक्कवट्टी | 835/75 | मूलाचार | 250 |
| बलवीरियमासेज्ज | 886/77 | मूलाचार | 669 |
| बहिरन्तस्ततस्तेन | 914/80 | ज्ञानार्णव | 14/21 |
| बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् | 723/67 | अनगारधर्मामृत | 7/33 |
| बारसविहम्मि य तवे | 561/52, 757/67, 871/77 | भगवती-आराधना | 106 |
| बालो यं बुड्ढो यं | 749/67 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 324 |
| बाह्यं च लिङ्गमङ्गानां | 865/77 | आदिपुराण | 815 |
| बाहिरसंगच्चाओ | 903/79 | भावप्राभृत | 89 |
| बालो वा बुड्ढो वा | 997/88 | प्रवचनसार | 3/30 |
| बुद्धी सुहाणुबन्धी | 661/61 | प्राकृतपञ्चसंग्रह | 1/163 |
| भवोद्भवानि दुःखानि | 892/78 | ज्ञानार्णव | 2/117 |
| भरहे दुस्समकाले | 863/77 | मोक्षप्राभृत | 77 |
| भत्तपइण्णा इंगिणि | 711/67 | मूलाचार | 349 |
| भत्ती पूया वण्णजणणं | 746/67 | भगवती-आराधना | 46 |
| भत्ती तवोधिगंमि य | 748/67 | भगवती-आराधना | 119 |
| भद्रं मार्दववज्राय | 818/72 | अनगारधर्मामृत | 6/12 |
| भवन्त्येतानि लिङ्गानि | 864/77 | आदिपुराण | 21/160 |
| भव्यानां पाठकानां या | 1044 | प्रशस्ति | 16 |
| भावसहिदो य मुणिणो | 668/62 | भावप्राभृत | 99 |
| भावं तिविहपयारं | 682/64 | भावप्राभृत | 76 |
| भासं विणयविहूणं | 852/76 | मूलाचार | 855 |
| भावियसिद्धांताणं | 881/77 | धवला | 1/1, 1 सू. 1/47 |
| भावणिमित्तो बंधो | 904/79 | पञ्चास्तिकाय | 148 |
| भावास्रवाभावमयं | 909/79 | समयसार कलश | 115 |
| भावसवणो वि पावइ | 938/81 | भावप्राभृत | 126 |
| भावेण तेण जीवो | 961/84 | प्रवचनसार | 2/84 |
| भिंगार कलश दप्पण | 608/55 | तिलोयपण्णत्ति | 8/586 |
| भुक्त्वा परिहातव्यो | 587/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 83 |
| भुंजेइ पाणिपत्तम्मि | 791/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 303 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| भूयत्थो देसिदो हु | 688/65 | समयसार | 11 |
| भूषणे द्वे मनुष्यस्य | 832/74 | कुरलकाव्य | 10/5 |
| भोगाणं परिसंखा | 584/54 | भगवती-आराधना | 2076 |
| भोगिदष्टस्य जायन्ते | 921/80 | ज्ञानार्णव | 11/28 |
| महिलालोयण-पुव्वं | 915/80 | भगवती-आराधना | 1204 |
| मंदो बुद्धिविहीणो | 551/51 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 510 |
| मरणं पत्थेइ रणे | 553/51 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 514 |
| महाप्रशमसंग्रामे | 565/52 | ज्ञानार्णव | 23/12 |
| मन्त्रेणेव विषं मृत्यै | 570/52 | अनगारधर्मामृत | 8/2 |
| मरदु व जियदु व | 594/54 | प्रवचनसार | 3/17 |
| मं पुणु पुण्णइ | 640/58 | परमात्मप्रकाश | 2/57 |
| मदमाणमायलोह | 732/67 | नियमसार | 112 |
| महमंडलियाणं | 758/67 | तिलोयपण्णत्ती | 1/41 |
| मणवयणकाय | 784/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 296 |
| मलबीजं मलयोनिं | 784/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 143 |
| महान्तः संति | 807/71 | कुरलकाव्य | 16/10 |
| मग्गुज्जोवुवओगा | 848/76 | मूलाचार | 302 |
| मध्याह्ने जिनरूपं | 877/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/109 |
| मन्ये ज्ञानी प्रतिज्ञाय | 899/78 | कुरुलकाव्य | 35/1 |
| मनो मिलति चान्योन्यं | 914/80 | ज्ञानार्णव | 14/19 |
| मणबंभचेरवचिबंभचेर | 928/80 | मूलाचार | 996 |
| मणुवो ण हवदि देवो | 958/84 | प्रवचनसार | 2/21 |
| मणवयण काय इंदिय | 1035/91 | बृहद् नयचक्र | 112 |
| मात्सर्यपैशुन्य | 553/51 | राजवार्तिक | 4/22/10 |
| मा चिट्ठह मा जंपह | 578/53, 868/77, 984/86 | बृ. द्रव्यसंग्रह | 56 |
| माया तैर्यग्योनस्य | 632/57, 823/73 | तत्त्वार्थसूत्र | 6/16 |
| मार्दवोपेतं | 815/72 | राजवार्तिक | 9/6/27 |
| माणी विस्सो | 818/72 | भगवती-आराधना | 1371 |
| मायाए मित्तभेदे | 824/73 | भगवती-आराधना | 1379 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| माया करेदि णीचा | 825/73 | भगवती-आराधना | 1380 |
| मादाए वि वेसो | 830/74 | भगवती-आराधना | 840 |
| मानुष्यं किल दुर्लभं | 861/76 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 1/97 |
| मादुसुदा भगिणीव | 923/80 | मूलाचार | 8 |
| माणवक एव सिंहो | 1038/91 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 7 |
| मिच्छत्ताविरदीहि य | 620/56 | मूलाचार | 5/241 |
| मिच्छाऽसंजम हुंति हु | 625/56 | प्राकृत पंचसंग्रह | 4/77 |
| मिथ्यादर्शनादय: प्रत्यया: | 658/61 | राजवार्तिक | 9/1/6 |
| मिच्छत्तासंजमकसाय | 624/56, 976/85 | धवला | 12/4, 2 सू. 11 |
| मिच्छत्तोदओ एक्को | 622/56 | धवला | 5/1, 7, सू. 2 |
| मिच्छादंसणअविरदि | 623/56 | मूलाचार | 1225 |
| मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद | 968/85 | तत्त्वार्थसूत्र | 8/1 |
| मीना मृत्युं प्रयाता | 844/76 | ज्ञानार्णव | 18/149 |
| मुनेर्यदि मनो मोहाद् | 564/52 | ज्ञानार्णव | 32/52 |
| मुक्तश्चेत् प्राक् भवेद् | 691/65 | द्रव्यसंग्रह-टीका (उद्धृत) | 57 |
| मुणिऊण गुरुवकज्जं | 777/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 291 |
| मुत्तो रूवादिगुणो | 960/84 | प्रवचनसार | 2/81 |
| मूलोत्तरगुणनिष्ठा | 770/69 | सागारधर्मामृत | 1/15 |
| मूलं संसारदु:खस्य | 891/78 | समाधिशतक | 15 |
| मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ | 664/61 | ज्ञानार्णव (उद्धृत) | 6/7 |
| मेहुणसण्णारूढो | 924/80 | स्याद्वादमंजरी (उद्धृत गा.) | 23 |
| मेरुव्व णिप्पकंपं | 882/77 | धवला | 1/1, 1 सू. 1/48 |
| मैथुनसेवनप्रवण: | 925/80 | राजवार्तिक | 7/16/10 |
| मोत्तूण रागदोसे | 727/67 | भगवती-आराधना | 453 |
| मोत्तूण वयणरयणं | 734/67 | नियमसार | 83 |
| मोत्तूण वत्थमेत्तं | 787/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 299 |
| मोत्तूण णिच्छयट्ठं | 939/81, 1037/91 | समयसार | 156 |
| मोक्षहेतु: किल | 954/83 | आत्मख्याति | 155 |
| मोक्खपहे अप्पाणं | 939/81, 977/91 | समयसार | 412 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| मोत्तूण सयलजप्प | 989/87 | नियमसार | 95 |
| मोक्षार्थिना प्रथममेव | 1011/89 | समयसार, आ. ख्याति | 17-18 |
| य: परात्मा स एवाहं | 614/55 | समाधितंत्र | 31 |
| यत्र राग: पदं धत्ते | 564/52, 906/79 | ज्ञानार्णव | 23/25 |
| यत्र काये मुने: प्रेम | 565/52 | समाधिशतक | 40 |
| यमप्रशमनिर्वेद | 559/52 | ज्ञानार्णव | 2/121 |
| यद् गुणायोपकारायाणु | 582/54 | सागारधर्मामृत | 5/1 |
| यथा समितय: पञ्च | 590/54 | लाटी संहिता | 4/185 |
| यदिन्द्रस्यात्मनो लिङ्गं | 629/57 | गोम्मटसार, जी. प्र. टीका | 165 |
| यदि क्रोधादय: क्षीणा: | 671/62 | ज्ञानार्णव | 19/76 |
| यतो व्रताव्रते पुंसां | 679/63 | ज्ञानार्णव | 32/87 |
| यथा कोऽप्यजीर्णदोषेण | 698/66 | बृ. द्रव्यसंग्रह-टीका | 35 |
| यथाशक्ति मार्गा | 704/67 | राजवार्तिक | 6/24/7 |
| यदत्र चक्रिणां सौख्यं | 764/68 | तत्त्वानुशासन | 246 |
| यथाप्राप्तमदन् | 789/69 | सागारधर्मामृत | 7/32 |
| य: क्षाम्यति क्षमो | 805/71 | अनगारधर्मामृत | 6/5 |
| यदि वाक्कंटकैर्विद्धो | 809/71 | ज्ञानार्णव | 18/952 |
| यदि प्रशमसीमानं | 809/71 | ज्ञानार्णव | 18/955 |
| यत् परदारार्थादिषु | 840/75 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 1/94 |
| यमपटहरवश्रवणे | 872/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/92 |
| यथा बहिरङ्गतुषसद् | 898/78 | प्रवचनसार (टीका) | 3/20 |
| यस्या: संसर्गमात्रेण | 918/80 | ज्ञानार्णव | 14/13 |
| यदि कथमपि धारा | 950/82 | समयसार कलश | 127 |
| य: प्रीतिरूपो राग: | 971/85 | समयसार, आ.ख्याति | 51 |
| यथा अम्भो नभस: | 976/85 | राजवार्तिक | 8/4/7 |
| यदीया वाग्गङ्गा | 1029/91 | महावीराष्टक | 6 |
| यासां संकल्पलेशोऽपि | 918/80 | ज्ञानार्णव | 14/12 |
| या ब्रह्मणि स्वात्मनि | 929/80 | अनगारधर्मामृत | 4/60 |
| यावद् विकल्प: | 983/86 | आराधनासार | 83 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| या मुम्बईति प्रथिता | 1043 | प्रशस्ति | 13 |
| यावन्नभसि सूर्येन्दू | 1044 | प्रशस्ति | 15 |
| युक्त्या समधीयानो | 878/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/104 |
| ये केचित् सिद्धान्ते | 842/75 | ज्ञानार्णव | 18/108 |
| ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति | 604/55 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 6/15 |
| ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या | 604/55 | सागारधर्मामृत | 2/44 |
| योषिद्विषयसंकल्प: | 925/80 | ज्ञानार्णव | 11/8 |
| यो न वेत्ति परं | 706/67 | समाधिशतक | 33 |
| योजनमण्डलमात्रे | 873/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/94 |
| यो यतिधर्ममकथयन् | 591/54, 931/80 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 18 |
| रत्नत्रयमनासाद्य य: | 869/77 | ज्ञानार्णव | 6/4 |
| रयणत्तयसरूवे | 560/52 | रयणसार | 61 |
| रयणिसमयम्हि | 776/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 285 |
| रत्तवडचरगता | 835/75 | मूलाचार | 251 |
| रत्तो बंधदि कम्मं | 961/84 | प्रवचनसार | 2/87 |
| रहस्याभावाद् वा | 1012/89 | धवला | 1/1, 1 सू. 1 |
| रजहंता अरिहंति य | 1013/89 | मूलाचार | 505 |
| रागद्वेषौ प्रवृत्ति: स्यात् | 566/52 | आत्मानुशासन | 237 |
| राग: प्रशस्ताप्रशस्त | 571/52 | नियमसार, ता. वृ. | 66 |
| रागात् परकलत्रादि | 828/73 | द्रव्यसंग्रह (टीका) | 42 |
| रादो तु पमज्जित्ता | 858/76 | मूलाचार | 323 |
| रागविवागसतण्णा | 902/79 | भगवती-आराधना | 1177 |
| रागादय: पुन: | 971/85 | सर्वार्थसिद्धि | 7/17 |
| रागदोसे णिरोहित्ता | 1000/88 | मूलाचार | 523 |
| रूसइ णिंदइ अण्णे | 553/51 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 512 |
| रुंधिय छिद्दसहस्से | 658/61 | नयचक्र | 156 |
| रुहिरादिपूयमंसं | 874/77 | मूलाचार | 276 |
| रूवादिएहिं रहिदो | 960/84 | प्रवचनसार | 2/82 |
| लद्धूण तं णिमित्तं | 530/47 | बृहद् नयचक्र | 152 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| लसत्कल्लोलमालासु | 663/61 | अनगारधर्मामृत | 2/60 |
| लज्जापरपरिभवादि | 733/67 | राजवार्तिक | 9/22/2 |
| लोभे कए वि | 841/75 | भगवती-आराधना | 1431 |
| लक्षणं द्विविधं तस्य | 866/77 | हरिवंश पुराण | 56/36 |
| लद्धूणं णिहि एक्को | 892/78 | नियमसार | 157 |
| लोकस्याग्रे व्यवहरणत: | 1023/90 | समयसार कलश | 294 |
| लिप्पइ अप्पीकीरइ | 549/51 | प्राकृत पञ्चसंग्रह | 1/142 |
| ववहारस्य दु आदा | 972/85 | समयसार | 84 |
| ववहारणयो भासदि | 941/82 | समयसार | 27 |
| वनेऽपि दोषा: | 569/52 | भावप्राभृत-टीका | 69 |
| वदसमिदिकसायाणं | 596/54 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 465 |
| वज्जंतेसु मद्दलजय | 608/55 | तिलोयपण्णत्ती | 8/585 |
| वर जिय पावइं | 640/58 | परमात्मप्रकाश | 2/56 |
| वंदउ णिंदउ | 668/62 | परमात्मप्रकाश | 2/66 |
| ववहारेण दु एदे | 691/65, 942/82 | समयसार | 56 |
| ववहारमयाणंतो | 727/67 | भगवती-आराधना | 454 |
| व्यवहारनयादित्थं | 729/67 | अनगारधर्मामृत | 7/59 |
| वररयणमउडधारी | 758/67 | तिलोयपण्णत्ति | 1/42 |
| वणदाह किसिमसि | 858/76 | मूलाचार | 321 |
| व्यन्तरभेरी ताडन | 874/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/101 |
| वज्रज्वलनलेखेव | 917/80 | ज्ञानार्णव | 12/3 |
| ववहारभासिदेण दु | 942/82 | समयसार | 324 |
| ववहारेणुवदिस्सइ | 946/82 | समयसार | 7 |
| व्यवहारनिश्चयौ य: | 948/82, 1030/91 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 8 |
| ववहारस्स दरीसण | 970/85 | समयसार | 46 |
| वज्जियसयलवियप्पो | 868/77, 983/86 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 482 |
| वयणोच्चारणकिरियं | 994/87 | नियमसार | 122 |
| व्यवहरणं व्यवहार: | 1033/91 | पंचाध्यायी | 1/522 |
| ववहारोऽभूयत्थो | 1037/91 | समयसार | 11 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| व्यवहारपराचीनो | 1038/91 | अनगारधर्मामृत | 1/100 |
| वर्धमानं जिनं नौमि | 1041 | प्रशस्ति | 1 |
| वासनामात्रमेवैतत् | 554/51 | इष्टोपदेश | 6 |
| वायणकहाणुपेहण | 776/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 284 |
| वायणपरियट्टण | 877/77 | भगवती-आराधना | 2046 |
| वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना | 665/61 | अनगारधर्मामृत | 2/57 |
| विद्याविनयसंपन्नः | 829/74 | कुरलकाव्य | 13/10, 14/9 |
| विवरीयमतं किच्चा | 537/48 | दर्शनसार | 17 |
| विसयासत्तो विमदी | 552/51 | तिलोयपण्णत्ति | 2/298 |
| विश्वव्यापारनिर्मुक्तं | 560/52 | ज्ञानार्णव | 2/123 |
| विकहा विसोत्तियाणं | 576/53, 852/76 | मूलाचार | 859 |
| विधिणा कदस्स | 611/55 | भगवती-आराधना | 750 |
| विजयपडाएहिं णरो | 613/55 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 493 |
| विघ्नकरणमन्तरायस्य | 633/57 | तत्त्वार्थसूत्र | 6/27 |
| विणओ मोक्खद्दारं | 745/67 | भगवती-आराधना | 131 |
| विणयं पंचपयारं | 751/67 | भावप्राभृत | 104 |
| विणएण विप्पहूणस्स | 751/67 | भगवती-आराधना | 130 |
| विवेकस्यावकाशोस्ति | 781/69 | लाटी संहिता | 1/104 |
| विदितजीवस्थानादि | 849/76 | राजवार्तिक | 9/5/3 |
| विगतार्थागमने वा | 873/77 | धवला | 9/4, 1 सू. 54/98 |
| विरज्य कामभोगेषु | 926/80 | ज्ञानार्णव | 11/11 |
| विपन्महापङ्कनिमग्न | 937/91 | ज्ञानार्णव | 4/13 |
| विदिताशेषशास्त्रोऽपि | 980/86 | समाधिशतक | 94 |
| विरदो सव्वसावज्जं | 1000/88 | मूलाचार | 524 |
| विरदो सव्वसावज्जे | 1001/88 | नियमसार | 125 |
| विरम किमपरेणाकार्य | 1016/90 | समयसारकलश | 34 |
| विज्जदि केवलणाणं | 1021/90 | नियमसार | 182 |
| वीतरागसम्यक्त्वरूपां | 644/59 | समयसार, ता.वृ. | 154 |
| वीरासणं च दण्डाय | 721/67 | भगवती-आराधना | 227 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| वीरनिर्वाणतोऽब्दानां | 1043 | प्रशस्ति | 11 |
| वेज्जावच्चणिमित्तं | 753/67 | प्रवचनसार | 3/53 |
| वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं | 933/80 | द्रव्यसंग्रह (उ.गा.) | 57 |
| शमाम्बुभिः क्रोध | 806/71 | ज्ञानार्णव | 19/72 |
| शरीरमेतदादाय त्वया | 891/78 | ज्ञानार्णव | 2/115 |
| शक्यते न वशीकर्तुं | 936/81 | ज्ञानार्णव | 4/10 |
| शतह्रदोन्मेषचलं हि | 555/51 | स्वयम्भूस्तोत्र | 13 |
| शाकेनापीच्छया | 841/75 | ज्ञानार्णव | 18/106 |
| शुद्धात्मनः सकाशाद् | 679/63 | प्रवचनसार, ता. वृ. टीका. | 3/30 |
| शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको | 688/65 | प्रवचनसार, ता. वृ. टीका. | 2/97 |
| शुद्धं वागतिवर्ति | 689/65 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 1/157 |
| शुभे तिथावद्य शुभे | 1044 | प्रशस्ति | 14 |
| शीतोष्णदंशमशक | 1004/88 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 103 |
| श्रावकपदानि | 769/69, 797/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 136 |
| श्रीगौतमं गणेशं च | 1041 | प्रशस्ति | 2 |
| श्रुतं सत्यं तपः शीलं | 914/80 | ज्ञानार्णव | 14/22 |
| समदा तह मज्झत्थं | 768/68 | बृहद् नयचक्र | 357 |
| सकलं विकलं चरणं | 589/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 50 |
| सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः | 902/79 | ज्ञानार्णव | 16/33 |
| सज्झायं कुव्वंतो | 561/52, 759/67 | भगवती-आराधना | 103 |
| सव्वट्ठसिद्धिइंदय | 1022/90 | तिलोयपण्णत्ति | 8/652 |
| सद्दहेदि य पत्तियदि | 673/63 | समयसार | 275 |
| सव्वत्थ वि पियवयणं | 543/49 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 91 |
| सपरं बाधासहियं | 554/51 | प्रवचनसार | 1/76 |
| सम्यग्दृष्टेर्भवति | 568/52 | समयसार कलश | 136 |
| सम्यग्दृष्टिर्जीवो | 570/52 | समयसार, ता. वृ. टीका | 194 |
| संकल्पात् कृतकारित | 580/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 53 |
| स्थूलमलीकं न वदति | 581/54 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 55 |
| सर्वसागारधर्मेषु | 590/54 | लाटी संहिता | 4/184 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| सम्यग्गमनागमनं | 594/54 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 203 |
| सत्यं प्रियं हितं | 599/55 | अनगारधर्मामृत | 4/42 |
| सह कलया शरीरेण | 602/55 | समाधिशतक-टीका | 2 |
| स्नात्वाऽऽकण्ठ | 606/55 | सागारधर्मामृत | 2/34 |
| संसारर्णवतारकं | 637/58 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 1/169 |
| सम्मादिट्ठी पुण्णं | 643/59 | भावसंग्रह | 404 |
| सद्दव्वरओ समणो | 644/59, 965/84 | मोक्षप्राभृत | 14 |
| स्वार्थैकदेशनिर्णीत | 647/60 | श्लोकवार्तिक | 1/6 |
| सम्मत्तं देसवयं | 659/61 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 95 |
| संवर इव संवरः | 659/61 | राजवार्तिक | 1/4/18 |
| सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो | 662/61 | गोम्मटसार, जीवकाण्ड | 25 |
| स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ | 663/61 | अनगारधर्मामृत | 2/58 |
| सव्वेसिं कम्माणं | 696/65 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 103 |
| सकामा पुनः | 701/67 | अनगारधर्मामृत टीका | 2/43 |
| सम्यग्ग्रहणमनुवर्तते | 706/67 | राजवार्तिक | 9/19/16 |
| सम्मत्तदेसघाइवेदय | 661/61 | धवला | 1/1, सू. 12 |
| सम्मत्तविरहियाणं | 706/67, 986/86 | दर्शनप्राभृत | 5 |
| संजमहीणो य | 706/67 | शीलप्राभृत | 5 |
| संसारदुक्खतट्ठो | 716/67 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 446 |
| समपलियंकणिसेज्जा | 720/67 | भगवती-आराधना | 226 |
| स्वधर्मरहितक्षेत्रे | 744/67 | आचारसार | 6/62 |
| संघोर्वीशविरोधान्तः | 744/67 | आचारसार | 6/63 |
| सक्खापच्चक्खपरं | 758/67 | तिलोयपण्णत्ती | 1/36 |
| सज्झायं कुव्वंतो | 759/67, 879/77 | भगवती-आराधना | 103 |
| सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि | 767/68 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 2 |
| समदा तह मज्झत्थं | 768/68 | बृहद् नयचक्र | 357 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| सम्यग्दर्शनशुद्धः | 771/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 137 |
| सत्तमितेरसि | 776/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 281 |
| स्यात्पुरस्तादितो | 788/69 | लाटी संहिता | 6/42 |
| समसत्तुबंधुवग्गो | 801/70 | प्रवचनसार | 3/41 |
| संगात् कामस्ततः | 803/71, 901/79 | ज्ञानार्णव | 16/11/831 |
| सत्तो वि ण चेव | 808/71 | भगवती-आराधना | 1417 |
| सम्मा वा मिच्छा वि | 810/72 | बृहद् नयचक्र | 332 |
| स्मयेन योऽन्यानत्येति | 815/72 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 26 |
| सव्वे वि कोहदोसा | 818/72 | भगवती-आराधना | 1372 |
| सयणस्स जणस्स | 819/72 | भगवती-आराधना | 1373 |
| सच्चेण देवदावो | 831/74 | भगवती-आराधना | 833 |
| स्नेहपूर्णा दयादृष्टिः | 832/74 | कुरलकाव्य | 10/13 |
| समसंतोसजलेण | 839/75 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 397 |
| सव्वे वि जए अत्था | 841/75 | भगवती-आराधना | 1432 |
| स्वामिगुरुबन्धु | 841/75 | ज्ञानार्णव | 18/107 |
| संचिन्तयन्ननुप्रेक्षा | 847/76, 997/88 | तत्त्वानुशासन | 79 |
| सत्ताधिय सप्पुरिसा | 853/76 | मूलाचार | 863 |
| सहसाणाभोइय | 856/76 | मूलाचार | 320 |
| सगवण्णजीवहिंसा | 860/76 | प्राकृतपंचसंग्रह | 1/128 |
| संगत्यागः कषायाणां | 865/77 | तत्त्वानुशासन | 75 |
| सप्तदिनान्यध्ययनं | 873/77 | धवला | 9/4, 1 सू.54/95 |
| सव्वे आगमसिद्धा | 881/77 | भगवती-आराधना | 3/35 |
| सम्मं कदस्स | 886/77 | भगवती-आराधना | 1468 |
| सज्झाये पट्ठवणे | 875/77 | मूलाचार | 271 |
| सम्मादिट्ठिस्स | 887/77 | मूलाचार | 942 |
| संवेगो विधिरूपः | 890/78 | पञ्चाध्यायी | 2/442 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| संजमसाधनमेत्तं | 896/78 | भगवती-आराधना | 164 |
| संगणिमित्तं मारेइ | 901/78 | भगवती-आराधना | 1119 |
| स्वयं वस्तुस्वरूपं | 908/79 | प्रवचनसार (टीका) | 3/24 (13) |
| सक्कारो संकारो | 915/80 | भगवती-आराधना | 874 |
| सर्वाशुचिमये | 917/80 | ज्ञानार्णव | 13/23 |
| संकल्पवशतस्तीव्रा | 922/80 | ज्ञानार्णव | 11/32 |
| सम्मद्दसंणणाणं | 94889/82 | समयसार | 144 |
| संजमसंजुत्तस्स | 955/82 | बोधप्राभृत | 19 |
| सपदेसो सो अप्पा | 961/84 | प्रवचनसार | 2/86 |
| सत्तरसेक्कग्गसयं | 978/85 | गोम्मटसार, कर्मकाण्ड | 103 |
| सव्वं चायं काऊ | 981/86 | आराधनासार | 54 |
| संजमणियमतवेण | 994/87 | नियमसार | 123 |
| सयलवियप्पहं | 995/87 | परमात्मप्रकाश | 2/190 |
| समणो आउत्तो | 999/88 | प्रवचनसार | 3/28 |
| समस्तामपि | 999/88 | प्रवचनसार टीका | 3/28 |
| सम्मत्तणाण संजम | 999/88 | मूलाचार | 519 |
| समता सर्वभूतेषु | 1003/88 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 6/8 |
| सर्वविवर्तोत्तीर्ण | 1010/88 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 11 |
| सम्यक्त्वचारित्रबोध | 1028/91 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 222 |
| सन्मार्गेऽग्रसरां | 1042 | प्रशस्ति | 5 |
| सामाइअम्हि दु कदे | 585/54 | मूलाचार | 533 |
| साधेंति जं महत्थं | 588/54 | भगवती-आराधना | 1178 |
| सासादनादिक्षीण | 602/55 | प्रवचनसार, ता. वृ. | 3/1 |
| सामण्णपच्चया | 623/56, 970/85 | समयसार | 109 |
| सापेक्षा नया: सिद्धा | 648/60 | सिद्धिविनिश्चय | 10 |
| साम्यं स्वास्थ्यं | 678/63 | पद्मनन्दिपंचविंशतिका | 4/64 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| साधारणं सवीचारं | 720/67 | भगवती-आराधना | 225 |
| सा मे कथं | 789/69 | सागारधर्मामृत | 7/33 |
| सामायिकं सर्वसावद्य | 999/88 | राजवार्तिक | 6/24/11 |
| सामाइयस्स करणे | 1003/88 | कार्तिकेयानुप्रेक्षा | 352 |
| सामायिकसंस्कारं | 779/69 | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | 151 |
| सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्त | 1010/89 | समयसारकलश | 185 |
| सिरिवीरणाहतित्थे | 540/48 | दर्शनसार | 20 |
| सिज्झइ तइयम्मि | 635/57 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 539 |
| सिद्धिसरूवं झायइ | 774/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 278 |
| सिग्घं लाहालाहे | 792/69 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 305 |
| सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः | 1009/89 | सिद्धभक्ति | 2 |
| सिद्धानामर्हतां च | 1017/90 | धवला | 1/1, 1, सू. 1 |
| सीलं तवो विसुद्धं | 595/54 | शीलप्राभृत | 20 |
| सुद्धो सुद्धादेसो | 1038/91 | समयसार | 12 |
| सुद्धं तु वियाणंतो | 947/82 | समयसार | 186 |
| सुहदुक्खं बहुसस्सं | 533/47 | पंचसंग्रह | 1/109 |
| सुव्वयतित्थे उज्झो | 537/48 | दर्शनसार | 16 |
| सुप्रापं न पुनः | 637/58 | ज्ञानार्णव | 2/189 |
| सुलभमिह समस्तं | 638/58 | ज्ञानार्णव | 2/190 |
| सुद्धो जीवसहावो | 651/60 | बृहद् नयचक्र | 114 |
| सुद्धं सुद्धसहावं | 682/64, 945/82 | भावप्राभृत | 77 |
| सुत्तं गणधरकहिदं | 879/77 | मूलाचार | 277 |
| सुत्तं हि जाणमाणो | 882/77 | सूत्रप्राभृत | 3 |
| सुहपरिणामो पुण्णं | 903/79 | प्रवचनसार | 2/89 |
| सुचिरं सुष्ठु निर्णीतं | 918/80 | ज्ञानार्णव | 14/14 |
| सुकृतिवरतपस्या | 1041 | प्रशस्ति | 4 |

| उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि | टीका पृष्ठ/गाथा सं. | शास्त्र/प्रकरण नाम | उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल |
|---|---|---|---|
| सेवन्तो वि न सेवदि | 569/52 | समयसार | 197 |
| सेज्जागासणिसेज्जा | 753/67 | भगवती-आराधना | 307 |
| सेवाकृषिवाणिज्य | 786/69 | रत्नकरण्डश्रावकाचार | 144 |
| स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञान | 623/56 | तत्त्वानुशासन | 8 |
| हरितांकुरबीजा | 780/69 | सागारधर्मामृत | 7/8 |
| हत्सिन्धुर्विधि | 816/72 | ज्ञानार्णव | 6/9 |
| हृषीकतस्करानीकं | 844/76 | ज्ञानार्णव | 18/140 |
| हिंसनं साहसं | 804/71 | उपासकाध्ययन | 31/420 |
| हिंसं अलियं | 804/71 | भगवती-आराधना | 1367 |
| हिताहितविमूढात्मा | 937/81 | ज्ञानार्णव | 4/14 |
| होदु णाम सयल | 605/55 | धवला | 9/4, 1, 1 सू. 11 |
| होंति सुहासन | 867/77, 686/64 | धवला | 13/5, 4 सू. 26 |
| होदि य वेस्सो | 824/73 | भगवती-आराधना | 1377 |
| होऊण सुई चेइय | 1004/88 | वसुनन्दिश्रावकाचार | 274 |


—o—

# सर्वोदया टीका में प्रमुख विवेचित विषय

## ( उत्तरार्द्ध, गाथा 47-91 )

### आस्रवानुप्रेक्षा

### ( अष्टम अधिकार, गाथा 47-60, पृ. 527-654 )

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 47 [529-533] | योग, द्रव्यास्रव-भावास्रव, बन्ध, मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व, नैसर्गिक-परोपदेशनिमित्तक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग | आस्रव-2, मिथ्यात्व-5,2,2 अविरति-5, कषाय-4, योग-3, भावास्रव-17 | पातनिका, भावास्रव के कारण, तथा उनके परिहार का उपदेश, भावास्रव-द्रव्यास्रव एक दूसरे में कारण है। |
| 48 [534-540] | सम्यग् तथा मिथ्याएकान्त, एकान्तमिथ्यात्व, वैनयिकमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, मिथ्यात्व, अज्ञानिकमिथ्यात्व | मिथ्यात्व-5, मिथ्याएकान्त-2, मिथ्यात्व-363 आदि भेद, वैनयिक-32, अज्ञानिक-67 | स्याद्वाद ही श्रद्धानयोग्य, अनेकान्तदृष्टि, वस्तु को सर्वथा नित्यादि मानने पर दोष, वस्तु कथंचित् तद्-अतद्रूप है, विपरीतमत कौन, शंका व संशयमिथ्यात्व में अंतर, अज्ञानवाद उत्पत्ति का कारण, |
| 49 [541-544] | क्रोध, मान, माया, लोभ, | कषाय-4, योग-3, काय योग-7 | गतियों में प्रथम समय में कषायोदय का वर्णन/ तथा दो आचार्यों के मत में भिन्नता/वर्णन, मंद-तीव्र कषायी जीवों के चिन्ह, काययोगों से कर्मास्रव तथा बंध, |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 50 [545-547] | संज्ञा, आहारसंज्ञा, | योग-2, संज्ञा-4 | आहारादि संज्ञाओं के कारण, गुणस्थान, अप्रमत्तादि गुण में तीनों संज्ञाएँ उपचार से होती हैं, अशुभमनयोग 4 संज्ञारूप |
| 51 [548-555] | लेश्या, द्रव्य-भाव लेश्या, कृष्ण, नील, कापोत, करणज, विषाद, ईर्ष्या | लेश्या-2, (द्रव्य-भाव-2) (शुभ-अशुभ-6) | अशुभलेश्याएँ अशुभमनयोगरूप हैं, सयोग-केवली के लेश्या सद्भाव कैसे? किस लेश्या के साथ जीव किस नरक में उत्पन्न होता, इन्द्रियसुख, दुःखरूप, पराधीन, नश्वर है, इसमें आसक्ति रूप परिणाम भी अशुभ मन योग है। |
| 52 [556-574] | रागद्वेष, प्रशस्तराग, अप्रशस्तराग, द्वेष, प्रवृत्ति-निवृत्ति, मोह, प्रशस्त-अप्रशस्त मोह, नोकषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, द्रव्य भाव पुरुष-स्त्री नंपुसक वेद | राग-2, मोह-2, वेद-3, 2 | प्रशस्तराग व अप्रशस्तराग क्रियाएँ, ये अशुभोपयोग रूप ही हैं। राग-द्वेष एक-दूसरे के पूरक हैं। मुनियों को रागद्वेष तजने का उपदेश, परमाणुमात्र रागी भी अज्ञानी/मूढ है। शंका-सम्यग्दृष्टि यदि राग से पूर्णतया रहित हो तो 4थे-5वें गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि का सद्भाव कैसे? समाधान- सम्यग्दृष्टि ज्ञान-वैराग्य शक्तियुक्त होता है, कई उदाहरण, सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के हेतु हैं, कुत्सा-जुगुप्सा में अंतर, मोह नोकषायादि परिणाम अशुभमनोयोग है |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 53 [575-578] | भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा अशुभकाय, बंधन, छेदन, मारण, योगी, परमध्यान, सम्यक्चारित्र | विकथा-4 | धीरमुनि के लिए अन्य भी कथाएँ त्याज्य हैं, उनका विवरण, विकथाओं वक्ता-श्रोता दोनों ही हिंसापापकार्यों के अनुमोदक, विकथाएँ अशुभ वचनयोग भी हैं, अशुभयोगों के त्यागपूर्वक शुभयोग तथा फिर परमयोग की स्थिति होती है। |
| 54 [579-597] | शुभमनोयोग, व्रत, देशव्रत, अहिंसाणुव्रत सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत, गुणव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरतिव्रत, शिक्षाव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग भोगोपभोग, भोग-उपभोग, महाव्रत, समिति, निश्चय व्यवहारसमिति, संयम, संयमाचरण, संयत, प्राणि-इन्द्रिय संयम, अपहृतसंयमी | व्रत-2, अणुव्रत-5, गुणव्रत-3, अनर्थदण्ड-5, शिक्षाव्रत-4 श्रावकव्रत-12, समिति-5, शीलव्रत-7, संयम-2 | दिग्व्रत व देशव्रत में अंतर, गुणव्रत व शिक्षाव्रतों के नामों में विभिन्न आचार्यों की भिन्नता-अभिन्नता, सामयिक में स्थित साधक श्रमणसम, महाव्रत, महाव्रत क्यों हैं? सकल विकल चारित्र के स्वामी, पाँचों व्रतों की 5-5 भावनाएँ, ये श्रावक के योग्य भी हैं, इसके हेतु, श्रावक भी समिति-गुप्ति का एकदेशपालक हो सकता है, अणुव्रत व महाव्रत में महाव्रत ही श्रेष्ठ है, व्रतभंग से उत्पन्न दोष, दोषशुद्धि आलोचना सरल बालकवत् कह कर करें, समितिपालन में प्रयत्नशील साधु जीवहिंसा होने पर भी हिंसक नहीं, शीलव्रत का परिवार, समिति सहित व्रत ही संयम है, संयत योग्य क्रियाएँ, व्यवहारचारित्र, निश्चयचारित्र में साधन हैं, पर साध्य नहीं, अतः शुभोपयोग से भी परमस्वास्थ्यरूप निजानुभूति में प्रयत्नशील हों। |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 55 [598-613] | शुभवचनयोग, शुभवचन, जिन, सकल एकदेशजिन, प्रस्तावनापूजा, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधान, पूजा, पूजाफल, द्रव्य-भावपूजा, निश्चयपूजा, | जिन-2, जिनपूजा-4, श्रावक षडावश्यक-6 मंगलद्रव्य-6 पूजा-6 | अप्रियवचन हितकारी होने से सत्य ही वचन है, एकदेशजिन के गुणस्थान, दान-पूजा श्रावक के मुख्यधर्म, जिनदेवपूजा करने का माहात्म्य, जिनदेव की तरह जिनवाणी आदि गुरुजन भी पूज्य हैं, शंका-1. सकलजिनों के समान एकदेशजिनों को किया गया नमस्कार कर्मों के क्षय का हेतु नहीं हो सकता 2. दोनों में चारित्र सम्बन्धी असमानता है। पूजाविधि सम्बन्धी स्नानादि योग्य बातें, अभिषेकविधि, नवांगीपूजा, पूजा में द्रव्य के साथ भावों की प्रधानता, पूजा के पृथक्-पृथक् सामग्री से करने के फल, आराध्य-आराधकभाव, |
| 56 [614-626] | अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, आस्रव, साम्परायिक-ईर्यापथ आस्रव | सम्यग्दर्शनदोष-25 दोष-18, आस्रव-2, 57, मिथ्यात्व-5, अविरति-12, कषाय-25, योग-15, मनयोग-4, वचनयोग-4, काययोग-7, | संसार स्वरूप, दोष-लहररूप है, दुःखरूप है, संसारभ्रमण कैसे? ईर्यापथास्रव कर्मबंध का कारण क्यों नहीं? दोनों आस्रवों में गुणस्थान, संसार के कारण, गुणस्थानों में आस्रव के कारण, आस्रव के क्षेत्र में मिथ्यात्व अकिंचित्कर है- यह युक्तियुक्त नहीं नहीं, आस्रव के हेतु बंध-हेतु भी हैं, |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 57 [627-635] | इन्द्रिय, | साम्परायिक आस्रव-5, इन्द्रियाँ-5, कषाय-4, अव्रत-5, क्रियाएँ-25, | इन्द्रियों का विशेषविवरण, जीव व इन्द्रिय कथंचित् भिन्न-अभिन्न हैं, 25 क्रियाओं का विवरण, तीव्रादि परिणाम विशेष से आस्रव में तरतमता, आठों कर्मों के आस्रव के हेतु, ज्ञानसहित क्रिया परम्परागत मोक्ष का कारण, श्रावक गृहस्थ की मोक्ष-प्राप्ति की कालमर्यादा, सरागचारित्र निश्चयचारित्र का साधक है, अत: उपादेय है। |
| 58 [636-641] | | | धर्म के आचरण बिना ही जीव भव-सागर में डूबते हैं, बोधिरत्न दुर्लभ है, आस्रव-क्रियाएँ मोक्षनिमितक नहीं हैं, इसका खुलासा, शुभक्रियायुक्त व्यवहार धर्म भी परम्परागत मुक्ति का कारण, पर अशुभक्रिया तो किसी भी प्रकार मोक्ष की कारण नहीं, |
| 59 [642-644] | वीतरागसम्यग्दृष्टि, | | निश्चय नय से कर्मों का आस्रव नहीं, शंका-मिथ्यादृष्टि के लिए ही आस्रव क्रिया मोक्ष हेतु नहीं, क्यों? समाधान। वीतरागसम्यग्दृष्टि का पुण्यास्रव मोक्ष का कारण, अविरत सम्यग्दृष्टि का नहीं, खुलासा, |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 60 [645-654] | नय, दुर्नय, मिथ्यानय, द्रव्यार्थिकनय, व्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय, निश्चयनय, अशुद्ध-शुद्ध निश्चयनय, | नय-2, दोनों नयों के-7 नय-2 (अध्यात्म), निश्चयनय-2, | वस्तु का सम्यग्ज्ञान प्रमाण, नय, निक्षेप से होता है, महत्त्वपूर्ण गाथाएँ, नयवाद में निपुण मुनि सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता हैं, स्याद्वादी के सापेक्ष हो जाने से दुर्नय भी सुनय बन जाते हैं। सुनय से समस्त व्यवहार की सिद्धि, प्रमाण-नय में अंतर, निश्चयनय परमार्थ का प्रतिपादक होने से पूज्यतम है, परमार्थदृष्टि से आत्मद्रव्य दोनों नयों से अतीत है, आस्रवानुप्रेक्षा-चिन्तन का फल, वह किसके सार्थक तथा निष्फल है, उपसंहार |

## संवरानुप्रेक्षा

## (नवम अधिकार, गाथा 61-65, पृ. 655-693)

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 61 [656-665] | संवर, भाव-द्रव्य संवर औपशमिक क्षायिक-क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, वेदक सम्यग्दर्शन, वेदकसम्यग्दृष्टि, चल-मलिन-अगाढ़ दोष, | सम्यग्दर्शन-3, मूढता-3 मद-8, अनायतन-6, दोष-8 | समुदाय पातनिका मिथ्यात्व का प्रतिपक्षी सम्यक्त्व, चलमलिनागाढ़ दोष रहित सम्यग्दर्शन ही संवर का हेतु है, संवर का उदाहरण, संवर के हेतु, सम्यक्त्वप्रकृति का वेदन करने से ही दोष उत्पन्न होते हैं, वेदक सम्यक्त्व का काल, आप्तता होने जिनेन्द्रदेव के वचन प्रमाणस्वरूप हैं, |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 62 [666-671] | फलक, | महाव्रत-5, पाप-5 | भावरहित प्रमत्तसंयत के ही नियम से संवर होता है, न कि अविरत देशविरति वाले के भावलिंगी ही मोक्ष पाता है, कषायहीनता भी कर्मास्रव-निरोध में हेतु, गाथाएँ, रागांश से नहीं, वीतरागता से संवर, |
| 63 [672-680] | शुभयोग, साम्य, (शुद्धोपयोग), | | योगास्रव-निरोध रूप संवर का कथन, शुभप्रवृत्ति अशुभयोग का संवर करती है, अभव्य भोगार्थ धर्म पर श्रद्धा करता है। योग-उपयोग में अंतर, मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग निर्वाण में साधक नहीं, शुद्धोपयोग से शुभाशुभ योगों का संवर, शुद्धोपयोग का साक्षात् फल मुक्ति, शुद्धोपयोग के पर्यायवाची नाम, शुभोपयोग-शुद्धोपयोग क्रमिक साधना के अंग हैं, (गाथाएँ), संवरानुप्रेक्षा किससे सार्थक व निष्फल, |
| 64 [681-686] | शुभ-अशुभ-शुद्धभाव, | भाव-3, अप्रमत्तसंयत-2, | शुद्धोपयोग का निश्चयधर्मध्यान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध, न कि व्यवहारधर्म-ध्यान के साथ, शुभोपयोग में गुणस्थान, सातवें स्वस्थान गुणस्थान में शुद्धोपयोग संभव है, स्वस्थानाप्रमत्त में प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप 2 दृष्टियाँ, खुलासा, शुभोपयोग का निषेध शुद्धोपयोग |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | | | से, शुद्धोपयोग में ध्येय क्या? उत्कृष्ट धर्मध्यान का फल, शुद्धोपयोग के साथ निश्चयधर्मध्यान से संवर ही, ध्यान का आलम्बन संसार-स्थिति को कम करता है, निश्चय ध्यान ही उत्तम है, अतः शुद्धोपयोग का आश्रय लो। |
| 65 [687-693] | परमार्थनय, शुद्ध-अशुद्ध निश्चयनय, | | निश्चयनय ही साधकतम परमार्थ का प्रतिपादक होने से भूतार्थ है, मुक्ति का कारण है, निश्चयनय से आस्रव-संवर-बंध-निर्जरा नहीं, आदि, शंका-आत्मा संवररहित हो तो संवर होने का कथन क्यों? संवर से युक्त जीव को आस्रव-दोष नहीं, उपसंहार |

## निर्जरानुप्रेक्षा
## ( दशम अधिकार, गाथा 66-67, पृ. 694-760 )

| | | | |
|---|---|---|---|
| 66 [695-699] | निर्जरा, निषेक, अनुभाग, | | समुदायपातनिका, मोक्ष-निर्जरा में अंतर, संवर-कारण ही निर्जरा के कारण हैं, संवरयुक्त निर्जरा ही निर्जरा है (अविपाक), कर्मक्षय से ही सुख मिलता है। |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 67 [700-760] | स्वकालपक्वा निर्जरा, अकाम निर्जरा, | निर्जरा-2, अविपाकजा | स्वकालपक्वा अविपाकजा निर्जरा के अन्य नाम, |
| | अविपाकजा निर्जरा, तप, तपधर्म, | निर्जरा-2, तप-2, | अकामनिर्जरा का कारण, दोनों निर्जरा में अंतर, |
| | सम्यगमिथ्या तप, अनशनतप, उपवास, | सम्यक्तप-2 बाह्यतप-6 | (शुभानुबंधा-निरनुबंधा), सम्यक्त्व रहित, संयम रहित |
| | प्रोषध, प्रोषधोपवासव्रत, अर्धानशन, | आभ्यन्तर-6, अशन-4 | तप निरर्थक, गुप्तिसहित तप विपुल-निर्जरा का |
| | एकभक्त अनशन, एकउपवास-पाँच | अनशनतप-2, | कारण, बाह्यतप की बाह्यसंज्ञा क्यों? अनशनतप |
| | उपवास निराकांक्ष-साकांक्ष अनशन, | प्रायश्चित्त-10 (9) | किसके होता है, अनशनतप करने के कारण, अतिचार, |
| | सर्वानसन, अनवधृतकाल, | असंख्यात लोकप्रमाण, | अवमौदर्यतप के अतिचार, अवमौदर्यतप किन्हें क्यों |
| | अवमौदर्यतप, वृत्तिपरिसंख्यानतप, | आलोचना-2, 7, | करना चाहिए, लाभ व्रतादिक कौन करें, अतिचार, |
| | रसपरित्यागतप, विविक्तशय्यासन, | आलोचना-लक्षण-4, | रसपरित्याग तप का प्रयोजन, विविक्तशय्यासन से |
| | कायक्लेशतप, प्रायश्चित्त-निश्चय | प्रतिक्रमण-7, 3, | किन्हें होता है लाभ, कायक्लेश तप किन्हें क्यों? |
| | व्यवहार प्रायश्चित्त, आलोचना, | विवेक-प्रायाश्चित्त-5, | कायक्लेश तप सम्बन्धी आसनों का विवरण, अन्य |
| | आलोचन, पदविभागी सामान्य | व्युत्सर्ग-2, | प्रकार का क्लेश, कायक्लेश से ही परीषहजय में |
| | आलोचना, आलुंचन, अविकृतीकरण, | अन्तरंगव्युत्सर्ग-2 | समर्थ होता है मुनि, परिषह-कायक्लेश में अंतर, |
| | भावशुद्धि, प्रतिक्रमण, मन-वचन-काय | यावज्जीवन अन्तरंग | आभ्यन्तर की आभ्यन्तर संज्ञा क्यों? व्रतभंग होने पर |
| | प्रतिक्रमण, तदुभयप्रायश्चित्त, | व्युत्सर्ग-3, नियतकालिक | आलोचनपूर्वक प्रायश्चित्त करणीय है, आराधक कौन? |
| | विवेकप्रायश्चित्त, व्युत्सर्गप्रायश्चित्त, | अन्तरंग व्युत्सर्ग-2, | प्रायश्चित्त कब, कौन दे, कौन न दे, प्रायश्चित्त का |
| | आभ्यन्तर-बाह्य व्युत्सर्ग, नित्यनैमित्तिक- | परिहारप्रायश्चित्त-2, | अधिकारी कौन, किसे कैसा प्रायश्चित्त दे, आलोचना |
| | नियतकालिक आभ्यन्तर व्युत्सर्ग, | अनवस्थाप्य परिहार | किसके, आलोचना के दस दोष, स्वरूप, आलोचना |
| | तपप्रायश्चित्त, आचाम्ल, निर्विकृति आहार, | प्रायश्चित्त-2, विनय-5, | का माहात्म्य, प्रतिक्रमण किसके, आलोचना कैसे करें, |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | निर्विकृतिक तप, छेद प्रायश्चित्त, परिहार प्रायश्चित्त, पारञ्चिक प्रायश्चित्त, निजगण-अनवस्थान प्रायश्चित्त, मूलप्रायश्चित्त, बालश्रमण, श्रद्धान प्रायश्चित्त, विनय तप, दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप-उपचार विनय, कायिक वचन वाचिक मानसिक विनय, परोक्ष विनय, प्रत्यक्ष विनय, वैयावृत्त्य तप, वैयावृत्त्य, निश्चय वैयावृत्त्य तप, उपकारवैयावृत्त्य, स्वाध्याय तप, साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु, परम्परा प्रत्यक्ष हेतु, अभ्युदय सुख, राजा, भावद्रव्य निर्जरा, | ज्ञानविनय-8, उपचारविनय-3, कायिक-2, वाचिक-2, मानसिक-2, कायिक विनय-4, उपचारविनय-7, वैयावृत्त्य-10, स्वाध्याय-5, स्वाध्यायफल-2, प्रत्यक्ष स्वाध्याय-2, परोक्ष स्वाध्याय-2, | आलोचनापूर्वक किया गया प्रतिक्रमण शुद्धिकारक होता प्रत्यक्ष है, शंका- जो आलोचना व प्रतिक्रमण दोनों से शुद्ध होता है- ऐसा कथन निरर्थक हो जाता है, प्रतिक्रमण नामक-प्रायश्चित्त कब?, दण्डक सहित पूर्ण प्रतिक्रमण का विधान-संबंधी विवरण, (अंधघोटक न्याय), विवेक प्रायश्चित्त का अतिचार, व्युत्सर्गतप के प्रयोजन, अतिचार, व्युत्सर्गप्रायश्चित्त और व्युत्सर्ग तप में अंतर, तपप्रायश्चित्त के योग्य साधु, निजगण अनवस्थापन और परगण अनवस्थापन प्रायश्चित्त के अधिकारी मुनि कौन? विनय से लाभ, गुण, ज्ञान से विनयी कौन, अविनयी कभी मुक्ति नही पाते, अतः विनय करने का उपदेश, वैयावृत्त्य तप का धारक कौन?, वैयावृत्त्य श्रमण व श्रावक दोनों के द्वारा करणीय है, श्रावकों का मुख्य कर्तव्य है, स्वाध्याय से ज्यादा फल वैयावृत्त्य से, तीर्थंकरप्रकृति बंध में कारण है, वैयावृत्त्य करने के गुण तथा न करने से दोष, स्वाध्याय क्यों? स्वाध्याय का महत्त्व, फल, निर्जरा भावना का उपसंहार। |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | | **धर्मानुप्रेक्षा**<br>**( एकादश अधिकार, गाथा 68-82, पृ. 761-950 )** | |
| 68 [763-768] | मोक्षसुख, धर्म, | धर्म-2 (सागार-अनगार) | पातनिका, सम्यक्त्व सहित ही चारित्र धर्म होता है, शंका- श्रावक देशव्रती का ग्रहण क्यों? अविरत सम्यग्दृष्टि की श्रावक संज्ञा क्यों नहीं? धर्म के पर्यायवाची नाम। |
| 69 [769-797] | सागार धर्म, श्रावक, दार्शनिक श्रावक, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा प्रोषधोपवासप्रतिमा, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग प्रतिमा, प्रासुक रात्रि भुक्ति त्यागप्रतिमा, दिवामैथुनत्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरंभ-त्यागप्रतिमा, परिग्रहत्याग प्रतिमा, अनुमतित्याग प्रतिमा, उद्दिष्टत्याग प्रतिमा, उत्कृष्ट श्रावक, क्षुल्लक, अनेकगृहभोजी, क्षुल्लक, ऐलक, | प्रतिमा-11, प्रोषधोपवास -3, उद्दिष्टप्रतिमाधारी-2 क्षुल्लक-2 | सागार धर्म का पालन कौन करे? सम्यग्दृष्टि श्रावक के 77 गुण, जिनेन्द्र दर्शन प्रतिमा का धारक मात्र दार्शनिक श्रावक नहीं होता, दर्शन तथा व्रत प्रतिमा में अंतर, उत्तम सामयिक किसके, सामयिक शिक्षाव्रत-सामायिक प्रतिमा में अंतर, उत्तम मध्यम-जघन्य प्रोषधोपवास विधि, प्रोषधोपवास शीलव्रत तथा प्रोषधोपवास प्रतिमा में अंतर, उपवास के दिन करने, न करने योग्यकार्य, भोगोपभोग परिमाण व्रत तथा सचित्तत्याग प्रतिमा में अंतर, प्रासुक करने की विधि, रात्रिभोजन त्याग,मूलगुण व प्रतिमा में अंतर, 6ठी प्रतिमाधारी स्त्री अपने पुत्र को रात्रि में दुग्धपान करा सकती है क्या? सप्तमप्रतिमाधारी क्या अपने पुत्र- |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | ऐलक शब्द की निर्युक्ति-अर्थ, | | पुत्री का स्वयं विवाह करा सकते हैं? आरम्भत्यागी प्रतिमाधारी क्या पूजन, भोजन पकाना, आहार-दान आदि कार्य कर सकता है? परिग्रहपरिमाण व्रत तथा प्रतिमा में अंतर, अनेकगृह तथा एकगृहभोजी क्षुल्लक की चर्या, ऐलक की चर्या, |
| 70 [798-801] | धर्म, श्रमण, श्रामण्य | धर्म-10 दस | धर्मों में उत्तमविशेषण क्यों? श्रमण भी धर्म संज्ञा से अभिहित होने योग्य है। निश्चयनय से आत्मरत वीतराग आत्मा धर्म है, श्रमण ही संयत है, |
| 71 [802-809] | क्षमा धर्म | | उत्तम क्षमा धर्म कब होता है, क्रोध के 8 अनुचर, क्रोध से हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं, क्रोध दु:ख उत्पन्न करता है, क्षमाभाव का माहात्म्य, क्षमाधर्म आत्मसिद्धि में साधन, क्षमाभाव को पुष्ट करने योग्य भावनाएँ |
| 72 [810-818] | श्रमण, साधु, मार्दव धर्म, कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत, शील (मद) | श्रमण-2, मद-7,8 | मार्दव धर्म किसके होता है? मार्दव धर्मवाला मदों का त्यागी होता है। धर्मात्मा का तिरस्कार अर्थात् स्वयं के धर्म का तिरस्कार है। मार्दव धर्म की महत्ता व |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | | | उपयोगिता, मान त्याज्य, निन्दनीय है। मान कषाय से दोष, मार्दव धर्म की प्रशंसा, |
| 73 [819-824] | आर्जवधर्म, निकृति माया, उपधिमाया, सातिप्रयोगमाया, प्रणिधिमाया, प्रतिकुञ्चन माया, मायाशल्य, आर्जव, | माया-5 | कुटिलताधारी श्रमण नहीं, आर्जवधर्म किसके, उत्तमार्जव धर्म की पुष्टि हेतु भावनाएँ, माया तिर्यंचायु के आस्रव का कारण, माया कषाय के कुत्सित दोष (स्वरूप), |
| 74 [825-832] | भिक्षु, गर्हित सावद्य वचन, अप्रियवचन, उत्तमसत्य धर्म | | श्रमण भिक्षु है, भिक्षुक नहीं? कटु हितकारी वचन भी प्रिय ही है, वचनव्यवहार में व्यर्थ आलाप वर्जनीय है, सत्य भी असत्य और असत्य भी सत्य वचन कैसे होते हैं? असत्यभाषण की निंदा, सत्यभाषण की प्रशंसा, |
| 75 [833-842] | मुनि, निष्कांक्षित गुण, कुधर्म आकांक्षा, निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि, निश्चय-व्यवहार निष्कांक्षित गुण, विराग, उत्तम शौच धर्म, शौच, लोभ, निर्मल शौचधर्म, लोकोत्तर शुचित्व, लौकिक शुचित्व, | कांक्षा-3, निष्कांक्षितगुण-2 शौचधर्म सत्यधर्म, (शुचित्व-2) | मुनियों में श्रेष्ठ कौन? कांक्षा सम्यग्दर्शन का घात करती है, विरक्ति भाव के उपाय, शौचधर्म का आगे-पीछे निर्देश क्यों कहीं-कहीं? लोभ के पर्यायवाची नाम, लोभ के तरतमता की अपेक्षा 4 भेद, विषयभेदापेक्षया 4 भेद, लोभनिवृत्तिरूप शौचधर्म, शौच व आकिञ्चन्य धर्म में अंतर, शौचधर्म पोषण हेतु भावनाएँ, लोभ से उत्पन्न दोष, शुचित्व के साधन भी शुचि हैं। |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 76 [843-860] | दण्ड, मानसदण्ड, समिति, ईर्यासिमिति, ईर्यापथशुद्धि, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, सहसा, अना-भोगित, दुष्प्रमार्जित, अप्रत्युपेक्षित दोष, प्रतिष्ठापन समिति. उत्तमसंयमधर्म, उपेक्षा अपहृत संयम, इन्द्रिय-प्राणी संयम, संयम, | दण्ड-3, वाचिक कायिक दण्ड-7 समिति-5 संयम-2 अपहृत संयम-2 | दण्ड की हेतु प्रवृत्तियाँ, इन्द्रियजय की आवश्यकता क्यों, तथा प्रेरणा, इन्द्रियजय तथा मनोजय के उपाय, ईर्यासमिति का श्रमण किस प्रकार पालन करें? ईर्यासमिति के अतिचार, भाषा समिति में वाक्शुद्धि की प्रधानता, भाषा समिति के अतिचार, श्रमण की भिक्षाचर्या के उद्देश्य, एषणासमिति के अतिचार, आदाननिक्षेपण समिति के दोष, तथा अतिचार, मुनि का प्रतिष्ठापन समिति यत्न, तथा अतिचार, संयमधर्म की दृढ़ता योग्य भावनाएँ, |
| 77 [861-887] | व्यवहार-निश्चय धर्मध्यान, (उत्तम) ध्यान, परमध्यान, स्वाध्याय, सूत्र, उत्तम तपधर्म, तप | धर्मध्यान-4,2,3 आध्यात्मिकधर्मध्यान-10 स्वाध्याय-5, तप-2, (6,6) | ध्यान-स्वाध्याय में अंतर, पंचमकाल में शुक्लध्यान का अभाव होने पर भी धर्मध्यान होता है, धर्मध्यान के लक्षण, बाह्यचिह्न तथा अंतरंग चिह्न, ध्यान की उत्पत्ति में सहायक सामग्री, व्यवहारधर्मध्यान के अधिकारी, धर्मध्यान के फल, निश्चयधर्मध्यान के स्वामी, भाव-स्वाध्याय सर्वोत्तम तप, स्वाध्याय हेतु द्रव्य, क्षेत्र, कालशुद्धि की विशेष व्याख्या, शुद्धि न रखने से हानि, स्वाध्याय प्रतिष्ठापन-निष्ठापन विधि, अस्वाध्यायकाल में वर्जनीय ग्रंथ, स्वाध्याय से लाभ, |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | | | फल, अध्यात्म ही तप है, सम्यक्तप ही श्रेयस्कर है, तथा उसके फल, तप शक्त्यनुसार करें, अविरत सम्यग्दृष्टि का तप गजस्नानवत्, |
| 78 [888-899] | चेतन-अचेतन-मिश्र-द्रव्य, मोह, प्रशस्त-अप्रशस्त मोह, संवेग, निर्वेद, संसार-शरीर-भोगनिर्वेद, जिन, सकल-देशजिन, त्याग, परिग्रह, उपधि, सर्वाशन, विद्धाशन, शुद्धासन, उत्सर्ग-अपवादमार्ग | द्रव्य-3, मोह-3, 2 निर्वेद-3, जिन-2 त्याग-2, आभ्यन्तरत्याग-2, दान-4 | संवेग-निर्वेद में अंतर, निर्वेद भाव को प्राप्त मुनि के त्यागधर्म होता है, सकल-देशजिन के गुणस्थान, अपवाद मार्ग का निर्देश कब? संयम साधना योग्य उपकरण के अलावा शेष परिग्रह होता है, बाह्य परिग्रह त्याग क्यों? तिल मात्र परिग्रह शुद्धोपयोग में बाधक है, कैसे? त्याग धर्म पालनार्थ भावनाएँ तथा उससे लाभ, तपस्वियों तथा गृहस्थों के त्यागधर्म में अंतर, |
| 79 [900-911] | पुण्य-पाप, द्वन्द्व, कलह, निर्द्वन्द्व मुनि, आकिञ्चन्य धर्म, आकिञ्चन्य, | | परिग्रह होने पर मुनि के धर्मसाधना नहीं हो सकती, उसके कारण, परिग्रहत्यागी ही प्रशस्तध्यान का अधिकारी है, निःसंग व्यक्ति के सुख परिमाण, शुभ-अशुभ से परे शुद्धभाव कर्मक्षय के कारण हैं, निर्द्वन्द्व मोक्ष तथा द्वंद्वी कर्मबंध पाता है, राग-द्वेष ही द्वन्द्व है तथा एक-दूसरे के पूरक हैं, निःसंग के ही निर्द्वन्द्वता तथा रागजय, कलहकारी मुनि नरकगामी तथा श्रमणत्व |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | | | के विनाशक, ज्ञानी मुनि कर्तृत्वभाव नहीं, ज्ञातृत्व भावरखता है, निर्द्वन्द्व के ही आंकिञ्चन्य धर्म, शौच तथा आकिञ्चन्य धर्म में अंतर, अकिञ्चनता त्रैलोक्य स्वामित्व को व्यक्त करती है, |
| 80 [912-929] | ब्रह्मचर्य धर्म, ब्रह्मचर्यमहाव्रत, दृढब्रह्मचारी, मैथुन, निश्चयब्रह्मचर्य | ब्रह्मचर्य-18,3,2,2<br>शील-18000 | नारी के अंगों के रागसहित अवलोकन का दुष्परिणाम, ब्रह्मचर्यव्रत की 5 भावनाएँ, का दुष्परिणाम, 10 प्रकार का अब्रह्म सेवन, स्त्रियों को पुरुष के शरीर का निरीक्षण निषिद्ध है, स्त्रीसंगति के दुष्परिणाम, ब्रह्मचर्य में दुर्द्धर विशेषण क्यों? काम के 10 वेग, ब्रह्मचर्य त्रिलोकपूज्य है, मैथुन से होने वाले हिंसादिपाप, मैथुन के 10 भेद, 10 महादोष, ब्रह्मचर्य किससे, |
| 81 [930-939] | | | मुनि ही मोक्ष पाते है, श्रावक धर्म छोड़ा नहीं जाता मुनिधर्म के लिए, मुनिधर्म-पालन में असमर्थ ही श्रावक धर्म पाले, उत्कृष्टध्यान से ही मोक्ष, ध्यान के 5 हेतु, मुख्यधर्मध्यान का प्रारंभ सातवें गुणस्थान से, श्रावक के दुर्ध्यान होता है, निश्चयधर्मध्यान नहीं, भावलिंग से मोक्ष होता है द्रव्यलिंग से नहीं, निश्चयनय का आश्रय करने वाले मोक्ष पाते हैं। |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 82 [940-950] | जीव, निश्चयचारित्र, मोक्षमार्ग, धर्म, स्वद्रव्य | नय-2 | आत्मा निश्चयनय से सागार या अनगार धर्म से भिन्न है, गृहस्थलिंग आदि की मोक्षमार्गता का निराकरण, आत्मा की शुद्ध सत्ता कहने का हेतु, शुद्धात्मा का ध्यान मुक्ति का कारण, नयपक्षों से अतिक्रान्त होकर ही शुद्धात्मा के ध्यान की सिद्धि, |

**बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा**

**( द्वादश अधिकार, गाथा 83-86, पृ. 951-986 )**

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 83 [952-956] | बोधि, उपाय, उपेय, सम्यग्ज्ञान | | पातनिका, बोधि-प्राप्ति की दुर्लभता का वर्णन, एक आत्मा में साध्य-साधक भाव कैसे बन सकता है? ज्ञान ही परमार्थरूप से मोक्ष का कारण है, सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता का चिन्तन, |
| 84 [957-965] | औदयिकभाव, क्षायोपशमिकसंज्ञा, परद्रव्य, स्वद्रव्य | | नरकादि पर्यायों में जीवद्रव्यत्व अक्षुण्ण रहता है, आत्मा शुद्ध-अमूर्त है तो उसे कर्मबंध किस प्रकार हो सकता है? पर्यायें कर्मजनित होने से हेय हैं, क्षायिक क्षायोपशमिक ज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मजनित होने से हेय हैं, आत्मस्वभाव से अतिरिक्त सभी परद्रव्य हैं, शुद्धात्मा ही उपादेय है, उपादेयता के विषय में |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | | | भावनाएँ, सम्यग्ज्ञान के धारक को शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है, |
| 85 [966-978] | स्व-परद्रव्य, कषाय, योग, घाती-अघाति कर्म | कर्म-8, बंध-4 | परद्रव्य-स्वद्रव्य में अंतर, निश्चयनय से स्वद्रव्य-परद्रव्य का कथन, कर्मबंध आस्रव के हेतु, कषाय-अविरति में अंतर, योग कथंचित् औदयिक, क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक भाव रूप है, निश्चय से कथंचित् भावकर्मादि परद्रव्य है, व्यवहारनय से जीव कर्मों का कर्ता-भोक्ता है, कर्मबंध-प्रक्रिया, पुद्गल कर्म-स्कन्धों की कर्मरूप परिणति में द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव नियामक भी रहते हैं, कर्म के भेद विभिन्न प्रकार से एक ही आत्मपरिणाम से परिणत कर्म 8 भिन्न-भिन्न प्रकृति रूप कैसे हो जाते हैं? बंधयोग्य प्रकृतियाँ, उदययोग्य प्रकृतियाँ, |
| 86 [979-986] | निश्चयसम्यग्ज्ञान, उत्तमधर्मध्यान, निश्चयध्यान, परमध्यान, बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा | सम्यग्ज्ञान-2 | निश्चयनय हेयोपादेय के विकल्प ज्ञान से रहित होता है, सम्यग्ज्ञान का साक्षात्-परम्परागत फल, आत्मज्ञान बिना मोक्ष नहीं, अध्यात्मरति सम्यग्ज्ञान का फल, निश्चयनय या निश्चयध्यान का महत्त्व, बोधिदुर्लभ |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| | | | अनुप्रेक्षा की चिंतन विधि, काकतालीय न्याय, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति बोधि है, |

**द्वादशानुप्रेक्षा-माहात्म्य**

**( त्रयोदश अधिकार, गाथा 87-91, पृ. 987-1040 )**

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 87 [988-995] | प्रत्याख्यान, व्यवहार-निश्चय प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, निन्दा-गर्हा, आलोचना, आलोचन, समाधि, परमसमाधि, बहिरात्मा-अंतरात्मा, | प्रत्याख्यान-2, प्रतिक्रमण-3,7, आलोचना-7, 4 | पातनिका, श्रमणचर्या में बारह अनुप्रेक्षाओं का महत्त्व अनुप्रेक्षा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना, समाधिरूप है, आलोचना के 10 दोषों का विवरण, |
| 88 [996-1005] | सामायिक, प्रकृष्ट सामायिक, सामायिक प्रतिमा | | दिन-रात श्रमणोचित कर्तव्य, प्रतिक्रमणादि में मनोनिग्रह आवश्यक है, मनोनिग्रह अनुप्रेक्षाओं के चिंतन से सिद्ध होता है, शक्त्यनुसार तप आदि अनुष्ठान करें, समय ही सामायिक है, श्रमण ही सामायिक है, स्थायी सामायिक किसके होती है -इसका वर्णन, सामायिक के सात अधिकार, श्रमण-श्रावक के सामायिक व्रत में अंतर, सामायिक काल व विधि व चिंतन, |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 89 [1006-1014] | द्रव्य-भाव पुरुष, पुरुष, पुरुषार्थ, मोक्ष, भाव-द्रव्य मोक्ष अरहंत, अर्हन्त, | पुरुषार्थ-4, मोक्ष-2 पुरुष-2 | अनादिकाल से अब तक जीव बारह अनुप्रेक्षाओं के चिंतन से ही मोक्ष गये हैं, पुरुष नाम की सार्थकता, अर्थ, पुरुषार्थों में हेय-उपादेय ज्ञान, मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष, शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का नाम है, मोक्षार्थियों को आत्मस्वरूप सेवनीय है, अर्हतकेवली भगवान् जीवन्मुक्त परमात्मा है, कर्मनाश की अपेक्षा अरहंत व सिद्ध में कोई अंतर नहीं, अरहंत क्यों कहे जाते हैं, अर्हन्तादि को नमस्कार करने का फल। |
| 90 [1015-1026] | केवली, सिद्ध, निर्वाण, सिद्धलोक | | बारह अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य, मुक्तपद से सिद्धों के साथ केवली भी ग्राह्य है, सलेप-निर्लेप दृष्टि से केवली व सिद्धों में भेद, अरहंत-सिद्धों में अंतर, सिद्धत्व प्राप्ति की प्रक्रिया, निर्वाण स्वरूप और सिद्धों की स्थिति का वर्णन, सिद्धलोक का विशद वर्णन, निश्चय-व्यवहारनय से सिद्धों का आवास, केवलज्ञानी नियमतः आत्मा को जानते हैं, केवली भगवान अबंधक है, ऋषभादि 24 तीर्थंकर जैन धर्म के संस्थापक नहीं, प्रवर्तक थे, जैनधर्म शाश्वत व सनातन धर्म है। |

| गाथा/पृष्ठ | स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ | भेद/ प्रकार | विशेष विवरण |
|---|---|---|---|
| 91 [1027-1040] | परमात्मा, परमपद, निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार, व्यवहारनय सद्भूत व्यवहारनय, उपचरितसद्भूत व्यवहारनय, अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, उपचरित-अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय, | नय-2, निश्चयनय-2 व्यवहारनय-2, सद्भूत व्यवहारनय-2 असद्भूत व्यवहार नय-2 | मुनिनाथ के पर्यायवाची नाम व अर्थ, निश्चय व्यवहार नय, बारह भावनाओं को भाने का फल, निश्चय-व्यवहारनय का विवरण, तथा सिद्धान्त में उसका स्थान, तथा आवश्यकता, शुद्धनिश्चय नय से जीव रागादि विभाव परिणामों से रहित है, व्यवहारनय से विभिन्न कथन, जिनेश्वरों को नमस्कार, असद्भूत व्यवहारनय से है, असद्भूत ही उपचार है, व्यवहारनय सर्वथा प्रतिषिद्ध नहीं है, निश्चय से अनभिज्ञ को व्यवहार ही प्रयोजनीय है, निश्चय-व्यवहार की उंपयोगिता, तथा फल, |
| [1041-1044] | | | मङ्गल प्रशस्ति |

०००

# 'बारस अणुवेक्खा' की गाथाओं के पाठान्तर-भेद

बारस अणुवेक्खा के कई संस्करण प्राप्त हैं। कुछ स्थलों पर पाठभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। विशेष रूप से जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर द्वारा श्री आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी महोत्सव के उपलक्ष में ई. 1989 में (वी.सं. 2515) प्रकाशित तथा श्री पं. नरेन्द्र कुमार भिसीकर शास्त्री द्वारा अनुवादित संस्करण की अपेक्षा जो पाठ-भेद प्राप्त हैं, उन्हें यहां उल्लिखित किया जा रहा है-

| गाथा क्रमांक | पृष्ठ संख्या | सर्वोदया टीका | सोलापुर संस्करण |
|---|---|---|---|
| 48. | 534 | (i) पंचविहो हवदि | (i) पंचसो हवइ |
| 49. | 541 | (i) वि य चउविहं | (i) चि य चउव्विहं |
| | ,, | (ii) मण वय कायेण | (ii) मण वचिकाएण |
| 50. | 545 | (i) एक्केक्कं | (i) एक्केकं |
| | ,, | (ii) वियाणेहि | (ii) विजाणेहि |
| 51. | 548 | (i) बेंति | (i) वेंति |
| 52. | 556 | (i) हास्सादी | (i) हास्सादि |
| | ,, | (ii) बेंति | (ii) वेंति |
| 55. | 598 | (i) पूया | (i) पूजा |
| 56. | 614 | (i) वीचिये | (i) बीचिये |
| 59. | 642 | (i) णिंदं आसवं जाण | (i) णिदं आसवो जाण |
| 60. | 645 | (i) णिच्छयणयेण | (i) णिच्छयणएण |
| 61. | 656 | (i) चलमलिणमगाढं | (i) चलमलिनमगाढं |
| | ,, | (ii) जिणेहिं | (ii) जिणेहि |
| 62. | 666 | (i) कसायरहिदपलगेहिं | (i) कसायरहियपल्लगेहि |
| 63. | 672 | (i) सुद्धुवजोएण | (i) सुद्धुवजोगेण |

| गाथा क्रमांक | पृष्ठ संख्या | सर्वोदया टीका | सोलापुर संस्करण |
|---|---|---|---|
| 64. | 681 | (i) सुद्धुवजोएण | (i) सुद्धुबजोगेण |
| 66. | 695 | (i) जिणेहिं | (i) जिणेहि |
| | ,, | (ii) जाणे | (ii) जाण |
| 68. | 763 | (i) पुव्वगं भणिदं | (i) पुव्वयं भणियं |
| 69. | 769 | (i) दंसण, वद | (i) दंसण वय |
| | ,, | (ii) बह्मारंभ | (ii) बम्हारंभ |
| | ,, | (iii) देसविरदे य | (iii) देसविरदे दे |
| 70. | 798 | (i) बह्मा | (i) बम्हा |
| 71. | 802 | (i) कोहं | (i) कोहो |
| 77. | 861 | (i) कादूण | (i) काऊण |
| | ,, | (ii) भावदि | (ii) भावइ |
| 78. | 888 | (i) भावदि | (i) भावइ |
| | ,, | (ii) चइदूण | (ii) चइऊण |
| 79. | 900 | (i) होदूण | (i) होऊण |
| | ,, | (ii) सुहदुहदं | (ii) सुदुहदं |
| 80. | 912 | (i) रदिभावं | (i) दुब्भावं |
| 81. | 930 | (i) जो दु वट्टदे | (i) जो हु वट्टए |
| 83. | 952 | (i) हवेदि | (i) हवेइ |
| 84. | 957 | (i) पज्जाया | (i) पज्जायां |
| | ,, | (ii) खु | (ii) तु |
| | ,, | (iii) णिच्छित्ति य होदि | (iii) णिच्छयत्ति होदि |

| गाथा क्रमांक | पृष्ठ संख्या | सर्वोदया टीका | सोलापुर संस्करण |
|---|---|---|---|
| 85. | 966 | (i) मूलुत्तरयपयडीओ | (i) मूलत्तर पयडीओ |
| 86. | 979 | (i) हेयमुवादेयं | (ii) हेयमुवादेय |
| | ,, | (ii) चिंतिज्जदि | (iii) चिंतिज्जइ |
| | ,, | (iii) संसार बिणासणट्ठाए | (i) संसार विरमणट्ठे य |
| 87. | 988 | (i) बारस | (i) वारस |
| | ,, | (ii) अणुपेक्खाओ | (ii) अणुवेक्खाओ |
| | ,, | (iii) पडिकमणं | (iii) पडिक्कमणं |
| | ,, | (iv) अणुपेक्खं | (iv) अणुवेक्खं |
| 88. | 996 | (i) समाहि | (i) समाहिं |
| 89. | 1006 | (i) बारसणुपेक्खं | (i) बारअणुवेक्खं |
| | ,, | (ii) परिभाविदूण | (ii) परिभाविऊण |
| 90. | 1015 | (i) किं पलविदेण | (i) किं पलविएण |
| | ,, | (ii) गए | (ii) गये |
| | ,, | (iii) तज्जाणह | (iii) तं जाणह |
| 91. | 1027 | (i) भणिदं | (i) भणियं |
| | ,, | (ii) भावदि | (ii) भावइ |
| | ,, | (iii) पावदि | (iii) पावइ |

**सन्दर्भग्रन्थ** : बारसाणुवेक्खा, सम्पादक: डॉ. पन्नालाल, साहित्याचार्य, सागर,

**प्रकाशक** : नवनीतलाल ठाकोरदास मोदी, सूरत

०००

भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003
संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन. स्व श्रीमती रमा जैन

उत्तरार्द्ध

**बारस अणुवेक्खा**

सर्वोदया टीका

सम्पादन एवं अनुवाद

प्रो. दामोदर शास्त्री


**भारतीय ज्ञानपीठ**

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन